॥ श्री श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः ॥

श्री श्रीबृहद्भागवतामृतम्

श्री १०८ श्रीमत् सनातन गोस्वामि विरचितं हिन्दी टीका सहितम्।

जिसको—

श्रीमाध्वगौडेश्वर सम्प्रदाय अनुयायी, श्रीहरिनाम संकीर्तन प्रचारक, भागवत परमहंस, चतुष्संप्रदाय महान्त, श्री१०८ श्री बाबा नित्यानन्ददास जी श्रीनन्दगांव निवासी के चरणाश्रित, श्रीब्रजसुन्दर दास जी, भक्तितीर्थ की सहायता से—

श्रीनिम्बार्क बीथी पथिक सकल शास्त्र निषणात शब्द प्रमाण पारावारीण श्रीवृन्दावन वास्तव्य श्री १०८ श्रीहरिप्रियाशरणोपनामक पं० श्रीदुलारेप्रसाद शास्त्रि चरणाश्रित, रतलाल बेरीवाले, श्रीनन्दगांव निवासी ने सरल हिन्दी में अनुवाद करके प्रकाशित कराया।

बिना मूल्य वितरित

अक्षय तृतीया
सम्वत २००६

प्रथम संस्करण
१०००.

॥ श्रीनिकुञ्जविहारिभ्यां नमः ॥

भूमिका

श्री श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थ की भूमिका लिखने से पहिले इस ग्रन्थ के कर्ता श्री १०८ श्री श्रीसनातन गोस्वामी जी का परिचय देना आवश्यक है।

जीवनी - श्री गोस्वामी जी के पूर्वजों ने कर्नाटक देश में बहुत समय तक राज्य किया था, किसी कारण से उनके पूर्वजों में से कोई उस देश को छोड़ कर बङ्गाल देश में आगये थे। आप उन्हीं के वंश में प्रादुर्भूत हुए, आपका जन्म भारद्वाजगोत्रीय, यजुर्वेदीय ब्राह्मण कुल में सन् १४८२ ई० के लगभग बङ्गाल के एक "मोरग्राम माधाईपुर" नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री श्रीकुमारदेव था। श्री गोस्वामीजी की बाल काल से ही श्रीकृष्ण चरणारविन्द में रति थी। जब उन्होंने अपना विद्याध्ययन समाप्त किया, तब बङ्गाल के राजा नबाव श्री हुसेन-शाह ने इनकी बुद्धि की प्रतिभा देख कर इनको अपने प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त कर लिया। राजकाज करते हुये भी उनकी प्रभु चरणारविन्द में रति लगी रहती थी। जब सन् १५१४ ई० में श्री १००८ श्री गौराङ्ग महाप्रभु प्रथमवार व्रज यात्रा के लिये पधारे थे, उस समय श्री गोस्वामीजी की उनसे रामकेलि ग्राम में भेंट हुई। श्री महाप्रभु जी तो वहाँ से ही वापिस श्रीजगन्नाथ जी चले गये थे. परन्तु गोस्वामीजी को उनके सत्संग के बाद श्रीकृष्ण प्राप्ति की उत्कंठा इतना सताने लगी कि सब राज काज छूट से गये। फिर दुवारा श्री महाप्रभुजी श्री वृन्दाबन पधारे, वह जब वापिस लौटे उस समय काशीपुर में सन् १५१५ ई० के लगभग श्री महाप्रभु जी से भेंट हुई। श्रीमहाप्रभुजी ने यह आदेश दिया "हे सनातन! तुम श्री प्रियाप्रियतमजी की मञ्जरी स्वरूप हो। आप केवल जीवों के उद्धार के लिए ही यहाँ प्रकट हुये हो। आप जल्दी ही व्रज में चले जायें और वहाँ के गुप्त तीर्थों तथा भक्ति शास्त्रों को प्रकट करें जिससे जीवों का कल्याण हो"। इसके पश्चात् श्रीमहाप्रभु ने उनमें अपनी शक्ति सञ्चार करके उनको सब शास्त्रों के मर्म का ज्ञान कराया। फिर वह उनके उपदेशों से कृतकृत्य होकर श्री वृन्दाबन आये। उस समय श्री वृन्दाबन केवल बन ही था। यहाँ कोई मन्दिर स्थान आदि बने हुये नहीं थे। आप "मदन टेर" पर झोंपड़ी बना कर रहने लगे आप माधुकरी के लिये श्री मथुराजी जाते रहते थे। वहाँ एक दिन उनको श्री मदनमोहनजी का एक चौबन ब्राह्मणी के बालकों के साथ खेलते हुये दर्शन हुआ।

श्री ठाकुरजी ने उनके साथ श्री वृन्दाबन आने का आग्रह किया। परन्तु वह उस समय तीव्र वैराग्य धारण किये हुये थे। इस लिये उन्होंने मदनमोहनलालजी से कहा कि "मैं तो सूखी बेझर बिना नमक की रोटी खाता हूँ यदि आप भी खा सकें तो मैं ले चल सकता हूँ"। भगवान् तो केवल प्रेम के ही भूखे हैं, उन्होंने गोस्वामीजी की बात स्वीकार करली। उसी रात्रि को चौबन ब्राह्मणी को भी इसी विषय का स्वप्न हुआ फिर क्या था प्रार्थना करके उनको अपने साथ वृन्दाबन ले आये और अपनी झोंपड़ी में ही उनकी सेवा सुश्रूषा करने लगे।

१-कुछ समय के बाद श्री ठाकुरजी को अपने ठाट-बाट बढ़ाने की इच्छा हुई वह गोस्वामीजी से कहने लगे कि "यह बेझर की बिना नमक की रोटी मुझ से खाई नहीं जाती है थोड़ा सा नमक

भी लाया करो" श्री गोस्वामी ने कहा "पहिले ही मैंने आप से कह दिया था, ऐसी ही रोटी खानी पड़ेंगी, यदि आपको कोई चीजें चाहियें तो आप स्वयं प्रबन्ध करलें।"

बस इतने कहने की ही श्री ठाकुरजी बाट देखते थे। अकस्मात् उस समय मुलतान शहर के कृष्णदास नामक एक वणिक बहुमूल्य जवाहिरात नौका में भर कर श्रीवृन्दावन के पास यमुना जी से जा रहा था। उसकी नाव एक गम्भीर भ्रमर में पड़ गई, अधिक प्रयास करने पर भी न निकल सकी। तब श्री मदनमोहनजी ने एक बालक के स्वरूप में यमुना किनारे से यह कहा "यहाँ एक महात्मा सनातन गोस्वामी रहते हैं, यदि उनकी कृपा हो जाये तो तुम्हारी नौका बच सकती है। तुम उनके नाम का कीर्तन करो" यह सुन कर कृष्णदास ने उनके नाम की रट लगादी क्षण काल में ही नौका बाहर निकल गई। फिर कृष्णदास श्रीगोस्वामीजी के पास गये दण्डवत् प्रणाम के बाद सब वृतान्त सुनाया श्री गोस्वामी ने कहाः—"वह बालक कहाँ है", बहुत ढूढ़ने पर भी पता नहीं चला गोस्वामी जी समझ गये इस वैश्य को मेरे लाड़िले के दर्शन होगए, प्रेम से अधीर होकर उसको अलिङ्गन करने के लिये उठे कृष्णदास ने उनके चरण पकड़ लिये तत्काल वह धनी प्रेमधन से मालामाल होगया। सब द्रव्य उनके भेट किया, गोस्वामीजी ने द्रव्य लेना स्वीकार नहीं किया बाद में श्री मदनमोहनलालजी की इच्छा जान कर उनके लिए मन्दिर बनाने का आदेश दिया. कृष्णदास ने सब द्रव्य लगा कर एक मन्दिर बनवा दिया जो कि आज पर्य्यन्त मदन-मोहन जी का पुराना मन्दिर नाम से विख्यात है। और भोग राग का सब प्रबन्ध कर दिया।

२—श्रीसनातन गो० जी श्रीवृन्दबन से जाकर कुछ काल के लिये जब श्री गोवर्धन रहते थे तब उनका नित्य प्रति श्री गिर्राज जी की परिक्रमा देने का नियम था। बहुत वृद्ध होगये तो आपको परिक्रमा देने में बहुत कष्ट होता था श्री ठाकुरजी उनका कष्ट नहीं देख सके। एक गोप बालक के रूप में वह एक श्रीकृष्ण चरण चिन्हित शिला लेकर वहाँ आये और उन से यह अनुरोध किया कि इस शिला की परिक्रमा देने से आपकी पूरी गिर्राज की परिक्रमा होजाया करेगी। इसके बाद श्री गोस्वामीजी उस शिला की ही परिक्रमा देने लगे।

३—किसी ब्राह्मण ने अपनी कन्या के विवाह निमित्त अर्थ के लिये श्री काशीपुरी में श्रीमहादेवजी का अनुष्ठान किया। श्री महादेवजी ने आदेश दिया कि "तुम वृन्दाबन में श्रीसनातन गोस्वामी जी के पास जाओ तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा"। वह ब्राह्मण उनके पास आया गोस्वामी ने सब वृतान्त सुन कर यह कहा "एक बार हमने एक स्थान पर पड़ी हुई एक पारस-मणि देखी थी उसी स्थान पर आप अन्वेषण करें यदि आपको मिल जाये तो आपके सब मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे।" ब्राह्मण के उसी स्थान पर तलाश करने पर पारसमणि मिल गई, उसे लेकर उसने यह विचार किया कि गोस्वामी जी ऐसा अमूल्य रत्न प्राप्त होने पर भी आदर नहीं करते हैं इससे यह यह प्रतीत होता है कि इनके पास कोई इससे भी अधिक मूल्यवान धन है उनसे वही धन लेना चाहिए। इस लिये उस मणि को श्रीयमुना जी में फेंक दिया, फिर उसने गोस्वामीजी के पास आकर सब वृतान्त कहा। उसकी यह निष्ठा देखकर वे बड़े प्रसन्न हुये और उसे हृदय से लगा कर प्रेमधन से उसे धनी बना दिया।

४—श्री गोस्वामी पाद ने कुछ समय के लिये नन्दगाँव पावनसरोवर पर बास किया था। इतने भजन में आसक्त थे कि माधुकुरी के लिये भी नहीं जाते थे। तब स्वयं श्रीठाकुरजी गोपबालक वेष से दूध लेकर उनके पास आये और दूध लेने के लिये बहुत अनुरोध किया। उन्होंने दूध स्वीकार कर लिया उसे पान करते ही प्रेम में विभोर हो गये और उस समय उनको यह अनुभव हुआ कि गोपवेष धारी बालक स्वयं श्रीकृष्ण ही थे।

इस प्रकार के और भी बहुत से चरित्र हैं, विस्तार भय से उल्लेख नहीं किये गये हैं। अन्त में श्री गोस्वामीजी सन् १५६१ ई० के लगभग अप्रकट लीला में पधारे।

आपने निम्न लिखित ग्रन्थों की रचना की है:—१-श्री श्रीवृहद्भागवतामृत सटीक २-श्री हरिभक्तिविलास की टीका ३-श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध की टीका—श्रीवैष्णव तोषणी, ४-श्रीकृष्ण लीला स्तव ५-लघुहरिनामामृत व्याकरण। यहाँ "श्री वृहद्भागवतामृत" पर विचार है। समस्त वेद, वेदान्त, पुराण, इतिहासादि शास्त्रों के सार स्वरूप श्रीमद्भागवत को मन्थन करके यह ग्रन्थ प्रकट किया गया है, इसी लिये इसका नाम भागवतामृत रखा है। इस ग्रन्थ में भगवत भक्ति सम्बन्धी सब विषय स्थान-स्थान पर प्रकाश किये गये हैं। मूल सम्बाद—"श्रीपरीक्षित-उत्तरा" जैमिनि-भारत के आधार पर लिखा गया है, अर्थात् श्रीशुकदेवजी द्वारा श्रीमद्भागवत सुनने के बाद और तक्षक के आगमन से पहिले श्री परीक्षितजी की माता-श्री उत्तराजी ने उनसे यह प्रश्न किया है "हे वत्स! जो कुछ आपने सुना है, उसका सार स्वरूप आप मुझसे कहें।" बस यहीं से यह ग्रन्थ प्रारम्भ होता है। इसके दो खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में एक-एक इतिहास है। ग्रन्थकार ने यह दोनों इतिहास नहीं लिखे हैं, बल्कि इनके द्वारा श्री प्रिया प्रीतम युगल स्वरूप की उपासना के लिये ही उनका स्वरूपतत्व पूर्ण रूप से निर्देश किया है। पहिले खण्ड में श्रीस्वामिनी राधिका जी का स्वरूपतत्व वर्णन करते हुए वह इस प्रकार इतिहास प्रारम्भ करते हैं:—

एक बार प्रयाग में माघ स्नान के उपलक्षमें साधु,महात्मा, ब्राह्मण तथा और बहुत जनता एकत्रित हुई थी। उनमें उसी देश के एक ब्राह्मण राजा भी आये थे। उन्होंने वहाँ पहिले बड़े समारोह से श्री शालिग्राम भगवान् की पूजा की, फिर प्रसादी अन्न को साधु, महात्मा तथा ब्राह्मणों को श्रद्धा पूर्वक भोजन कराया। यह देख कर श्री नारदजी बड़े प्रसन्न हुये और उनसे कहने लगे "आप ही भगवान् के कृपा पात्र हैं।" राजा अपनी बड़ाई सुन कर लज्जायुक्त नम्रता से कहने लगे, "मैं किस लायक हूँ? प्रभुकी क्या सेवा कर सकता हूँ? यदि आप कृपा पात्र देखना चाहते हैं, तो श्री जगन्नाथजी के भक्त राजा के दर्शन करें।" यह सुन कर श्री नारदजी वहाँ गये। उनकी सेवा परिपाटी तथा उत्सव ठाट-बाट देख कर वह उसी प्रकार ही उनकी प्रशंसा करने लगे। परन्तु भक्त होने पर भी दीनता से उन्होंने अपने आप में कृपा पात्र होने का कोई लक्षण नहीं देखा, वह कहने लगे "स्वर्ग में उपेन्द्र भगवान् के भक्त श्री इन्द्र ही कृपा पात्र हैं, आप उनके दर्शन करें"।

फिर श्री नारदजी स्वर्ग गये, पहिले की भांति इन्द्र की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने भी दीनता पूर्वक अपने में दोष स्थापन किये, और कृपापात्र होना स्वीकार नहीं किया। इसके बाद श्री इन्द्र के कहने से श्री नारदजी सत्यलोक में श्री ब्रह्माजी के पास गये जोकि बड़े समारोह से श्री सहस्रशीर्षा भगवान् का अर्चन कर रहे थे। जब श्री नारदजी ने उनकी प्रशंसा प्रारम्भ की, तब श्री ब्रह्माजी ने भी अपने आपको कृपापात्र होना स्वीकार नहीं किया, बल्कि दीन वाक्यों से "ब्रह्म मोहन" लीला आदि में जो उनसे अपराध बन गये थे वे सब व्यक्त कर दिये। उन्होने प्रभु का एक मात्र कृपा पात्र श्री शङ्कर भगवान् को ही बतलाया। तब श्री नारदजी शिवलोक गये। वहाँ उस समय श्री शिवजी अपने इष्ट देव श्री संकर्षण भगवान् के सामने अपने परिकरों सहित ताण्डव नृत्य करते हुये संकीर्तन कर रहे थे। उनकी प्रशंसा करने पर उन्होंने भी प्रभु का कृपा पात्र होना स्वीकार नहीं किया बल्कि उनको सुतल लोक में श्री प्रह्लादजी के दर्शन के लिये भेजा। वहाँ जाकर श्री नारदजी जब श्री प्रह्लादजी की प्रसंशा करने लगे, तब उन्होंने कहा "प्रभो! आप क्या कहते हैं? कृपा पात्र तो वह होता है जो प्रभु की सेवा करे, मेरी उन्होंने आपत्तियों से रक्षा नहीं की,

बल्कि यों कहना चाहिये एक तरह से प्रभु ने ही मेरी सेवा की है, फिर मैं भक्त कैसा ?" फिर उनकी आज्ञा से कृपा पात्रों की खोज में वह किंपुरुष खण्ड में श्री हनुमानजी के पास गये। परन्तु उन्होंने भी दीनता से अपने आपको प्रभु का कृपा पात्र कहलाना स्वीकार नहीं किया। फिर उनके बताने के अनुसार वह श्री युधिष्ठरादि पाण्डवों के पास गये। उसी तरह उन्होंने भी बड़े नम्र वाक्यों से कहा "हमने प्रभुसे दूत, सारथी आदि कार्य कराये क्या यही कृपा पात्रों के लक्षण हैं ?"

अन्त में उन्होंने श्री नारदजी से कहा "यदि आप कृपा पात्रों के दर्शन करना चाहते हैं, तो श्री द्वारिकापुरी में जाकर श्री यादवों के दर्शन करें।" श्री नारदजी वहाँ भी पहुँचे। पहिले वह सभा में श्री उग्रसेनादि से मिले। फिर श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में उनकी श्रीउद्धवजी से भेंट हुई। उन्होंने भी गद् गद् कण्ठ से यह कहा "मुझ पर कृपा कहाँ है, वास्तव में प्रभु की सब से अधिक कृपाभाजन श्री व्रजगोपिकायें ही हैं. इस लिये मैंने उनकी चरण रेणु प्राप्ति के लिये बार-बार प्रार्थना की थी"। उसी दिन किसी कारण से व्रज के परिकरों की याद से श्रीकृष्ण बहुत विह्वल हो रहे थे। जब किसी प्रकार से भी धीरज नहीं रख सके. तब श्री ब्रह्माजी ने वहाँ आकर उनको उस कृत्रिम वृन्दाबन में भेज दिया. जहाँ व्रज के सब परिकरों की प्रतिमूर्तियाँ विराजमान थीं। आप उसी आवेश में सदैव की भाँति गोचारण के लिये पधारे. फिर सायंकाल को समुद्र के दर्शन से जब आपका कुछ आवेश कम हुआ तब आपने दाऊजी से पूछा "हम कहाँ हैं"। उन्होंने सब वृतान्त कह सुनाया। इस लीला को देख कर श्री नारदजी को यह निश्चय हुआ कि आत्माराम पूर्णकाम होते हुये भी प्रभु व्रज के परिकरों के स्नेह से अपने स्वरूपानन्द को भूलकर प्रेमानन्द में डूब जाते हैं। इन परिकरों में भी श्री ब्रजगोपिकाओं का प्रेम सर्वोत्कृष्ट है, इसी लिये कहा है "गोपी प्रेम की ध्वजा।" इन में भी श्री वृषभानु नन्दिनी श्री स्वामिनी राधिका जी मुख्या हैं, जिन के प्रेम से आप आधीन होकर सतत उनकी आराधना करते हैं। जैसे कि श्री राधिकोपनिषत् में वर्णन हैः– " तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरङ्गभूता राधा कृष्णेन आराध्यत इति।" ग्रन्थकार ने श्री शालिग्राम भगवान् की सेवा करने वाले भक्त से लेकर क्रम-क्रम से अन्य भक्तों के प्रेम का उत्कर्ष दिखलाते हुए जो श्री महाभाववती श्री राधिकाजी के प्रेम पर्यन्त वर्णन किया है यह केवल वर्णन ही नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिये उन्होंने इस इतिहास द्वारा श्रीराधिका जी के स्वरूप को ही निर्देश किया है। क्योंकि जिस-जिस भक्त में जितनी जितनी प्रेम भक्ति है. वह सब श्री आह्लादिनी शक्ति के ही अंश हैं, इस लिये इस खण्ड में उनका ही स्वरूप निरूपण है।

दूसरे खण्ड में श्री ग्रन्थकार ने श्री शालिग्राम भगवान् से लेकर श्री नन्दनन्दन पर्यन्त भगवान् के सब स्वरूपों, अवतारों का विवेचन किया है। वह इस इतिहास को "श्रीगोपकुमार" द्वारा प्रारम्भ करते हैं, जिनको गुरु द्वारा श्रीगोपाल मन्त्र प्राप्त हुआ था, जिसके प्रभाव से उनकी सब लोकों में जाने की अव्याहत गति होगई थी। गोपकुमार ने पहिले इस भूमण्डल के सब भगवत स्वरूपों का दर्शन करके, श्री शालिग्राम भगवान, राजा के महल में स्थित श्रीअर्चास्वरूप तथा श्री जगन्नाथजी आदि मन्दिरों के प्राचीन अर्चा विग्रह स्वरूपों की क्रम से उत्तरोत्तर महिमा वर्णन की फिर इस मन्त्रके प्रभाव से वह स्वर्ग, महः जन, तप तथा सत्य लोक गये और उन लोकों के उपास्य भगवत स्वरूपों का दर्शन करके क्रम से उत्कर्ष अनुभव किया, परन्तु उनको पूर्ण आनन्द लाभ नहीं हुआ। फिर वह अष्टावरणों के भगवत् स्वरूपों के दर्शन करते हुये मुक्तिलोक पहुँचे। वहाँ उन्होंने श्री भूमापुरुष के दर्शन किये तो भी उनकी सन्तुष्टि नहीं हुई। फिर उन्होंने विधि पूर्वक नवधा भक्ति का अनुष्ठान किया जिस के प्रभाव से वह क्रम से श्रीवैकुण्ठ, अयोध्या

(साकेत) तथा द्वारिकापुरी गये, परन्तु यह सब लोक पूर्ण ऐश्वर्य धाम होने से, उनको वहाँ के उपास्य स्वरूपों से निस्संकोच प्रेम की उपलब्धि नहीं हुई। अन्त में श्रीगोपकुमार ने ब्रज के परिकरों के अनुगत (रागानुगा) भक्ति का श्रीवृन्दावन में आकर अनुष्ठान किया, जिसके प्रभाव से वह श्री गोलोक गये। वहाँ श्री ब्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण की साक्षात् सेवा प्राप्ति से उनकी पूर्ण-अभीष्ट सिद्धि हुई।

इस इतिहास के विवरण से यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् के पृथक् पृथक् स्वरूपों में तत्वांश में कुछ भेद है। श्रीशालिग्राम भगवान् से लेकर श्री नन्दनन्दन पर्यन्त सब भगवत् स्वरूप सब प्रकार से पूर्ण हैं। सब भगवत् स्वरूपों में श्रीनन्दनन्दन के उत्कर्ष वर्णन करने में दो हेतु हैं:— (१) परिकर। (२) रस उत्कर्षता. जैसे वर्णन है :—

१—शक्तेरव्यक्तिस्तथा व्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्। (प्रमेय रत्नावलि)

२—परिकरवैशिष्टेन आविर्भाववैशिष्टम्। (भक्ति रसामृत सिन्धु टीका)

३—सिद्धान्तत स्त्वऽभेदेऽपिश्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥ (भक्ति रसामृतसिन्धु)

—अर्थात् यद्यपि समस्त भगवत् स्वरूपों में तत्वांश में किसी तरह का भेद नहीं है, तो भी जहाँ जहाँ शास्त्र में अंश कलादि वर्णन है वहाँ भगवत् शक्ति के प्रकट तथा अप्रकट की दृष्टि से ही विवरण है। वह शक्ति परिकरों के अनुसार ही प्रकट होती है। जैसे कोई षट् शास्त्री पण्डित गायन आदि कला में भी निष्णात है। परन्तु उसकी तत् तत् शक्तियाँ सभा मण्डली की योग्यता के अनुसार ही प्रकट होती हैं। इसी तरह सब भगवत् स्वरूप सब प्रकार से सर्वगुण सम्पन्न तथा पूर्ण हैं, तो भी उनकी शक्तियाँ उनके परिकरों की योग्यता के अनुसार ही प्रकट होती है। श्रीनन्दनन्दन को छोड़-कर और कहीं ऐसे प्रेमी परिकर नहीं हैं, इसी लिये और भगवत् स्वरूपों की शक्तियाँ भी ऐसी प्रकट नहीं हुई। ब्रज के परिकर ही सर्वोत्कृष्ट हैं यह पहिले खण्डमें निरूपण कर चुके हैं। इनमें भी श्रीस्वा-मिनी राधिकाजी ही मुख्या हैं–जो सदा उनके बाम भाग में विराजती हैं। दूसरे रस उत्कर्षताः—रस का आस्वादन अंश में भी गोपकुमार जहाँ जहाँ गये प्रायः और भगवत् स्वरूपों में केवल ऐश्वर्य होने के कारण वह अपनी मर्यादा छोड़कर गोपकुमार को आलिङ्गन चुम्बनादि करके पूर्ण रस आस्वादन नहीं करा सके, परन्तु श्रीनन्दनन्दन के मिलन से उनकी सब अभिलाषायें पूरी होगई। इसीलिये और सब भगवत् स्वरूपों की अपेक्षा श्रीनन्दनन्दन का उत्कर्ष वर्णन किया गया है।

ग्रन्थकार का इन दोनों इतिहासों द्वारा श्रीप्रियाप्रीतम युगल स्वरूप का उत्कर्ष वर्णन करते हुए इन्हीं की उपासना करने के लिये आज्ञा देने का तात्पर्य है।

मुझ को अनुवाद करने का प्रथम बार ही सौभाग्य प्राप्त हुआ है, सम्भव है इस ग्रन्थ के अनुवाद करने में सिद्धान्त आदि निरूपण करने में तथा प्रूफ संशोधन में बहुतसी अशुद्धियाँ रह गई हों इस लिये श्री ग्रन्थकर्ता तथा अन्य पाठक गणों की सेवा में सविनय निवेदन है कि वह मुझको अज्ञान बालक जानकर क्षमा करेंगे।

भूमिका समाप्त करने से पहिले मैं १०८ श्री बाबा व्रजसुन्दरदास जी भक्तितीर्थ के चरणों में हृदय से अभिवादन करता हूँ जिनकी कृपा तथा सहायता बिना इतने बड़े ग्रन्थ का अनुवाद करना दुष्कर ही नहीं बल्कि असम्भव था। अन्त में जिन जिन महानुभावों ने इस ग्रन्थ को तथा प्रूफ संशोधन करने में सहायता दी है उनका मैं सर्वदा आभारी हूँ।

विनीत—रत्नलाल बेरीवाला

भक्ति सम्बन्धी कुछ आवश्यक ज्ञातव्य विषय

श्रद्धा से लेकर महाभाव पर्यन्त प्रेम-भक्ति के प्रादुर्भाव क्रम :—

"आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया । ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततोनिष्ठा रुचिस्ततः ॥
अथाऽसक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति । साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ॥
स्याद् दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम् । स्यान् मानः प्रणयोरागोऽनुरागोभाव इत्यपि ॥"

किसी अनिर्वचनीय भाग्य उदय अर्थात् साधुसंग द्वारा साधककी पहिले "श्रद्धा" होती है। फिर वह अभीष्ट "साधुसंग" अर्थात् श्रीगुरु पादाश्रय करता है। जो उसको "भजन करनेकी रीति" सिखलाते हैं। जिनसे उसके "अनर्थ" निवृत्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्यादि तो सर्वथा त्याज्य ही हैं। इनके अतिरिक्त चार और प्रबल अनर्थ—दुष्कृतोत्थ, सुकृतोत्थ, अपराधोत्थ तथा भक्त्युत्थ हैं। भगवत् कृपा से जब साधक इन से भी छुटकारा पाता है तब उसकी भक्तिमें यथार्थ "निष्ठा" होती है, अर्थात् वह विक्षेप रहित निरन्तर भजन करता है। जिसके प्रभाव से उसकी "रुचि" बढ़ती जाती है अर्थात् वह भक्ति में माधुर्य अनुभव करने लगता है। उस अनुभव से उसकी "आसक्ति" होती है अर्थात् उसका भगवान् में स्वाभाविक अभिनिवेश होता है। इसके पश्चात् वह साधक "भावराज्य" में प्रवेश करता है। प्रेमकी पूर्व अवस्थाका ही नाम भाव है उसके यह चिह्न हैं-

"क्षान्ति रव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता । आशाबन्धः समुत्कण्ठा नाम गाने सदा रुचिः ॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तत् वसतिस्थले । इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ॥"

भाव प्राप्त साधक का अन्तःकरण, क्षोभ के कारण विद्यमान होते हुये भी क्षुभित नहीं होता है। वह अपने समय को भजन विहीन नहीं विताता है। उसकी विषय से स्वाभाविक अरुचि होती है। सर्वगुण सम्पन्न होते हुये भी वह निरभिमानी होता है। उसको प्रभु मिलने का दृढ़ विश्वास होता है। इसलिये तीव्र लालसा से वह सदा नाम गान करता रहता है। उसकी आसक्ति गुणानुवाद में अहर्निश लगी रहती है, और उसकी लीलाधाम-श्रीवृन्दाबन आदि में अत्यन्त प्रीति हो जाती है। इस के पश्चात् साधक के अन्तः करण में "प्रेम" प्रादुर्भाव होता है। भाव की परिपक्व अवस्था का नाम ही प्रेम है। जैसे भक्तिरसामृतसिन्धु में विवरण है :--

"सम्यक् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः । भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमानिगद्यते ॥"

जिस समय भाव एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जिसके प्रभाव से साधक का अन्तःकरण सम्यक् रूपसे आर्द्र होजाता है, अभीष्ट के प्रति अतिशय ममता होजाती है, तथा उसको गाढ़ आनन्द का अनुभव होने लगता है उसीको रसिकजन प्रेम कहते हैं। इसके बाद प्रेमके ही आस्वादन बाहुल्य से उत्तरोत्तर ६ अवस्थायें हैं यथा "स्नेह"-प्रेमकी गाढ़ अवस्था का नाम ही स्नेह है। इस अवस्था में अत्यन्त ममता के कारण हृदय अतिशय पिघल जाता है। वह क्षण मात्र के लिये भी अपने प्रिय के विच्छेद को सहन नहीं कर सकता है। "मान"-स्नेह की ही एक उत्कृष्ट अवस्था का नाम मान है। जिसमें एकनवीन माधुर्य द्वारा बाम्य भाव प्रकट होजाता है। "प्रणय"-यही मान जब अपने प्रिय के साथ सर्वथा अभेद अनुभव कराता है, तब उसको प्रणय कहते हैं। "राग"-प्रणय की ही एक उच्च अवस्था है। जिसमें अभीष्ट प्राप्ति केलिये अत्यन्त दुख भी अति सुखकर हो जाता है। "अनुराग"-राग की गाढ़ अवस्था का ही नाम अनुराग है। इस अवस्था में वह अपने प्रिय को क्षण-क्षणमें नवीन अनुभव करता है। "भाव" अर्थात् "महाभाव"-अनुरागकी उच्चतम अवस्था है। इसमें एक साथ ही अष्ट सात्विक विकार प्रकट होते हैं। इस भाव के सम्पर्क में जो कोई भी जड, चैतन्य आ जाते हैं सब में यह आधार के अनुरूप संचारित हो जाता है। यावन्मात्र सिद्ध तथा साधक भक्त हैं उन सब में यही अंश रूप से विराजमान है।

विनीत—रत्नलाल

श्रीश्रीवृहद्भागवतामृत की विषय-सूची

प्रथम-खण्ड

पहिला अध्याय।

दूसरा अध्याय।

तीसरा अध्याय।

चौथा अध्याय।

पांचवाँ अध्याय।

छठवाँ अध्याय।

सातवाँ अध्याय।

द्वितीय-खण्ड

पहिला अध्याय।

✻ श्रीगुरवे नमः ✻

॥ श्रीकृष्णचैतन्य चन्द्रायनमः ॥ श्रीनिकुञ्जविहारिभ्यां नमः ॥

✻ श्रीरामकृष्णाभ्यां नमः ✻

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

प्रथम—खण्डम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

नमः श्रीकृष्णाय भगवतेराधिकारमणाय ।

(मङ्गलाचरण)

जयति निज पदाब्ज-
प्रेम दानावतीर्णो-
विविध मधुरिमाब्धिः-
कोऽपि कैशोर गन्धिः ।
गतपरमदशान्तं-
यस्य चैतन्य रूपा-
दनुभवपदमाप्तं-
प्रेमगोपीषुनित्यम् ॥ १ ॥

कोई एक अनिर्वचनीय नित्य किशोर हैं, जो कि विविध प्रकार की मधुरिमाओं के समुद्र हैं। जिन्होंने अपने चरणारविन्द का प्रेम दान करने के लिये ही अवतार धारण किया है। उन नित्य किशोर नागरेन्द्र चूड़ामणि श्रीकृष्ण भगवान् की सदा जय हो। वही श्रीकृष्ण (नवद्वीप में) श्रीकृष्णचैतन्य स्वरूप में अवतरित हुए हैं। उन्हीं की कृपा से दीन हीन पतितों ने भी उस अलौकिक गोपी प्रेम तत्त्व का साक्षात् अनुभव किया है ॥ १ ॥

श्रीराधिका प्रभृतयो नितरां जयन्ति-
गोप्यो नितान्त-भगवत् प्रियता प्रसिद्धाः।
यासां हरौ परम सौहृद माधुरीणां-
निर्वक्तु मीषदपिजातु न कोऽपिशक्तः ॥२॥

परम श्रेष्ठा स्वामिनी श्री राधिका आदि उन व्रज नागरियों की सदा जय हो जो कि भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य प्रसिद्ध प्रेयसी हैं। उनके श्रीकृष्ण विषयिक परम प्रेम माधुरी का लेशमात्र भी कोई वर्णन नहीं कर सकता है ॥ २ ॥

स्वदयितनिज भावं -
योविभाव्य स्वभावात्-
सुमधुरमवतीर्णो -
भक्त रूपेण लोभात् ।

श्रीकृष्ण भगवान् ने यह विवेचन करके निश्चय किया है कि मेरा जो भक्तों के प्रति प्रेम है उसकी अपेक्षा भक्तों का जो मुझमें प्रेम है वह विशेष माधुर्य युक्त है। इस लिये उस भक्त प्रेम के आस्वादन करने के लोभ से भक्त रूप से सन्यासी

जयति कनक धामा-
कृष्ण चैतन्य नामा-
हरिरिह यति वेशः -
श्रीशचीसूनुरेषः ॥ ३ ॥

वेष में कनक कान्ति के समान दिव्य मंगल विग्रह धारण किया है। जिनका नाम श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु है । उन शचीनन्दन हरि की सदा जय हो ॥ ३ ॥

जयति मथुरा देवी श्रेष्ठा पुरीषु मनोरमा-
परम दयिता कंसारातेर्जनिस्थितिरञ्जिता ।
दुरित हरणान्मुक्तेर्भक्तेरपि प्रतिपादना-
जगति महितातत्तत् क्रीड़ाकथास्तुविदूरतः ॥४॥

मथुरा पुरी की सदा जय हो। जो कि पवित्र सप्त पुरियों में श्रेष्ठतम, समस्त मनोरथों की पूर्ण करने वाली, श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्रिय तथा उनके जन्म एवं निवास स्थान से विभूषिता और प्रभू की अनेक लीला स्थली होने के कारण इस नगरी की महिमा वर्णनातीत है। समस्त पापों का विनाश करके मुक्ति और भक्ति देने के कारण ही सर्व श्रेष्ठ तथा सर्व पूजिता है ॥ ४ ॥

जयति जयति वृन्दारण्य मेतन्मुरारेः-
प्रियतममतिसाधु स्वान्तवैकुण्ठ बासात् ।
रमयति स सदागाः पालयन्यत्रगोपीः-
स्वरित मधुर वेणुर्वर्द्धयन् प्रेम रासे ॥५॥

भगवत् भक्तों के हृदय कमल एवं वैकुण्ठ निवास से भी जो श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्रिय है उस वृन्दाबन की सदा जय हो। जहाँ पर आप नित्य प्रति गैयों को चराते हैं। मधुर-मधुर मुरली बजा कर रासविलास में व्रजगोपिकाओं के प्रेम का विस्तार करके उन्हें निरन्तर सुख प्रदान करते रहते हैं ॥ ५ ॥

जयति तरणि पुत्री धर्म्मराज स्वसाया-
कलयति मथुरायाः सख्यमत्येतिगङ्गाम् ।
मुरहरदयिता तत्पाद पद्म प्रसूतम्-
वहति च मकरन्दं नीर पूरच्छलेन ॥६॥

भानु नन्दनी धर्मराज की अनुजा श्रीयमुना जी की सदा जय हो जिन्होंने श्री मथुरा नगरी से सखी भाव जोड़ कर अपनी महिमा से श्री गंगाजी को भी अतिक्रमण किया है। यह श्री कृष्ण की परम प्यारी हैं। यह यमुनाजी वास्तव में श्री श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों से प्रकट हुए अलौकिक भक्ति रस रूप मकरन्द को जल के रूप में प्रवाहित कर रही हैं ॥ ६ ॥

गोवर्द्धनो जयति शैल कुलाधिराजो-
यो गोपिकाभिरुदितो हरिदासवर्य्यः ।
कृष्णेन शक्रमख भङ्गकृतार्चितो यः-
सप्ताहमस्यकर पद्मतलेऽप्य वात्सीत् ॥७॥

श्री गोवर्धन की जय हो जो हिमालय सुमेरु प्रभृति पर्वतों के भी अधिराज हैं। जिनका नाम श्री वृज सुन्दरियों ने श्री हरिदासवर्य रखा है। इन्द्र के यज्ञ को विध्वंस करने वाले श्रीकृष्ण ने जिनका पूजन किया है और जिनको श्रीकृष्ण के हस्त कमल पर सात दिन रात तक बास करने का सौभाग्य प्राप्त है ॥ ७ ॥

जयति जयति कृष्ण प्रेम भक्तिर्यदङ्घ्रि-
निखिलनिगम तत्वं गूढ़ माज्ञाय मुक्तिः ।
भजति शरण कामा वैष्णवै स्त्यज्यमाना-
जपय जन तपस्या न्यासनिष्ठांविहाय ॥८॥

श्रीकृष्ण की उस प्रेम लक्षणा भक्ति की सदा जय हो, जिनके चरणारविन्दों को समस्त वेदों का गूढ़ तत्व जान कर; वैष्णवों द्वारा त्याज्य यह मुक्ति वेदाध्ययन, यज्ञ जप, तप, सन्यास आदि की निष्ठा को छोड़ कर भगवत शरण जाने की कामना से सर्वदा भजती रहती है ॥ ८ ॥

जयति जयति नामानन्द रूपं मुरारे-
र्विरमित निज धर्म्म ध्यान पूजादि यत्नम् ।
कथमपि सकृदात्तं मुक्तिदं प्राणिनायत्
परमममृतमेकं जीवनं भूषणं मे ॥९॥

आनन्द स्वरूप श्रीकृष्ण नाम की सदा जय हो, जिन्होंने इसका आश्रय लिया है, उनको यह नाम वर्णाश्रम धर्म, ध्यान, पूजा आदि की आसक्ति से छुड़ा देता है। कैसा भी प्राणी क्यों न हो जो एक बार भी किसी प्रकार से इसका उच्चारण करता है उसको यह नाम मुक्ति प्रदान कर देता है। ग्रन्थ कार कहते हैं कि मेरे लिये तो यह नाम एक मात्र अमृत मय भूषण स्वरूप तथा जीवन का सहारा है ॥९॥

नमः श्रीगुरु कृष्णाय निरुपाधि कृपाकृते ।
यः श्रीचैतन्यरूपोऽभूत् तन्वन्प्रेमरसंकलौ ॥१०॥

मैं श्रीकृष्ण स्वरूप श्री गुरु को अभिवादन करता हूँ जोकि कारण रहित कृपालु हैं और जो इस कलियुग में प्रेम रस के विस्तार करने के लिये श्रीकृष्ण चैतन्य स्वरूप से प्रगट हुये हैं ॥१०॥

भगवद्भक्ति शास्त्राणामयं सारस्य संग्रहः ।
अनुभूतस्य चैतन्य, देवे तत्प्रियरूपतः ॥११॥

यह ग्रन्थ समस्त भक्ति शास्त्रों का सारभूत संग्रह है। श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की सेवा अनुभूति से मुझ जैसे को संग्रह करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥

(कथा प्रारम्भ)

शृण्वन्तु वैष्णवाः शास्त्रमिदं भागवतामृतम् ।
सुगोप्यं प्राहयत्प्रेम्णा जैमिनिर्जनमेजयम् ॥१२॥

हे वैष्णव गणों! इस श्री वृहद्भागवतामृत ग्रन्थ को सुनिये। जो कि अत्यन्त गूढ़ है जिसको जैमिनि ऋषि ने परीक्षित नन्दन श्री जनमेजय से प्रेम पूर्वक कहा था ॥ १२ ॥

मुनीन्द्राज्जैमिनेः श्रुत्वा-
भारताख्यानमद्भुतम् ।
परीक्षिन्नन्दनोऽपृच्छत्तत्खिलं-
श्रवणोत्सुकः ॥१३॥

परीक्षित नन्दन श्री जनमेजय श्री जैमिनि ऋषि से अद्भुत भारत (जो कि जैमिनि भारत के नाम से विख्यात है) आख्यान को सुन कर जो कुछ अवशिष्ट रहा, उसको सुनने के लिये उत्कण्ठित होकर यह कहने लगे ॥ १३ ॥

श्रीजनमेजय उवाच ।

न वैशम्पायनात् प्राप्तो ब्रह्मन् !
यो भारते रसः ।
त्वत्तो लब्धः सतच्छेषं,
मधुरेण समापय ॥१४॥

श्रीजनमेजय बोले ।

हे ब्रह्मन् ! श्रीवैशम्पायन ऋषि से श्रीमहाभारत श्रवण करके जो रस मुझको प्राप्त नहीं हुआ था वह आपकी कृपा से प्राप्त हुआ है। अब आप कृपा करके उस अवशिष्ट विषय को मधुर रस से समाप्त कीजिये ॥ १४ ॥

श्रीजैमिनिरुवाच ।

शुकदेवोपदेशेन निहताशेष साध्वसम् ।
सम्यक्प्राप्त समस्तार्थं श्रीकृष्णप्रेम संप्लुतम् ॥
सन्निकृष्ट-निजाभीष्टपदारोहण कालकम् ।
श्रीमत् परीक्षितं माता तस्यार्ता कृष्णतत् परा ॥
विराट तनयैकान्ते, ऽपृच्छदेतन्नृपोत्तमम् ।
प्रबोध्यानन्दितातेन पुत्रेणस्नेह संप्लुता ॥
॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

श्रीजैमिनिजी बोले ।

हे राज श्रेष्ठ जनमेजय ! राजा परीक्षित श्री शुकदेवजी के उपदेश को सुनकर सब प्रकार से निर्भय होकर समस्त पुरुषार्थ प्राप्त करके श्रीकृष्ण प्रेम रस में परिपूर्ण होगये ॥ १५ ॥

परम भागवत परीक्षत के उस समय गोलोक जाने का अभीष्ट समय निकट जान कर विराट पुत्री उत्तरा पुत्र स्नेह में अत्यन्त दुखी होकर आर्त होगई ॥ १६ ॥

इस प्रकार महाभाग राजा परीक्षत माता को दुखी देख कर उनको विविध प्रकार के आश्वासन देने लगे। तब वह कृष्ण भक्ता उत्तरा आनन्दित होकर एकान्त में अपने पुत्र से इस प्रकार पूछने लगीं ॥ १७ ॥

श्रीउत्तरोवाच ।

यत् शुकेनोपदिष्टं ते, वत्स ! निष्कृष्यतस्य मे ।
सारं प्रकाशयक्षिप्रं, क्षीराम्भोधेरिवामृतम् ॥१८॥

श्री उत्तराजी बोलीं ।

हे वत्स ! जैसे देवताओं ने क्षीर समुद्र मन्थन करके अमृत प्रकट किया था उसी प्रकार जो तुमने श्री शुकदेवजी के मुखारविन्द से उपदेश सुना है उसका सारांश मुझ से शीघ्र कहिये ॥१८॥

उवाच सादरं रासा,
परीक्षिन्मातृवत्सलः ।
श्रुत्वात्यद्भुतगोविन्द-
कथाख्यानरसोत्सकः ॥१९॥

यह सुनकर मातृ वत्सल राजा परीक्षत जिन्होंने श्रीशुकदेवजी के मुखारविन्द से मनोहर श्रीकृष्ण कथा सुनी थी और जो उसको वर्णन करने के लिये उत्सुक हो रहे थे अपनी माता से सादर कहने लगे ॥ १९ ॥

मातर्यद्यपिकालेऽस्मिं श्चिकीर्षितमुनिव्रतः ।
तथाप्यहं तव प्रश्न, माधुरी मुखरीकृतः ॥२०॥
गुरोः प्रसादतस्तस्य, श्रीमतो बादरायणेः ।
प्रणम्य ते स पुत्रायाः, प्राणदं प्रभुमच्युतम् ॥२१

हे माता ! यद्यपि अब मेरे अभीष्ट धाम जाने के समय में मौन रखना ही उचित है तो भी आपके प्रश्नों की माधुरी ने मुझको वाचाल बना दिया है। अब मैं उन श्रीकृष्ण को प्रणाम करके जिन्होंने आपके सहित मेरी प्राण रक्षा की थी, उनकी करुणा से और गुरुदेव श्री शुकदेवजी की

तत् कारुण्यप्रभावेण श्रीमद्भागवतामृतम् ।
समुद्धृतं प्रयत्नेन श्रीमद्भागवतोत्तमैः ॥
मुनीन्द्रमण्डली मध्ये निश्चितं महतांमतम् ।
महागुह्यमयं सम्यक् कथयाम्यवधारय ॥
॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

अनुकम्पा से आपके प्रश्नों का उत्तर स्वरूप इस श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थ को भली प्रकार कहता हूँ। जो भागवतों में उत्तम नारदादिकों से बहुत यत्न करके उद्धृत किया गया है, बड़े-बड़े मुनियों के समाज में (श्रीपाराशरादि ऋषियों से) निश्चित् किया गया है, और जो गुह्य से गुह्य शास्त्रों का रहस्य है। उसको आप भली प्रकार से श्रवण कीजिये ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

एकदा तीर्थमूर्द्धन्ये प्रयागे मुनिपुङ्गवाः ।
माघे प्रातः कृतस्नानाः श्रीमाधवसमीपतः ॥२४
उपविष्टामुदाविष्टा, मन्यमानाः कृतार्थताम् ।
कृष्णस्यदयितोऽसीति, श्लाघन्तेस्मपरस्परम् ॥२५

एक समय माघ मास में श्री तीर्थराज प्रयाग में बड़े-बड़े मुनियों का समाज एकत्रित हुआ था। उन्होंने प्रातःकाल स्नान करके सर्व प्रथम भगवान् श्री वेणीमाधव जी का दर्शन किया। फिर वह अपने आपको कृतार्थ मानकर अपने-अपने आसनों पर आनन्द से बैठकर एक दूसरे की सराहना करते हुए यह कहने लगे, कि "आप ही श्रीकृष्ण के प्रिय पात्र हैं" ॥ २४ ॥ २५ ॥

मातस्तदानीं तत्रैव, विप्रवर्य्यः समागतः ।
दशाश्वमेधिके ·तीर्थे, भगवद्भक्तितत्परः ॥
सेवितोऽशेष सम्पद्भि, स्तद्देशस्याधिकारवान् ।
वृतः परिजनैर्विप्रभोजनार्थं कृतोद्यमः ॥
विचित्रोत्कृष्ट वस्तूनि, स निष्पाद्य महामनाः ।
आवश्यकं समाप्यादौ, संस्कृत्यमहतींस्थलीम् ॥
सत्वरं चत्वरं तत्र मध्येनिर्माय सुन्दरम् ।
उपलिप्यस्वहस्तेन, वितानान्युदतानयत् ॥
॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

हे माता! उस समय वहां दशाश्वमेध घाट पर एक श्रेष्ठ ब्राह्मण जो उस देश का राजा था, तथा जो भगवद्भक्ति में लगा हुआ था, अपने भाई बन्धुओं सहित आया। वह अनेक प्रकार की असीम सम्पत्तियों से युक्त था। वह विप्रवर बड़ा उदार चित्त होने से ब्राह्मण भोजन की तैयारी में लगा हुआ था। उसने बड़ी सुन्दर-सुन्दर सामिग्रियाँ इस काम के लिये तैयार कराई थीं। उसने पहले अपना नित्य कर्म समाप्त किया। फिर एक बड़ा स्थान तैयार करके शीघ्र ही उसके बीच में एक सुन्दर वेदी की रचना की। उसको अपने हाथों से लीप कर उस पर चंदोवा ताना ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

शालग्रामशिलारूपं, कृष्णं स्वर्णासने शुभे ।
निवेश्य भक्त्यासंपूज्य, यथाविधि मुदाभृतः ॥
भोगाम्बरादिसामग्री, मर्पयित्वा ग्रतोहरेः ।
स्वयं नृत्यन् गीतवाद्यादिभिश्चक्रेमहोत्सवम् ॥
॥ ३० ॥ ३१ ॥

उस वेदी के मध्य में उसने सुन्दर स्वर्ण के सिंहासन पर श्री शालिग्राम स्वरूप श्रीकृष्ण को विराजमान किया। फिर उनका वस्त्र आभूषण आदि से विधि पूर्वक पूजन करके भक्ति से भोग्य आदि समर्पण किया। फिर आनन्द में मग्न होकर श्रीश्यामसुन्दर के सम्मुख स्वयं नृत्य करते हुये अनेक प्रकार के गीत वाद्य से महोत्सव करने लगा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ततो वेदपुराणादिव्याख्याभिर्वादकोविदान् ।
विप्रान् प्रणम्य यतिनो, गृहिणो ब्रह्मचारिणः ॥
वैष्णवांश्च सदाकृष्णकीर्त्तनानन्दलम्पटान् ।
सुवहून्मधुरैर्व्वाक्यै, र्व्यवहारैश्चहर्षयन् ॥
पादशौचजलं तेषां, धारयन्शिरसि स्वयम् ।
भगवत्यर्पितैस्तद्वदन्नादिभिरपूजयत् ॥
॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

फिर उसने वेद पुराणादि शास्त्रों के जानने वाले, सन्यासी, गृहस्थी, ब्रह्मचारी, ब्राह्मणों को तथा उन वैष्णवों को जो हर समय भगवान् के कीर्तन में लगे रहते हैं मधुर-मधुर वाक्यों से यथा योग्य प्रणाम करके प्रसन्न किया । और उनके श्रीचरण धोवन जल को अपने मस्तक पर चढ़ाया। भगवान् के प्रसादी अन्न आदि से उन सबका सत्कार किया ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

भोजयित्वा ततोदीनानन्त्यजानपि सादरम् ।
अतोषयद्यथान्यायं, श्वशृगालान् खगक्रिमीन्॥ ३५

फिर दीन अभ्यागतों तथा अस्पृश्यादि अन्य जातियों को आदर सहित भोजन कराकर कुत्ता, गीदड़, पक्षी, तथा कीट आदि को भी यथा योग्य सन्तोष कराया ॥ ३५ ॥

एवं सन्तर्पिताशेषः, समादिष्टोऽथ साधुभिः ।
परिवारैः समं शेषं, सहर्षं बुभुजेऽमृतम् ॥३६॥

इस प्रकार समाधान करके साधुओं से आज्ञा पाकर उस ब्राह्मण ने अपने कुटम्बियों सहित आनन्द से अमृत के सदृश उस बचे हुए प्रसादी अन्न को ग्रहण किया ॥ ३६ ॥

ततोऽभिमुखमागत्य, कृष्णस्य रचिताञ्जलिः ।
तस्मिन्नेवार्पयामास, सर्वं तत्फलसञ्चयम् ॥३७॥

फिर उसने श्रीकृष्ण के सम्मुख उपस्थित होकर हाथ जोड़ते हुये इस सब कर्म के फल को प्रभू के चरण कमलों में अर्पण कर दिया ॥ ३७ ॥

सुखंसंवेश्य देवं तं, स्वगृहं गन्तु मुद्यतम् ।
दूराच्छ्रीनारदोदृष्ट्वोत्थितोमुनिसमाजतः ॥
अयमेव महाविष्णोः, प्रेयानिति मुहुर्ब्रुवन् ।
धावन् गत्वान्तिकेतस्य, विप्रेन्द्रस्येदमब्रवीत् ॥
श्रीकृष्णपरमोत्कृष्टकृपाया भाजनं जनम् ।
लोके विख्यापयन्व्यक्तं, भगवद्भक्तिलम्पटः ॥
॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

इसके पश्चात् श्रीभगवान् को आनन्द सहित शयन कराकर उस ब्राह्मण ने अपने घर जाने का विचार किया । उसी समय श्री नारदजी दूर से उस ब्राह्मण को देखकर, ऋषि समाज से उठकर भागते हुये बारम्बार यह कहने लगे "यह ब्राह्मण स्वयं भगवान् को बड़ा प्यारा है ।" यद्यपि वह भगवद्भक्ति रसिक श्रीनारदजी भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के कृपा पात्रों में सर्व श्रेष्ठ कृपा भाजन (श्री राधिका) को जानते हैं तथापि इस विषय को अच्छी तरह से लोक विख्यात् करने के लिये उस श्रेष्ठ ब्राह्मण के निकट जाकर यह कहने लगे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

श्रीनारदउवाच ।

भवान्विप्रेन्द्र ! कृष्णस्य, महानुग्रहभाजनम् ।
यस्येदृशं धनं द्रव्य, मौदार्य्यं वैभवं तथा ॥
सद्धर्म्मापादकं तच्च, सर्व्वमेव महामते ! ।

श्री नारदजी बोले ।

हे विप्रेन्द्र ! आप श्रीकृष्ण के बड़े कृपा पात्र हैं । आपका धन, दौलत, और समस्त वैभव उदारता पूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा में लगा हुआ है । हे महामते ! हमने यह सब कुछ इस तीर्थराज

दृष्टं हि साक्षादस्माभि, रस्मिंस्तीर्थवरेऽधुना ॥
॥ ४१ ॥ ४२ ॥

विद्वद्वरेण तेनोक्तो नन्विदं स महामुनिः ।
स्वामिन!किं मयिकृष्णस्य,कृपालक्षणमीक्षितम्४३
अहं वराकःकोनुस्यां,दातुं शक्नोमि वा कियत् ।
वैभवं वर्त्ततेकिं मे, भगवद्भजनं कुतः ॥४४॥

क्रिन्तु दक्षिणदेशेयो, महाराजो विराजते ।
स हि कृष्णकृपापात्रं, यस्यदेशेसुरालयाः ॥
सर्व्वतोभिक्षवो यत्र, तैर्थिकाभ्यागतादयः ।
कृष्णार्पितान्नं भुञ्जाना, भ्रमन्तिसुखिनःसदा ॥
राजधानी समीपे च सच्चिदानन्दविग्रहः ।
साक्षादिवास्ते भगवान्, कारुण्यात्स्थिरतांगतः॥
॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७॥

नित्यं नवनवस्तत्र, जायते परमोत्सवः ।
पूजाद्रव्याणि चेष्टानि,नूतनानि प्रतिक्षणम् ॥४८
विष्णोर्निवेदितै स्तैस्तु, सर्व्वे तद्देश वासिनः ।
वैदेशिकाश्चबहवो, भोज्यंते तेन सादरम् ॥४९
पुण्डरीकाक्षदेवस्य, तस्यदर्शन लोभतः ।
महाप्रसादरूपान्नाद्युपभोग-सुखाप्तितः ॥५०॥
साधुसंगतिलाभाच्च, नानादेशात्समागताः ।
निवसन्ति सदातत्र, सन्तोविष्णुपरायणाः ॥५१
देशश्च देवविप्रेभ्यो, राज्ञा दत्तोविभज्य सः ।
नोपद्रवोऽस्तितद्देशे,कोऽपिशोकोऽथवाभयम् ॥५२

प्रयाग पर, अपने इन नेत्रों से साक्षात् देखा है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

यह सुनकर वह विद्वान् ब्राह्मण कहने लगा। "हे मुनिवर! जो आप कहते हैं ऐसा नहीं है। हे स्वामिन! आपने श्रीकृष्ण की कृपा का मुझ में क्या लक्षण देखा? मैं तो एक क्षुद्र कीट के बराबर भी नहीं हूँ। मेरा क्या वैभव है? मैं क्या दे सकता हूँ? और मुझ से भगवद्भजन क्या हो सकता है?" ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

यदि आप भगवद्भक्ति देखना चाहते हैं तो, आप दक्षिण देश में जाइये। उस देश के जो राजा हैं वह श्रीकृष्ण के कृपा पात्र हैं। उनके देश में भगवान् के बहुत मन्दिर हैं। वहाँ जो कोई साधु महात्मा तीर्थ यात्री अभ्यागत जाते हैं उन सब को श्रीकृष्ण निवेदित अन्न भोजन कराया जाता है। इससे वह लोग सुखी होकर आनन्द में जहाँ तहाँ भ्रमण करते रहते हैं। उस राजा की राजधानी के पास एक बहुत विशाल मन्दिर है जहाँ श्री सच्चिदानन्द भगवान् कृपा करके श्री अर्चाविग्रह स्वरूप से साक्षात् विराजमान हैं ॥ ४५ ॥ ४६ ४७ ॥

जहाँ नित्य प्रति नये-नये उत्सव मनाये जाते हैं। और पूजा की सामग्रियाँ भी क्षण-क्षण में नवीन और सुन्दर भगवान् के निवेदित की जाती हैं। उस देश के निवासियों को तथा बहुत से दूसरे देशों के आये हुये लोगों को, उस राजा की ओर से श्रीकृष्ण का प्रसादी अन्न आदर पूर्वक भोजन कराया जाता है। श्री पुण्डरीकाक्ष भगवान् के दर्शन करने के लोभ से, महाप्रसाद पाकर सुख भोगने के लिये तथा सत्संग लाभार्थ नाना देश वासी वैष्णव, सन्त महात्मा वहाँ आकर सदा निवास करते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

उस भक्तवर्य राजा ने अपने उस देश को विभाजित करके ब्राह्मणों एवं भगवान् की सेवा में समर्पित कर दिया है। उस देश में कोई भी

अकृष्टपच्या सा भूमिर्वृष्टिस्तत्र यथा सुखम् ।
इष्टानि फलमूलानि, सुलभान्यम्बराणि च ॥५३
स्वस्वधर्म्मकृतः सर्व्वाः, सुखिन्यःकृष्णतत्पराः ।
प्रजास्तमनुवर्त्तन्ते, महाराजं यथासुताः ॥५४

उपद्रव, शोक, तथा भय नहीं है। वहाँ की भूमि विना ही खेती के अन्न देती है। और वहाँ वर्षा जिस तरह से प्रजा को सुख होता है, बरसती रहती है। वहाँ सब फूल फल बहुत सुन्दर होते हैं। और सब वस्त्रादि अनायास से ही प्राप्त होते रहते हैं। जहाँ की सब प्रजा अपने-अपने धर्म्म अनुष्ठानों में लगी रहती है। और सब लोग श्रीकृष्ण भक्ति में तत्पर होकर सुख लाभ करते रहते हैं। महाराजा की सब प्रजा पुत्रों के सदृश आज्ञा पालन करती है ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

स चागर्व्वः सदा नीचयोग्यसेवाभिरच्युतम् ।
भजमानोऽखिलान्लोकान्, रमयत्यच्युतप्रियः॥
तस्याग्रेविविधैर्नामगाथासंकीर्त्तनैः स्वयम् ।
नृत्यन्दिव्यानि गीतानि,गायन्वाद्यानिवादयन् ॥
भ्रातृभार्य्यासुतैः पौत्रै भृ'त्यामात्यपुरोहितैः ।
अन्यैश्चस्वजनैः साकं, प्रभु' तं तोषयेत् सदा ॥
॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

वह भगवद्भक्ति परायण राजा निराभिमानी होकर भगवान् की छोटी से छोटी मार्जनी आदि की सेवा करते हुये, समस्त लोकों को सुख प्रदान करते हैं। और वह भगवान् के सामने अपने भाई, बन्धु स्त्री, पुत्र, पौत्रादि तथा सब सेवक, मन्त्री, पुरोहित तथा और सब अपने कुटुम्बियों को साथ लेकर स्वयं नृत्य करते हुये, विविध प्रकार के सुन्दर गीत गाते हुये, नाना प्रकार के वाद्य बजाते हुये बहुत उत्साह के साथ नाम संकीर्तन करते हुये, अपने प्रभु को प्रसन्न करते हैं ॥ ५५ ॥ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

ते ते तस्य गुणव्राताः, कृष्णभक्त्यनुवर्तिनः ।
संख्यातु'कति कथ्यन्ते,ज्ञायन्ते कति वा मया॥५८

फिर वह ब्राह्मण कहने लगा "हे नारदजी ! मैं उन श्रीकृष्ण भक्तराजा के असंख्य गुणों को वर्णन करने में असमर्थ हूँ" ॥ ५८ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ततो नृपवरं द्रष्टु',तद्देशे नारदो व्रजन् ।
देवपूजोत्सवासक्ता, स्तत्र तत्रैक्षत प्रजाः ॥५९॥
हर्षेण वादयन् वीणां, राजधानींगतोऽधिकम् ।
विप्रोक्तादपि संपश्यन्,संगम्योवाच तं नृपम्॥६०

श्री परीक्षत्जी बोले ।

श्रीनारदजी यह सब वृतान्त सुन कर, उस राजा के दर्शन करने के लिये उस देश में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने यह देखा कि वहां की सब प्रजा दत्तचित्त होकर भगवत्-सेवा में लगी हुई है। इससे प्रसन्न चित्त होकर वह वीणा बजाते हुये उस राजा की राजधानी में गये और उस ब्राह्मण के वर्णन करने से भी अधिक उसकी भगवत् सेवा आदि में आसक्ति देख कर उस राजा से कहने लगे ॥ ५९॥६० ॥

श्रीनारद उवाच ।

त्वं श्रीकृष्णकृपापात्रं, यस्येदृग्राज्यवैभवम् ।

श्री नारदजी बोले ।

आप ही श्रीकृष्ण के कृपा पात्र हैं। जिनका

सल्लोकगुणधर्म्मार्थज्ञानभक्तिभिरन्वितम् ॥६१

समस्त राज पाट सज्जन लोगों से, उत्तम-उत्तम गुणों से, धर्म अर्थ ज्ञान भक्ति से सुशोभित है ॥६१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

श्री परीक्षित जी कहने लगे ।

तत्तद्विस्तार्य्य कथयन्नाश्लिष्यन्भूपतिं मुहुः ।
प्रशशंस गुणान्गायन् वीणयावैष्णवोत्तमः ॥६२

इस प्रकार वैष्णव श्रेष्ठ श्रीनारद जी उपरोक्त गुणों को विस्तार पूर्वक कह कह कर बार बार राजा को आलिङ्गन करके वीणा में गुणोंको गाते हुये प्रशंसा करने लगे ॥ ६२ ॥

सार्व्वभौमोमुनिदरं संपूज्यप्रश्रितोऽब्रवीत् ।
निजश्लाघाभराज्ञातलज्जानमितमस्तकः ॥ ६३

वह सार्वभौम राजा अपनी प्रशंसा मुनिवर से सुनकर बहुत लज्जित हुए। मस्तक झुकाकर, श्रीनारद जी का सम्यक् प्रकार से पूजन करके हाथ जोड़कर कहने लगे ॥६३॥

देवर्षे ऽल्पायुषं स्वल्पै
श्वर्य्यमल्पप्रदं नरम् ।
अस्वतन्त्रं भयाक्रान्तं
तापत्रयनियन्त्रितम् ।६४
कृष्णानुग्रह वाक्यस्या-
प्ययोग्यमविचारतः ।
तदीयकरुणापात्रं
कथं मां मन्यते भवान् ॥६५

'हे देवर्षिनारद ! आप मुझको इतनी बड़ाई क्यों देते हैं। मैं तो थोड़ी आयु वाला साधारण मनुष्य हूँ। मेरे पास इतनी सम्पत्ति नहीं है जिससे मैं अच्छी तरह से दान कर सकूं। मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ तीन प्रकार के तापों से तपा हुआ भयाक्रान्त हूँ। आपने मुझको बिना विचार किये ही श्रीकृष्ण का कृपापात्र किस तरह कह दिया ? मैं तो उनकी करुणा के योग्य तो क्या बल्कि मुझ में कृपापात्र होने का वाक्य भी चरितार्थ नहीं होता है" ॥६४॥ ६५ ॥

देवा एव दयापात्रं विष्णोर्भगवतः किल ।
पूज्यमाना नरै र्नित्यं तेजोमयशरीरिणः ॥६६

निष्पापाः सात्विका दुःखरहिताः सुखिनः सदा।
स्वच्छन्दाचारगतयो भक्तेच्छावरदायकाः ॥६७

येषां हि भोग्यममृतं मृत्युरोगजरादिहृत् ।
स्वेच्छयोपनतं क्षुत्तृड्बाधाभावेऽपि-तुष्टिदम् ॥६८

वसन्ति भगवन् ! स्वर्गे महाभाग्यवलेन ये ।
योनृभिर्भारतेवर्षे सत् पुण्यैर्लभ्यते कृतैः ॥६९

देवता ही निश्चय विष्णु भगवान् के दयापात्र हैं जिनका मनुष्य नित्य पूजन करते हैं, जिनका शरीर तेजमय है, वह निष्पाप हैं, सतोगुण युक्त हैं, दुख से रहित हैं और सदा सुखी हैं। उनके आचरण व गति स्वच्छन्द हैं, अपने भक्तों की सब प्रकार की मनोवांछा पूर्ण करते हैं। वह नित्य अमृत का पान करके अपनी जराव्याधि तथा मृत्यु को भी जीत लेते हैं। उनको भूख प्यास नहीं होने से भी वह अपनी इच्छा से यज्ञादि का भाग ग्रहण करके सन्तुष्ट होते हैं। हे भगवन् ! वह महा भाग्य के बल से उस स्वर्ग में निवास करते हैं जहाँ कि इस भारतवर्ष के लोग उत्तम उत्तम कर्म करने से ही जा सकते हैं ॥६६॥६७॥६८॥६९॥

मुने ! विशिष्टस्तत्रापि तेषामिन्द्रः पुरन्दरः ।

हे मुनीन्द्र ! उस स्वर्ग में सब देवताओं में पुरन्दर नामक इन्द्र सर्व श्रेष्ठ हैं। जो कृपा करने

निग्रहेऽनुग्रहेऽपीशो वृष्टिभिर्लोकजीवनः ॥७०॥
त्रिलोकीश्वरता यस्य युगानामेकसप्ततिम् ।
याश्वमेधशतेनापि सार्व्वभौमस्य दुर्लभा ॥७१॥
हय उच्चैःश्रवायस्य गज ऐरावतोमहान् ।
कामधुग्गौरुपवनं नन्दनश्च विराजते ॥७२॥
पारिजातादयोयत्र वर्त्तन्ते कामपूरकाः ।
कामरूपधराः कल्पद्रुमाः कल्पलतान्विताः॥७३॥
येषामेकेन पुष्पेण यथा कामंसुसिध्यति ।
विचित्रगीतवादित्रनृत्यवेशाशनादिकम् ॥७४॥
अः किं वाच्यं परं तस्य सौभाग्यं भगवानुगतः ।
कनिष्ठभ्रातृतांयस्य विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥७५॥
आपद्भ्यो यमसौरक्षन् हर्षयन्येनविस्तृताम् ।
साक्षात्स्वीकुरुते पूजां तद्वेत्सि त्वमुतापरम्॥७६॥

इति श्रीभागवतामृते भगवत्
कृपासार निर्द्धारखण्डे
भौमो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

तथा दण्ड देने में समर्थ हैं और संसार में वृष्टि करने के कारण सबके जीवन स्वरूप हैं। वह इस त्रिलोकी के अधीश्वर ७१ युगों की चौकड़ी समाप्त होने तक रहेंग। वह अधीश्वरता मुझ जैसे सार्व भौम को १०० अश्वमेध यज्ञ करने से भी दुर्लभ है। जिनका उच्चश्रवा घोड़ा है। ऐरावत हाथी है। कामधेनु गौ है। नन्दन नामक सुन्दर उद्यान है। जिसमें पारिजात आदि कल्प वृक्ष उन कल्प लताओं से सुशोभित हैं, जो कि मनोवांछा पूर्ण करती हैं। और अपनी इच्छा से जो चाहें सो स्वरुप धारण कर सकती हैं। जिनके एक ही पुष्प से विचित्र-विचित्र गीत वाद्य, अप्सराओं का नृत्य, अनेक वेष भूषण तथा भोजन आदि जैसी इच्छा करें अनायास प्राप्त हो सकते हैं॥ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

अहो! उन श्री इन्द्र के सौभाग्य को कौन वर्णन कर सकता है। साक्षात् श्री विष्णु भगवान् ने श्रीवामन स्वरूप से छोटे भाई होकर, उनकी अनेक आपदाओं से रक्षा करके उनको आनन्द प्रदान किया है। प्रभू उनसे निवेदित की हुई विस्तार पूर्वक पूजा को साक्षात् स्वरूप से प्रगट होकर ग्रहण करते हैं। हे देवर्षि! आप यह सब और इससे भी अधिक स्वयं भली प्रकार जानते हैं ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

इस श्री वृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के श्री भगवान् के श्रेष्ठ कृपा पात्रों के विवेचन नामक पहले खण्ड में भौम नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीपरीक्षिदुवाच।

प्रशस्य तं महाराजं स्वर्गतो मुनिरैक्षत।
राजमानं सभामध्ये विष्णुं देवगणैर्वृतम् ॥१

विचित्र कल्पद्रुम पुष्पमाला–
विलेपभूषावसनामृताद्यैः ।
समर्चितं दिव्यतरोपचारैः
सुखोपविष्टं गरुडस्य पृष्ठे ॥२

बृहस्पति प्रभृतिभिः स्तूयमानं महर्षिभिः ।
लाल्यमानमदित्या तान् हर्षयन्तंप्रियोक्तिभिः ॥३

सिद्धविद्याध्रगंधर्वाप्सरोभिर्विविधैः स्तवैः ।
जयशब्दैर्वाद्यगीतनृत्यैश्च परितोषितम् ॥४

शक्रायाभयमुच्चोक्त्या दैत्येभ्योददतंदृढम् ।
कीर्त्यार्प्यमाणंताम्बूलं चर्वंतं लीलयाहृतम् ॥५

शक्रश्च तस्य माहात्म्यं कीर्तयन्तं मुहुर्मुहुः ।
स्वस्मिन् कृतोपकारांश्च वर्णयन्तं महामुदा ॥६

सहस्रनयनैरश्रुधारा वर्षन्तमासने ।
स्वीयेनिषण्णं तत्पार्श्वेराजन्तं स्वविभूतिभिः॥७

अथ विष्णुं निजावासे गच्छन्तमनुगम्यतम् ।
सभायामागतं शक्र माशस्योवाच नारदः ॥८

श्रीपरीक्षितजी बोले।

श्रीदेवर्षि नारदजी उस राजाकी प्रशंसा करके स्वर्ग में पहुँचे और वहाँ उन्होंने श्रीविष्णु भगवान् के दर्शन किये जोकि सब देवताओं के सहित सभा मण्डल में सुशोभित हो रहे थे ॥ १ ॥

श्रीभगवान् आनन्द पूर्वक गरुड़ासीन थे। विचित्र कल्प-वृक्ष के सुन्दर सुगन्धित सुमनों की मालाओं एवं सुगन्धित चन्दन आदि से अर्चन किया गया था। उनको सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कराये गये थे। अमृत आदि उत्तमोत्तम पदार्थों का भोग लगाया गया था ॥ २ ॥

श्रीबृहस्पति आदि महर्षिस्तुति कर रहे थे। उनकी माता अदिति लालन पालन कर रही थीं। भगवान् अपनी मङ्गलमय वाणी द्वारा मधुर-मधुर शब्दों से आनन्द प्रदान कर रहे थे। और सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर तथा अप्सरादि आपको अनेक प्रकार के जय, घोष, स्तुति, गान, वाद्य, नृत्य आदि से प्रसन्न कर रही थीं ॥ ३ ॥ ४ ॥

आप इन्द्र को दैत्यों से सर्व प्रकार की गम्भीर स्वर में निर्भयता प्रदान कर रहे थे। श्रीकीर्ति-नाम्नि लक्ष्मी आपको ताम्बूल निवेदित कर रहीं थीं। जिसको आप बड़ी लीला से ग्रहण करके चर्वन कर रहे थे। श्रीइन्द्र महाराज आपके समीप अपनी विभूतियों सहित अपने आसन पर विराजमान थे। बार बार आपके यशको तथा किये हुये उपकारों, को गद्-गद् वाणी से वर्णन करते हुये अपने हजार नेत्रों से सानन्द अश्रुधारा बहा रहे थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

जबकि श्री भगवान् उपेन्द्रजी अपने निज निवास स्थान वैकुण्ठ में जाने लगे तब श्रीइन्द्र ने आपके पीछे पीछे अनुगमन किया। जबकि उन्होंने लौटकर अपनी सभा में प्रवेश किया तब

श्रीनारद उवाच ।

कृतानुकम्पितस्त्वं यत् सूर्य्य चन्द्रयमादयः ।
तवाज्ञाकारिणः सर्वे लोक पालाः परे किमु ॥६

मुनयोऽस्माद्दशोवश्याःश्रुतयस्त्वांस्तुवन्तिहि ।
जगदीशतयायत्वं धर्म्माधर्म्मफलप्रदः ॥१०

अहो नारायणो भ्राता कनीयान् यस्य सोदरः ।
सद्धर्मं मानयन् यस्य विदधात्यादरं सदा ॥११

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इत्थमिंद्रस्य सौभाग्यवैभवंकीर्त्तयन्मुहुः ।
देवर्षि र्वादयन् वीणां श्लाघमानोननर्त्त तम् ॥१२

ततोभिवाद्यदेवर्षिंमुवाचेंद्रः शनैर्हिया ।
भोगांधर्व कलाभिज्ञ ! किं मामुपहसन्नसि ॥१३

अस्य न स्वर्गराज्यस्य वृत्तंवेत्सित्वमेव किम् ।
कतिवारानितो दैत्यभीत्यास्माभिर्ननिर्गतम् ॥१४

आचरन् बलिरिंद्रत्वमसुरानेव सर्वतः ।
सूर्य्येन्द्राद्यधिकारेषु न्ययुंक्त क्रतुभाग भुक् ॥१५

ततो नस्तातमातृभ्यां तपोभिर्विततैर्द्दृढैः ।
तोषितोऽप्यंशमात्रेण गतोभ्रातृत्व-मच्युतः ॥१६

तथाप्यहत्वा तान् शत्रून् केवलं नस्त्रपाकृता ।
मायायाचनयाऽऽदाय वले राज्यं ददौ स मे॥१७

श्रीदेवर्षि नारद जी उनको आशीर्वाद देते हुये यह कहने लगे ॥ ८ ॥

श्रीनारद जी बोले ।

आप ही श्रीभगवान् के परम कृपा पात्र हैं। जब कि आपके आज्ञाकारी श्रीसूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य बड़े बड़े लोकपाल हैं तो साधारणों का कहना ही क्या है। मेरे जैसे वशवर्ती मुनिलोग तथा वेद की श्रुतियाँ जगदीश्वर स्वरूप से आपकी स्तुतिकर रहीं हैं। आपही धर्म और अधर्म के फल को प्रदान करने वाले हैं। आपके श्रीमन् नारायण जैसे सहोदर हैं, जोकि अपने ज्येष्ठ भ्राता का सदा अपने धर्मानुरूप से यथायोग्य सम्मान करते हैं अहो आपकी प्रशंसा मैं किन शब्दों से करूँ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

श्रीपरीक्षित् जी कहने लगे ।

इस प्रकार श्रीनारद जी इन्द्र के सौभाग्य तथा वैभव का बार बार वर्णन करते हुये, वीणा बजाकर सराहना करते हुये आनन्द में नृत्य करने लगे। फिर इन्द्र ने श्रीदेवर्षिजी को प्रणाम किया और लज्जित होकर धीमे स्वर से यह कहने लगे। "हे गन्धर्व कला विशारद! क्या आप मेरी स्तुति उपहास रूपमें कर रहे हैं ? क्या आप इस स्वर्ग का वास्तविक स्वरूप नहीं जानते ? कितनी बार क्या हम इस स्वर्ग को दैत्यों के भय से छोड़कर नहीं भाग गये हैं ? और क्या ये बात आपसे छिपी हुई है कि वली राजाने अपने बल से इस मेरे पद को प्राप्त कर लिया था। और अपने सहित सब दैत्योंको सूर्य. चन्द्रादि सब अधिकारों पर लगा. कर स्वयं आप यज्ञों के भागों को ग्रहण करने लगा था ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

"जब मेरे माता पिता ने कठोर तपस्या करके भगवान् को प्रसन्न किया तब वह अपने अंश स्वरूप से ही उपेन्द्र होकर मेरे छोटे भाई बने। इतना होते हुये भी भगवान् ने उन शत्रुओं को नहीं मारा वल्कि छल से वली राजा से राज्य लेकर मुझको प्रदान किया। इसमें भी हम लोगों के लिये लज्जा ही की वात हुई ॥ १६ ॥ १७ ॥

स्पर्द्धासूयादिदोषेण-
ब्रह्महत्यादिपापतः ।
नित्यपातभयेनापि-
किं सुखं स्वर्ग-वासिनाम् ॥१८॥

आप ही बताइये स्वर्ग वासियों को क्या सुख है ? जहाँ नित्य स्पर्धा अर्थात् अहंकार, असूया, अर्थात् गुणों में दोष आरोपण करना तथा ब्रह्महत्यादि पाप विद्यमान रहते हैं। तथा जहाँ नित्य पतन की आशंका बनी रहती है ॥१८॥

किंच मां प्रत्युपेंद्रस्य विदूध्युपेक्षां विशेषतः ।
सुधर्मां पारिजातं च स्वर्गान्मर्त्यं निनाय सः॥१९
गोपालैः क्रियमाणां मे न्यहन्पूजां चिरंतनीम् ।
अखंडं खांडवाख्यं मे प्रियं दाहितवान् वनम्॥२०

और क्या कहूँ ! श्रीउपेन्द्र भगवान् की भी विशेष रूप से मेरे प्रति उपेक्षा ही रहती है। क्योंकि उन्होंने सुधर्मा जैसी सभा को, पारिजात सरीखे वृक्षों को, इस स्वर्ग से ले जाकर मर्त्य लोक में स्थापना कर दिये हैं और जिन्होंने मेरी उस पूजा को जो कि गोप चिरकाल से करते थे, बन्द कर दिया है। और मेरे अत्यन्त प्रिय विशाल खाण्डव वन को अर्जुन से दग्ध करवा दिया है ॥ १९ ॥ २० ॥

त्रैलोक्यग्रासकृद् वृत्र-
वधार्थं प्रार्थितः पुरा ।
औदासीन्यं भजं स्तत्र
प्रेरयामास मां परम् ॥२१॥

प्राचीन काल में जब वृत्रासुर ने त्रिलोकी को ग्रास करने का विचार किया था तब हम सबने उसको बध कराने के लिये भगवान् से प्रार्थना की थी। उस समय भी आपने उदासीन भाव ग्रहण करके मुझको ही इस कार्य के लिये नियुक्त किया था ॥ २१ ॥

उत्साद्य मामवज्ञाय मदीयाममरावतीम् ।
सर्वोपरि स्वभवनं रचयामास नूतनम् ॥२२॥

जिन्होंने मेरा अनादर करके मेरी अमरावती को छिन्न-भिन्न करके एक सब से ऊपर नूतन अपने भवन अर्थात् वैकुण्ठ १ की रचना की है ॥ २२ ॥

आराधनवलात् पित्रो-
राग्रहाच्च पुरोधसः ।
पूजां स्वीकृत्य नः सद्यो
यात्यदृश्यं निजं पदम् ॥२३॥

वह भगवान् मेरे पिता माता की आराधना के बल से, तथा श्रीगुरु वृहस्पति जी के आग्रह से मेरी की हुई पूजा को ग्रहण करके जल्दी ही अपने उस वैकुण्ठ लोक को चले जाते हैं। फिर जब कभी प्रभू आते हैं तब भागते दौड़ते आते हैं। और हमारी की हुई पाद्य. अर्घ्य आदि पूजा

हरिवंश में इन्द्र बोले "हे नारदजी श्री भगवान् विष्णु ने मेरी अमरावती को फोड़ कर इस लोक के ऊपर एक सुन्दर लोक बनाया है। जिसको हम लोग दर्शन करने में भी समर्थ नही है "

१—इस विषय में श्री हरिवंश पुराण का यह प्रमाण है ।:—"इदं भक्त्वा मदीयं च भगवान् विष्णुनाकृतम्" । उपर्युपरि लोकानामधिकं भुवनं मुने ॥"

पुनः सत्वरमागत्य
स्वार्घ्य-स्वीकरणाद्वयम् ।
अनुग्राह्यास्त्वयेत्युक्तो
ऽस्मानादिशति वंचयन् ॥२४॥
यावन्नाहं समायामि तावद्ब्रह्मा शिवोऽथवा ।
भवद्भिः पूजनीयोऽत्र मत्तो भिन्नौ न तौ यतः॥२५
एकमूर्तिस्त्रयोदेवा रुद्र-विष्णु-पितामहाः ।
इत्यादिशास्त्रवचनं भवद्भिर्विस्मृतं किमु ॥२६॥
वासोस्यानियतोऽस्माभिरगम्यो मुनिदुर्लभः ।
वैकुंठे ध्रुवलोके च क्षीराब्धौ च कदाचन ॥२७॥
संप्रति द्वारकायां च तत्रापिनियमोऽस्ति न ।
कदाचित् पांडवागारे मथुरायां कदाचन ॥२८॥
पुर्य्यां कदाचित्तत्रापि गोकुले च वनाद्वने ।
इत्थं तस्यावलोकोऽपि दुर्लभोनःकुतःकृपा ॥२९॥
परमेष्ठिसुतश्रेष्ठ ! किंतु स्वपितरं हरेः ।
अनुग्रहपदं विद्धि लक्ष्मीकांतसुतो हि सः ॥३०॥
यस्यैकस्मिन् दिने शक्रा मादृशाःस्युश्चतुर्दश ।
मन्वादियुक्ता यस्याहःचतुर्युगसहस्रकम् ॥३१॥
निशा च तावतीत्थं याहोरात्राणांशतत्रयी ।
षष्ट्युत्तरा भवेद्वर्षं यस्यायुस्तच्छतंश्रुतं ॥३२॥
लोकानां लोकपालना-
मपि स्रष्टाधिकारदः ।
पालकः कर्मफलदो
रात्रौ संहारकश्च सः ॥३३॥

को ग्रहण कर लेते हैं। जब हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि "हे प्रभो! आपने हम लोगों पर बड़ी कृपा की है आप सदैव स्थिर भाव से यहाँ विराजिये।" तो वह हमको ऐसा उपदेश करते हैं जो एक प्रकार की वञ्चना ही है ॥ २३ ॥ २४ ॥

प्रभु यही कहते रहते हैं "जब तक मैं यहाँ नहीं आऊँ तब तक आप श्री ब्रह्माजी अथवा श्रीशिवजी का पूजन करते रहो क्योंकि वह दोनों मुझ से भिन्न नहीं हैं। क्या यह शास्त्रों का वचन आप लोगों को विस्मृत होगया है कि हम (ब्रह्मा विष्णु, महेश) तीनों एक ही हैं" ॥२५॥२६॥

फिर इन्द्र बोले "उनका निवास स्थान भी अनियत है, हमारा तो कहना ही क्या वह मुनि लोगों को भी दुर्लभ है। क्योंकि, कभी तो आप वैकुण्ठ में, कभी ध्रुव लोक में, कभी क्षीर सागर में रहते हैं। इस समय आप श्री द्वारिकापुरी में विराजमान हैं। वहाँ भी कोई नियम नहीं कभी तो आप पाण्डवों के यहाँ, कभी मथुरापुरी कभी गोकुल में, कभी एक वन से दूसरे वन में आते जाते रहते हैं। इस लिये उनके दर्शन भी दुर्लभ हैं कृपा की तो बात ही क्या है" ॥२७॥२८॥२९॥

हे ब्रह्मपुत्र श्रीनारदजी! आपके पिता श्री-ब्रह्माजी ही भगवान् के कृपा पात्र हैं क्योंकि वह साक्षात् श्रीलक्ष्मीकान्त भगवान् के पुत्र हैं। जिनके एक दिन में मनु आदि को लेकर मुझ जैसे चौदह इन्द्र अर्थात् १४ मन्वन्तर बीत जाते हैं। उनके एक दिन एक हज़ार चौकड़ी युगादि का होता है। इसी प्रकार इतनी बड़ी ही रात्रि समझें। ऐसे ३६० दिन रात होने से श्रीब्रह्माजी का एक वर्ष होता है। ऐसे ऐसे १०० वर्षों की उनकी परम आयु है यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है ॥ ३०-३१-३२॥

श्रीब्रह्माजी चौदह लोकों की उनके लोकपालों सहित सृष्टि करते हैं। उन लोक पालों को पालन करने का अधिकार देते हैं। उनकी रक्षा करते हैं, भिन्न भिन्न कर्मोंके फलों को प्रदान करते हैं और जब आपकी रात्रि होती है तो आप सब का संहार कर देते हैं ॥ ३३ ॥

सहस्रशीर्षा यल्लोके स महापुरुषः स्फुटं ।
भुञ्जानो यज्ञभागौघं वसत्यानंददः सदा ॥ ३४

इत्थं युक्तिसहस्रैः स श्रीकृष्णस्य कृपास्पदं ।
किं वक्तव्यं कृपापात्रमिति कृष्णः स एव हि॥३५

तच्छ्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यः प्रसिद्धं ज्ञायते त्वया ।
अन्यच्च तस्य महात्म्यं तल्लोकानामपि प्रभो ! ॥३६

जिन ब्रह्माजी के लोक में साक्षात् महापुरुष सहस्रशीर्षा अर्थात् श्रीभगवान् गर्भोदशायी सदा मूर्तिमान स्वरूप से विराजमान रहते हैं। जो कि यज्ञों के भागों को ग्रहण करके सबको आनन्द प्रदान करते रहते हैं। इसीलिये हजारों युक्तियों से हम यह निश्चय करते हैं, कि श्रीब्रह्माजी ही श्रीकृष्ण के कृपापात्र हैं। कृपापात्र ही क्या हम तो यहाँ तक कहते हैं, कि वह साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। हे प्रभो ! यह सब बातें श्रुतिस्मृति वाक्यों में प्रसिद्ध ही है, आप उनको और उनके लोक की महिमा को हमसे भी अधिक जानते हैं ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इंद्रस्य वचनं श्रुत्वा साधु भोः ! साध्विति ब्रुवन् ।
त्वरावान् ब्रह्मणो लोकं भगवान्नारदो गतः ॥३७

श्री परीक्षित जी कहने लगे ।

इस प्रकार श्रीइन्द्र के वचन सुनकर श्रीभगवान् नारदजी कहने लगे "हे इन्द्र ! तुम्हारी जय हो जय हो" इस प्रकार कहकर श्रीदेवर्षि नारदजी जल्दी से श्रीब्रह्माजी के लोक में पधारे ॥ ३७ ॥

यज्ञानां महतां तत्र ब्रह्मर्षिभिरनारतं ।
भक्त्या वितायमानानां प्रोद्‌घोषं दूरतोऽशृणोत्३८

ददर्श च ततस्तेषु प्रसन्नः परमेश्वरः ।
महापुरुष-रूपेण जटा-मंडल-मण्डितः ॥३९

सहस्रमूर्द्धा भगवान् यज्ञमूर्त्तिः श्रिया सह ।
आविर्भूयाददद्भागानानंदयति याजकान् ॥४०

वहाँ आकर श्रीनारद जी ने यह देखा कि बहुत से बड़े बड़े महर्षि भक्ति सहित निरन्तर यज्ञ अनुष्ठान कर रहे हैं उन्होंने दूर से उनकी मन्त्र आदि की ध्वनि को सुना और निकट जाकर यह देखा कि श्रीयज्ञ पुरुष भगवान् जो कि साक्षात् परमेश्वर हैं। श्रीलक्ष्मी जी के सहित महापुरुष स्वरूप से प्रगट होकर विराजमान हैं। जिनके हजारों मस्तक हैं, और जो जटाजूट से सुशोभित हैं, और जो ऋषियों के किये हुये यज्ञ से प्रसन्न होकर यज्ञ भाग को ग्रहण करके यजन करने वालों को आनन्द प्रदान कर रहे हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

पद्मयोनेः प्रहर्षार्थं द्रव्यजातं निवेदितं ।
सहस्रपाणिभिर्वक्त्रसहस्रेष्वर्पयन्नदन् ॥ ४१

वह प्रभु श्रीब्रह्माजी को आनन्द प्रदान करने के लिये उनसे अर्पण की हुई भोजन आदि सामग्रियों को अपने हजारों हाथों से लेकर हजारों मुखों में आरोग रहे हैं ॥ ४१ ॥

दत्त्वेष्टान् यजमानेभ्यो वरान् निद्रागृहं गतः ।
लक्ष्मीसंवाह्यमानांघ्रिर्निद्रामादत्त लीलया ॥ ४२

इसके पश्चात् य -पुरुष भगवान् यज्ञ करने वालों को अभिष्ट वर देकर शयन भवन में पधारे। वहाँ श्रीलक्ष्मी जी आपके चरण पलोटने लगीं। आप अपनी लीला से शयन करने लगे। तब श्री

तदाज्ञया च यज्ञेषु नियुज्यर्षीन्निजात्मजान् ।
ब्रह्मांडकार्य्यचर्चार्थं स्वं धिष्ण्यं विधिरागतः ॥४३
पारमेष्ठ्यासने तत्र सुखासीनं निजप्रभोः ।
महिमश्रवणाख्यानपरं साश्राष्टनेत्रकं ॥ ४४
विचित्रपरमैश्वर्य्यसामग्रीपरिसेवितं ।
स्वतातं नारदोऽभ्येत्य प्रणम्योवाच दण्डवत्॥४५

श्रीनारद उवाच ।

भवानेव कृपापात्रं ध्रुवं भगवतो हरेः ।
प्रजापतिपतिर्यो वै सर्वलोकपितामहः ॥४६
एकःसृजति पात्यत्ति भुवनानि चतुर्दश ।
ब्रह्मांडस्येश्वरो नित्यं स्वयंभूर्यश्च कथ्यते ॥४७
सभायां यस्य विद्यंते मूर्त्तिमन्तो ऽर्थबोधकाः ।
यच्चतुर्वक्त्रतो जाताः पुराणनिगमादयः ॥४८
यस्य लोकश्च निश्छिद्रः स्वधर्माचारनिष्ठया ।
मदादिरहितैः सद्भिर्लभ्यते शतजन्मभिः ॥४९
यस्योपरि न वर्त्तेत ब्रह्मांडे भुवनं परं ।
लोको नारायणस्यापि वैकुण्ठाख्यो यदंतरे ॥५०
यस्मिन्नित्यं वसेत्साक्षात्महापुरुषविग्रहः ।
स पद्मनाभो यज्ञानां भागानश्नन् ददत् फलं॥५१
परमान्वेषणायासैर्यस्योद्देशोऽपि न त्वया ।
पुरा प्राप्तः परं दृष्टस्तपोभिर्हृदि यः क्षणं ॥५२

ब्रह्माजी भगवान् की आज्ञा जानकर अपने पुत्रों को यज्ञ में लगाकर सृष्टि आदि कार्य करने के लिये अपने स्थान पर पधारे। वहाँ जाकर आप अपने आसन पर सुख पूर्वक बैठ गये। और अपने प्रभु की महिमा को गद् गद् कण्ठ से वर्णन करने लगे। तथा आठों नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाते हुये दूसरों से से श्रवण करने लगे। इसके पश्चात् श्री नारद जी अपने पिता श्रीब्रह्माजी को जो अनेक विचित्र ईश्वरत्व की सामग्रियों सेवित हैं, दण्डवत् प्रणाम करके कहने लगे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

श्रीनारद जी बोले।

आप ही भगवान् के कृपापात्र हैं। सब प्रजापतियों के पति हैं और सर्व लोक के पितामह हैं। आपही इस चौदह भुवन की सृष्टि, रक्षा, तथा संहार करते हैं। आपही इस ब्रह्माण्ड के नित्य ईश्वर हैं। आप स्वयं प्रगट हुये हैं इसलिये आप को ही स्वयम्भू कहते हैं ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

आपके ही चारों मुखार विन्दों से यह वेद, पुराण, शास्त्र आदि प्रगट हुये हैं जोकि दृष्ट अदृष्ट पदार्थों को जनाते हैं। जो मूर्तिमान स्वरूप से आपकी सभा में विराजमान रहते हैं ॥ ४८ ॥

यहाँ आपके लोक में वही मनुष्य आते हैं जोकि १०० जन्म तक निरहङ्कारी तथा दोष रहित होकर अपने अपने धर्म अनुष्ठानों में लगे रहते हैं ॥ ४९ ॥

इस ब्रह्माण्ड में आपके लोक के ऊपर और कोई दूसरा श्रेष्ठ लोक नहीं है। श्रीमन् नारायण का जो वैकुण्ठ लोक है वह भी आपके लोक के अन्तर्गत ही है। वहाँ श्री पद्मनाभ भगवान् महापुरुष स्वरूप से निवास करते हैं। जोकि आप के पिता हैं। और जो यज्ञों के भागों को ग्रहण करके यथोचित् फल प्रदान करते हैं। आपके प्रगट होने के समय जब आप कमल की नाल में चिरकाल तक अन्वेषण करते रहे और प्रभू के दर्शन नहीं हुये तो आपने अपनी तपस्या के बल से उनके क्षण काल के लिये अपने हृदय में ही साक्षाद् दर्शन किये। इस लिये सचमुच आप ही श्रीकृष्ण के

तत्सत्यमसि कृष्णस्य त्वमेव नितरां प्रियः ।

अहो, नूनं स एव त्वं लीलानानावपुर्धरः॥५३॥

अत्यन्त प्यारे हैं। अहो! प्यारे ही नहीं बल्कि आप ही श्रीकृष्ण हैं। जो कि अपनी लीलाओं से अनेक रूप धारण करते हैं॥५०-५१-५२-५३॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इत्थं माहात्म्यमुद्गायन्
विस्तार्य्य ब्रह्मणोऽसकृत् ।
शक्रप्रोक्तं स्वदृष्टं च
भक्त्यासीत्तं नमन्मुनिः ॥५४॥

शृण्वन्नेवं स तद्वाक्यं दासोऽस्मीतिमुहुर्वदन् ।
चतुर्वक्त्रोऽष्टकर्णानां पिधाने व्यग्रतां गतः॥५५॥

श्री परीक्षित्जी कहने लगे।

इस प्रकार श्रीनारदजी श्रीब्रह्माजी की उस महिमा को जो कि उन्होंने इन्द्र से सुनी थी अपनी आखों से यथार्थ देख कर उसी को बार बार विस्तार पूर्वक भक्ति युक्त गाते हुये उनको दंडवत् प्रणाम करने लगे। जब ब्रह्माजी ने अपनी महिमा को स्वयं अपने कानों से सुना तो वह जल्दी से व्यग्र होकर यह कहने लगे "मैं तो उनका दास हूँ दास हूँ" यह कहते हुये उन्होंने अपने आठों कानों को अपने हाथों से बन्द कर लिया ॥५४-५५॥

अश्रव्यश्रवणाज्जातं कोपं यत्नेन धारयन् ।
स्वपुत्रं नारदं प्राह साक्षेपं चतुराननः ॥५६॥

श्रीब्रह्माजी अपनी प्रशंसा जिसको वह सुनना नहीं चाहते थे, स्वयं सुनकर एक बार तो क्रोधातुर हुये फिर बहुत यत्न से उस क्रोध को रोक कर अपने पुत्र नारदजी की भर्त्सना करते हुये इस प्रकार कहने लगे ॥ ५६ ॥

श्रीब्रह्मोवाच ।

अहं न भगवान् कृष्ण इति त्वं किं प्रमाणतः ।
युक्तितश्च मयाऽभीक्ष्णं बोधितोऽसि न बाल्यतः ५७

श्री ब्रह्माजी बोले।

हे नारद! बालकपन से ही मैंने तुमको कितनी बार प्रमाणों सहित युक्तियो द्वारा समझाया है कि मैं श्रीकृष्ण नहीं हूँ. फिर भी तुम मुझको श्री कृष्ण कहते हो? ॥५७॥

तस्य शक्तिर्महामाया दासीवेक्षापथे स्थिता ।
सृजतीदं जगत्पाति स्वगुणैः संहरत्यपि ॥५८॥

तस्या एव वयं सर्वेऽप्यऽधीना मोहितास्तया ।
तन्न कृष्णकृपा लेशस्यापि पात्रमवेहि मां॥५९॥

श्रीकृष्ण की महामाया नाम्नि शक्ति दासी की तरह प्रभु के सन्मुख उनकी आज्ञा में हर समय खड़ी रहती है। वही इस जगत् को अपने गुणों से सृजति है पालन करती है, और संहार करती है। हम सब उसी माया से मोहित होकर उसके आधीन रहते हैं। इसलिये हे नारद! तुम अच्छी तरह से जानो मैं श्रीकृष्ण की कृपा का लेश मात्र भी पात्र नहीं हूँ ॥ ५८-५९ ॥

तन्माययैव सततं जगतोऽहं गुरुः प्रभुः ।

पितामहश्चकृष्णस्य नाभिपद्मसमुद्भवः ॥६०॥

मैं उनकी माया से मोहित होकर हर समय यह अभिमान करता रहता हूँ कि मैं इस जगत् का गुरु हूँ पालक हूँ सृष्टि करता हूँ और श्रीकृष्ण की नाभि पद्म से मेरा जन्म हुआ है। मैंने श्रीकृष्ण की तप द्वारा आराधना करके उनको सन्तुष्ट किया

तपस्व्याराधकस्तस्येत्याद्यैर्गुरुमदैर्हतः ।

ब्रह्मांडावश्यकार्यारव्यापारामर्शविह्वलः ॥६१॥

भूतप्रायात्मलोकीयनाशचिंतानियंत्रितः ।

सर्वग्रासि-महाकालाद्भीतो मुक्तिं परं वृणे ॥६२॥

तदर्थं भगवत्पूजां कारयामि करोमि च ।

आवासो जगदीशस्य तस्य वा न क्व विद्यते॥६३

वेदप्रवर्त्तनायासौ भागं गृह्णाति केवलं ।

स्वयं संपादितश्रेष्ठयज्ञस्यानुग्रहाय च ॥६४॥

विचाराचार्य्य ! बुध्यस्व
स हि भक्त्यैकवल्लभः ।
कृपां तनोति भक्तेषु
नाभक्तेषु कदाचन ॥६५॥

भक्तिर्दूरेऽस्तु तस्मिन् मे नापराधा भवंति चेत् ।

बहुमन्ये तदात्मानं नाहमागःसु रुद्रवत् ॥६६॥

मदाप्तवरजातोऽसौ सर्वलोकोपतापकः ।

हिरण्यकशिपुर्दुष्टो वैष्णवद्रोहतत्परः ॥६७॥

श्रीमन्नृसिंहरूपेण प्रभुणा संहृतो यदा ।

तदाहं सपरीवारो बिचित्र-स्तव-पाटवैः ॥६८॥

है। इत्यादि बड़े बड़े अभिमानों से मैं ग्रस्त हूँ। जो सब मेरे पतन के कारण हैं। जो मेरे शिर पर ब्रह्माण्ड के आवश्यक कार्यों का भार है उससे भी मैं हर समय विकल हीरहता हूँ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

और इस सत्य लोक के विनाश होने का समय अब समीप आ रहा है। इससे मैं सदा चिंतित रहता हूँ। तथा जो सबों को ग्रास करता है, उस महा काल से भयभीत होकर मैं एक मात्र मुक्ति की ही प्रार्थना करता हूँ ॥६२॥

उस मुक्ति को प्राप्त करने के लिये ही मैं स्वयं भगवद् आराधना करता हूँ और औरों से भी करवाता रहता हूँ। (जो आपने यह कहा कि तुम्हारे लोक में श्रीभगवान् निवास करते हैं) आप यह बताइये ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ प्रभु नहीं रहते हैं। भगवान् यज्ञों का भाग केवल वेद का प्रचार और यज्ञों की सफलता के लिये ही ग्रहण करते हैं ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

फिर परिहास से सम्बोधन देकर कहने लगे कि हे बिचाराचार्य नारद ! आप इस बात को अच्छी तरह से समझ लें कि भगवान् केवल एक भक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं। वह भक्तों पर ही कृपा करते हैं। अभक्तों पर उनकी कृपा कभी भी नहीं हो सकती है ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण चरणारविन्द में मेरी भक्ति की बात तो दूर रही मैं तो इसी में अपने आपको बड़ा मानता हूँ कि मेरा उन चरणों में अपराध न हो। भगवान् जिस प्रकार श्री शिवजी महाराज के अपराधों को क्षमा करते हैं उस प्रकार वह मेरे अपराधों को क्षमा नहीं करते हैं। दुष्ट हिरण्यकश्यपु जब मुझ से वर प्राप्त करके सब लोगों को दुख देने लगा और वैष्णवों से द्रोह करने लगा तब श्रीभगवान् ने श्रीनृसिंह रूप से प्रगट होकर उसका नाश किया। उस समय जब मैं सब देवताओं को साथ लेजा कर भय से दूर ही खड़े होकर प्रभुकी विविध प्रकार से स्तुति करने लगा

स्तुवन् स्थित्वा भयाद् दूरे ऽपांगदृष्ट्याऽपिनादृतः।
प्रह्लादस्याभिषेके तु वृत्ते तस्मिन् प्रसादतः ॥६९
शनैरुपसृतोऽभ्यर्णमादिष्टोऽहममिदं रुषा।
मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसंभव ! ॥७०॥
तथापि रावणादिभ्यो दुष्टेभ्योऽहं वरानदाम्।
रावणस्य तु यत्कर्म्म जिह्वाकस्य गृणाति तत् ७१

तब उन्होंने अपनी अपांगदृष्टि से भी मेरा आदर नहीं किया। किन्तु उस समय आप श्रीप्रह्लादजी की ही स्तुति से प्रसन्न हुये थे। श्रीप्रह्लादके राजतिलक के समय जबकि मैं उनके समीप भय से धीरे धीरे चल कर गया था, उस समय भगवान् ने अनखा कर यह कहा था "हे ब्रह्मन्! आप इस प्रकार के वर असुरों को कभी भी न दिया करें"। तो भी मैंने रावण जैसे दुष्टों को फिर वर दे दिये। उन्होंने ऐसे ऐसे उपद्रव किये जो किसी की जिह्वा से भी वर्णन नहीं हो सकते हैं॥ ६६ ॥६७ ॥ ६८ ॥ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥

मया दत्ताधिकाराणां शक्रादीनां महामदैः।
सदा हतविवेकानां तस्मिन्नागांसि संस्मर ॥७२
वृष्टियुद्धादिनेन्द्रस्य गोवर्द्धन-मखादिषु।
नन्दाहरणवारुणीयधेन्वऽदानादिनाऽप्पतेः ॥७३॥
यमस्य च तदाचार्य्यात्मजदुर्मारणादिना।
कुवेरस्यापि दुश्चेष्टशखचूड़कृतादिना ॥७४॥

मैंने जो अधिकार इन्द्र आदि देवताओं को दिये थे उनसे वह लोग मदान्ध होकर स्वयं भगवान् के प्रति अपराध करने लग गये। उनको आप स्मरण कीजिये। श्री गोवर्धन यज्ञ के समय इन्द्र ने व्रज को विनाश करने के लिये कितनी वृष्टि की, और पारिजात हरण के समय उन्होंने साक्षात् भगवान् के साथ युद्ध तक किया। वरुण श्रीकृष्ण के पिता श्री नन्दबाबा को हरण करके अपने पुर ले गये और उन्होंने वाणासुर सम्बन्धी धेनु को नहीं दिया। यमराज ने श्रीकृष्ण के गुरु पुत्र को पंचजन नामक दैत्य से मरवा दिया। इसी प्रकार कुवेरजी ने भी अपने अनुचर संखचूड़ द्वारा अपराध किया॥ ७२-७२-७४ ॥

अधोलोके तु दैतेया, वैष्णवद्रोहकारिणः।
सर्पाश्च सहजक्रोधदुष्टाः कालियबांधवाः ॥७५॥

पाताल में भी मेरे से ही अधिकार प्राप्त करके सब दैत्य वैष्णवों से द्रोह करते हैं। और काली नाग तथा उनके बन्धु सब सर्प बड़े क्रोधी होकर अनेक प्रकार के दुष्ट कर्म करने लग गये हैं ॥७५॥

संप्रत्यपि मया तस्य स्वयं वत्सास्तथार्भकाः।
वृन्दावने पाल्यमाना भोजने मायया हृताः ॥७६

अभी थोड़ा ही काल हुआ मैंने स्वयं वृन्दाबन में जाकर श्रीकृष्ण के वन भोजन के समय में ही उनके पालित बछड़े तथा ग्वालवालों को अपनी माया से हरण कर लिया था ॥७६॥

ततो वीक्ष्य महाश्चर्यं,
भीतः स्तुत्वा नमन्नपि।
धृष्टोऽहं वंचितस्तेन,
गोपबालकलीलया ॥७७॥

इसके पश्चात् मैं यह एक बड़ी आश्चर्य जनक घटना (अनेकों चतुर्मुखी, शतमुखी, ब्रह्माओं द्वारा प्रभु की स्तुति) देख कर भयभीत होगया। श्रीकृष्णकी स्तुति करके वारवार प्रणाम करने लगा। उस समय और भी अपने को धृष्ट समझकर

तस्य स्वाभाविकास्याब्ज-

प्रसादेक्षणमात्रतः ।

हृष्टः स्वं वहु मन्ये स्म-

तत्प्रियव्रजभूगतेः ॥७८

तत्रात्मनश्चिरस्थित्या-

ऽपराधाः स्युरिति त्रसन् ।

अपासरं किमन्यै स्त-

न्निजासौभाग्यवर्णनैः ॥७९

अथ ब्रह्मण्डमध्येऽस्मिं स्तादृग्नेक्षे कृपास्पदम् ।

विष्णोः किंतु महादेव एव ख्यातः सखेति यः॥८०

यश्च श्रीकृष्णपादाब्जरसेनोन्मादितः सदा ।

अवधीरितसर्वार्थपारमैश्वर्य्यभोगकः ॥८१

अस्मादृशो विषयिणो भोगसक्तान् हसन्निव ।

धुस्तूरार्कास्थिमालाधृग्नग्नो भस्मानुलेपनः ॥८२

विप्रकीर्णजटाभार उन्मत्त इव घूर्णते ।

तथा स्वगोपनासक्तः कृष्णपादाब्जशौचजाम् ।

गंगां मूर्द्धिन वहन् हर्षान्नृत्यन् चालयते जगत्॥८३

कृष्णप्रसादात्तेनैव मादृशामधिकारिणाम् ।

अभीष्टार्पयितुं मुक्ति स्तस्य पत्न्यापि शक्यते॥८४

पश्चात्ताप करने लगा कि श्रीकृष्ण की अनेकों (वन भोजन आदि) गोपवाल लीलाओं से वञ्चित रह गया । इस प्रकार के अनुताप करने पर भी श्रीकृष्ण ने अपनी आँख उठाकर भी मेरी तरफ नहीं देखा । लाचार मैंने इतने में ही अपने आपको कृतार्थ मान लिया कि मुझको वृजभूमि में जाने का सौभाग्य तो प्राप्त हुआ । और श्रीकृष्ण के मुखारविन्दमें जो स्वाभाविक हास्य और श्रीनेत्र कमलों में जो प्रसन्नता रहती है उसके मुझको दर्शन तो हो गये ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

मैं यह विचार करके कि मेरे अधिक समय तक यहाँ रहने से और अधिक अपराध ही होंगे इस भय से मैं वहाँ से लौट आया । हे नारद ! मैं अपने दुर्भाग्यों का क्या वर्णन करूँ । इससे क्या लाभ होगा ? ॥ ७९ ॥

श्रीब्रह्मा जी कहने लगे मैं तो इस ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई श्रीविष्णु भगवान् का कृपापात्र नहीं देखता हूँ । यदि हैं तो केवल एक श्रीमहादेव जी ही हैं जो कि उनके सखा रूप से विख्यात् हैं ॥८०॥

जो कि श्रीकृष्ण के चरणार-विन्द के रस में सदा उन्मत्त रहते हैं । और जिन्होंने उनके प्रेम में परम ऐश्वर्ययुक्त भोगों को तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चतुर्विध पुरुषार्थों को हीन समझ कर परित्याग कर दिया है, और वह धतूरा, आक आदि का सेवन करते हैं । और अस्थि की माला धारण करते हैं । नग्न रहते हैं, तथा सर्वांग में भस्म का लेपन करते हैं । मानो वह हमारे जैसे भोगों में आसक्त विषयियों को हंसते हैं । जो उन्मत्त की नाईं घूमते रहते हैं । उनकी जटाजूट बिखरी रहती हैं । जो अपने आपको गोपन करते हुये श्रीकृष्णचरणारविन्द से प्रगटी हुई श्रीगङ्गा जी को अपने मस्तक पर धारण करते हैं । बहुत प्रसन्न चित्त से ऐसे नृत्य कर रहे हैं कि मानो इस जगत् को हिला रहे हैं । श्रीकृष्ण की कृपा से वह मुझ जैसे अधिकारी को भी अभिष्ट मुक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं और उनकी अर्धाङ्गी

अहो !!! सर्वेऽपि ते मुक्ताः
शिवलोकनिवासिनः ।
मुक्तास्तत्कृपया कृष्ण-
भक्ताश्च कति नाभवन् ॥८५॥

कृष्णाच्छिवस्य भेदेक्षा
महादोषकरी मता ।
आगो भगवता स्वस्मिन्
क्षम्यते न शिवे कृतम् ॥८६॥

शिवदत्तवरोन्मत्तात्
त्रिपुरेश्वरतो भयात् ।
तथा वृकासुरादेश्च
संकटं परमं गतः ॥८७॥
शिवः समुद्धृतो ऽनेन
हर्षितश्च वचोऽमृतैः ।
तदन्तरंगसद्भक्त्या
कृष्णेन वशवर्तिना ।
स्वयमाराध्यते वाऽस्य माहात्म्यभरसिद्धये ॥८८॥

तिष्ठतापि स्वयं साक्षात् कृष्णेनामृतमन्थने ।
प्रजापतिभिराराध्य स गौरीप्राणवल्लभः ॥८९॥
समानाय्य बिषं घोरं पाययित्वा विभूषितः ।
महामहिमधाराभिरभिषिक्तश्च तत्स्फुटम् ॥९०॥

पुराणान्येव गायन्ति
दयालुत्वं हरे र्हरे ।

श्रीपार्वतीजी भी ऐसा कर सकती हैं। अहो ! जो शिवलोक में निवास करते हैं वे सब मुक्त हैं। श्रीशिवजी की कृपा से साधारण जीवों ने भी मुक्ति तथा श्रीकृष्ण भक्ति लाभ की है ॥८१ ॥ ८२॥ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

मेरे मत में श्रीकृष्ण से श्रीशिवजी को पृथक् देखना भी महादोष है। श्रीकृष्ण के प्रति जो कोई अपराध करता है, उसको तो आप क्षमा भी कर देते हैं, परन्तु जो शिवजी के प्रति अपराध करता है, उसको वह कभी भी क्षमा नहीं करते हैं ॥ ८६ ॥

जिस समय श्रीशिवजी महाराज ने त्रिपुराधीश्वर मय नामक दैत्य को तथा वृकासुर आदि दैत्यों को वर प्रदान करके अपने आपको संकट में डाल लिया था, उस समय श्रीकृष्णने ही उनकी रक्षा की थी। फिर भी प्रभुने मधुर मधुर अमृत सरीखे वाक्यों से श्रीशिवजी को आनन्दित किया था। उन श्री शिवजी ने अपनी अन्तरङ्ग श्रेष्ठ भक्ति से श्रीकृष्ण को इस प्रकार अपने बस में कर लिया है, जिसके प्रभाव से स्वयं श्रीकृष्ण ने श्रीशिवजी की महिमा को जगत् में प्रचार करने के लिये परशुराम आदि स्वरूप धारण करके श्रीशिवजी की आराधना की है ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

यह बात स्पष्ट है, अमृत मन्थन के समय स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की उपस्थिति में जब समुद्र से हलाहल घोर विष प्रगट हुआ था, तब श्रीकृष्ण ने उन श्रीपार्वती प्राणनाथ की प्रजापतियों द्वारा आराधना करवा कर उन्हीं को उस विष का पान कराया था, जिससे वह नीलकंठ नाम से विभूषित् हुये। ऐसा करने से मानों श्रीकृष्ण ने इस बड़ी महिमा द्वारा श्रीशिवजी का अभिषेक किया है ॥ ८९ ॥ ९० ॥

हे नारद ! जो श्रीकृष्ण की कृपा श्रीशिवजी के प्रति है उसको प्रायः समस्त पुराण गान करते

ज्ञायते हि स्वशाप्येतत्
परं च स्मर्यतां मुने ! ॥६१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

गुरुं प्रणम्य तं गन्तुं कैलासं गिरिमुत्सुकः ।

आलक्ष्योक्तः पुनस्तेन स्वपुत्रः पुत्रवत्सले! ॥६२॥

श्रीब्रह्मोवाच ।

कुबेरेण पुराराध्य भक्त्या रुद्रो वशीकृतः ।

ब्रह्मांडाभ्यंतरे तस्य कैलासेऽधिकृते गिरौ॥६३॥

तद्विदिक्पालरूपेण तद्योग्यपरिवारकः ।

वसत्याविष्कृतस्वल्पवैभवः सन्नुमापतिः ॥६४॥

यथाहि कृष्णो भगवान्
मादृशां भक्तियंत्रितः ।
ममलोके स्वरादौ च
वसत्युचितलीलया ॥६५॥

अथ वायुपुराणस्य मतमेतद्ब्रवीम्यहम् ।

श्रीमहादेवलोकस्तु सप्तावरणतो वहिः ॥६६॥

नित्यः सुखमयः सत्यो लभ्यस्तत्सेवकोत्तमैः ।

समानमहिमश्रीमत्परिवारगणावृतः ॥६७॥

महाविभूतिमान् भाति सत्परिच्छदमण्डितः ।

श्रीमत्संकर्षणं स्वस्मादभिन्नं तत्र सोऽर्चयन् ॥६८

हैं। मैंने जो आप से निवेदन किया है उससे भी अधिक आप स्वयं जानते हैं। मैं तो केवल आपको स्मरण कराता हूँ ॥ ६१ ॥

श्री परीक्षित्‌जी बोले ।

हे माता ! यह सुनकर श्रीनारदजी ने अपने पिता श्री ब्रह्माजी को प्रणाम् करके कैलाश जाने का विचार किया। यह देख कर श्रीब्रह्माजी फिर कहने लगे ॥ ६२ ॥

श्री ब्रह्माजी बोले ।

प्राचीनकाल में एक समय श्री कुबेरजी ने श्रीरुद्र को भक्ति युक्त आराधन करके वशीभूत कर लिया था । जिसके फल स्वरूप श्री उमापति महादेव ने इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत ही स्वयं दिक्पाल स्वरूप से अपने उचित थोड़े से ही वैभव को लेकर, इस कैलाश पर्वत पर, जो कि श्रीकुबेर के अधिकार में है, अपने परिवार सहित निवास करना स्वीकार कर लिया था ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण मेरे जैसों की भक्ति से यन्त्रित होकर मेरे लोक तथा स्वर्ग आदि में अपनी लीला से इन लोकों के उपयुक्त थोड़ा सा ही वैभव लेकर निवास करते हैं ॥ ६५ ॥

अब मैं आप से वायु पुराण का मत कहता हूँ। श्रीमहादेव का लोक सप्त आवर्ण से बाहर ही है, जो कि नित्य सुख स्वरूप तथा सत्य है। जो उनके उत्तम सेवकों से ही प्राप्त हो सकता है। वह लोक शिवजी के समान महिमा तथा सम्पत्ति वाले अपने परिवार तथा गणों से आवृत है ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

वह लोक बड़ी-बड़ी विभूतियों से तथा वेष भूषण से सुशोभित हैं। वहाँ शिवजी श्रीसंकर्षण भगवान् का, जो कि आपके अभिन्न स्वरूप हैं, अपने निज इष्ट स्वरूप से पूजन करते हैं, यही

निजेष्टदेवतात्वेन किंवा नातनुतेऽद्भुतम् ।
तत्र गन्तुं भवान् शक्तःश्रीशिवे शुद्धभक्तिमाम् ।
अभिगम्य तमाश्रित्य कृपां कृष्णस्य पश्यतु ॥६६

एक बड़ा आश्चर्य है। हे नारद ! आपकी श्री-शिवजी में शुद्ध भक्ति है, इसलिये आप वहाँ जा सकते हैं, और वहाँ जाकर उनकी शरणागति करके आप श्रीकृष्ण की कृपा को देख सकते हैं ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इत्येवं शिक्षितो मातः शिवकृष्णेति कीर्त्तयन् ।
नारदः शिवलोकं तं प्रयातः कौतुकादिव ॥१००

श्री परीक्षित्‌जी कहने लगे ।

हे माता ! इस प्रकार श्रीनारदजी ब्रह्माजी से शिक्षा प्राप्त करके अचम्भित से होकर "शिव कृष्ण" इस नाम को रटते हुये उस शिवलोक में गये ॥ १०० ॥

इति श्रीभागवतामृते श्रीभगवत्कृपा-
भरनिर्द्धारखण्डे दिव्यो नाम
द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इस श्रीवृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के श्रीभगवान के श्रेष्ठ कृपा पात्रों के विवेचन नामक खण्ड में "दिव्य" नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

भगवन्तं हरं तत्र भावाविष्टतया हरेः ।
नृत्यन्तं कीर्त्तयन्तं च कृतसंकर्षणार्चनम् ॥
भृशं नन्दीश्वरादींश्च श्लाघमानं निजानुगान् ।
प्रीत्या सजयशव्दानि गीतवद्यानि तन्वतः ॥
देवीं चोमां प्रशंसन्तं करतालीषु कोविदाम् ।
दूराद्दृष्ट्वा मुनिर्हृष्टो नमद्वीणां निनादयन् ॥
परमानुगृहीतोऽसि कृष्णस्येति मुहुर्मुहुः ।
जगौ सर्वश्च पित्रोक्तं सुस्वरं समकीर्त्तयत् ॥
॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

श्री परीक्षित् जी बोले ।

शिब लोक में, श्री शिव जी ने भगवान की भक्ति से आबिष्ट होकर श्री संकर्षण भगवान का पूजन समाप्त करके नृत्य करते हुये, उनके प्रेम में मग्न होकर कीर्तन करना आरम्भ किया। उनके गण नन्दीश्वर आदि प्रीति से उनके साथ जय जय कार करते हुए गीत वाद्य आदि करने लगे, श्री पार्वती जी अपने हस्तकमलों से उनके साथ चातुरी युक्त ताल देने लगीं. और उन सब की श्री शिव जी प्रशंसा करने लगे। ठीक उसी समय श्री नारद जी ने दूर से यह सबबृत्तान्त देखा और वह श्रीशिव जी को प्रणाम् करके वीणा में यह गाने लगे "आप श्रीकृष्ण के बड़े कृपा पात्र हैं" फिर उन्होंने अपने पिता श्री ब्रह्मा जी से सुनी हुई गुणावलि को मधुर स्वर से कीर्तन करना प्रारम्भ किया ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ श्रीरुद्रपादाब्जरेणुस्पर्शनकाम्यया ।
समीपेऽभ्यागतं देवो वैष्णवैकप्रियो मुनिम् ॥ ५
आकृष्याश्लिष्य संमत्तः श्रीकृष्णरसधारया ।
भृशं पप्रच्छ किं ब्रूषे ब्रह्मपुत्रेति सादरम् ॥ ६ ॥

इसके बाद ज्योंही श्री नारद जी श्री शिव जी महाराज की चरण रेणु को स्पर्श करने के लिये उनके निकट पहुँचे त्योंही श्री शिव जी ने, जोकि श्रीकृष्ण प्रेम धारामें मत्त हो रहे थे, और जिनको एकमात्र वैष्णब ही प्रिय हैं. दूर से आये हुये मुनि को अपने निकट खेंचकर उनका प्रगाढ़ आलिङ्गन किया और आदर सहित बार बार कहने लगे "हे ब्रह्मपुत्र! आप यह क्या कर रहे हैं?" ॥ ५ ॥ ६ ॥

ततः श्रीवैष्णवश्रेष्ठसंभाषणरसाप्लुतम् ।
संत्यक्तनृत्यकुतुकं मितप्रियजनावृतम् ॥ ७ ॥
पार्बतीप्राणनाथं तं वृष्यां वीरासनेन सः ।
आसीनं प्रणमन् भक्त्या पठन् रुद्रषडंगकम् ॥८

फिर शिव जी ने यह समझकर कर कि आज मुझको वैष्णव श्रेष्ठ श्री नारद जी से सम्भाषण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसी भाव से मग्न होकर अपने नृत्य आदि को बन्ध करके श्री पार्वती जी के सहित अपने थोड़े से प्रियजनों को साथ लेकर वह तपस्वियों के योग्य अपने आसन पर वीरआसन से बैठ गये। तब श्रीनारद जी ने श्री रुद्रषडंगस्तव पाठ करते हुये भक्ति से उनको प्रणाम किया। और जिस स्तोत्र में आपको

जगदीशत्वमाहात्म्यप्रकाशनपरैःस्तवैः ।

असतौद्विवृत्य तस्मिंश्च जगौ कृष्णकृपाभरम् ॥६॥

कर्णौ पिधाय रुद्रोऽसौ
संक्रोधमवदद्भृशम् ।
सर्ववैष्णवमूर्द्धन्यो
विष्णुभक्तिप्रवर्त्तकः ॥१०॥

श्रीरुद्रउवाच ।

न जातु जगदीशोऽहं नापि कृष्णकृपास्पदम् ।

परं तद्दासदासानां सदानुग्रहकामुकः ॥११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

संभ्रान्तोऽथ मुनिर्हित्वा
कृष्णे नैक्येन तत्स्तुतिम् ।
सापराधमिवात्मानं
मन्यमानोऽब्रवीच्छनैः ॥१२॥

श्रीनारदउवाच ।

सत्यमव भवान् विष्णोर्वैष्णवानां च दुर्गमाम् ।

निगूढां महिमश्रेणीं वेत्ति विज्ञापयत्यपि ॥१३॥

अतो हि वैष्णवश्रेष्ठैरिष्यते त्वदनुग्रहः ।

कृष्णश्च महिमानं ते प्रीतो वितनुतेऽधिकम् ॥१४

कति वारांश्च कृष्णेन वरा विविधमूर्तिभिः ।

भक्त्या भवन्त माराध्य गृहीताः कति संति न१५

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इति श्रुत्वा तु सहसा धैर्य्यं कर्तुमशक्नुवन् ॥

जगदीश्वर स्वरूप से प्रतिपादन किया गया है, उनसे उनकी स्तुति करते हुये श्रीकृष्ण की उनके प्रति जो परम कृपा है, उसको विस्तार पूर्वक गान करने लगे ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपनी प्रशंसा सुनकर वह शिवजी, जो कि सर्व वैष्णव शिरोमणि हैं, तथा जो विष्णु भक्ति का प्रचार करने वाले हैं, अपने कानों को बन्ध करके क्रोध से बार बार यह कहने लगे ॥ १० ॥

श्री महादेवजी बोले ।

हे नारदजी ! न तो मैं जगदीश्वर हूँ, और न श्रीकृष्ण के कृपा पात्रों में से हूँ। मैं तो सदैव उनके दासानुदास की कृपा की प्रार्थना करता रहता हूँ ॥ ११ ॥

श्री परीक्षित्जी कहने लगे ।

इस प्रकार सुनकर, श्रीनारदजी ने अपने आपको अपराधी माना। श्रीकृष्ण और श्रीशिवजी एक ही स्वरूप हैं, इस प्रकार की स्तुति करना छोड़ कर अब वह शनै-शनै यह कहने लगे ॥ १२ ॥

श्री नारदजी बोले ।

यह बात सत्य है, भगवान् और उनके भक्तों की महिमा को भली प्रकार आप ही जानते हैं। दूसरों को भी उस गूढ़ तथा दुर्गम महिमा को आप ही ज्ञात कराते हैं ॥ १३ ॥

इसलिये श्रेष्ठ वैष्णव भी आपकी कृपा की प्रतीक्षा करते हैं। श्रीकृष्ण भी प्रसन्न होकर आप की महिमा को अधिक बढ़ाते हैं ॥१४॥

कितनी बार, श्रीकृष्ण ने अनेक स्वरूप धारण करके, भक्ति सहित आपकी आराधना की है; और आप से अनेक वर प्राप्त किये हैं ॥ १५ ॥

श्रीपरीक्षित्जी बोले ।

इस प्रकार सुनकर श्रीशिवजी धीरज धारण नहीं कर सके। वह लज्जा से जल्दी उठ कर

लज्जितो द्रुतमुत्थाय नारदस्य मुखं हरः ।
कराभ्यां पिदधे धार्ष्ट्यं मम तन्न वदेरिति ॥१६॥

अनन्तरमुवाचोच्चैः सविस्मयमहो मुने ! ।
दुर्वितर्क्यतरं लीलावैभवं दृश्यतां प्रभोः ॥१७॥
अहो विचित्रगंभीरमहिमाब्धिर्मदीश्वरः ।
विविधेष्वपराधेषु नोपेक्षेत कृतेष्वपि ॥१८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

परमानंदितो धृत्वा
पादयो रुपवेश्य तम् ।
नारदः परितुष्टाव
कृष्णभक्तिरसप्लुतम् ॥१९॥

श्रीनारद उवाच ।

नापराधावकाशस्ते
प्रेयसः कश्चिदच्युते ।
कदाचिल्लोकदृष्ट्यापि
जातो नास्मिन् प्रकाशते ॥२०॥

स्वबाहुबलदृप्तस्य साधूपद्रवकारिणः ।

मायाबद्धानिरुद्धस्य युद्ध्यमानस्य चक्रिणा ॥२१

हतप्रायस्य बाणस्य निजभक्तस्य पुत्रवत् ।

पालितस्य त्वया प्राणरक्षार्थं श्रीहरिः स्तुतः॥२२

सद्यो हित्वा रुषं प्रीतो दत्त्वा निजस्वरूपताम् ।

भवत्पार्षदतां निन्ये तं दुरापां सुरैरपि ॥२३॥

नारदजी के मुख को अपने हाथों से बन्ध करके इस प्रकार कहने लगे "हे नारद! आप मेरी धृष्टता का वर्णन न करें" ॥ १६ ॥

फिर श्रीशिवजी बिस्मित होकर उच्च स्वर से यह कहने लगे "हे मुनि ! देखो प्रभु की लीला वैभव तर्क के अगोचर है। अहो! मेरे प्रभु विचित्र महिमा के गम्भीर समुद्र स्वरूप हैं, जो कि मुझ से अनेक प्रकार के अपराध होने पर भी, वह मेरी उपेक्षा नहीं करते हैं" ॥१७॥१८॥

श्रीपरीक्षित्जी बोले ।

यह सुनकर श्रीनारदजी ने परमानन्दित होकर, उन शिवजी के चरणारविंदों को पकड़ कर, आसन पर विराजमान कराया, जो कि श्रीकृष्ण भक्ति रस में निमग्न हो रहे थे। उनको प्रसन्न करके, वह उनकी स्तुति इस प्रकार करने लगे ॥ १९ ॥

श्रीनारदजी कहने लगे ।

आप श्रीकृष्ण के अत्यन्त प्यारे हैं। इसलिये आपका उनके विषय में कोई अपराध होने का कारण ही नहीं है। लोक दृष्टि से यदि ऐसा कभी हो भी जाय तो भी श्रीकृष्ण ग्रहण नहीं करते हैं ॥ २० ॥

जबकि वाणासुर ने अपनी भुजाओं के बल से अभिमान युक्त होकर साधुओं को सताना प्रारम्भ कर दिया था और उसने श्री अनुरुद्धजी को अपनी माया से बन्धन में डाल दिया, तब श्रीकृष्ण ने उससे युद्ध किया। जबकि आपके भक्त उस वाणासुर के प्राण निकलने को थे जिसको आपने अपने पुत्र की तरह पाला था। उस समय उसके प्राण रक्षा के लिये आपने श्रीकृष्ण की स्तुति की थी। तब श्रीकृष्ण ने अपने क्रोध को जल्दी ही परित्याग कर दिया था। सन्तुष्ट होकर उन्होंने उस वाणासुर को अपनी सारूप्य मुक्ति देकर आपका पार्षद बना दिया था। उसको वह गति दी जिस गति के लिये देवता लोग भी प्रार्थना करते रहते हैं ॥ २१ ॥२२॥२३॥

भवांश्च वैष्णवद्रोहिगार्ग्यादिभ्यः सुदुश्चरैः ।

तपोभिर्भजमानेभ्यो नाव्यलीकं वरं ददे ॥२४

चित्रकेतुप्रभृतयो-

ऽधियोऽप्यंशाश्रिता हरेः ।

निन्दका यद्यपि स्वस्य-

तेभ्योऽकुप्यस्तथापि न ॥२५

कृष्णस्य प्रीतये तस्मा-

च्छ्रैष्ठ्यमप्यभिवाञ्छता ।

तद्भक्ततैव चातुर्य्य-

विशेषेणार्थिता त्वया ॥२६

अतो ब्रह्मादिसंप्रार्थ्यमुक्तिदानाधिकारिताम् ।

भवते भगवत्यै च दुर्गायै भगवानदात् ॥२७

अहो ब्रह्मादिदुष्प्राप्ये ऐश्वर्य्ये सत्यपीदृशे ।

तत्सर्वं सुखमप्यात्म्यमनादृत्यावधूतवत् ॥२८

भावाविष्टः सदा विष्णोर्महोन्मादगृहीतवत् ।

कोऽन्यः पत्न्या समं नृत्येद्गणैरपि दिगम्बरः ॥

दृष्टोऽद्य भगवद्भक्तिलाम्पट्यमहिमाद्भुतः ।

तद्भवानेव कृष्णस्य नित्यं परमवल्लभः ॥

आः किं वाच्यानवच्छिन्ना कृष्णस्य प्रियता त्वयि

त्वत्प्रसादेन बहवोऽन्येपि तत्प्रियतां गताः ॥

॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पार्वत्याश्च प्रसादेन बहवस्तत्प्रियाः कृताः ।

तत्त्वाभिज्ञा विशेषेण भवतोरियमेव हि ॥३२

गार्ग्य आदि ऋषियों को, जिन्होंने यद्यपि कठोर तपस्या करके आपका भजन किया था, तो भी वैष्णव द्रोही जानकर उन लोगों को आपने निष्कपट वर नहीं दिये ॥ २४ ॥

किन्तु चित्रकेतु प्रभृति, जोकि श्रीकृष्णके अंश स्वरूप श्रीअनन्त भगवान् का पूजन करते थे, वह लोग आपकी महिमा को नहीं जानकर जब आप की निन्दा करने लगे, तब भी आप उन पर क्रोधित नहीं हुये ॥ २५ ॥

श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये, आपने उनकी आराधना करके जो यह वर माँगा था "कि जगत में मेरा आपसे भी अधिक मान्य हो" यह भी एक प्रकार की चातुरी से आपने उनके भक्त होने के लिये ही प्रार्थना की थी, क्योंकि श्रीकृष्ण अपनी पूजा से भी अपने भक्तों की पूजा अधिक मानते हैं ॥ २६ ॥

इसीलिये भगवान् ने, आपको और आपकी अर्धाङ्गी श्रीपार्वती जी को, उस मुक्ति प्रदान करने का अधिकार दे दिया है, जिसके लिये श्रीब्रह्मादिक देवता प्रार्थना करते रहते हैं ॥ २७ ॥

अहो ! आप उस ऐश्वर्य में जो ब्रह्मादिक देवताओं को दुष्प्राप्य है, सदा परिपूर्ण होते हुये भी उस ऐश्वर्य सुख का अनादर करके अवधूत की तरह रहते हैं। आप उन्मत्त सरीखे श्रीकृष्ण के प्रेम में सदा निमग्न रहते हैं। ऐसा कौन है जो अपनी अर्धांगी के साथ अपने गणों में दिगम्बर होकर नृत्य करे ? आज ही हमने भगवद्भक्ति रसके रसिकों की महिमा को अच्छी तरह से देखा है। इससे यह भली प्रकार से विदित होता है कि आप ही श्री कृष्ण के अत्यन्त प्यारे हैं। आप में जो श्रीकृष्ण प्रेम हर समय श्राव होता रहता है उसकी तो हम क्या प्रशंसा करें, आपकी कृपा से और भी बहुतों को श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त हुआ है ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पार्वती जी की कृपा से भी बहुतों को श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्त हुआ है। वह आपके और श्रीकृष्ण के तत्व को भली प्रकार से जानती हैं ॥ ३२ ॥

कृष्णस्य भगिनीवैषा स्नेहपात्रं सदाम्बिका ।

अत एव भवानात्मारामोऽप्येतामपेक्षते ॥३३

विचित्रभगवन्नाम-

संकीर्तन-कथोत्सवैः ।

सदेमां रमयन्-

विष्णुजनसंगसुखं भजेत् ॥३४

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ततो महेश्वरो मातस्त्रपयानमिताननः ।

नारदं भगवद्भक्तमवदद्वैष्णवाग्रणीः ॥३५

श्रीमहेशउवाच ।

अहो वत महत्कष्टं

त्यक्तसर्वाभिमान ! हे ।

काहं सर्वाभिमानानां

मूलं क्व तादृशेश्वरः ॥३६

लोकेशो ज्ञानदो ज्ञानी मुक्तो मुक्तिप्रदोऽप्यहम् ।

भक्तो भक्तिप्रदो विष्णोरित्याद्यहंक्रियावृतः ॥३७

सर्वग्रासकरे घोरे महाकाले समागते ।

विलज्जे ऽशेषसंहारतामसस्वप्रयोजनात् ॥३८

मयि नारद ! वर्तेत कृपालेशोऽपि चेद्धरेः ।

तदा किं पारिजातोषाहरणादौ मयारणः ॥३९

मां किमाराधयेद्दासं किमेतच्चादिशेत्प्रभुः ।

स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु॥४०

आवयोर्मुक्तिदातृत्वं यद्भगवान् स्तौति हृष्टवत् ।

यह अम्बिका श्रीकृष्ण की भगिनी होने से उनकी सदा स्नेह पात्री हैं। इसीलिये आप आत्माराम होते हुये भी उनसे स्नेह करते हैं ॥ ३३ ॥

उनको भगवान् के विचित्र विचित्र नाम संकीर्तन कथा आदि सुना-सुनाकर सदा सुख प्रदान करते रहते हैं। उनके सहयोग से आप भी भगवज्जन संग सुख को अनुभव करते रहते हैं ॥ ३४ ॥

श्रीपरीक्षित जी कहने लगे।

हे माता ! इसके पश्चात् वैष्णव अग्रणी श्री शिवजी लज्जा से शिर झुका कर भगवत् भक्त श्रीनारदजी से यह कहने लगे ॥ ३५ ॥

श्रीमहादेव जी बोले।

हे नारद जी ! आपने सब प्रकार के अभिमानों को त्याग दिया है। अहो ! बड़े दुख की बात है कहाँ तो मैं सब अभिमानों का मूल स्वरूप और कहाँ वे सर्वेश्वर भगवान् ? मैं तो अपने अभिमान से इस जगत् का अपने आपको ईश्वर मानता हूँ और यह अभिमान करता हूँ कि मैं ही ज्ञानी हूँ। ज्ञान प्रदान करने वाला हूँ। मुक्त हूँ और मुक्ति देने वाला हूँ। भगवान् का भक्त हूँ और भक्ति देने वाला हूँ। परन्तु प्रलय काल में जब कि काल भगवान् का, अपने घोर मुख में सब को निगल जाने का समय निकट आता है, उस समय मेरा समस्त संसार को संहार करने का तामस कार्य होता है, उसमें प्रवृत्त होकर मैं लज्जा को प्राप्त होता हूँ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

हे नारद जी ! यदि मुझ में श्रीकृष्ण की लेशमात्र भी कृपा होती, तो मैं उनसे पारिजात और ऊषा हरण के समय क्यों युद्ध करता ? यदि उनकी कृपा मुझ पर होती तो वह मुझ अपने दास की क्यों आराधना करते ? और वह मुझको यह आदेश क्यों करते कि तुम संसार में जाकर लोगों को अपने कल्पित तन्त्र आदिक शास्त्रों द्वारा मुझ से विमुख करो ? ॥ ३९ ॥ ४० ॥

हे नारद जी ! आप प्रसन्नचित्त होकर जो यह

तच्चातिदारुणं तस्य

भक्तानां श्रुतिदुःखदम् ॥४१॥

स्तुति करते हैं, कि हम दोनों को मुक्ति प्रदान करने की शक्ति है, यह भी अति दारुण वार्त्ता है, क्योंकि उनके भक्तों को इस मुक्ति का नाम सुन कर भी दुःख होता है ॥ ४१ ॥

तत्कृष्णपार्षदश्रेष्ठ ! मा मां तस्य दयास्पदम् ।

विद्धि किन्तु कृपासारभाजो वैकुण्ठवासिनः ॥४२

यैः सर्वं तृणवत्त्यक्त्वा भक्त्याराध्य प्रियं हरिम् ।

सर्वार्थसिद्धयो लब्ध्वापाङ्गदृष्ट्यापि नादृताः ॥४३

त्यक्तसर्वाभिमाना ये समस्तभयवर्जितम् ।

वैकुण्ठं सच्चिदानन्दं गुणातीतं पदं गताः ॥४४॥

हे नारद ! आप श्रीकृष्ण के पार्षदों में श्रेष्ठ हैं। आप मुझको उपरोक्त हेतु से श्रीकृष्ण का कृपा पात्र नहीं समझें। उनकी श्रेष्ठ कृपा के भाजन तो एक मात्र श्रीवैकुण्ठ निवासी ही हैं, जो कि तृण की नाई सब कुछ त्यागकर भक्ति से अपने प्यारे हरि की आराधना करते हैं। अष्ट सिद्धि आदि को प्राप्त होते हुये भी वह उनकी तरफ आँख उठा कर भी नहीं देखते हैं। वह सब प्रकार के अभिमानों को छोड़ कर उस वैकुण्ठ धाम को प्राप्तहोते हैं, जहाँ किसी प्रकार का भय नहीं है;जो स्थान गुणातीत होने से सच्चिदानन्द स्वरूप है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

तत्र ये सच्चिदानन्ददेहाः परमवैभवम् ।

संप्राप्तं सच्चिदानन्दं हरिसार्ष्टिश्च नाभजन् । ४५

वहाँ लोग सच्चिदानन्द देह पाकर तथा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के परम वैभव तथा सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीहरि के समान ऐश्वर्य को प्राप्त होकर भी, वह उन वस्तुओं का आदर नहीं करते हैं ॥ ४५ ॥

हरेर्भक्त्या परं प्रीता भक्तान् भक्तिं च सर्वतः ।

रक्षन्तो वर्धयन्तश्च संचरन्ति यदृच्छया ॥४६॥

क्योंकि वह भगवान् की भक्ति से सन्तुष्ट होकर, भगवान् के भक्तों की रक्षा करते हुये, उनकी भक्ति को बढ़ाते हुये, अपनी इच्छा से सब जगह विचरण करते रहते हैं ॥ ४६ ॥

मुक्तानुपहसन्तीव वैकुण्ठे सततं प्रभुम् ।

भजन्तः पक्षिवृक्षादिरूपैर्विविधसेवया ॥४७॥

कमलालाल्यमानाङ्घ्रिकमलं मोदवर्द्धनम् ।

संपश्यन्तो हरिं साक्षाद्रमन्ते सह तेन ये ॥४८॥

वह वैकुण्ठ में अपने प्रभु की पक्षी, वृक्ष आदि अनेक स्वरूपों से सेवा करते हुये विराजमान हैं। इससे वह मानों मुक्तों का उपहास कर रहे हैं। वह आनन्द प्रदान करने वाले उन भगवान् के दर्शन करके, उनके साथ विहार कर रहे हैं, जिनके चरणारविन्दों को श्री लक्ष्मीजी चाँपती हैं ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

अहो कारुण्यमहिमा श्रीकृष्णस्य कुतोऽन्यतः ।

वैकुण्ठलोके योऽजस्रं तदीयेषु च राजते ॥४९॥

अहो ! जैसी श्रीकृष्ण की करुणा वैकुण्ठ लोक वासियों पर निरन्तर रहती है, ऐसी कहीं भी नहीं है ॥ ४९ ॥

यस्मिन्महामुदाश्रान्तं प्रभोः संकीर्त्तनादिभिः ।
विचित्रामन्तराभक्तिं नास्त्यन्यत्प्रेमवाहिनीम्५०

वहाँ बहुत प्रसन्न चित्त से निरन्तर संकीर्तन आदि से की हुई प्रभु की विविध प्रकार की प्रेम बाहनी भक्ति को छोड़ कर, अन्य कोई चेष्टा ही नहीं है ॥ ५० ॥

अहो तत्परमानन्दरसाब्धेर्महिमाद्भुतः ।
ब्रह्मानन्दस्तुलां नार्हेद्यत्कणार्द्धांशकेनच ॥५१॥

अहो ! वहाँ परमानन्द रस समुद्र की महिमा अद्भुत है । उस आनन्द की एक बूंद के अर्धांश की तुलना भी ब्रह्मानन्द सुख से नहीं की जा सकती है ॥ ५१ ॥

स वैकुण्ठस्तदीयाश्च तत्रत्यमखिलं च यत् ।
तदेव कृष्णपादाब्जपरप्रेमानुकम्पितम् ॥५२॥

वह वैकुण्ठ, वहाँ के रहनेवालेऔर वहाँ के जो कुछ पदार्थ हैं, वह सब श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के प्रेम से अनुकम्पित हैं ॥ ५२ ॥

तादृक्कारुण्यपात्राणां श्रीमद्वैकुण्ठवासिनाम् ।
मत्तोऽधिकतरस्तत्तन्महिमा किं नु वर्ण्यताम् ॥५३

उसी प्रकार वैकुण्ठ निवासी जो श्रीकृष्ण के कृपा पात्र हैं, उनकी महिमा मेरे से भी अधिक है, और मैं क्या वर्णन करूँ ? ॥५३॥

पाञ्चभौतिकदेहा ये मर्त्यलोकनिवासिनः ।
भगवद्भक्तिरसिका नमस्या मादृशां सदा ॥५४॥

यहाँ तक पञ्चभौतिक देह धारी जो कि भगवद्भक्ति रसिक हैं,वह भी मुझ जैसे के लिये सदा अभिवादन करने योग्य हैं ॥५४॥

श्रीकृष्णचरणाम्भोजार्पितात्मानो हि ये किल ।
तदेकप्रेमलाभाशा त्यक्तार्थजनजीवना ॥५५॥

ऐहिका-मुष्मिका-शेष-साध्य-साधन-निस्पृहाः ।
जाति-वर्णाश्रमा-चारधर्म्माधीनत्वपारगाः ॥५६॥

ऋणत्रयादनिर्मुक्ता वेदमार्गातिगा अपि ।
हरिभक्तिबलावेगादकुतश्चिद्भयाः सदा ॥५७॥

नान्यत्किमपि वाञ्छन्ति तद्भक्तिरसलम्पटाः ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥५८॥

जिन्होंने श्रीकृष्ण चरण में प्रेम प्राप्ति के लिये अपने अर्थ, कुटम्ब, तथा जीवन को छोड़कर, अपनी आत्मा को उनके चरणारविन्दमें अर्पण कर दिया है, और जो इस लोक तथा परलोक के सब साध्य साधनों से निष्प्रेही हो गये हैं, जो जाति, बर्ण, आश्रम, धर्म, के आचरण करने से पार हो गये हैं, जो तीन प्रकार के ऋणों से छूट गये हैं और जिनको वेद मार्ग छोड़ने से भी हरि भक्ति के प्रभाव से कहीं भी कदापि भय नहीं है, वह भक्ति रसिक श्रीकृष्ण को छोड़कर और किसी वस्तु की वाञ्छा नहीं करते हैं। उनके लिये स्वर्ग नर्क तथा मोक्ष भी एक समान हैं। ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

भगवानिव सत्यं मे त एव परमप्रियाः ।
परमप्रार्थनीयश्च मम तैः सह संगमः ॥५९॥

मैं सौगन्द खाकर कहता हूँ, कि जितने मुझको भगवान् प्यारे हैं, उतने ही उनके भक्त भी हैं। मैं यही चाहता हूँ कि मुझे उन भक्तों का संग प्राप्त हो ॥ ५९ ॥

नारदाहमिदं मन्ये तादृशानां यतः स्थितिः ।
भवेत्स एव वैकुण्ठो लोको नात्र विचारणा ॥६०

हे नारद! मैं तो यह मानता हूँ, कि जहाँ इस प्रकार के भक्त रहते हैं वही वैकुण्ठ लोक है। इसमें दूसरी कोई सोच विचार की बात नहीं है ॥ ६० ॥

कृष्णभक्तिसुधापानाद्देहदैहिकविस्मृतेः ।
तेषां भौतिकदेहेऽपि सच्चिदानन्दरूपता ॥६१॥

जिनको श्रीकृष्ण भक्ति रूपी अमृत पान करने से अपने देह तथा दैहिक कर्मों का विस्मरण हो जाता है, उनके पञ्च भौतिक देह भी सदा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं ॥ ६१ ॥

परं भगवता साकं साक्षात्क्रीडापरम्पराः ।
सदानुभवितुं तैर्हि वैकुण्ठोऽपेक्ष्यते क्वचित् ॥६२

इस प्रकार होने से भी, वह भक्त भगवान के साथ साक्षात् विविध क्रीड़ा करने के लिये वैकुण्ठ प्राप्ति की आवश्यकता समझते हैं ॥ ६२ ॥

अतोहि सर्वे तत्रत्या मयोक्ताः सर्वतोऽधिकाः ।
दयाविशेषविषयाः कृष्णस्य परमप्रियाः ॥६३॥

इसीलिये मैंने उन सब वैकुण्ठ निवासियों को सब से अधिक महिमा वाले प्रतिपादन किया है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के परम प्यारे हैं, और उनकी दया के विशेष रूप से भाजन हैं ॥ ६३ ॥

श्रीपार्वत्युवाच ।

तत्रापि श्रीर्विशेषेण प्रसिद्धा श्रीहरिप्रिया ।
तादृग्वैकुण्ठवैकुण्ठवासिनामीश्वरी हि या ॥६४॥

श्री पार्वतीजी कहने लगीं ।

उन वैकुण्ठ निवासियों में भी विशेष रूप से श्रीलक्ष्मीजी भगवान की अत्यन्त प्यारी हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि वह उस वैकुण्ठ तथा वैकुण्ठ वासियों की ईश्वरी हैं ॥ ६४ ॥

यस्याः कटाक्षपातेन लोकपालविभूतयः ।
ज्ञानं विरक्तिर्भक्तिश्च सिध्यन्ति यदनुग्रहात्॥६५

जिनके कटाक्ष पात से ही लोकपालों को विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, और जिनकी कृपा से ही ज्ञान वैराग्य और भक्ति सिद्ध होती हैं ॥ ६५ ॥

या विहायादरेणापि
भजमानान् भवादृशान् ।
वव्रे तपोभिराराध्य
निरपेक्षं च तं प्रियम् ॥६६॥

वह लक्ष्मी आप जैसों को, जो कि आदर सहित उनको भजते हैं, छोड़कर अपने प्यारे, उन श्रीकृष्ण को, जिनको लक्ष्मी प्राप्ति की इच्छा नहीं है, तप सहित आराधना करके वरण करती हैं ॥ ६६ ॥

करोति वसतिं नित्यं या रम्ये तस्य वक्षसि ।
पतिव्रतोत्तमाशेषावतारेष्वनुयात्यमुम् ॥६७॥

वह लक्ष्मी प्रभू के सुन्दर वक्ष स्थल में सदा निवास करती हैं, जो सब पतिव्रताओं में उत्तमा हैं। जब भगवान अवतार धारण करते हैं, तब वह आपके साथ अवतार लेती हैं ॥६७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ततः परमहर्षेण क्षोभितात्मा लपन्मुनिः ।

श्रीपरीक्षितजी बोले ।

यह सुनकर श्रीनारदजी परमानन्दित होकर

जय वैकुण्ठलोकेति तत्रत्या जयतेति च ॥६८॥

जय श्रीकमलाकान्त ! हे वैकुण्ठपते ! हरे !

जय कृष्णप्रिये!पद्मे!वैकुण्ठाधीश्वरीत्यपि ॥६९॥

अथाभिनन्दनायास्या वैकुण्ठे गन्तुमुत्थितः ।

अभिप्रेत्य हरेणोक्तः करे धृत्वा निवार्य्य सः॥७०

इस प्रकार कहने लगे। "वैकुण्ठ लोक की जय हो। वैकुण्ठ निवासियों की जय हो। श्रीकमलाकान्त भगवान की जय हो। हे वैकुण्ठ पति ! आपकी जय हो। हे हरे ! आपकी जय हो। हे कृष्णप्रिये ! हे पद्मे ! हे वैकुण्ठाधीश्वरी ! आपकी जय हो" ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

इस प्रकार कहकर श्रीनारदजी, श्रीलक्ष्मीजी की प्रशंसा करने के लिये वैकुण्ठ जाने को उद्यत हुए। उनके इस अभिप्राय को समझ कर, श्रीमहादेवजी ने वहाँ जाने से हाथ पकड़ कर रोक लिया, और यह कहने लगे ॥ ७० ॥

श्रीमहेशउवाच ।

कृष्णप्रियजनालोकोत्सुकताविहतस्मृते ! ।

न किं स्मरसि? यद्भूमौ द्वारकायां वसत्यसौ॥७१

श्री महादेवजी बोले ।

हे नारदजी ! श्रीकृष्ण के प्रिय जनों के दर्शनावेश की उत्कण्ठा में भूल गये हैं ? क्या आपको यह स्मरण नहीं है ? कि वह भगवान आज कल श्री द्वारिकाजी में बिराजमान हैं ॥७१॥

रुक्मिणी सा महालक्ष्मीः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं ।

तस्या अंशावतारा हि वामनादिसमीपतः ॥७२॥

वहाँ श्रीरुक्मणी ही महालक्ष्मीजी हैं, श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। श्री वामनादि भगवान के समीप जो लक्ष्मीजी विराजमान हैं, वह भी श्रीरुक्मिणीजी के ही अंशावतार हैं ॥७२॥

सम्पूर्णा परिपूर्णस्य लक्ष्मीर्भगवतः सदा ।

निषेवते पदाम्भोजे श्रीकृष्णस्यैव रुक्मिणी ॥७३॥

परिपूर्ण भगवान श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की, वह पूर्ण लक्ष्मी स्वरूपा श्री रुक्मिणीजी ही सदा सेवा करती हैं ॥७३॥

तस्मादुपविश ब्रह्मन् ! रहस्यं परमं शनैः ।

कर्णे ते कथयाम्येकं परमश्रद्धया शृणु ॥७४॥

त्वत्तातो मद्गरुडादितश्च
श्रियोऽपि करुण्यविशेषपात्रं ।
प्रह्लाद एव प्रथितो जगत्यां
कृष्णस्य भक्तो नितरां प्रियश्च ॥७५॥

हे ब्रह्मन् ! इसी लिये आप तनिक बैठिये। मैं आपके कान में एक परम रहस्य मय बात धीरे धीरे कहता हूँ। आप श्रद्धा पूर्वक श्रवण कीजिए। आपके पिता ब्रह्मा, गरुड़ आदि पार्षद श्रीलक्ष्मी जी तथा मुझ से भी अधिक श्रीप्रह्लादजी ही श्रीकृष्ण के कृपा पात्र हैं। यह बात जगत में प्रसिद्ध है कि वह उनके अत्यन्त प्यारे भक्त हैं ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

भगवद्वचनानि त्वं किन्नु विस्मृतवानसि ? ।

अधीतानि पुराणेषु श्लोकमेतं न किं स्मरेः॥७६॥

क्या आप भगवान के वाक्यों को भूल गये हैं, जो कि आपने पुराणों में पढ़े थे ? और क्या यह श्लोक आपको स्मरण नहीं है ? "मैं अपने दिव्य

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।

श्रियमात्यन्तिकीं वापि येषां गतिरहं परा ॥७७॥

मद्रादिदेवतायोनि-
निजभक्तविनोदकृत् ।
श्रीमूर्त्तिरपि सा येभ्यो
नापेक्ष्या को हि नौतु तान् ॥७८॥

तत्राप्यशेषभक्तानामुपमानतयोदितः ।

साक्षाद्भगवतैवासौ प्रह्लादो ऽतर्क्यभाग्यवान्॥७९

तस्य सौभाग्यमस्माभिः सर्व्वैर्लक्ष्म्याप्यनुत्तमं ।

साक्षाद्धिरण्यकशिपो रनुभूतं विदारणे ॥८०॥

पुनः पुनर्वरान् दित्सु र्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः ।

भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहं ॥८१॥

मर्य्यादालङ्घकस्यापि गुर्व्वादेशाकृतो मुने ! ।

असम्पन्नस्ववाग्जालसत्यतान्तस्य यद्बलेः॥८२॥

द्वारे तादृगवस्थानं तुच्छदानफलं किमु ।

रक्षणं दुष्टबाणस्य किं नु मत्स्तवकारितं ॥८३॥

केवलं तन्महाप्रेष्ठप्रह्लादप्रीत्यपेक्षया ।

किं ब्रूयां परमत्रास्ते गौरी लक्ष्म्याःप्रिया सखी ८४

तद्गत्वा सुतले शीघ्रं वर्द्धयित्वाशिषां गणैः ।

प्रह्लादं स्वयमाश्लिष्य मदाश्लेषावलिं वदेः ॥८५॥

मङ्गल विग्रह की, तथा अपनी अत्यन्त प्यारी लक्ष्मी की, उन साधु भक्तों की अपेक्षा चाहना नहीं करता हूँ, जिनकी गति मुझको छोड़कर और कोई भी नहीं है ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

उन भक्तों की कौन प्रशंसा कर सकता है, जिनके लिये वह अपने उस श्री दिव्य मङ्गल विग्रह की भी परवाह नहीं करते हैं, जिससे कि हम सरीखे सब देवता प्रगट हुए हैं; तथा जिससे भक्त लोग विनोद करते हैं ॥७८॥

उन सब भक्तों में भी साक्षात् श्रीनृसिंह भगवान ने, श्रीप्रह्लादजी की महिमा को सबसे अधिक वर्णन किया है ॥ ७९ ॥

उनके उस उत्तम सौभाग्य को, हम सब देवताओं ने तथा श्री लक्ष्मी ने, हिरण्यकश्यप संहार के समय साक्षात् अनुभव किया था ॥८०॥

उस समय भगवान ने प्रह्लादजी को मुक्ति लेने के लिये बार बार कहा, पर, उन भक्तराज ने मुक्ति न लेकर भक्ति के लिये ही प्रार्थना की, ऐसे श्रीप्रह्लाद जी को हम नमस्कार करते हैं ॥८१॥

हे नारदजी ! बलिराजा, जिन्होंने मर्यादा का उल्लङ्घन किया था, गुरु आदेश को नहीं माना था और जो अपने वाक्य की सत्यता की रक्षा नहीं कर सके थे, उनके द्वार पर श्रीवामनदेव भगवान् सदा द्वारपाल रूप से विराजते हैं। यह क्या उनके तुच्छ दान का फल है ? दुष्ट बाणासुर की भी भगवान् ने रक्षा की थी, यह क्या हमारे स्तवपाठ का फल है ? मैं तो यह कहता हूँ, इन सब का कारण प्रभु की वह प्रीति है, जो उनके प्यारे भक्त श्रीप्रह्लाद के प्रति है। इस समय मैं अधिक नहीं कह सकता हूँ, क्योंकि यहाँ श्रीलक्ष्मीजी की प्रिय सखी श्रीपार्वतीजी विराजमान हैं ॥८२-८३-८४॥

हे नारदजी ! अब आप जल्दी ही सुतल लोक में जाकर, श्रीप्रह्लादजी को अपने आशीर्वादों से मङ्गलाशासन करते हुये, उनका आलिङ्गन करें। मेरा भी उनसे गाढ़ आलिङ्गन कहें ॥ ८५ ॥

अहो न सहते ऽस्माकं प्रणामं सज्जनाग्रणीः ।

स्तुतिश्च मा प्रमादी स्यास्तत्र चेत् सुखमिच्छसि८६

अहो ! सब सज्जनों में अग्रणीय वह प्रह्लादजी हमारे जैसों के प्रणाम् से बड़े दुखी होते हैं। इसलिए यदि आप वहाँ सुख अनुभव करना चाहें, तो भूल कर भी उनकी स्तुति नहीं करना ॥८६॥

इति श्रीभागवतामृते भगवत्कृपाभर-

निर्द्धारखण्डे प्रपञ्चातीतोनाम

तृतीयोऽध्यायः ।

इस श्री बृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के

श्री भगवान् के श्रेष्ठ कृपापात्रों के

विवेचन नामक खण्ड में

"प्रपञ्चातीत" नामक

तीसरा अध्यायः

समाप्त हुआ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

श्रुत्वा महाश्चर्य्यमिवेशभाषितं
प्रह्लाद-सन्दर्शनजातकौतुकः ।
हृद्यानतः श्रीसुतले गतोऽचिरा-
द्धावन् प्रविष्टः पुरमासुरं मुनिः ॥१॥

तावद्विविक्ते भगवत्-पदाम्बुज-
प्रेमोल्लसद्ध्यानविषक्तचेतसा ।
श्रीवैष्णवाग्र्येण समीक्ष्य दूरतः
प्रोत्थाय विप्रः प्रणतोऽन्तिकं गतः ॥२॥

पीठे प्रयत्नादुपवेशितोऽयं
पूजां पुरावद्विधिनार्प्यमाणां ।
सम्भ्रान्तचेताः परिहृत्य वर्षन्
हर्षास्रमाश्लेषपरोऽवदत्तं ॥३॥

श्रीनारद उवाच ।

दृष्टश्चिरात् कृष्णकृपा-भरस्य
पात्रं भवान्मे सफलः श्रमोऽभूत् ।
आवाल्यतो यस्य हि कृष्ण-भक्ति-
र्जाता विशुद्धा न कुतोऽपि यासीत् ॥४॥

यया स्वपित्रा विहिताः सहस्र-
मुपद्रवा दारुणविघ्नरूपाः ।
जितास्त्वया यस्य तवानुभावात्
सर्व्वेऽभवन् भागवता हि दैत्याः ॥५॥

श्री परीक्षित्जी कहने लगे ।

इस प्रकार श्रीनारदजी, श्रीशिवजी का भाषण सुन कर, अचम्भित से होकर श्रीप्रह्लाद के दर्शनार्थ, जल्दी ही मन रूपी यान में बैठकर सुतल लोक पहुँचे । वहाँ उनकी पुरी में, जिसमें असुर रहते हैं दौड़ते हुये प्रवेश किया ॥१॥

उस समय वैष्णव अग्रणीय श्रीप्रह्लादजी निर्जन स्थान पर बैठे हुये थे। उनका चित्त श्री भगवान के चरणारविन्दों के प्रेम में उल्लसित होकर, ध्यान में लगा हुआ था। उन्होंने दूर से श्रीनारदजी को आते हुए देखा। ज्योंही वह उठने को हुए, त्योंहीं श्रीनारदजी उनके पास आ पहुँचे। श्रीप्रह्लादजी ने उनको उठकर प्रणाम किया ॥२॥

उन्होंने श्रीनारदजी को बहुत यत्न से सिंहासन पर बैठाया। पहले जब कभी श्रीनारदजी वहाँ आते थे, उसी प्रकार से उनका विधि विधान से पूजन करने के लिये, सामग्रियां अर्पण कीं, परन्तु उनको श्रीनारदजी ने अस्वीकार कर दिया। वह सम्भ्रान्त चित्त होकर, आनन्द से प्रेमाश्रु बहाते हुये श्रीप्रह्लादजी को आलिङ्गन करके इस प्रकार कहने लगे ॥३॥

श्री नारदजी बोले ।

आप श्रीकृष्ण के कृपा पात्र हैं। मुझको बहुत काल के बाद आपके दर्शन हुए हैं। अब मेरा सब परिश्रम सफल हुआ। आपकी बाल अवस्था से ही श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में ऐसी विशुद्ध भक्ति है, जोकि पहले कहीं भी नहीं हुई ॥४॥

आपके पिता ने विविध प्रकार के हज़ारों बड़े बड़े विघ्न स्वरूप उपद्रव किये, परन्तु आपने भक्ति के प्रभाव से उन सबको जीत लिया। यहां तक कि आपके प्रभाव से सब असुर भी भगवद्भक्त होगये हैं ॥५॥

कृष्णाविष्टो योऽस्मृतात्मेव मत्तो
नृत्यन् गायन् कम्पमानो रुदंश्च ।
लोकान् सर्व्वानुद्धरन् संसृतिभ्यो
विष्णोर्भक्तिं हर्षयामास तन्वन् ॥६॥

आप श्रीकृष्ण प्रेमावेश में मत्त होकर अपने आपको भूल से जाते हैं। कभी आप नृत्य करने लगते हैं। कभी गाने लगते हैं। कभी कांपते हुए रोने लगते हैं। ऐसा करते हुए भी, आप समस्त प्राणियों को, इस संसार से उद्धार करके भगवद्भक्ति प्रदान करते हुए आनन्द प्राप्त कराते हैं ॥६॥

कृष्णेनाविर्भूय तीरे महाब्धेः
स्वाङ्के कृत्वा लालितो मातृवद्यः ।
ब्रह्मेशादीन् कुर्व्वतोऽपि स्तवौघं
पद्माञ्चानादृत्य सम्मानितो यः ॥७॥

जबकि आपके पिता ने आपको समुद्र में फेंक दिया था, उस समय उस समुद्र के तीर पर भगवान स्वयं प्रगट हुये थे, और उन्होंने आपको गोदी में लेकर माता की तरह आपका लाड़ चाव किया था। आपके पिता वध के समय ब्रह्मा, महादेव तथा और देवताओं ने बड़े बड़े स्तवों से भगवान् की स्तुति की थी। उस समय प्रभु ने लक्ष्मी जी सहित उन सबका अनादर करके केवल आपका ही आदर किया था ॥७॥

वित्रस्तेन ब्रह्मणा प्रार्थितो यः
श्रीमत्पादाम्भोज-मूले निपत्य ।
तिष्ठन्नुत्थाप्योत्तमाङ्के कराब्जं
धृत्वाङ्गेषु श्रीनृसिंहेन लीढ़ः ॥८॥

श्री ब्रह्माजी ने भगवान् के क्रोध से भयभीत होकर, प्रभु को शान्त कराने के लिये आपसे प्रार्थना की थी। उस समय आप श्री भगवान् के चरणारविन्दों में गिरे थे, तब श्रीनृसिंह भगवान् ने आपको उठा कर, मस्तक पर हस्त कमल रख कर आपके अंगों को चाटा था ॥८॥

यश्चित्रचित्राग्रहचातुरीचयै-
रुत्सृज्यमानं हरिणा परं पदं ।
ब्रह्मादिसंप्रार्थ्यमुपेत्य केवलं
वव्रेऽस्य भक्तिं निज-जन्मजन्मसु ॥९॥

भगवान् ने अनेक प्रकार की चातुरी से आग्रह पूर्वक उस मुक्ति लेने के लिये आपको प्रलोभन दिया था, जिस पद को प्राप्त करने के लिये ब्रह्मादिक देवता भी भगवान् से प्रार्थना करते रहते हैं। किन्तु आपने उसको छोड़कर, उनके चरणारविन्द में जन्म जन्म एक मात्र भक्ति प्राप्ति के लिये ही प्रार्थना की थी ॥९॥

यः स्वप्रभुप्रीतिमपेक्ष्य पैतृकं
राज्यं स्वयं श्रीनरसिंहसंस्तुतौ ।
सम्प्रार्थिताशेषजनोद्धृतीच्छया

हे परम भागवत! आपने मुक्ति को तो त्याग दिया, किन्तु राज्य स्वीकार कर लिया। ऐसा करने के दो हेतु हैं। एक तो आपने समस्त जीवों के उद्धार के लिये प्रभु से प्रार्थना की थी, इसी उद्देश्य साफल्य के लिये कि राज्य द्वारा जीवों का कल्याण कर सकूंगा। दूसरे राज्य ग्रहण करने से प्रभु को सन्तोष होगा। इन्हीं हेतुओं से आपने

स्वीकृत्य तद्ध्यानपरोऽत्र वर्त्तते ॥१०॥

राज्य स्वीकार किया है। ऐसा करने पर भी आप एक मात्र भगवान् के ध्यान में ही मग्न रहते हैं ॥१०॥

यः पीतवासोऽङ्घ्रिसरोजदृष्ट्यै
गच्छन् वनं नैमिषकं कदाचित्।
नारायणेनाहवतोषितेन
प्रोक्तस्त्वयाहं तु सदा जितोऽस्मि ॥११॥

आप जबकि पीतवास भगवान् के चरणारविन्दों के दर्शन करने के लिये नैमिषारण्य जा रहे थे, उस समय आपने श्रीनारायण भगवान् को युद्ध से सन्तुष्ट किया था। जिससे, उन्होंने आपको यह वर दिया था कि "मैं तुम से सदा पराजित हूँ ॥११॥"

श्रीपरीक्षिदुवाच।

एवं वदन् नारदोऽसौ हरिभक्ति-रसार्णवः।
तन्नर्म्मसेवको नृत्यन् जितमस्माभिरित्यरौत् ॥१२

श्रीपरीक्षित्जी बोले।

इस प्रकार कह कर, हरि भक्ति रस के समुद्र तथा भगवान् के प्रिय सेवक श्रीनारदजी, नृत्य करते हुये उच्चस्वर से यह कहने लगे "हमने प्रभु को जीत लिया है,जीत लिया है" ॥१२॥

श्रीनारदउवाच।

भो! वैष्णवश्रेष्ठ! जितस्त्वयेति किं?
वाच्यं मुकुन्दो वलिनापि निर्ज्जितः।
पौत्रेण दैतेयगणेश्वरेण ते
संरक्षितो द्वारि तव प्रसादतः ॥१३॥

श्री नारदजी बोले।

हे वैष्णवश्रेष्ठ प्रह्लादजी! आपने श्रीभगवान् को जीत लिया है इसमें क्या आश्चर्य है। आपके पौत्र दैत्यों के अधिपति वलि ने भी जीत लिया है। जिसके प्रभाव से भगवान् वलि राजा के द्वार पर द्वारपाल स्वरूप से विराज मान हैं, यह सब आपकी कृपा का ही फल है ॥१३॥

इतः प्रभृति कर्त्तव्यो निवासो नियतोऽत्र हि।
मयाभिभूय दक्षादि-शापं युष्मत्प्रभावतः॥१४॥

अब मेरी यही अभिलाषा है, कि मैं आपके प्रभाव से दक्ष-प्रजापति के शाप को दूर करके स्थिर रूप से यहां ही निवास किया करूं ॥१४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच।

स्वश्लाघासहनाशक्तो लज्जावनमिताननः।
प्रह्लादो नारदं नत्वा गौरवादवदच्छनैः ॥१५॥

श्री परीक्षित् जी बोले।

इसके पश्चात् श्रीप्रह्लादजी स्वयं अपनी प्रशंसा को नहीं सह सके। लज्जा से शिर झुकाकर, नारद जी को प्रणाम करके उनका बहुत सन्मान करते हुये धीरे धीरे इस प्रकार कहने लगे ॥१५॥

श्रीप्रह्लाद उवाच।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।
भगवन्! श्रीगुरो! सर्व्वं स्वयमेव विचार्य्यतां।
वाल्ये न संभवेत् कृष्ण-भक्तेर्ज्ञानमपि स्फुटं ॥१६

श्रीप्रह्लादजी बोले।

"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" यह कहकर नारद जी से कहने लगे हे गुरूजी! आप सब बातों का स्वयं ही विचार करें, वाल्यकाल में श्रीकृष्ण भक्ति का ज्ञान भी अच्छी तरह से नहीं हो सकता है॥१६॥

महतामुपदेशस्य वलाद्बोधोत्तमे सति।

आप जैसे बड़ों के उपदेश के बल से, उत्तम बोध होने से, जो भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त

हरेर्भक्तौ प्रवृत्तानां महिमापादकानि न ॥१७॥

विघ्नानभिभवो बालेष्पदेशः सदीहितं ।

आर्त्तप्राणिदया मोक्षस्यानङ्गीकरणादिच॥१८॥

कृष्णस्यानुग्रहोऽप्येभ्यो नानुमीयेत सत्तमैः ।

स चाविर्भवति श्रीमन्नधिकृत्यैव सेवकं ॥१९॥

होते हैं, उनकी महिमा को, जो बातें आपने कही है, वह बढ़ाने वाली नहीं है। क्योंकि "विघ्नों से पराभव नहीं होना, बालकों को उपदेश करना, साधुओं की नाईं आचरण करना, दुखी जीवों पर दया करना, तथा मोक्ष को अङ्गीकार नहीं करना" इत्यादि चेष्टाओं द्वारा उत्तम पुरुष यह अनुमान नहीं करते हैं, कि इन पर श्रीकृष्ण का अनुग्रह है। भगवान् की कृपा तो उनकी सेवा करने वाले सेवकों पर हुआ करती है ॥१७-१८-१९॥

हनूमदादिवत्तस्य कापि सेवा कृतास्ति न ।

परं विघ्नाकुले चित्ते स्मरणं क्रियते मया ॥२०

श्री हनुमानजी आदि ने जिस प्रकार भगवान् की सेवा की है, उस प्रकार मैंने नहीं की। मैं तो केवल विघ्नों से व्याकुल होकर उनका स्मरण ही करता रहता हूँ ॥२०॥

यन्मद्विषयकं तस्य लालनादि प्रशस्यते ।

मन्यते मायिकं तत्तु कश्चिल्लीलायितं परः ॥२१॥

जो आप यह प्रशंसा करते हैं कि "भगवान् ने तुम्हारा लालन पालन किया है।" इसको भी कोई तो मायिक बतलाते हैं, कोई यह भगवान् की एक लीला समझते हैं ॥२१॥

स्वाभाविकं भवादृक् च मन्ये स्वप्नादिवत्त्वहं ।

सत्यं भवतु वाथापि न तत् कारुण्यलक्षणं ॥२२

आप लोग इसको प्रभु का स्वभाव मानते हैं, परन्तु मैं तो इसको एक स्वप्न सरीखा समझता हूँ। यदि यह बात सच भी है, तो भी यह कृपा के लक्षण नहीं हैं ॥२२॥

विचित्रसेवादानं हि हनूमत्प्रभृतिष्विव ।

प्रभोः प्रसादो भक्तेषु मतः सद्भिर्नचेतरत् ॥२३॥

श्रेष्ठ भक्त तो, केवल एक मात्र श्री हनुमान आदि की नाईं विचित्र विचित्र प्रभु की सेवा करना ही कृपा का चिन्ह समझते हैं ॥२३॥

श्रीमन्नृसिंहलीला च मदनुग्रहतो न सा ।

स्वभक्तदेवतारक्षां पार्षदद्वयमोचनं ॥२४॥

ब्रह्मतत्तनयादीनां कर्त्तुं वाक्सत्यतामपि ।

निजभक्ति-महत्त्वञ्च सम्यग्दर्शयितुं परं ॥२५॥

श्रीनृसिंह भगवान् ने जो जो लीलाएं की हैं वह भी मेरे पर अनुग्रह करने के लिये नहीं की हैं, बल्कि वह सब अपने भक्त· देवताओं की रक्षा के लिये, अपने पार्षद जय विजय को शाप से मुक्त करने के लिये, श्री ब्रह्माजी तथा सनकादिकों के वाक्यों को सत्य करने के लिये, और अपनी भक्ति की महिमा को भली प्रकार दिखाने के लिये की हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

परमाकिञ्चनश्रेष्ठ ! यदैव भगवान् ददौ ।

राज्यं मह्यं तदा ज्ञातं तत्कृपाणुश्च नो मयि॥२६

हे विरक्त शिरोमणि गुरू जी! जब कि भगवान् ने मुझको राज दे दिया, तब मैंने जान लिया कि उनकी कृपा लेशमात्र भी मुझपर नहीं है ॥२६॥

"तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहं"।
इत्याद्याः साक्षिणस्तस्य व्याहारा महतामपि॥२७

क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं "मैं जिस पर कृपा करता हूँ उसको सम्पत्ति से भ्रष्ट कर देता हूँ" इत्यादि उनके तथा बड़ों के वाक्य इस विषय में साक्षी स्वरूप हैं ॥२७॥

पश्य मे राज्यसम्बन्धाद्बन्धुभृत्यादि-सङ्गतः।
सर्व्वं तद्भजनं लीनं धिग्धिङ्मां यन्न रोदिमि॥२८

और देखिये, यद्यपि मेरे इस राज पाठ के सम्बन्ध से, बन्धु नौकर चाकरों के संग से, सब भगवद्भजन नष्ट हो गया है। ऐसा होने पर भी मैं रोता नहीं हूँ। इसलिये मैं अपने आपको धिक्कार के योग्य समझता हूँ ॥२८॥

अन्यथा किं विशालायां प्रभुना विश्रुतेन मे।
पुनर्जाति-स्वभावं तं प्राप्तस्येव रणो भवेत्॥२६

क्या यह मेरा स्वरूप था, कि मैं अपने जाति स्वभाव को फिर प्राप्त होकर वद्रिकाश्रम में अपने प्रभु प्रसिद्ध श्रीनारायण के साथ युद्ध करता? ॥२६

आत्मतत्त्वोपदेशेषु दुष्पाण्डित्यमयासुरैः।
सङ्गान्नाद्यापि मे शुष्कज्ञानांशोऽपगतोऽधमः॥३०

असुर लोग जो कि आत्मतत्व उपदेश में दुष्पंडित हैं, उनके संग से जो मैंने अधम शुष्क ज्ञान प्राप्त किया था, उसका अंश मात्र भी मुझ से अभी तक नहीं निकला है ॥३०॥

कुतोऽतः शुद्धभक्तिर्मे यया स्यात् करुणा प्रभोः।
ध्यायन् वाणस्य दौरात्म्यं तच्चिह्नं निश्चिनोमि च३१

इसलिये मुझ में शुद्ध भक्ति कहां है, जिससे मुझ पर भगवान् की कृपा हो सके। यह बात मेरे परपौत्र वाणासुर की दुष्चेष्टा से मैंने भली प्रकार निश्चय की है ॥३१॥

वद्ध्वा संरक्षितस्यात्र रोधनायास्त्यसौ वलेः।
द्वारीति श्रूयते क्वापि न जाने कुत्र सोऽधुना॥३२

कदाचित् कार्य्यगत्यैव दृश्यते रावणादिवत्।
दुर्व्वाससेक्षितोऽत्रैव विश्वासात्तस्य दर्शने॥३३॥

(जो आप भगवान् को वलि का द्वारपाल बतलाते हैं इसमें भी कोई विशेष महिमा नहीं है) भगवान् वलि का वंधन करके इसलिये द्वारपाल वने हैं, कि वह कहीं अन्यत्र न जा सकें। यह बात भी केवल श्रवण मात्र है। यह निश्चय नहीं है कि इस समय भगवान् कहां हैं, किन्तु यह आवश्यक है कि कार्यानुसार यहां भी उनके दर्शन होते रहते हैं। जैसा कि रावण ने दर्शन किये थे। इसी प्रकार दुर्वासाजी ने भी अपने विश्वास के प्रभाव से यहां भगवान् के दर्शन किये थे ॥३२-३३॥

यस्य श्रीभगवत्प्राप्तावुत्कटेच्छा यतो भवेत्।
स तत्रैव लभेतामुं नतु वासोऽस्य लाभकृत्॥३४

वास्तव में जिसको, जहाँ भगवत् प्राप्ति की उत्कट इच्छा होती है, उसको भगवान् वहाँ ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् का वासस्थान प्राप्ति का कारण नहीं है, बल्कि साधक का विश्वास ही प्राप्ति का कारण है ॥३४॥

प्राकट्येन सदात्रासौ द्वारे वर्त्तेत चेत् प्रभुः ।
किं यायां नैमिषं दूरं द्रष्टुं तं पीतवाससं ॥३५॥

यदि भगवान् साक्षात् प्रगट रूप से वलि के द्वार पर सदा निवास करते, तो मैं उन पीतवास भगवान् के दर्शन के लिये इतनी दूर नैमिषारण्य क्यों जाता ॥३५॥

भवताद्भवतः प्रसादतो
भगवत्स्नेहविजृम्भितः किल ।
मम तन्महिमा तथाप्यणु-
र्नवभक्तेषु कृपाभरेक्षया ॥३६॥

यदि यह मान भी लें कि आपकी कृपा से भगवान् की मुझ पर स्नेहयुक्त कृपा है, तो भी वह नव भक्त (श्री हनुमान आदि) की अपेक्षा थोड़ी है ॥३६॥

निरुपाधिकृपार्द्र चित्त ! हे
वहुदौर्भाग्यनिरूपणेन किं ।
तव शुग्जननेन पश्य तत्-
करुणां किंपुरुषे हनूमति ॥३७॥

हे गुरू जी ! आप निर्हेतुक कृपा करने वाले हैं। मैं अपने और ज्यादा दुर्भाग्यों का निरूपण करके आपको दुख नहीं देना चाहता हूँ। यदि आप भगवान् के परम कृपा पात्रों के दर्शन करना चाहते हैं, तो आप किंपुरुष वर्ष में जाकर श्री हनूमानजी के दर्शन कीजिये ॥३७॥

भगवन्नवधेहि मत् पितु-
र्हननार्थं नरसिंहरूपभृत् ।
सहसाविरभून्महाप्रभु-
र्विहितार्थोऽन्तरधात्तदैव सः ॥३८॥

हे भगवन् ! आप अच्छी तरह जान लीजिये कि उन भगवान् ने मेरे पिता के मारने के लिये ही नृसिंह रूप धारण किया था, जो कि जल्दी से प्रगट होकर, अपना कार्य समाधान करके उसी समय अन्तर्ध्यान हो गये थे ॥३८॥

यथाकाममहं नाथं सम्यग्द्रष्टुञ्च नाशकं ।
महोदधितटेऽपश्यं तथैव स्वप्नवत् प्रभुं ॥३९॥

मैं अपने प्रभु की छवि को नेत्र भर कर भली प्रकार देख भी नहीं सका था, एक बार समुद्र के किनारे उनके दर्शन पूर्व में हुए थे, किन्तु वह भी स्वप्नवत ही थे ॥३९॥

हनूमांस्तु महाभाग्यस्तत्सेवासुखमन्वभूत् ।
सुवहूनि सहस्राणि वत्सराणामविघ्नकं ॥४०॥

श्रीहनूमान जी ही बड़े भाग्यशाली हैं, जो लगातार उनकी सेवासुख में हज़ारों वर्षों से बिना किसी विघ्न के लगे हुये हैं ॥४०॥

यो वलिष्टतमो वाल्ये देववृन्दप्रसादतः ।
सम्प्राप्तसद्वरव्रातो जरामरणवर्जितः ॥४१॥

जो वाल्यावस्था से ही अतिशय वलवान हैं, और देवताओं की कृपा से वरों को प्राप्त करके जरामरण आदि से रहित हैं ॥४१॥

अशेषत्रासरहितो महाव्रतधरः कृती ।
महावीरो रघुपतेरसाधारणसेवकः ॥४२॥

वह सब प्रकार के भय से रहित हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। सर्व शास्त्र वेत्ता हैं। बड़े बलवान हैं, श्री रघुनाथजी के प्रधान सेवक हैं ॥४२॥

हेलाविलङ्घितागाधशतयोजनसागरः ।

जिन्होंने बिना किसी परिश्रम के सौ योजन अगाध समुद्र को लांघा था। उस चतुर शिरो-

रक्षोराजपुरस्थार्तसीताश्वासनकोविदः ॥४३॥

मणि महावीर ने रावण के पुर में विराजमान दुःखित श्री सीताजी को आश्वासन दिया था ॥४३॥

वैरिसन्तर्जको लङ्कादाहको दुर्गभञ्जकः ।
सीतावार्त्ताहरः स्वामिगाढ़ालिङ्गनगोचरः ॥४४॥

श्री हनुमानजी शत्रुओं को भयभीत करने वाले हैं। लङ्का दाह करने वाले हैं। दुर्ग को तोड़ने वाले हैं। जबकि वह श्रीसीताजी की सुधि लेकर श्रीरामचन्द्रजी के पास आये थे, तब श्री रामचन्द्रजी ने उनका प्रगाढ़ आलिङ्गन किया था ॥४४॥

स्वप्रभोर्वाहकश्रेष्ठः
श्वेतच्छत्रितपुच्छकः ।
सुखासनमहापृष्ठः
सेतुवन्धक्रियाग्रणीः ॥४५॥

वह हनुमानजी, अपने प्रभु को ले जाने के लिये श्रेष्ठ वाहन स्वरूप हैं। उस समय उनकी पूँछ श्वेत छत्र के स्थानापन्न हो जाती है, उनकी पीठ जब श्रीरामचन्द्रजी के बैठने के लिये सुख आसन स्वरूप होती है। वह सेतुवन्ध के कार्य में अग्रणीय हैं ॥४५॥

बिभीषणार्थसम्पादी रक्षोवलविनाशकृत् ।
विशल्यकरणीनामौषध्यानयनशक्तिमान् ॥४६॥
स्वसैन्यप्राणदः श्रीमत्सानुजप्रभुहर्षकः ।
गतो वाहनतां भर्त्तुर्भक्त्या श्रीलक्ष्मणस्य च॥४७

उन श्री हनुमानजी ने श्री विभीषणजी की अभिलाषा पूर्ण की थी। राक्षस सेना का विनाश किया था। संजीवनी बूटी लाकर अपनी सेना के प्राण बचाये थे। श्री लक्ष्मणजी के साथ अपने प्रभु को आनन्द दिया था। अपने प्रभु की भक्ति से लक्ष्मणजी के वाहन बने थे ॥४६-४७॥

जयसम्पादकस्तस्य महाबुद्धिपराक्रमः ।
सत्कीर्त्तिवर्द्धनो रक्षोराजहन्तुर्निजप्रभो ॥४८॥

अपने प्रभु की विजय कराने वाले हैं। उनकी बुद्धि तथा पराक्रम महान् हैं। उन्होंने उन श्री रामचन्द्रजी की कीर्ति को बढ़ाया है, जिन्होंने रावण राक्षस का वध किया था ॥४८॥

सीताप्रमोदमः स्वामि-
सत्प्रसादैदभाजनं ।
आज्ञयात्मेश्वरस्यात्र
स्थितोऽपि विरहासहः ॥४९॥

उन्होंने श्री सीताजी को आनन्द प्रदान किया था, इसीलिये वह अपने प्रभु की कृपा के भाजन हैं। जिस समय श्री रघुनाथजी अपने अप्रगट धाम श्री नित्य साकेत पधारे थे, उस समय यद्यपि आप उनके विरह से अत्यन्त कातर हुये थे, तो भी वह अपने प्रभु की आज्ञा से यहां ही विराजमान रहे ॥ ४९ ॥

आत्मानं निन्यतत्कीर्त्तिश्रवणेनोपधारयन् ।
तन्मूर्त्तिपार्श्व तस्तिष्ठन् राजतेऽद्यापि पूर्ववत्॥५०

वह अपने प्रभु की ही कीर्ति सुनकर अपने प्राणों को धारण करते हैं। वह अपने प्रभु के विग्रह के निकट सदा पहले की तरह विराजमान रहते हैं ॥५०॥

'स्वामिन् ! कपिपतिर्दास्य' इत्यादिवचनैः खलु ।
प्रसिद्धो महिमा तस्य दास्यमेव प्रभोःकृपा ॥५१

हे स्वामिन् नारदजी ! यह बात प्रसिद्ध है, भगवान् की दास्य सेवा में श्री हनुमानजी का ही विशेष रूप से अधिकार है। दास्य भाव होना ही प्रभु की कृपा समझें ॥५१॥

यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः ।
नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मै हनूमते नमः ॥५२

मैं उन श्री हनुमानजी को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने श्री रामचन्द्रजी से अनायास मुक्ति प्राप्त होते हुये भी, उसको नहीं लेकर, केवल आपका दास होना ही स्वीकार किया था ॥५२॥

मदनुक्तं च माहात्म्यं तस्य वेत्ति परं भवान् ।
गत्वा किंपुरुषे वर्षे दृष्ट्वा तं मोदमाप्नुहि ॥५३॥

हे नारदजी ! मैंने श्री हनुमानजी की जो महिमा आपसे वर्णन की है, उससे भी अधिक आप स्वयं जानते हैं। इसलिये आप किंपुरुष खण्ड में पधारें, और उनके दर्शन करके आनन्द प्राप्त करें ॥५३॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

अये ! मातरहो भद्रमहो भद्रमिति ब्रुवन् ।
उत्पत्यासनतः खेन मुनिः किंपुरुषं गतः ॥५४॥

श्रीपरीक्षितजी कहने लगे ।

हे माता ! इस प्रकार साधु साधु कहते हुये, आसन से उठकर श्रीदेवर्षि नारद जी आकाश मार्ग से किंपुरुष वर्ष पधारे ॥५४॥

तत्रापश्यद्धनूमन्तं रामचन्द्रपदाब्जयोः ।
साक्षादिवार्चनरतं विचित्रैर्वन्यवस्तुभिः ॥५५॥

वहां जाकर श्रीनारद जी ने श्रीहनुमान जी के दर्शन किये। वह साक्षात् की तरह भगवान श्रीरामचन्द्र जी के मूर्ति स्वरूप का पूजन वन में पैदा होने वाली बिचित्र विचित्र सामग्रियों से कर रहे थे ॥५५॥

गन्धर्व्वादिभिरानन्दाद्गीयमानं रसायनं ।
रामायणञ्च शृण्वन्तं कम्पाश्रुपुलकाचितं ॥५६॥

आनन्द से गन्धर्व आदि के मुखारविन्दों से श्री रामरसायन रूप श्री रामायण को सुन रहे थे, जिससे वह कम्प पुलकायमान होकर प्रेमाश्रु बहा रहे थे ॥५६॥

विचित्रैर्दिव्यदिव्यैश्च गद्यपद्यैःस्वनिर्म्मितैः ।
स्तुतिमन्यैश्च कुर्व्वाणं दण्डवत् प्रणतीरपि॥५७॥

वह अपने निर्मित किये हुये विचित्र विचित्र दिव्य गद्य पद्यों से, तथा प्रसिद्ध स्तोत्रों से स्तुति करते हुये, अपने प्रभु को दण्डवत् प्रणाम कर रहे थे ॥५७॥

चुक्रोश नारदोमोदा-
जय श्रीरघुनाथ ! हे !
जय श्रीजानकीकान्त !
जय श्रीलक्ष्मणाग्रज ! ॥५८॥

ज्यों ही श्री नारदजी ने, श्री हनुमान जी को इस प्रकार देखा, त्यों ही वह आनन्दित होकर उच्च स्वर से इस प्रकार कहने लगे। "श्री रघुनाथ जी की जय हो। श्री जानकी कान्त भगवान की जय हो। श्री लक्ष्मण जी के भ्राता की जय हो" ॥५८॥

निजेष्टस्वामिनो नामकीर्त्तनश्रुतिहर्षितः ।
उत्प्लुत्य हनुमान् दूरात् कण्ठे जग्राह नारदं ॥५६॥

श्री हनुमान जी ने निज इष्ट अपने प्रभु का नाम कीर्तन सुनते ही आनन्दित होकर दूर से छलांग मारी, और श्रीनारदजी को अपने कण्ठ से लगा लिया ॥५६॥

तिष्ठन् वियत्येव मुनिः प्रहर्षा-
न्नृत्यन् पदाभ्यां कलयन् कराभ्यां ।
प्रेमाश्रुधाराश्च कपीश्वरस्य
प्राप्तो दशां काञ्चिदवोचदुच्चैः ॥६०॥

श्री नारद जी ने आकाश में स्थित होकर अपने चरणों से आनन्द आवेश में नृत्य करने लगे, श्रीहनुमान जी की प्रेमाश्रु धारा को अपने हाथों से पोंछते हुये एक अपूर्व दशा को प्राप्त होकर उच्च स्वर से इस प्रकार कहने लगे ॥६०॥

श्रीनारद उवाच ।

श्रीमन् ! भगवतः सत्यं त्वमेव परमप्रियः ।
अहञ्च तत्प्रियोऽभूवमद्य यत्त्वां व्यलोकयं ॥६१॥

श्रीनारदजी बोले ।

हे श्रीमन् ! सच मुच आप ही भगवान के परम प्यारे हैं, और मैं भी आज अपके दर्शन करके प्रभु का प्यारा हो गया हूँ ॥६१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

क्षणात् स्वस्थेन देवर्षिः प्रणम्य श्रीहनूमता ।
रघुवीरप्रणामाय समानीतस्तदालयं ॥६२॥

श्रीपरीक्षित जी बोले ।

इसके थोड़ी देर बाद स्वस्थ होकर श्रीहनुमान जी ने श्री देवर्षि नारदजी को प्रणाम किया, और वह उनको श्री रघुनाथजी के चरणों में दण्डवत प्रणाम कराने के लिये मन्दिर में ले गये ॥६२॥

कृताभिवन्दनस्तत्र
प्रयत्नादुपवेशितः ।
सम्प्राप्तप्रेमजांचित्रां
प्राप्तोवीणाश्रितोऽब्रवीत् ॥६३॥

वहाँ जाकर श्रीनारदजी ने श्री रघुनाथ जी के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया, और वह श्री हनुमान जी के बहुत प्रयत्न करने से आसन पर बैठे। उस समय श्री नारदजी के अंगों में प्रेम से पुलक कम्पादि सात्विक भाव उदय हो रहे थे। फिर वीणा हाथ में लेकर वह इस प्रकार कहने लगे ॥६३॥

श्रीनारदउवाच ।

सत्यमेम भगवत्कृपाभर-
स्यास्पदं निरुपमं भवान् परं ।
यो हि नित्यमहहो ! महाप्रभो-
श्चित्रचित्रभजनामृतार्णवः ॥६४॥

श्रीनारदजी बोले ।

अहो ! यह बात निश्चित है कि, आप ही भगवान् के श्रेष्ठ कृपा पात्र हैं, क्योंकि आप ही प्रभु की चित्र विचित्र नित्य सेवा रूपी अमृत के समुद्र हैं ॥६४॥

दासःसखा वाहनमासनं ध्वज-
च्छत्रं वितानां व्यजनश्च वन्दी ।
मन्त्रीभिषग्योधपतिः सहाय-
श्रेष्ठो महाकीर्त्तिविवर्द्धनश्च ॥६५॥

आप ही भगवान् के दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, छत्र, बितान, पंखा, मन्त्री, वैद्य, सेनापति, श्रेष्ठ सहायक, स्तुति करने वाले तथा बड़ी कीर्ति बढ़ाने वाले हो ॥६५॥

समर्पितात्मा परमप्रसादभृ-
त्वदीयसत्कीर्त्तिकथैकजीवनः ।
तदाश्रितानन्दविवर्द्धनः सदा
महत्तमः श्रीगरुडादितोऽधिकः ॥६६॥

आपने अपनी आत्मा को प्रभु के चरणारविन्दों में समर्पण किया है। आप उनके परम कृपा के भाजन हो। उनकी सत् कीर्ति की कथा ही आपके जीवन स्वरूप है। उनके आश्रितों के आनन्द को आप सदा बढ़ाते रहते हो, और श्री गरुड़ आदि से भी आपकी महिमा अधिक है ॥६६॥

अहो ! भवानेव विशुद्धभक्तिमान्
परं न सेवासुखतोऽधिमन्य यः ।
इमं प्रभुं वाचमुदारशेखरं
जगाद तद्भक्तगणप्रमोदिनीं ॥६७॥
भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये ।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥६८॥

अहो ! आप ही विशुद्ध भक्ति के पात्र हैं, क्योंकि आप सेवा सुख से अधिक और कोई सुख नहीं मानते हैं। आपने आपने प्रभु उदार शिरोमणि से यह बात कही थी, जिससे सब भक्त-गण बहुत आनन्दित हुये थे। ' हे प्रभो ! मैं संसार रूपी बन्धन को छुड़ाने वाली मुक्ति की इच्छा नहीं करता हूँ, जहाँ यह सम्बन्ध, कि आप मेरे प्रभु हैं, और मैं आपका दास हूँ, टूट जाता है" ॥ ६७-६८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ततो हनूमान् प्रभुपादपद्म-
कृपाविशेषश्रवणेन्धनेन ।
प्रदीपितादो विरहाग्नितप्तो
रुदन् शुचार्त्तो मुनिनाह सान्त्वितः॥६९

श्रीपरीक्षित जी कहने लगे ।

जबकि श्री हनुमानजी ने यह सुनी (कि श्रीनारदजी मुझको ही प्रभु के चरणारविन्दों का श्रेष्ठ कृपापात्र बतलाते हैं) तो इससे उनकी विरह अग्नि और प्रज्वलित हो गई, मानो इन शब्दों ने उसको बढ़ाने के लिये शुष्क काष्ठ का काम किया। जिस से शोकातुर होकर श्री हनु-मानजी जोर जोर से रोने लगे। श्रीनारदजी के सान्त्वना देने पर फिर आप इस प्रकार बोले॥६९॥

श्रीहनूमानुवाच ।

मुनिवर्य्य ! कथं श्रीमद्रामचन्द्र-पदाम्बुजैः ।
हीनं रोदयसे दीनं नैष्ठुर्य्यस्मारणेन मां ॥७०॥

श्रीहनुमानजी कहने लगे ।

हे मुनिवर नारदजी ! आप श्रीरघुनाथजी के चरणारविन्दों के विरही मुझ दीन को उनकी निठुरता का स्मरण करा कर और क्यों रुलाते हो ॥ ७० ॥

यदि स्यां सेवकोऽमुष्य तदा त्यज्येय किं हठात् ।
नीताःस्वदयिताः पार्श्वं सुग्रीवाद्याःसकोशलाः ७१

यदि मैं उनका सच्चा सेवक होता, तो वह हठ से मेरा क्यों परित्याग करते, और अपने साथ अपने प्यारे सुग्रीव आदि तथा अयोध्या वासियों को ले जाते ॥ ७१ ॥

सेवासौभाग्यहेतोश्च महाप्रभुकृतो महान् ।

आप सरीखे कोमल चित्त महात्मा मुझ में सेवा सौभाग्य देख कर ही यह अनुमान कर लेते

अनुग्रहो मयि स्निग्धैर्भवद्भिरनुमीयते । ७२॥

सोऽधुना मथुरापुर्य्यामवतीर्णेन तेन हि ।
प्रादुष्कृतनिजैश्वर्य्यपराकाष्ठाविभूतिना ॥७३॥

कृतस्यानुग्रहस्यांशं पाण्डवेषु महात्मसु ।
तुलयार्हति नो गन्तुं सुमेरुं मृदणुर्यथा ॥७४॥

स येषां बाल्यतस्तत्तद्विषाद्यापद्गणेरणात् ।
धैर्य्यं धर्म्मं यशो ज्ञानं भक्तिं प्रेमाप्यदर्शयत् ॥७५

सारथ्यं पार्षदत्वञ्च सेवनं मन्त्रिदूतते ।

वीरासनानुगमने चक्रे स्तुतिनतीरपि ॥७६॥

किंवा सस्नेहकातर्य्यात्तेषां नाचरति प्रभुः ।

सेवा सख्यं प्रियत्वं तदन्योन्यं भाति मिश्रितं ७७

यस्य सन्ततवासेन सा येषां राजधानिका ।
तपोवनं महर्षीणामभूद्वा सत्तपःफलं ॥७८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

शृण्वन्निदं कृष्ण-पदाब्जलालसो
द्वारावतीसन्ततवासलम्पटः ।
उत्थाय चोत्थाय मुदान्तरान्तरा
श्रीनारदोऽनृत्यदलं सहुङ्कृतं ॥७९॥

पाण्डवानां हनूमांस्तु कथा-रसनिमग्नहृत् ।
तन्नृत्यवर्द्धितानन्दः प्रस्तुतं वर्णयत्यलं ॥८०॥

हैं कि मुझ पर प्रभु की बड़ी कृपा है, वास्तव में यह बात नहीं है ॥७२॥

अब उन्होंने मथुरा में अवतार धारण करके अपने ईश्वरत्व की चर्म सीमा को प्रकाशित किया है। उनकी जो कृपा महात्मा पाण्डवों पर है, उसके एक अंश की भी मुझ से तुलना नहीं की जा सकती है। यह समझें उनके प्रति जो कृपा है वह तो सुमेरु स्वरूप है, और मुझ पर एक मृतिका के अणु के बराबर है ॥७३-७४॥

श्रीकृष्ण ने उन पाण्डवों के प्रति बाल्यावस्था से ही विष प्रदान आदि आपदों को भेजकर उनके धैर्य, धर्म, यश, ज्ञान, भक्ति और प्रेम को संसार में प्रकाशित किया है ॥७५॥

आप उनके कभी सारथि, कभी पार्षद, कभी सेवक, कभी मन्त्री, कभी दूत बने, और कभी खड्ग हाथ में लेकर उनकी रक्षा की। कभी उनके पीछे-पीछे अनुगमन किया, कभी उन की स्तुति की और कभी उनको प्रणाम किया॥७६॥

प्रभु ने स्नेहातुर होकर उनका क्या २ काम नहीं किया? प्रभु और पाण्डव परस्पर कभी सेवा, कभी मित्रता, कभी प्यार करते हैं। यह वस्तुएँ मिली जुली होने से सुशोभित होती हैं ॥७७॥

उन पाण्डवों की राजधानी श्रीकृष्ण के निरन्तर वासस्थान होने से महा ऋषियों का तपोवन ही नहीं, बल्कि श्रेष्ठ तप का फल स्वरूप होगया है ॥७८॥

श्रीपरीक्षितजी बोले।

यह सुनकर श्रीनारदजी, जो श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की लालसा से द्वारिका में निरन्तर वास करने में आसक्त हैं, बीच में उठ उठ कर आनन्द से हुंकार करते हुये नृत्य करने लगे ॥७९॥

श्रीहनुमानजी जिनका हृदय पाण्डवों की कथा रूपी रस में निमग्न हो रहा था, और जिनका आनन्द श्रीनारदजी के नृत्य ने और बढ़ादिया था, फिर उसी विषय को भली प्रकार कहने लगे॥८०॥

श्रीहनूमानुवाच ।

तेषामापद्गणा एव सत्तमाः स्युः सुसेविताः ।

ये विधाय प्रभुं व्यग्रं सद्यः सङ्गमयन्ति तैः ॥८१

श्रीहनुमानजी बोले ।

सन्त महात्माओं की अच्छी प्रकार सेवा करने से जिस प्रकार श्रीकृष्ण प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार पाण्डवों की आपत्तियां ही संतस्थानीय हैं, जो व्यग्र चित्त करके प्रभु को जल्दी ही पाण्डवों से मिला देती हैं ॥८१॥

अरे ! प्रेमपराधीना ! विचाराचारवर्जिताः ! ।

नियोजयथ तं दौत्ये सारथ्येऽपि मम प्रभुं ॥८२

अरे पाण्डवो ! तुमने प्रेम में आसक्त होकर सब आचार विचार छोड़ दिया, तुमने मेरे प्रभु को दूत, सारथी बनाया ॥८२॥

नूनं रे ! पाण्डवा ! मन्त्रमौषधं वाथ किञ्चन ।

लोकोत्तरं विजानीध्वे महामोहनमोहनं ॥८३॥

अरे पाण्डवो ! मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ, आप कोई ऐसा अलौकिक मन्त्र अथवा औषधि जानते हैं, जो बड़े मोहन करने वाले को भी मोहन कर देती है ॥ ८३ ॥

इत्युक्त्वा हनुमान्मातः ! पाण्डवेययशस्विनि ! ।

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मुनिना मुहुर्नृत्यति वक्ति च८४

परीक्षितजी कहने लगे "हे माता ! आप पाण्डवों के यश को विस्तार करने वाली हो।" हनुमानजी इस प्रकार कह कर उछल उछल कर श्रीनारदजी के साथ नृत्य करते हुये, फिर कहने लगे ॥ ८४ ॥

अहो ! महाप्रभो ! भक्तवात्सल्य-भरनिर्जित ! ।

करोष्येवमपि स्वीयचित्ताकर्षकचेष्टित ! ॥८५॥

" हे प्रभो ! आप सर्व समर्थ होकर भी भक्तों के प्रेम से अधीन हो जाते हो। उनके चित्तों को आकृष्ट करने के लिये विविध प्रकार लीलाएँ करने लगते हो ॥ ८५ ॥

ममापि परमं भाग्यं पार्थानां तेषु मध्यमः ।

भीमसेनो मम भ्राता कनीयान् वयसा प्रियः॥८६

हे नारदजी ! मैं भी बड़ा भाग्यशाली हूँ, कि श्रीकुन्तीजी के मझले पुत्र भीमसेन मेरे छोटे भाई होते हुये भी मुझको बड़े प्यारे हैं ॥८६॥

स्वसृदानादिसख्येन यः सम्यगनुकम्पितः ।

तेन तस्यार्जुनस्यापि प्रियो मद्रूपवान् ध्वजः८७

श्रीकृष्ण ने, अपनी बहिन का विवाह तथा सख्य भाव करके अर्जुन पर बड़ी कृपा की है। उस अर्जुन ने मेरी मूर्ति को ही अपनी ध्वजा बनाया था, इससे वह मुझ पर बड़ा प्रेम करते हैं ॥८७॥

प्रभोः प्रियतमानान्तु प्रसादं परमं विना ।

न सिद्धयति प्रिया सेवा दासानां न फलत्यपि८८

तस्माद्भागवतश्रेष्ठ ! प्रभुप्रियतमोचितं ।

तत्र नो गमनं तेषां दर्शनाश्रयणे तथा ॥८९॥

हे भागवत श्रेष्ठ नारदजी ! प्रभु के प्रिय जनों की कृपा बिना, मुझ सरीखे दासों की सेवा न तो सिद्ध होती है, न फल ही देती है। इस लिये हे प्रभु प्यारे ! अब हमको उनके दर्शन, तथा आश्रय लेने के लिये वहाँ जाना चाहिये ॥८८-८९॥

अयोध्यायां तदानीं तु प्रभुनाविष्कृतं न यत् ।
मथुरैकप्रदेशे तद्द्वारकायां प्रदर्शितं ॥९०॥

परमैश्वर्य्यमाधुर्य्यवैचित्र्यं वृन्दशोऽधुना ।
ब्रह्मरुद्रादिदुस्तर्क्यं भक्त-भक्तिविवर्द्धनं ॥९१॥

परम ऐश्वर्य और माधुर्य की विचित्रता, जो कि ब्रह्म रुद्र आदि के भी विचार के अगोचर है, और जो भक्तों की भक्ति बढ़ाने वाली है, वह अब मेरे प्रभु ने मथुरा के एक प्रदेश स्वरूप द्वारिका में प्रदर्शन कराई है। उतनी उन्होंने उस समय अयोध्या में भी प्रगट नहीं की थी" ॥९०-९१॥

श्रीनारद उवाच ।

आः किमुक्तमयोध्याया-
मिति वैकुण्ठतोऽपि न ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ तत्तत्र
गच्छावः सत्वरं सखे ! ॥९२॥

श्री नारदजी बोले ।

अहो ! हे सखे हनुमानजी ! आपने द्वारिका के परम ऐश्वर्य की अयोध्या से क्या तुलना की, उसकी तो वैकुण्ठ से भी तुलना नहीं की जा सकती है । इसलिये जल्दी से उठो, जिससे कि हम वहां चलें ॥९२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

अथ क्षणं निशश्वास हनूमान् धैर्य्य-सागरः ।
जगाद नारदं नत्वा क्षणं हृदि विमृश्य सः ॥९३

श्रीपरीक्षित्जी कहने लगे ।

इसके पश्चात् श्री हनुमानजी, जोकि धैर्य के सागर स्वरूप हैं, एक क्षण के लिये ऊँचा श्वास लेकर, हृदय में विचार करने लगे, फिर श्रीनारद जी को प्रणाम करके, इस प्रकार कहने लगे ॥९३॥

श्रीहनूमानुवाच ।

श्रीमन्महाप्रभोस्तस्य प्रेष्ठानामपि सर्वथा ।
तत्र दर्शनसेवार्थं प्रयाणं युक्तमेव नः ॥९४॥
किन्तु तेनाधुनाजस्रं महाकारुण्यमाधुरी ।
यथा प्रकाश्यमानास्ते गम्भीरा पूर्व्वतोऽधिका ९५
विचित्रलीलाभङ्गी च तथा परममोहिणी ।
मुनीनामप्यभिज्ञानां यया स्यात् परमो भ्रमः॥९६
अहो ! भवादृशां तातो यतो लोक-पितामहः ।
वेदप्रवर्त्तकाचार्य्यो मोहं ब्रह्माप्यविन्दत ॥९७॥
वानराणामबुद्धीनां मादृशां तत्र का कथा ।
वेत्सि त्वमपि तद्वृत्तं तद्विशङ्केऽपराधतः ॥९८

श्रीहनुमानजी बोले ।

यद्यपि हमको भगवान् तथा उनके प्यारों के दर्शन तथा सेवा के लिये वहाँ जाना सर्वथा उपयुक्त है । तथापि मैं अपराधों से डरता हूँ । इस बार प्रभु ने अपनी करुणा की माधुरी को, जो कि बहुत गम्भीर है, पहले से भी अधिक प्रकाश किया है । उनकी विचित्र-विचित्र लीलाओं की चातुरी, बड़ी मोहन करने वाली हैं, जिसको देख कर, बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि भी बड़े भ्रम में पड़ जाते हैं । अहो ! मेरे जैसे बुद्धिहीन वानरों की तो कथा ही क्या है, उन लीलाओं को देख कर वेद के प्रचार करने वाले, आपके पिता लोक पितामह ब्रह्मा, सरीखे भी मोह को प्राप्त हो गये थे । इस बात को आप भी अच्छी तरह जानते हैं ॥९४-९५॥
॥९६-९७-९८॥

आस्तां वानन्यभावानां दासानां परमा गतिः ।

भगवान् की विचित्र विचित्र लीलाएँ हमारे जैसे अनन्य भाव से भजन करने वाले दासों की परम गति ही नहीं है, बल्कि वह प्रेम भक्ति को

प्रभोर्विचित्रा लीलैव प्रेम-भक्ति-विवर्द्धिनी॥९९॥
अथापि सहजाव्याजकरुणाकोमलात्मनि ।
अवक्रभावप्रकृतावार्य्यधर्म्मप्रदर्शके ॥१००॥
एकपत्नीव्रतधरे सदा विनयवृद्धया ।
लज्जयावनतश्रीमद्वदनेऽधोविलोकने ॥१०१॥
जगद्रञ्जनशीलाढ्ये ऽयोध्यापुर-पुरन्दरे ।
महाराजाधिराजे श्रीसीतालक्ष्मणसेविते ॥१०२॥
भरतज्यायसि प्रेष्ठसुग्रीवे वानरेश्वरे ।
विभीषणाश्रिते चापपाणौ दशरथात्मजे ॥१०३॥
कौशल्यानन्दने श्रीमद्रघुनाथस्वरूपिणि ।
स्वस्मिन्नात्यन्तिकी प्रीतिर्मम तेनैव वर्द्धिता १०४
तस्मादस्य वसाम्यत्र तादृग्रूपमिदं सदा ।
पश्यन् साक्षात् स एवेति पिबंस्तच्चरितामृतं १०५
यदा च मां कमप्यर्थमुद्दिश्य प्रभुराह्वयेत् ।
महानुकम्पया किञ्चिदातुं सेवा-सुखं परं ॥१०६
किं वा मद्विषयस्नेहप्रेरितः प्राणतो मम ।
रूपं प्रियतमं यत्तत् सन्दर्शयितुमीश्वरः ॥१०७॥
तदा भवेयं तत्राशु त्वन्तु गच्छाद्य पाण्डवान् ।
तेषां गृहेषु तत् पश्य परं ब्रह्म नराकृति ॥१०८॥
स्वयमेव प्रसन्नं यन्मुनि-हृद्वागगोचरं ।
मनोहरतरं चित्रलीलामधुरिमाकरं ॥१०९॥

बृहद्व्रतधरानस्मांस्तांश्च
गार्हस्थ्यधर्म्मिणः ।
साम्राज्यव्यापृतान्मत्वा
मापराधावृतो भव ॥११०॥

भी बढ़ाने वाली है। उन श्रीकृष्ण ने ही अपने अभिन्न स्वरूप परम सुन्दर उन श्रीरघुनाथजी में मेरी भक्ति बढ़ाई, जोकि स्वाभाविक सरल, करुणा से कोमल चित्त, सीधी प्रकृति वाले हैं। श्रेष्ठ धर्म का प्रदर्शन कराने वाले तथा एक पत्नी व्रत धारी हैं। विनय युक्त लज्जा से अपने मुखार विन्द को सदा ही झुकाये रखते हैं, जिनकी दृष्टि सदैव नीचे रहती है। जिनका स्वभाव जगत् रञ्जन करने का है। अयोध्यापुरी के पुरन्दर एवं सब राजाओं के चक्रवर्त्ती हैं। उनकी श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी सदा सेवा करते हैं। भरत के जेष्ठ भ्राता हैं, तथा वानरों के राजा सुग्रीव के प्यारे हैं। उनके चरणों की श्री विभीषण ने शरण ली है। श्री दशरथ नन्दन और कौशिल्या के सुपुत्र हैं। उनके हस्त कमलों में सदा चाप रहता है। मैं यहाँ उन्हीं श्रीरघुनाथ स्वरूप के अर्चा विग्रह का साक्षात् की तरह सदा दर्शन करता हुआ, उनकी चरितामृत रूप कथा को सुनता हुआ, निवास करता हूँ॥९९-१००-१०१-१०२-१०३-१०४-१०५

जब कभी श्रीकृष्ण, कृपा करके किसी काम के उद्देश से, कुछ सेवा सुख प्रदान करने के लिये, अथवा मेरे विषय में जो उनका स्नेह है, उससे प्रेरित होकर, मेरे प्राणप्यारे श्रीरघुनाथजी के स्वरूप के दर्शन कराने के लिये बुलावेंगे तब मैं जल्दी से वहाँ जाकर उनकी सेवा में उपस्थित हूँगा। आप तो आज ही पाण्डवों के पास जाकर उनके भवन में उन नराकृति परब्रह्म के दर्शन कीजिये, जोकि स्वयं ही पाण्डवों पर प्रसन्न रहते हैं, और जो मुनियों के हृदय तथा वाक्वाणी से अगोचर हैं, अति सुन्दर हैं और विचित्र-विचित्र मधुर लीलाओं के आकर स्वरूप हैं।१०६-१०७॥ ॥१०८-१०९॥

पाण्डवों के विषय में आप यह विचार न करें, कि हम तो बड़े व्रत को धारण करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, और वह गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले राज पाट के काम में लिप्त हैं। ऐसा विचार करने से महत् अपराध होगा ॥११०॥

निःस्पृहाः सर्व्वकामेषु कृष्ण-पादानुसेवया ।
ते वै परमहंसानामाचार्य्यार्च्यपदाम्बुजाः॥१११॥

तेषां ज्येष्ठस्य साम्राज्ये प्रवृत्तिर्भगवत्प्रियात् ।
अतो बहुविधा देवदुर्लभा राज्यसम्पदः ॥११२॥

राजसूयाश्वमेधादिमहापुण्यार्जितास्तथा ।
विष्णुलोकादयोऽत्रापि जम्बुद्वीपाधिराजता ११३

त्रैलोक्यव्यापकं स्वच्छं यशश्च विषयाः परे ।
सुराणां स्पृहणीया ये सर्व्वदोषविवर्ज्जिताः ११४

कृष्णप्रसादजनिता कृष्ण एव समर्पिताः ।
नाशकन्कामपि प्रीतिं राज्ञो जनयितुं क्वचित्११५

कृष्ण-प्रेमाग्निदन्दह्यमानान्तःकरणस्य हि ।
क्षुदग्निविकलस्येव वासः-स्रक्-चन्दनादयः॥११६

अहो! किमपरे श्रीमद्द्रौपदी महिषीवरा ।
तादृशा भ्रातरः श्रीमद्भीमसेनार्जुनादयः॥११७॥

न प्रिया देहसम्बन्धान्न चतुर्वर्गसाधनात् ।
वरं श्रीकृष्ण-पादाब्ज-प्रेमसम्बन्धतः प्रियाः ११८

वानरेण मया तेषां निर्वक्तुं शक्यते कियत् ।
माहात्म्यं भगवन् ! वेत्ति भवानेवाधिकाधिकं११९

इति श्रीभागवतामृते भगवत्कृपाभर-
निर्द्धारखण्डे भक्तो नाम
चतुर्थोऽध्यायः ।

वह तो श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की सेवा करने से सब प्रकार की भोग वासनाओं से निर्लिप्त हैं । उन पाण्डवों के चरणारविन्द तो, परमहंसाचार्यों से भी पूजन करने योग्य हैं ॥१११॥

पाण्डवों के जेष्ट भ्राता, श्रीयुधिष्ठर की जो राज्य में प्रवृत्ति है, वह भी भगवान् की प्रीति के लिये ही है । श्रीवैकुण्ठादिलोक, बहुत प्रकार की देव दुर्लभ राज सम्पत्ति, राजसूय अश्वमेधादि महा पुण्यों से उपार्जित किया हुआ जम्बु द्वीप का साम्राज्य, और निर्मल यश, जोकि त्रिलोकी में फैला हुआ है, सर्व दोषों से वर्जित वह सम्पत्तियां जो देवताओं से भी प्रार्थनीय हैं, यह सब कुछ, श्रीकृष्ण की कृपा से ही उनको प्राप्त हुई हैं । यद्यपि उन्होंने इन सब को श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में अर्पण कर दिया है, तो भी ये सारी सम्पत्तियां युधिष्ठर महाराज को सुख प्रदान करने वाली नहीं हुईं । क्योंकि उनका अन्तःकरण श्रीकृष्ण के प्रम रूपी अग्नि से दग्ध है, जैसे कि भूख रूपी अग्नि से विकल मनुष्य को अच्छे-अच्छे वस्त्र सुगन्धित माला, चन्दन आदि सुख प्रदान करने वाले नहीं होते हैं ॥११२-११३-११४-११५-११६॥

और क्या कहें, श्रीयुधिष्ठरजी की सब रानियों में श्रेष्ठा श्री द्रोपदीजी जैसी पट्ट महीषी, श्रीभीमसेन अर्जुन आदि जैसे भाई, अपने देह सम्बन्ध से अथवा इस भाव से कि उन सब से धर्म अर्थ काम मोक्ष सिद्ध होता है, इसलिये प्रिय नहीं हैं बल्कि इस सम्बन्ध से प्यारे हैं कि इन सब का श्रीकृष्ण चरणारविन्द में प्रेम है ॥११७-११८॥

हे भगवन् नारदजी ! मैं एक साधारण बानर होते हुए उन लोगों की महिमा को क्या वर्णन कर सकता हूँ, आप मुझ से अधिक स्वयं जानते हैं ॥ ११९ ॥

इस श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के श्रीभगवान् के श्रेष्ठ कृपापात्रों केविवेचन नामक खण्ड में "भक्त" नाम चोथा अध्यायः समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तत्र श्रीनारदो हर्ष-भराक्रान्तः सनर्त्तनं ।
कुरु-देशं गतो धावन् राजधान्यां प्रविष्टवान् ॥१॥

तावत् कस्यापि यागस्य विपत्पातस्य वा मिषात् ।
कृष्णमानाय्य पश्याम इति मन्त्रयता स्वकैः ॥२॥

धर्म्मराजेन तं द्वारि तथा प्राप्तं महामुनिं ।
निशम्य भ्रातृभिर्मात्रा पत्नीभिश्च सहोत्थितं ॥३॥

ससम्भ्रमं धावता तु सोऽभिगम्य प्रणम्य च ।
सभामानीय सत्पीठे प्रयत्नादुपवेशितः ॥४॥

राज्ञा पूजार्थमानीतैः
पूर्व्ववद्द्रव्य-सञ्चयैः ।
मातस्त्वच्छ्वशुरानेव
सभृत्यानार्चयत् स तान् ॥५॥

हनूमद्गदितं तेषु
कृष्णानुग्रहवैभवं ।
मुहुः संकीर्त्तयामास
वीणागीतविभूषितं ॥६॥

श्रीपरीक्षित जी कहने लगे ।

श्रीनारदजी आनन्द में मग्न होकर नृत्य करते हुये, कुरु देश पहुँचे और वहाँ तीव्रता से राजधानी में प्रवेश किया ॥१॥

उसी समय श्री धर्मराज युधिष्ठर अपने भाइयों से यह मन्त्रणा कर रहे थे, कि किसी यज्ञ या विपत्ति के बहाने से, श्रीकृष्ण को यहाँ बुलाकर उनके दर्शन करने चाहियें। जब उन्होंने अपने द्वार पर श्री नारदजी को आये हुये सुना, तब उन्होंने अपनी माता, भाइयों व पत्नी सहित हड़बड़ाहट से उठ कर तीव्रता से जाकर उनको प्रणाम किया। सभा में अपने साथ लाकर ब त यत्न से सुन्दर सिंहासन पर उनको बिठला दिया ॥ २-३-४ ॥

हे माता! युधिष्ठर महाराज ने, श्रीनारदजी के पूजन के लिये पहले की तरह सब सामग्रियां इकट्ठी कीं, परन्तु उन सामग्रियों से श्रीनारदजी ने उलटा आपके श्वशुर श्री युधिष्ठर आदिकों का उनके सेवकों सहित पूजन किया ॥५॥

श्री हनुमानजी ने पाण्डवों के विषय में जिस प्रकार श्रीकृष्ण का अनुग्रह वैभव श्रीनारदजी के प्रति वर्णन किया था, उसी को श्री नारदजी बार बार वीणा बजाते हुए मधुर स्वर से गाने लगे ॥ ६ ॥

श्रीनारदउवाच ।

यूयं नृलोके वत भूरिभागा
येषां प्रियोऽसौ जगदीश्वरेशः ।
देवो गुरुर्वन्धुषु मातुलेयो
दूतः सुहृत् सारथिरुक्तितन्त्रः ॥७॥

यो ब्रह्मरुद्रादिसमाधिदुर्ल्लभो
वेदोक्तितात्पर्य्यविशेष-गोचरः ।

श्रीनारदजी बोले ।

आप लोग ही इस संसार में बड़े भाग्यशाली हैं, क्योंकि यह जगदीश्वर श्रीकृष्ण आपके प्यारे, इष्टदेव, गुरु, मामा के बेटे भाई, दूत, मित्र, सारथि, आज्ञा पालन करने वाले तथा सब कुछ हैं ॥ ७ ॥

वही श्रीकृष्ण, श्रीब्रह्माजी शिवजी आदिकों को भी समाधि में बड़ी कठिनता से प्राप्त होते हैं। वही वेद के तात्पर्य विषय हैं। और उन्हीं के अंश

श्रीमान्नृसिंहः किल वामनश्च
श्रीराघवेन्द्रोऽपि यदंशरूपः ॥८॥
अन्ये ऽवताराश्च यदंशलेशतो
ब्रह्मादयो यस्य विभूतयो मताः ।
माया च यस्येक्षणवर्त्मवर्त्तिनी
दासी जगत्सृष्ट्यवनान्तकारिणी ॥९॥

स्वरूप श्री नृसिंहजी, श्रीवामन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हैं। उन्हीं के अंश लेश से अन्यान्य अवतार हैं। उन्हीं के विभूति स्वरूप ब्रह्मादिक देवता हैं। सृष्टि, पालन, और संहार करने वाली माया उन्हीं के सामने दासी होकर सदा आज्ञा पालन करने के लिये खड़ी रहती है ॥८-९॥

यस्य प्रसादं धरणी-विलापतः
क्षीरोद-तीरे व्रतनिष्ठया स्थिताः ।
ब्रह्मादयः कञ्चन नालभन्त
स्तुत्वाप्युपस्थानपराः समाहिताः॥१०॥
ब्रह्मणैव समाधौ खे जातामधिगतां हृदि ।
यस्य प्रकाशयतामाज्ञां सुखिता निखिलाःसुराः११

जब पृथ्वी ने (असुरों से पीड़ित होकर) विलाप किया था, तब ब्रह्मादिक देवता क्षीर समुद्र के तट पर जा कर व्रत निष्ठ होकर स्थित हुये थे। जब कि मन को जीतकर अर्चा बन्दन तथा बड़े बड़े स्तोत्रों से आराधना करने पर भी. उन देवताओं को प्रभु की साक्षात् लेश मात्र कृपा प्राप्त नहीं हुई। तब आकाशवाणी स्वरूप उनकी आज्ञा हुई। जिसको केवल ब्रह्माजी ने समाधि से अपने हृदय में अनुभव किया। फिर और देवताओं से उस घटना को प्रकाश कर दिया, जिसको सुन कर सब देवता प्रसन्न हुये ॥१०-११

कस्मिन्नपि प्राज्ञवरैर्विविक्ते
गर्गादिभिर्यो निभृतं प्रकाश्यते ।
नारायणोऽसौ भगवाननेन
साम्यं कथञ्चिल्लभते न चापरः ॥१२

श्री गर्गाचार्य आदि विद्वानों ने. निर्जन स्थान पर गुप्त रूप से किसी (श्री नन्दबाबा) के सामने यह प्रकाश किया था कि उन श्रीकृष्ण की तुलना केवल श्रीनारायण भगवान् से ही, किसी किसी अंश में हो सकती है, और किसी से नहीं ॥१२॥

अतः श्रीमधुपुर्यां यो दीर्घविष्णुरिति श्रुतः ।
महाहरिर्महाविष्णुर्महानारायणोऽपि च ॥१३॥

इस लिये श्री मथुरा में दीर्घ विष्णु, महाहरि, महाविष्णु, महानारायण, इत्यादि नामों से जो विख्यात हैं, वह उन श्रीकृष्ण के ही स्वरूप हैं॥१३॥

यस्य प्रसादः सन्मौनशान्तिभक्त्यादिसाधनैः ।
प्रार्थ्यो नः स स्वयं वोऽभूत् प्रसन्नो वशवर्त्यपि१४

जिनकी कृपा हम जैसों के लिये मौन, शान्ति, भक्ति आदि श्रेष्ठ साधनों से प्रार्थनीय है। वही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आप लोगों पर प्रसन्न ही नहीं वल्कि आपके आधीन हैं ॥१४॥

अहो ! शृणुत पूर्वन्तु केषाञ्चिदधिकारिणां ।
अनेन दीयमानो ऽभून्मोक्षः स्थितिरियं सदा॥१५

अहो सुनिये ! पूर्व काल में यह नियम सदा रहा है; श्रीकृष्ण मोक्ष के अधिकारियों में से किसी-किसी को मुक्ति प्रदान करते थे ॥१५॥

कालनेमिर्हिरण्याक्षो हिरण्यकशिपुस्तथा ।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्ये घातिताः स्वयं॥१६

इसी लिये काल नेमी, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्ण, तथा और असुर आदिक जोकि श्रीकृष्ण ने अन्य अन्य अवतार धारण करके वध किये थे, उनको न तो मुक्ति ही

मुक्ति न नीता भक्तिर्न दत्ता कस्मैचिदुत्तमा ।
प्रह्लादाय परं दत्ता श्रीनृसिंहावतारतः ॥१७॥
हनूमान् जाम्बुवान् श्रीमान्
सुग्रीवोऽथ विभीषणः ।
गुहो दशरथोऽप्येते—
नूनं कतिपये जनाः ॥१८॥
रघुनाथावतारेऽस्मा—
च्छुद्धां भक्तिं तु लेभिरे ।
विशुद्धस्य च कस्यापि
प्रेम्नो वार्त्तापि न स्थिता ॥१९॥
इदानीं भवदीयेन मातुलेयेन नो कृताः ।
मुक्ता भक्तास्तथा शुद्धा प्रेमसम्पूरिताः कति॥२०
आत्मना मारिता ये च
घातिता वार्जुनादिभिः ।
नरकार्हाश्च दैतेयास्तन्—
महिम्नामृतं गताः ॥२१॥
तपोजपज्ञानपरा मुनयो येऽर्थसाधकाः ।
विश्वामित्रो गौतमश्च वशिष्ठोऽपि तथा परे ॥२२
ते कुरुक्षेत्रयात्रायां गत्वा कृष्णप्रसादतः ।
भक्तिं तं प्रार्थ्य तां प्राप्याभवंस्तद्भक्तितत्पराः॥२३
स्थावराश्च तमोयोनिगतास्तरुलतादयः ।
शुद्धसात्त्विकभावाप्त्या तत्प्रेमरसवर्षिणः ॥२४॥
हे कृष्णभ्रातरस्तस्य किं वर्ण्योऽपूर्व्वदर्शितः ।
रूप-सौन्दर्य्य-लावण्य-माधुर्य्याश्चर्य्यताभरः ॥२५
अपूर्व्वत्वेन तस्यैव यो विस्मयविधायकः ।
तथा लीला गुणाः प्रेमा महिमा केलिभूरपि ॥२६

दी गई और न किसी को उत्तम भक्ति प्रदान की गई थी । केवल श्रीप्रह्लादजी को श्रीनृसिंह स्वरूप से भक्ति दी गई थी (वह भी ज्ञान मिश्रा थी) ॥ १६-१७ ॥

श्री हनुमान जी, जाम्बवान, सुग्रीव, विभीषण, केवट, श्रीदशरथ जो इत्यादि अनेकों ने श्री रघुनाथ जी के अवतार के समय शुद्ध भक्ति प्राप्त की, परन्तु विशुद्ध प्रेम लक्षणाभक्ति की प्राप्ति तो दूर रही, इसकी बात भी नहीं चली ॥ १८ ॥ १६ ॥

अब तो आपके मामाके बेटे श्रीकृष्ण ने बहुतों को मुक्ति तथा भक्ति की तो गिनती ही क्या है, वल्कि शुद्ध प्रेमलक्षणा-भक्ति भी प्रदान की है ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण के अथवा अर्जुन आदि के हाथ से जिन असुरों का वध हुआ था, यद्यपि वह सब नरक में जाने के योग्य थे, तो भी श्रीकृष्ण की कृपा की महिमा से उन सबका मोक्ष ही हुआ॥२१

विश्वामित्र, गौतम, वशिष्ठ तथा और मुनि लोग जोकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष केलिये जप, तप, ज्ञान आदि साधनों में लगे हुये थे । जब वह कुरुक्षेत्र यात्रा में गये । तब वहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण से भक्ति के लिये प्रार्थना की, जिसको वह उनकी कृपा से प्राप्त कर के उसमें तत्पर हो गये थे ॥ २२ ॥ २३ ॥

यहाँ तक कि वृक्ष, लता आदि स्थावर भी, जिनका तमोगुण से जन्म है, शुद्ध सात्विक भाव को प्राप्त करके, श्रीकृष्ण विषयिक प्रेम रस को वर्षाने लगे ॥ २४ ॥

हे श्री कृष्ण के भ्राता गण ! मैं श्रीकृष्ण के रूप, सौन्दर्य, लावण्य, माधुर्य, आदि के अलौकिक प्रकाश को कहाँ तक वर्णन करूँ ? वह स्वयं अपने रूपको देखकर आप ही मोह को प्राप्त हो जाते हैं । इसी प्रकार उनकी लीला, गुण, प्रेम, तथा महिमा और उनकी विहार भूमि भी अलौकिक हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥

मन्येऽत्रावतरिष्यन्न स्वयमेवमसौ यदि ।
तदास्य भगवत्तैवाभविष्यत् प्रकटा न हि ॥२७॥

इदानीं परमां काष्ठां प्राप्ताभूत् सर्व्वतः स्फुटा ।
विशिष्टमहिमश्रेणी-माधुरीचित्रताचिता ॥२८॥

कृष्णस्य कारुण्यकथास्तु दूरे
तस्य प्रशस्यो वत ! निग्रहोऽपि ।
कंसादयः कालियपूतनाद्या
बल्यादयः प्रागपि साक्षिणोऽत्र॥२९

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इति प्रगायन् रसनां मुनिर्निजा-
मशिक्षयन्माधव-कीर्त्तिलम्पटां ।
अहो ! प्रवृत्तासि महत्ववर्णने
प्रभोरपीति स्वरदैर्विदश्यतां ॥३०॥

रसने ! ते महद्भाग्य-
मेतदेव यदीहितं ।
किञ्चिदुच्चारयैवैषां
तत् प्रियाणां स्वशक्तितः ॥३१

श्रीनारद उवाच ।

महानुभावा ! भवतान्तु तस्मिन्
प्रतिस्वकं यः प्रियताविशेषः ।
भवत्सु तस्यापि कृपाविशेषो
धृष्टेन नीयेत स केन जिह्वां ॥३२

माता पृथेयं यदुनन्दनस्य
स्नेहार्द्रमाश्वासनवाक्यमेकं ।
अक्रूर-वक्त्रात् प्रथमं निशम्य
प्रेमप्रवाहे निममज्ज सद्यः ॥३३॥

मैं तो यह मानता हूँ, कि यदि श्रीकृष्ण का अवतार इस भूमण्डल पर यहाँ मथुरा में नहीं होता, तो उनकी परम भगवत्ता भी प्रगट नहीं होती ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण की विशेष महिमा माधुरी जोकि विविध प्रकार से चित्र विचित्र है, वह जैसी अब चरमसीमा को प्राप्त हुई है, ऐसी पहिले किसी अवतार में स्पष्ट रूप से प्रगट नहीं हुई ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण की कृपा की कथा तो दूर रही, उनका दण्ड भी अत्यन्त प्रशंसनीय है। इसके साक्षीभूत इस अवतार में कंस, कालिय, पूतना आदि हैं, और पहिले अवतारों में बलि आदि थे ॥ २९ ॥

श्रीपरीक्षितजी कहने लगे ।

इस प्रकार श्री नारद जी गाते हुये स्वयं अपनी जिह्वा को, जोकि श्रीकृष्ण की कीर्ति गाने में आसक्त है शिक्षा देने लगे । हे जिह्वे ! तुम उस प्रभु की महिमा वर्णन करने चली हो, जिसकी महिमा ब्रह्मा, शिव आदिक भी वर्णन नहीं कर सकते हैं । यह कह कर इसके दण्ड स्वरूप उन्होंने अपनी जिह्वा को अपने दाँतों से काट कर यह कहा ॥ ३० ॥

"हे रसने ! तू बड़भागी है, जो तूने प्रभु की इस प्रकार महिमा वर्णन की है। अब तू यथा शक्ति उनके प्यारों की भी कुछ महिमा कह"॥३१॥

श्रीनारदजी बोले ।

हे महानुभावो ! जो आप सबकी श्रीकृष्ण में प्रीति है, और जो उनकी आपके प्रति कृपा है ऐसा कौन है जो उसको अपनी जिह्वा से वर्णन कर सके ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्ण के उस आश्वासन वाक्य को, जो स्नेह से भीगा हुआ था, अक्रूर के मुख से जब कि पहिले पहिल माता कुन्ती ने सुना था, तब वह प्रेम प्रवाह में निमग्न हो गईं थीं । यह बहुत प्रकार से विलाप करने लगी थीं, जिसको सुनने से मनुष्यों की छाती फट जाती है । यह श्री कुन्ती जी

विचित्रवाक्यैर्बहुधा रुरोद
स्फुटेन्नृणां यच्छ्रवणेन वक्षः ।
भवत्स्वपि स्नेहभरं परं सा
ररक्ष कृष्णप्रियतामपेक्ष्य ॥३४॥

चिरेण द्वारकां गन्तुमुद्यतो यदुजीवनः ।
काकुस्तुतिभिरावृत्य स्वगृहे रक्ष्यतेऽनया॥३५॥

युधिष्ठिरायापि महाप्रतिष्ठा
लोकद्वयोत्कृष्टतरा प्रदत्ता ।
तथा जरासन्ध-वधादिना च
भीमाय तेनात्मन एव कीर्त्तिः ॥३६॥

भगवानयमर्जुनश्च तत् प्रियसख्येन गतःप्रसिद्धतां ।
न पुराण-शतैः परैरहो !
महिमा स्तोतुममुष्य शक्यते ॥३७॥

नकुलः सहदेवश्च यादृक्प्रीतिपरौ यमौ ।
अग्रपूजाविचारादौ सर्व्वैस्तद्वृत्तमीक्षितं ॥३८॥

श्रीद्रौपदी च हरिणा स्वमेव राज-
सूयादिषूत्सववरेष्वभिषिक्तकेशा ।
सम्बोध्यते प्रियसखीत्यविताऽत्रि-पुत्र-
दुःशासनादिभयतो हृतसर्व्वशोका ॥३९

आस्वादनं श्रीविदुरौदनस्य
श्रीभीष्म-निर्य्याणमहोत्सवश्च ।
तत्तत्कृतत्वादृशपक्षपात-
स्यापेक्षयैवेति विचारयध्वं ॥४०॥

अहो ! वत ! महाश्चर्य्यं कवीनां गेयतां गताः ।
भवदीयपुरस्त्रीणां ज्ञानभक्त्युक्तयो हरौ ॥४१॥

सहैकपौत्रेण कयाधु-नन्दनो
ऽनुकम्पितोऽनेन कपीन्द्र एकलः ।

आप लोगों से इसलिये स्नेह करती हैं, कि आपके प्रति श्रीकृष्ण का प्रेम है ॥३३-३४॥

जब कि श्रीकृष्ण ने बहुत दिन हस्तिनापुर में रह कर द्वारिका जाने का विचार किया था, उस समय श्री कुन्तीजी ने दीनता से बहुत प्रकार स्तुति करके उनको रोक कर अपने ही घर रक्खा था ॥३५॥

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठर महाराज को वह प्रतिष्ठा दी जोकि इस लोक तथा स्वर्ग में नहीं है, तथा भीमसेन से जरासन्ध का वध करवा कर उसको अपनी कीर्ति प्रदान की है। सर्व समर्थ अर्जुन तो उनके प्रिय सखा रूप से प्रसिद्ध ही हैं। अहो ! आपकी महिमा सौ-सौ पुराण तथा अन्य सत शास्त्रों से भी वर्णन नहीं की जा सकती है ॥ ३६-३७ ॥

नकुल और सहदेव की जो श्रीकृष्ण में प्रीति है, उसका परिचय राजसूय यज्ञ में उन्होंने सब से प्रथम उनकी पूजा होने का प्रस्ताव उपस्थित करके दिया था, जोकि सबको भली प्रकार से विदित है ॥ ३८ ॥

श्रीद्रौपदीजी जिनके केशों का अभिषेक स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने हस्त कमलों से राजसूय यज्ञ में किया था और जिनको वह "प्रिय सखी" कह कर बोलते हैं। जिनका भय अत्रि पुत्र दुर्वासा तथा दुःशासन आदि से निवारण किया था, उनकी प्रशंसा कौन कर सकता है ? ॥३९॥

श्रीकृष्ण ने विदुर के घर भोजन किया था। श्रीभीष्म के वैकुण्ठ गमन के समय जो श्रीकृष्ण उनके निकट रहे थे, यह सब आपके पक्षपात के कारण से ही हुआ था, इसको आप लोग अच्छी तरह से जानते हैं ॥४०॥

अहो ! आप लोगों की पुरस्त्रियों की श्रीकृष्ण विषयक जो ज्ञान, भक्ति, मिश्रित वाणी है, उसको बड़े-बड़े कवि आश्चर्य युक्त होकर गाते हैं ॥४१॥

श्रीभगवान् ने वलि सहित प्रह्लादजी पर ही कृपा की थी, और श्री रघुनाथजी ने एक हनुमान

ससर्व्वबन्धुस्वजना भवादृशा
महाहरेः प्रेमकृपाभरास्पदं ॥४२॥

उद्दिश्य यान् कौरवसंसदं गतः
कृष्णः समक्षं निजगाद मादृशां ।
ये पाण्डवानां सुहृदोऽथ बैरिण-
स्ते तादृशा मेऽपि ममासवो हि ते ॥४३

धार्ष्ट्यं ममाहो ! भवतां गुणान् किल
ज्ञातुश्च वक्तुं प्रभवेत् स एकलः ।
निर्णीतमेतत्तु मया महाप्रभुः
सोऽत्रावतीर्णो भवतां कृते परं ॥४४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

अथ क्षणं लज्जयेव मौनं कृत्वाथ निश्वसन् ।
धर्म्मराजो ऽब्रवीन्मातृभ्रातृपत्नीभिरन्वितः ॥४५॥

वाचस्पतिशिरोधार्य्य ! नैवास्मासु कृपा हरेः ।
विचार्य्याभीक्ष्नमस्माभिर्जातु काप्यवधार्य्यते॥४६

प्राकृतानां जनानां हि मादृगापद्दृशोक्षया ।
कृष्णभक्तौ प्रवृत्तिश्च विश्वासश्च ह्रसेदिव ॥४७॥
एतदेवातिकष्टं नस्तदेकप्राणजीविनां ।
विनान्नं प्राणिनां यद्वन्मीनानाञ्च विना जलं॥४८
अतोऽर्थितं मया यज्ञसम्पादन-मिषादिदं ।
निष्ठां दर्शय भक्तानामभक्तानामपि प्रभो ! ॥४९
लोकयन्तो यतो लोकाः सर्व्वे त्वद्भक्तसम्पदः ।
ऐहिकामूष्मिकीश्चित्राः शुद्धाः सर्व्वविलक्षणाः॥५०

जी पर ही कृपा की थी, परन्तु आप पर श्रीकृष्ण ने सर्व वन्धु स्वजन लोगों सहित कृपा करके आप लोगों को अपने प्रेम का भाजन बनाया है ॥४२॥

श्रीकृष्ण ने कौरवों की सभा में जाकर हमारे जैसों के समक्ष में आप लोगों के उद्देश्य से यह कहा था कि "जो पाण्डवों का मित्र है, वह मेरा मित्र है। जो उनका शत्रु है, वह मेरा शत्रु है, क्योंकि पांडव मेरे प्राण स्वरूप हैं" ॥४३॥

अहो ! जो मैं आप लोगों का गुण वर्णन कर रहा हूँ, यह मेरी धृष्टता ही है। क्योंकि आप लोगों के गुणों को जानने के लिये अथवा कहने के लिये एक मात्र श्रीकृष्ण ही समर्थ है। मैं तो यह निश्चय करके कहता हूँ, कि प्रभु ने आप लोगों के लिये ही यह अवतार धारण किया है ॥४४॥

श्रीपरीक्षितजी बोले।

इसके पश्चात् एक क्षण के लिये मौन होकर लज्जा युक्त एक लम्बी सांस लेकर, श्रीधर्मराज युधिष्ठिर अपनी माता, भाई तथा पत्नी सहित इस प्रकार बोले ॥४५॥

(श्रीयुधिष्ठरजी कहने लगे।)

"हे नारदजी ! आप व्याख्यान देने वालों में शिरोमणि हो, हम लोगों ने बार बार विचार करके यह बात निश्चय की है, कि श्रीकृष्ण की कृपा हमारे ऊपर बिल्कुल नहीं है ॥४६॥

जैसे अन्न बिन प्राणी, और जल बिन मीन नहीं जी सकती हैं, इसी प्रकार हमारे जीवन का सहारा भी श्रीकृष्ण भक्ति ही है। ऐसा होते हुए भी हमारी विपत्तियों को देख-देख कर साधारण जीवों की श्रीकृष्ण भक्ति में प्रवृत्ति तथा विश्वास नष्ट हो जाएगा। इसी बात को समाधान करने के लिये, राजसूय यज्ञ के बहाने से हम लोगों ने श्रीकृष्ण से यह प्रार्थना की थी कि "हे प्रभो ! आप अपने भक्तों तथा अभक्तों का अन्तिम परि-णाम दिखाइये, ताकि समस्त संसार आपके भक्तों की यह लौकिक तथा पारलौकिक पवित्र, विचित्र तथा विलक्षण सम्पत्तियों को देखकर भक्ति

भूत्वा परमविश्वस्ता भजन्तस्त्वत्पदाम्बुजं ।
निर्दुःखा निर्भया नित्यं सुखित्वं यान्तिसर्व्वतः॥५१

में विश्वास करके, आपके चरणारविन्दों का भजन करें, जिससे उनके सब प्रकार के दुख और भय दूर हो जाएँ, और वह नित्य सुख को प्राप्त कर सकें" ॥४७-४८-४९-५०-५१॥

सम्प्रत्यभक्तानस्माकं विपक्षांस्तान् विनाश्य च ।
राज्यं प्रदत्तं यत्तेन शोकोऽभूत्पूर्व्वतोऽधिकः॥५२

"अब श्रीकृष्ण ने हमारे विपक्षी अपने अभक्तों का नाश करके हमको राज्य प्रदान किया है। परन्तु इससे हमको सुख के बदले पहले से भी अधिक दुख हो गया है ॥५२॥

द्रोणभीष्मादिगुरवोऽभिमन्युप्रमुखाः सुताः ।
परेऽपि वहवः सन्तो ऽस्मद्धेतोर्निधनं गताः॥५३॥

क्योंकि इस राज्य के हेतु से ही श्रीद्रोणाचार्य भीष्म आदि जैसे पूज्यपाद गुरु तथा अभिमन्यु आदि हमारे पुत्र तथा और सज्जनों ने अपने प्राणों को परित्याग कर दिया है ॥५३॥

स्वजीवनाधिकप्रार्थ्यश्रीविष्णुजनसङ्गतेः ।
विच्छेदेन क्षणश्चात्र न सुखांशं लभामहे ॥५४॥

भगवद्भक्तों का संग अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है। अब उनके विच्छेद से हमको यहां एक क्षण के लिये लेश मात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता है ॥५४॥

श्रीकृष्ण-वदनाम्भोजसन्दर्शनसुखञ्च तत् ।
कदाचित् कार्य्ययोगेन केनचिज्जायते चिरात्॥५५

अब श्रीकृष्ण के मुखारविन्द दर्शन का सुख भी हमको कभी-कभी बहुत दिन के बाद किसी कार्य वश से ही होता है ॥५५॥

यादवानेव सद्बन्धून् द्वारकायामसौ वसन् ।
सदा परमसद्भाग्यवतो रमयति प्रियान् ॥५६॥

वह अब द्वारिका में बस कर, अपने यादव भाई बन्धुओं को सदा सुख प्रदान करते हैं। इस लिये वह लोग उनके प्यारे तथा बड़भागी हैं ॥५६॥

अस्मासु यत्तस्य कदापि दौत्यं
सारथ्यमन्यच्च भवद्भिरीक्ष्यते ।
तद्भूरिभारक्षपणाय पाप-
नाशेन धर्म्मस्य च रक्षणाय ॥५७॥

हे नारद जी! आपको वह हमारे सारथि, दूत तथा अन्य कार्य करते हुये दिखाई देते हैं। यह हमारे लिये नहीं है, बल्कि यह सब कार्य इस पृथ्वी के भार को दूर करने के लिये तथा पाप का नाश करके धर्म की संस्थापना के लिये हैं ॥५७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

श्री परीक्षित्‌जी कहने लगे ।

अथ श्रीयादवेन्द्रस्य भीमो नर्म्मसुहृत्तमः ।
विहस्योच्चैरुवाचेदं शृणु श्रीकृष्णशिष्य! हे॥५८॥

अमुष्य दुर्बोधचरित्रवारिधे-
र्मायादिहेतोश्चतुरावलीगुरोः ।
प्रवर्त्तते वाग्व्यवहारकौशलं
न कुत्र किं तन्न वयं प्रतीमः ॥५९॥

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण के साथ परिहास करने वाले मित्र श्री भीमसेन, उच्च स्वर से हँसते हुए इस प्रकार कहने लगे। "हे नारदजी! आप ही श्रीकृष्ण के सच्चे शिष्य हैं। उनके चरित्र समुद्र की तरह अगाध हैं, जिनको कोई नहीं समझ सकता है। वह इस माया के कारण स्वरूप हैं, चतुरों के गुरु तथा बोलने में ऐसे कुशल हैं, कि वह क्या कहते हैं क्या करते हैं, यह समझना कठिन है॥५८-५९

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

सशोकमवदन्मातस्ततो मम पितामहः ।

कृष्णप्राणसखः श्रीमानर्जुनो निश्वसन्मुहुः ॥६०॥

श्रीपरीक्षित जी कहने लगे ।

हे माता ! इसके पश्चात् मेरे पितामह श्रीकृष्ण के प्रिय सखा अर्जुन, बार बार लम्बे-लम्बे स्वांस लेते हुये, इस प्रकार शोकातुर होकर कहने लगे ॥ ६० ॥

श्रीभगवानर्जुन उवाच ।

भवत्प्रियतमेशेन भगवन्नमुना कृतः ।

कृपाभरोऽपि दुःखाय किलास्माकं बभूव सः ६१

स्वधर्म्मैकपरैः शुष्कज्ञानवद्भिः कृतारणे ।

भीष्मादिभिः प्रहारा ये वर्म्ममर्म्मभिदो दृढ़ाः ६२

ते तस्यां मत्कृते स्वस्य श्रीमूर्त्तौ चक्रपाणिना ।

वार्य्यमाणेन च मया सोढ़ाः स्वीकृत्य वारशः ६३

श्री महानुभाव अर्जुन बोले ।

हे नारदजी ! आपके प्यारे श्रीकृष्ण ने जो हमारे ऊपर कृपा की है, वह भी निश्चय हमारे लिये दुख का ही हेतु हुई है। जब श्रीभीष्म-पितामह शुष्क ज्ञानी ने अपने धर्म में आरूढ़ होकर युद्ध में मेरे कवच तथा हृदय को भेदन करने वाले दृढ़ प्रहार किये थे, तब श्रीकृष्ण ने मेरे रोकने पर भी, उन सबको मेरी रक्षा के लिये, अपने दिव्य मङ्गल विग्रह पर ही सहन किये थे ॥६१-६२-६३॥

तन्मे चिन्तयतोऽद्यापि हृदयान्नापसर्पति ।

दुःखशल्यमतो ब्रह्मन् ! सुखं मे जायतां कथं ॥६४

हे नारद जी ! उन प्रहारों की चिन्ता से आज तक मेरे हृदय से वह दुख रूपी बर्छी नहीं निकली है। इसलिये आप ही बताइये मुझको सुख किस तरह हो सकता है ॥६४॥

कर्म्मणा येन दुःखं स्यान्निजप्रियजनस्य हि ।

न तस्याचरणं प्रीतेः कारुण्यस्यापि लक्षणं ॥६५॥

जिस किसी को अपने प्यारे के कर्मों से दुख प्राप्त होता है उनके वह आचरण न तो प्रीति के लक्षण कहे जा सकते हैं और न कृपा के माने जा सकते हैं ॥६५॥

भीष्मद्रोणादि-हननान्निवृत्तं मां प्रवर्त्तयन् ।

महाज्ञानिवरः कृष्णो यत्किञ्चिदुपदिष्टवान् ॥६६

यथा श्रुतार्थश्रवणाच्छुष्कज्ञानिसुखप्रदं ।

महादुःखकृदस्माकं भक्तिमाहात्म्यजीविनां॥६७॥

श्रीकृष्ण जो सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं, उन्हों ने मुझको उन भीष्म द्रोण आदि के बध कराने के लिये उपदेश किया था, जिनको बध मैं नहीं करना चाहता था। वह उपदेश अक्षरार्थ मात्र श्रवण करने से, केवल शुष्क ज्ञानियों को ही सुख देने वाला है। मेरे जैसों के लिये तो, जिनका एक मात्र भक्ति की महिमा ही जीवन है, दुखदाई हैं ॥६६-६७॥

तात्पर्य्यस्य विचारेण कृतेनापि न तत्सुखं ।

किञ्चित् करोत्युतामुष्य वञ्चनां किल बोधनात्६८

यदि मेरे लिये उस उपदेश के तात्पर्य अर्थ को विचार करके देखा जाए तो भी मुझको सुख प्रद नहीं है। श्रीकृष्ण ने उस उपदेश से हम लोगों की एक प्रकार से वञ्चना ही की है। (क्योंकि यदि उस लीला के आधार पर देखा जाए, तो

यत्सदा सर्व्वदा शुद्धनिरुपाधिकृपाकरे ।
तस्मिन् सत्यप्रतिज्ञे सन्मित्रवर्य्ये महाप्रभौ॥६९॥

विश्वस्तस्य दृढं साक्षात् प्राप्तात्तस्मान्मम प्रियं ।
महामनोहराकारान्न परब्रह्मणः परं ॥७०॥

श्रीनकुल-सहदेवावूचतुः ।

यद्विपद्गणतो धैर्य्यं वैरिवर्गविनाशनं ।
अश्वमेधादि चास्माकं श्रीकृष्णः समपादयत्॥७१
यच्च तेन यशो राज्यं पुण्याद्यप्यन्यदुर्लभं ।
व्यतनोद्भगवंस्तेन नास्य मन्यामहे कृपां ॥७२॥
किन्त्वनेकमहायज्ञोत्सवं सम्पादयन्नसौ ।
स्वीकारेणाग्रपूजाया हर्षयेन्नः कृपा हि सा॥७३॥

अधुना वञ्चितास्तेन वयं जीवाम तत् कथं ।
तद्दर्शनमपि ब्रह्मन् ! यन्नोऽभूदतिदुर्घटं ॥७४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तच्छ्रुत्वा वचनं तेषां द्रौपदीशोकविह्वला ।
संस्तभ्य यत्नादात्मानं क्रन्दन्त्याह सगद्गदं॥७५

श्रीकृष्णोवाच ।

श्रीकृष्णेन मम प्राणसखेन बहुधात्रपा ।
निवारणीया दुष्टाश्च मारणीयाः क्लिदृशः ॥७६

कर्त्तव्योऽनुग्रहस्तेन सदेत्यासीन्मतिर्मम ।
अधुना पतितास्तातभ्रातृपुत्रादयोऽखिलाः ॥७७॥

उस उपदेश का तात्पर्य युद्ध में प्रवृत्त कराकर भीष्म द्रोणादि को मारना ही है, परन्तु हमको यह अभिष्ट नहीं है।) हमारा श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में विश्वास है, इसलिये हम लोग तो केवल उसी स्वरूप को चाहते हैं, जोकि परब्रह्म तथा सर्व समर्थ होते हुए भी सदा सर्व प्रकार निर्हेतुक शुद्ध कृपा के आकर सत्य प्रतिज्ञा वाले, श्रेष्ठ मित्र, हमारे प्यारे बन कर, जिस मनोहर स्वरूप से हमारी दृष्टि के सामने साक्षात् विराजमान् रहते हैं, उसी प्रकार रहा करें ॥६८-६९-७०॥

श्री नकुल सहदेव बोले।

यद्यपि श्रीकृष्ण ने हमारी विपत्तियों में हमको धैर्य बंधाया, हमारे शत्रुओं का विनाश किया, अश्वमेधादि यज्ञों का समाधान किया, हमारे यश, राज्य तथा दुर्लभ पुण्यों को बढ़ाया, तो भी इन सब कामों के समाधान करने से हम उनकी कृपा नहीं मानते हैं। यदि हमारे ऊपर उनकी कृपा है, तो केवल एक यही है, कि राजसूय यज्ञ समाधान करके, उन्होंने हमारी अग्र पूजा करने की प्रार्थना को स्वीकार करके हमको आनन्दित किया है ॥७१-७२-७३॥

हे नारदजी! अब उन्होंने हम लोगों को छोड़ दिया, बताइये अब हम कैसे जीवें? उनके दर्शन भी हम लोगों को अति दुर्लभ हो गये हैं ॥७४॥

श्री परीक्षित् जी कहने लगे।

उन सबकी वार्तालाप सुनकर श्रीद्रोपदी जी शोक से विह्वल होती हुई अपने आपको धीरज बंधाकर गद्-गद् स्वर से विलाप करती हुई इस प्रकार कहने लगीं ॥७५॥

श्री द्रोपदी जी बोलीं।

मैं यह आशा करती थी कि मेरे प्राण सखा श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार पहले मेरी बहुत प्रकार लज्जा बचाई थी, उस प्रकार बचावेंगे। जिस तरह दुष्टों का विनाश किया था, उसी तरह करेंगे, जिस तरह पहले कृपा करते थे, उसी तरह सदा मुझ पर करते रहेंगे। अब जबकि मेरे पिता, भाई,

तत्रापि विदधे शोकं न तदिच्छानुसारिणी।
किन्त्वैच्छंप्राप्तुमात्मेष्टं किञ्चित्तत्तच्छलात्फलं ७८

तेन सान्त्वयितव्याहं हतबन्धुजना स्वयं।
श्रीकृष्णेनोपविश्यात्र मत्पार्श्वे युक्तिपाटवैः ॥७९

तानि तानि ततस्तस्य पातव्यानि मया सदा।
मधुराणि मनोज्ञानि स्मितवाक्यामृतानि हि॥८०

तदस्तु दूरे दौर्भाग्यान्मम पूर्व्ववदप्यसौ।
नायात्यतोदया कास्य मन्तव्या मयका मुने! ८१

पुत्र आदि सब मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं, यद्यपि मैंने उनका, श्रीकृष्ण की इच्छा समझ कर शोक नहीं किया है, तो भी मैं यह आशा करती थी कि मेरे मरे हुये बन्धु बान्धवों के दुख की सान्त्वना देने के लिये मेरे पास आकर बैठेंगे। अनेक युक्तियों से मेरा धीरज बधावेंगे। इसी बहाने से मैं अपने अभिष्ट फल को प्राप्त करूँगी। जब कि वह अपनी मधुर-मधुर अमृत सरीखी वार्त्ताओं से मुस्कराते हुये वार्त्तालाप करेंगे, तो मुझको उनके श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। यह सब बातें तो दूर रहीं, उन्होंने मेरे दुर्भाग्य से पहले की तरह यहां आना भी छोड़ दिया। हे नारदजी! अब आप बताइये उनकी कृपा कहां तक मुझ पर है? ॥७६-७७-७८-७९-८०-८१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच।

शोकार्त्तेव ततः कुन्ती कृष्णदर्शनजीवना।
सास्रं सकरुणं प्राह स्मरन्ती तत्कृपाकृपे॥८२॥

श्रीपरीक्षितजी बोले।

इसके पश्चात् श्री कुन्तीजी, जिनका जीवन श्रीकृष्ण का दर्शन ही है, शोकातुर होकर, फिर कुछ धीरज बांधकर, उनकी कृपा तथा अकृपा को याद करके, अश्रु बहाती हुई, करुण स्वर से इस प्रकार कहने लगीं ॥८२॥

श्रीपृथोवाच।

अनाथायः सपुत्राया समापद्गणतोऽसकृत।
त्वरया मोचनात् सम्यग्देवकीमातृतोऽपि यः॥८३
कृपाविशेषः कृष्णस्य स्वस्यामनुमितो मया।
स चाधुनात्मनोऽन्येषामपि गेहेषु सर्वतः ॥८४॥
स्त्रीणां निहतबन्धूनां महारोदनसंश्रुतेः।
मनस्यपि पदं जातु न प्राप्नोति कियन्मम॥८५॥

श्री कुन्तीजी बोली।

श्रीकृष्ण ने मुझ अनाथ के पुत्रों की आपत्तियों से बार-बार और बहुत जल्दी रक्षा की थी, इसलिये मैं यह अनुमान करती थी कि उनकी कृपा अपनी माता देवकी से भी मुझपर अधिक है। अब सब जगह मेरे तथा औरों के घरों में स्त्रियों की, उनके कुटुम्बी मरने से बड़े रोदन की आवाज सुनाई पड़ती है, तब मैं यह देखती हूँ कि श्रीकृष्ण की कृपा किञ्चित् मात्र भी मुझ पर नहीं है ॥८३ ८४ ८५॥

अतस्तद्दर्शनत्यक्ताः सम्पदः परिहृत्य वै।
आपदः प्रार्थितास्तस्मिन्मया तद्दर्शनापिकाः ८६

इसीलिये मैंने जिन सम्पत्तियों में उनके दर्शन नहीं होते हैं, उनको छोड़ कर उन आपत्तियों के लिये प्रार्थना की थी, जिससे कि मुझको उनके दर्शन होते रहें ॥८६॥

दत्त्वा निष्कण्टकं राज्यं पाण्डवाः सुखिता इति।

उन्होंने पाण्डवों को निष्कंटक राज्य देकर यह समझ लिया है, कि अब वह परम सुखी हैं।

मत्वाधुना विहायास्मान् द्वारकायामवस्थितं॥८७
अतोऽत्र तस्यागमनेऽप्याशा मे ऽपगता वत।
मन्येऽधुनात्मनः शीघ्रमरणं तदनुग्रहं ॥८८॥
वन्धुवत्सल इत्याशातन्तुर्यश्चावलम्बते।
स त्रुट्येद्यदुभिस्तस्य गाढ़सम्वन्धमर्शनात्॥८९॥

तथाहि तस्य परमप्रियवर्गमुख्यान्
श्रीयादवान्निरुपमप्रमदाब्धिमग्नान्।
तेषां महत्त्वमतुलं भगवंस्त्वमेव
जानासि तद्वयमहो! किमु वर्णयेम॥९०॥

श्रीपरीक्षिदुवाच।

भो यादवेन्द्र-भगिनीसुतपत्नि! मातः!
श्रीद्वारकां मुनिवरस्त्वरयागतोऽसौ।
दण्डप्रणामनिकरैः प्रविशन् पुरान्त-
र्दूराद्ददर्श सुभगान् यदुपुङ्गवांस्तान्॥९१॥

सभायां श्रीसुधर्म्मायां
सुखासीनान् यथाक्रमं।
निजसौन्दर्य्यभूषाढ्यान्
पारिजातस्रगाचितान् ॥९२॥

दिव्यातिदिव्यसंगीतनृत्यादिपरमोत्सवैः।
सेव्यमानान् विचित्रोक्त्यास्तूयमनांश्च वन्दिभिः९३
अन्योन्यं चित्रनर्म्मोक्तिकेलिभिर्हसतो मुदा।
सूर्य्यमाक्रामतः स्वाभिः प्रभाभिर्माधुरीमयान्।९४
नानाविधमहादिव्यविभूषणविचित्रितान्।
कांश्चित्प्रवयसोऽप्येषु नवयौवनमापितान॥९५॥

इसीलिये हम लोगों को छोड़ कर अब वह स्थिर भाव से द्वारिका में ही रहने लग गए हैं॥ ८७॥

अब हमको उनके यहां आने की आशा भी टूट गई है। अब तो मेरी मृत्यु शीघ्र हो जाना ही उनका अनुग्रह है॥ ८८॥

केवल एक इस आशाका यहीअवलम्ब था, कि आप वन्धु वत्सल हैं, परन्तु यह देख कर कि उनका यादवों से प्रगाढ़ सम्बन्ध हैं वह आशा भी टूट गई॥ ८९॥

हे नारद जी! इसीलिये आप द्वारिका में जायें, और वहाँ उन यादवों के दर्शन करें, जो श्रीकृष्ण के सब प्यारों में प्रधान हैं, और जो अनिर्वचनीय आनन्द के समुद्र में सदा निमग्न रहते हैं। हे भगवन्! आप स्वयं उनकी अतुलनीय महिमा को अच्छी प्रकार जानते हैं, इसलिये हम आपसे क्या वर्णन करें॥ ९०॥

श्रीपरीक्षित जी बोले।

हे माता! आप श्रीकृष्ण की वहिन के पुत्र की अर्धाङ्गी हो, इसलिये आप भी बड़ी भाग्यशाली हो। इसके पश्चत् श्री देवर्षि नारदजी जल्दी से द्वारिका पहुँचे। उन्होंने दण्डवत् प्रणाम करते हुये, उस पुरी में प्रवेश किया, और दूर से उन श्रेष्ठ तथा बड़भागी यादवों को देखा॥ ९१॥

जो श्री सुधर्मा सभा में यथा योग्य सुख पूर्वक अपने अपने आसनों पर बैठे हुए थे। जो अपनी अपनी सुन्दरता से ही विभूषित होकर पारिजात पुष्पों की माला पहने हुए थे। जहां दिव्य से दिव्य संगीत नृत्य आदि के उत्सव हो रहे थे। उनकी बन्दी जन विचित्र विचित्र प्रकार से स्तुति कर रहे थे। वह परस्पर हास्य परिहास्य करते हुये, आनन्द ले रहे थे। जिनकी कान्ति से सूर्यनारायण भी फीका पड़ रहा था। जिनकी मधुरिमा नाना प्रकार के दिव्य आभूषणों से विचित्रता को प्राप्त हो रही थीं। उनमें किसी किसी की अधिक आयु थी, उनकोभी श्रीकृष्णके मुखार विन्द की रुपसुधा अतृप्ति पूर्वक वार वार पान करने से नव यौवन

श्रीकृष्णवदनाम्भोजसुधातृप्तानऽभीक्ष्णशः ।
उग्रसेनं महाराजं परीवृत्य चकासतः ।
प्रतीक्ष्यमाणान् श्रीकृष्णदेवागमनमादरात्॥९६॥

तदन्तःपुरवर्त्मेक्षाव्यग्रमानसलोचनान् ।
तत्कथाकथनासक्तानसंख्यान् कोटिकोटिशः॥९७

ज्ञात्वा तं यदवोऽभ्येत्य धावन्तः सम्भ्रमाकुलाः।
उत्थाप्य प्रसभं पाणौ धृत्वा निन्युः सभान्तरं॥९८

महादिव्यासने दत्तेऽनुपविष्टं तदिच्छया ।
भूमावेवोपवेश्यामुं परितः स्वयमासत ॥९९॥

देवर्षिप्रवरोऽमीभिः पूजाद्रव्यं समाहृतं ।
नत्वा साञ्जलिरुत्थाय विनीतो मुहुराह तान्॥१००

श्रीनारद उवाच ।

भोः ! कृष्णपादाब्जमहानुकम्पिता !
लोकोत्तरा ! मामधुना दयध्वं ।
युष्माकमेवाविरतं यथाहं
कीर्त्तिं प्रगायन जगति भ्रमेयं ॥१०१॥

अहो ! अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलं
चकास्ति वैकुण्ठनिवासितोऽपि यत् ।
मनुष्यलोको यदनुग्रहादयं
विलङ्घ्य वैकुण्ठमतीव राजते ॥१०२॥

वृत्ता धरित्रि ! भवती सफलप्रयासा
यस्यां जनुर्वसति केलिचयः किलैषां ।
येषां महाहरिरयं निवसन् गृहेषु

प्राप्त हो गया था । वह लोग श्री उग्रसेन महाराज के चारों ओर सुशोभित होकर श्री कृष्ण के शुभ आगमन की आदर सहित प्रतीक्षा कर रहे थे । इसलिये उनके मन तथा नेत्र व्यग्र होकर श्री कृष्ण के अन्तः पुर की ओर लगे हुए थे। वह लोग जिनकी संख्या करोड़ों से भी अधिक थी, परस्पर श्रीकृष्ण कथाकहने तथा सुनने मेंही आसक्तथे ॥ ९२ ॥ ॥ ९३ ॥ ॥ ९४ ॥ ॥ ९५ ॥ ॥ ९६ ॥ ॥ ९७ ॥

ज्योंही उन यादवों ने यह जाना, कि यह नारदजी है, त्योंही वह सम्भ्रम युक्त होकर दौड़ते हुए उनके समीप गये, और वलपूर्वक अपने हाथों से उठा, थामकर सभा में ले आये ॥ ९८ ॥

यद्यपि श्रीनारद जी को वहाँ श्रेष्ठ दिव्य सिंहसन पर वैठाने का प्रयत्न किया गया, तो भी वह वहां नहीं वैठ कर, भूमि पर ही वैठे। तदनन्तर उनकी प्रीति से और सब यादव भी उनके चारों ओर भूमि पर ही वैठ गए ॥ ९९ ॥

यादव गणों ने श्री देवर्षि नारद जी की पूजा के लिये सामग्रियां एकत्रित कीं। श्री नारद जी ने उन सामग्रियों को प्रणाम किया, और खड़े होकर नम्र भाव से हाथ जोड़ कर वार वार यह कहने लगे ॥ १०० ॥

श्री नारद जी बोले ।

हे यादव गण ! आप लोकातीत हो । आप लोगों पर श्री कृष्ण चरणारविन्द की श्रेष्ठ कृपा है। अब आप मुझ पर भी ऐसी कृपा करें, जिससे मैं इस संसार में निरन्तर आप ही की कीर्ति गाता हुआ बिचरा करूँ ॥ १०१ ॥

अहो! यह यदुकुल अत्यन्त श्लाघनीय है, जिसकी शोभा वैकुण्ठ निवासियों से भी अधिक है, जिसके अनुग्रह से यह मर्त्य लोक भी वैकुण्ठ को अतिक्रमण करके सुशोभित होरहा है ॥ १०२ ॥

हे पृथ्वी ! तेरा सब परिश्रम सफल हुआ, क्योंकि, तेरे ऊपर यदुवंशियों ने जन्म लिया है। वह तुझ पर निवास करते हुए अनेक प्रकार के विहार करते हैं । उनके घरों में स्वयं भगवान श्री कृष्ण निवास करते हुए अनेक प्रकार की

कुत्रापि पूर्व्वमकृतै रमते विहारैः॥१०३॥

येषां दर्शन-सम्भाषा-स्पर्शा-नुगमना-सनैः।
भोजनो-द्वाह-शयनैस्तथान्यैर्दैहिकैर्दृढैः ॥१०४॥

दुश्छेदैः प्रेमसम्बन्धैरात्मसम्बन्धतोऽधिकैः।
वद्धः स्वर्गापवर्गेच्छां छित्वा भक्तिं बिवर्द्धयन्॥१०५

कृष्णो विस्मृतवैकुण्ठो विलासैः स्वैरनुत्तमं।
नवं नवमनिर्व्वाच्यं वितनोति सुखं महत् ॥१०६

शय्या-सना-टना-लाप-क्रीड़ा-स्नाना-शनादिषु।
वर्त्तमाना अपि स्वान् ये कृष्ण-प्रेम्णा स्मरन्ति न ॥१०७॥

महाराजाधिराजायमुग्रसेन ! महाद्भुतः।
महासौभाग्यमहिमा भवतः केन वर्ण्यतां॥१०८॥

अहो ! महाश्चर्य्यतरं चमत्कारभराकरं।
पश्य प्रियजनप्रीति-पारवश्यं महाहरेः ॥१०९॥

यदुराज ! भवन्तं स निषण्णं परमासने।
अग्रे सेवकवत्तिष्ठन् सम्बोधयति सादरं ॥११०॥

भो ! निधारय देवेति भृत्यं मामादिशेति च।
तद्भवद्भ्यो नमोऽभीक्ष्णं भवत्सम्बन्धिने नमः॥१११

श्रीपरीक्षिदुवाच।

ततो ब्रह्मण्यदेवानुवर्त्तिनो यदवोऽखिलाः।

ऐसी लीलाएँ करते हैं, जोकि अब तक उन्होंने कहीं भी नहीं की थीं ॥ १०३ ॥

हे यादवो ! आप लोगों ने श्रीकृष्ण के दर्शन करके, उनके साथ सम्भाषण करके, उनको स्पर्श करके, उनके पीछे अनुगमन करके, उनके साथ आसन पर बैठ करके, उनके साथ भोजन तथा शयन करके, उनके साथ अपनी कन्याओं का विवाह करके, तथा अन्य देहिक सम्बन्धों द्वारा उस दुष्छेद्य सम्बन्ध से उनको बांध लिया है जो कि तुम्हारी आत्माओं से भी अधिकतर है। श्रीकृष्ण ने आप लोगों की स्वर्ग तथा मोक्ष की कामना को हटाकर, आपकी श्रद्धा, भक्ति में बढ़ा दी है। प्रभु आपके साथ निरन्तर विहार करके, अपने बैकुण्ठ विलास को भी भूल गये हैं। वह आप लोगों को अनिर्वचनीय नये-नये सुख प्राप्त कराते रहते हैं ॥ १०४-१०५-१०६॥

आप लोग, शयन, आसन, भ्रमण, परस्पर वार्ता, विहार, स्नान तथा भोजनादि में श्रीकृष्ण के प्रेम से यन्त्रित होकर, अपने आपको भी भूल जाते हो ॥१०७॥

हे महाराज उग्रसेन ! आप सब राजाओं के अधिराज हो। आपकी अद्भुत सौभाग्य महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? ॥१०८॥

अहो ! देखिये, बड़े आश्चर्य की बात है। स्वयं साक्षात् भगवान्, अपने प्रेमी जनों की प्रीति के वश होकर आधीन हो जाते हैं ॥१०९॥

हे यदुराज उग्रसेन जी! जब आप उच्च सिंहासन पर विराजते हैं तब आपके सामने श्रीकृष्ण सेवक की तरह खड़े होकर आदर सहित इस प्रकार कहते हैं:—"हे देव ! कृपा करिये, आपका भृत्य आपकी सेवा में उपस्थित है, आज्ञा दीजिये।" इसलिये मैं आपको और आपके सम्बन्धियों को बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥११०-१११॥

श्रीपरीक्षितजी बोले।

हे माता ! इसके पश्चात् समस्त यादव, जो कि ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्ण के अनुवर्ती थे, श्रीनारद

सपादग्रहणं नत्वा मातरूचुर्महामुनिं ॥११२॥

जी के चरण छूकर नमस्कार करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥११२॥

श्रीयादवाऊचुः।

श्री यादवगण बोले।

श्रीकृष्णस्यापि पूज्यस्त्वमस्मदीयमहाप्रभोः।
कथमस्मान्महानीचान्नीचवन्नमसि प्रभो! ॥११३

हे नारद जी! हमारे परम पूज्यपाद श्रीकृष्ण के भी आप पूजनीय हैं, इसलिये हे प्रभो! हम महा नीचों को आप क्यों प्रणाम करते हैं ॥११३॥

जितवाक्पतिनैपुण्य! यदिदं नस्त्वयोदितं।
तदसम्भावितं न स्याद्यादवेन्द्र-प्रभावतः॥११४॥

हे नारदजी! आप वाक् कुशलता में वृहस्पति जी को भी जीतने वाले हैं। हमारे विषय में जो कुछ आपने वर्णन किया है, वह सब श्रीकृष्ण के प्रभाव से असम्भव नहीं है ॥११४॥

तस्य केनापि गन्धेन किं वा कस्य न सिद्ध्यति।
महादयाकरो योऽयं निरुपाधिसुहृत्तमः ॥११५॥

उनके सम्बन्ध की गन्ध से भी, किसको क्या सिद्ध नहीं हो सकता है? क्योंकि वह कृपा के समुद्र हैं, और निर्हेतुक श्रेष्ठ मित्र हैं ॥११५॥

महामहिम-पाथोधिः स्मृतमात्रोऽखिलार्थदः।
दीननाथैकशरणं हीनार्थाधिकसाधकः ॥११६॥

वह श्रीकृष्ण महा महिमा सिन्धु हैं, जिनके स्मरण मात्र से ही अखिल अर्थ प्राप्त होते हैं, जो दीन हीनों की एक मात्र गति हैं, और जो थोड़ी सेवा को भी अधिक मानने वाले हैं ॥११६॥

किन्त्वस्मासूद्धवः श्रीमान् परमानुग्रहास्पदं।
माधवेन्द्रस्य यो मन्त्री
शिष्यो भृत्यःप्रियो महान् ॥११७॥

ऐसा होने से भी हम सब में श्री उद्धवजी श्रीकृष्ण के परम कृपा पात्र हैं, वह उनके श्रेष्ठ मन्त्री, शिष्य, भृत्य, तथा अत्यन्त प्यारे हैं ॥११७॥

अस्मान् विहाय कुत्रापि यात्रां स कुरुते प्रभुः।
न हि तद्दुःखमस्माकं दृष्टे त्वस्मिन्नपव्रजेत्॥११८

न जानीमः कदा कुत्र पुनरेष व्रजेदिति।
उद्धवो नित्यमभ्यर्णे निवसन् सेवते प्रभुं॥११९॥

वह प्रभु श्रीकृष्ण, हमको छोड़ कर जब कहीं चले जाते हैं, तब उनके बिरह का दुख उनके आने पर, उनके दर्शन करने से भी निवृत्त नहीं होता है, क्योंकि उस समय हमको यह विचार होता है, कि आप फिर कहीं चले जाएंगे। परन्तु श्री उद्धव जी निरन्तर उनके पास ही रह कर उनकी सेवा करते रहते हैं ११८-११९॥

स्वगम्य एव विषये प्रेषयेद्भगवानमुं।
कौरवावृतशाम्बीयमोचनादिकृते क्वचित् ॥१२०॥

जिन उद्धवजी को भगवान स्वयं अपने जाने के स्थान पर भी भेज देते हैं, जैसे कि साम्ब को कौरव आदिकों से मुक्त कराने के लिये उनको भेजा था ॥१२०॥

यस्तिष्ठन् भोजन-क्रीड़ा-कौतुकावसरे हरेः।
महाप्रसादमुच्छिष्टं लभते नित्यमेकलः ॥१२१॥

जो श्रीकृष्ण के भोजन, क्रीडा, विहार आदि के अवसर पर हर समय साथ रहते हैं, और जो अकेले ही श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट महाप्रसाद को नित्य पाते हैं ॥ १२१ ॥

पादारविन्द-द्वन्द्वं यः प्रभोः सम्वाहयन् मुदा ।
ततो निद्रासुखाविष्टः शेते स्वाङ्के निधाय तत्॥१२२

रहःक्रीड़ायाश्च क्वचिदपि स सङ्गे भगवतः
प्रयात्यत्रामात्यः परिषदि महामन्त्रमणिभिः ।
विचित्रैर्नर्म्मैर्घैरपि हरिकृतश्लाघनभरै—
र्म्मनोज्ञैः सर्व्वान्नः सुखयति वरान् प्रापयति च
॥ १२३ ॥

किंतस्य सौभाग्यकुलं हि वाच्यं
वातूलतां प्राप किलायमेवं ।
आशैशवाद्यः प्रभुपाद-पद्म—
सेवारसाविष्टतयोच्यतेऽज्ञैः ॥१२४

अहो ! सदा माधव-पादपद्मयोः
प्रवृत्तिलाम्पट्यमहत्त्वमद्भुतं ।
इहैव मानुष्यवपुष्यवाप
स्वरूपमुत्सृज्य हरेः स्वरूपतां ॥१२५

प्रद्युम्नाद्रम्यरूपः प्रभुदयिततरोऽप्येष कृष्णोपभुक्तै-
र्वन्यस्रक् पीतपट्टांशुकमणिमकरोत्तंसहारादिभिस्तैः।
नेपथ्यैर्भूषितोऽस्मान्सुखयति सततं देवकीनन्दनस्य
भ्रान्त्या सन्दर्शनेन प्रियजनहृदयाकर्षणोत्कर्षभाजा
॥ १२६ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

मातरित्यादिकं श्रुत्वा महासौभाग्यमुत्तमं ।
उद्धवस्य मुनिर्गेहं गन्तुं हर्ष-प्रकर्षतः ॥१२७
उत्थाय तस्य दिग्भागवर्त्मादातुं समुद्यतः ।
ज्ञात्वोक्तो यदुराजेन चित्रप्रेम-विकारभाक्॥१२८

जो श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों को प्रसन्नचित्त से चांपते हैं, और जब उनको नींद आती है, तब उन चरणों को अपने अंक में ही रखकर सो जाते हैं ॥ १२२ ॥

कहीं कहीं रहस्य क्रीड़ा में भी श्रीकृष्ण के साथ जाते हैं । श्रीउद्धव जी इस सभा के श्रेष्ठ मन्त्री है, जो अपनी मनोहर मन्त्रणा से तथा चित्र-विचित्र हास्य परिहास्य से हम सबको सुख देते हैं । जिनकी प्रशंसा श्रीकृष्ण भी स्वयं करते हैं, और जो हमारे अभिष्ट वरों को प्राप्त कराते हैं ॥ १२३ ॥

श्रीउद्धव जी के सौभाग्य समूह का कौन वर्णन कर सकता है, जो बालकपन से ही श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों के सेवा रूपी रसमें आविष्ट हैं, जिनको देखकर मूर्ख जन ऐसा कहते हैं कि यह उन्मत्त हो गये हैं ॥ १२४ ॥

अहो ! श्रीकृष्ण चरणारविन्दों की निरन्तर सेवा की अद्भुत महिमा है ! जिससे श्रीउद्धव जी इस मनुष्य देहमें ही अपने निज स्वरूपको परित्याग करके, श्रीकृष्ण सारूप्यता को प्राप्त हो गये हैं ॥ १२५ ॥

श्री उद्धव जी, श्री प्रद्युम्न जी से भी अधिक सुन्दर हैं । श्रीकृष्ण के अत्यन्त प्यारे हैं । वह उनकी प्रसादी बनमाला, पीताम्बर, मणि मकर कुण्डल, हारादि को धारण करते हैं । वह उन सबसे विभूषित होकर हम लोगोंको निरन्तर सुख-प्रदान करते हुए इस भ्रम में डाल देते हैं कि यही साक्षात देवकी नन्दन हैं, जिनके दर्शनों से उनके प्रियजनों के हृदय खिंच जाते हैं ॥ १२६ ॥

श्रीपरीक्षितजी बोले ।

हे माता ! श्रीनारद जी श्रीउद्धव जी का इस प्रकार बड़भाग सुनकर, आनन्दित हुए । जब वह उठकर उनके घर की दिशाकी ओर जाने के लिये उद्यत् हुए, तब यह जानकर, श्रीउग्रसेन जी उन नारद जी से जिनके अंगों पर प्रेम के विचित्र विकार प्रगट हो रहे थे, यह कहने लगे ॥१२७॥१२८

श्रीमदुग्रसेन उवाच ।

भगवन्नुक्तमेवासौ क्षणमेकमपि क्वचित् ।

नान्यत्र तिष्ठतीशस्य कृष्णस्यादेशतो विना॥१२६

यथाहं प्रार्थ्य तत्सङ्गस्थितिं नाप्नोमि कर्हिचित् ।

तन्महालाभतो हीनोऽसत्यया राज्यरक्षया ॥१३०

आज्ञापालनमात्रैकसेवादरकृतोत्सवः ।

यथा च वञ्चितो नीत्वा मिथ्यागौरवयन्त्रणां॥१३१

कृष्णेन न तथा कश्चिदुद्धवश्च महासुखी ।

तत्पार्श्वसेवासौभाग्याद्वञ्चितः स्यात् कदापि न

॥ १३२ ॥

तत्तत्र गत्वा भवताशु मादृशां

सन्देशमेतं स निवेदनीयः ।

अत्यात्यगादागमनस्य वेला

स्वनाथमादाय सभां सनाथय ॥१३३

इति श्रीभागवतामृते भगवत्कृपाभर-

निर्द्धारखण्डे प्रियो नाम

पञ्चमोऽध्यायः ।

श्रीराजा उग्रसेनजी बोले ।

हे भगवन् नारद जी ! हम पहले भी आपको कह चुके हैं, कि वह उद्धवजी श्रीकृष्ण की आज्ञा बिना, एकक्षण काल भी उनको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहते हैं ॥ १२६ ॥

परन्तु मुझको, श्रीकृष्ण के साथ रहने का सौभाग्य, प्रार्थना करने पर भी प्राप्त नहीं होता है। मैं तो इस अनित्य राज्य रक्षाके कारण ही उस महालाभ से बञ्चित होगया हूँ ॥ १३० ॥

मैं तो केवल उनकी आज्ञा पालन करना ही सेवा समझता हूँ। मिथ्या बड़प्पन को लेकर मैं जैसा बञ्चित हुआ हूँ, ऐसा और कोई नहीं हुआ होगा। श्रीउद्धवजी तो महासुखी हैं, जो श्रीकृष्ण के हर समय पास रहकर उनके सेवा रूपी सौभाग्य से कभी बञ्चित नहीं होते हैं ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

इसलिये अब आप वहाँ जाइए, और हमारा भी एक संदेश ले जाकर उनसे निवेदन कीजिए। "आज सभा में आने के समय का अतिक्रमण होगया है। आप अपने स्वामी श्रीकृष्ण को साथ लेकर सभाको सनाथ कीजिये" ॥ १३३ ॥

इति श्रीवृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के श्रीभगवान के श्रेष्ठ कृपापात्रों के विवेचन नामक खण्ड में "प्रिय" नामक पाँचवाँ अध्यायः समाप्त हुआ ॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तच्छ्रुत्वार्य्ये ! महाप्रेमरसावेशेन यन्त्रितः ।
महाविष्णुप्रियो वीणाहस्तोऽसौ विस्मृताखिलः॥१

सदा द्वारवतीवासाभ्यस्तान्तःपुरवर्त्मना ।
प्रभुप्रासाददेशान्तप्रवेशाश्चर्य्यवाहिना ॥२॥

पूर्व्वाभ्यासादिवाभ्यासं प्रासादस्य गतो मुनिः ।
भूताविष्टो महोन्मादगृहीतश्च यथेतरः ॥३॥

भूमौ क्वापि स्खलति पतति
क्वापि तिष्ठत्यचेष्टः ।
क्वाप्युत्कम्पं भजति लुठति
क्वापि रोदित्यथार्त्तः ॥४॥

क्वाप्याक्रोशन् प्लुतिभिरयते गायति क्वापि नृत्यन्
सर्व्वं क्वापि श्रयति युगपत् प्रेमसम्पद्विकारं ॥५॥

हे मन्मातरिदानीं त्वं सावधानतरा भव ।
स्थिरतां प्रापयन्ती मां सधैर्य्यं शृणिवदं स्वयं॥६

तस्मिन्नहनि केनापि बैमनस्येन वेश्मनः ।
अन्तःप्रकोष्ठे सुप्तस्य प्रभोः पार्श्वं विहाय सः॥७

अदूराद्देहलीप्रान्ते निविष्टः श्रीमदुद्धवः ।
वलदेवो देवकी च रोहिणी रुक्मिणी तथा ॥८

सत्यभामादयोऽन्याश्च देव्यः पद्मावती च सा ।
प्रवृत्तिहारिणी कंस-माता दास्यस्तथा पराः॥९॥

श्री परीक्षित्जी बोले ।

हे माता ! परम भागवत् श्रीनारदजी बीणा हाथ में लेकर महा प्रेम रसावेश के वश में होकर अपनी सब कुछ भूल गये ॥१॥

श्री नारदजी द्वारिका में पहिले आने जाने के अभ्यास से, महल के मार्गों द्वारा गुप्त अद्भुत चित्र-विचित्र मार्ग से श्रीकृष्ण के निज महल के निकट जा पहुँचे। श्री नारदजी उस समय ऐसे प्रतीत होते थे, जैसेकि किसी को, प्रेत आविष्ट होने से अथवा उन्माद होने से मनुष्य की दशा दिखाई देती है ॥२-३॥

वह कभी तो ठोकर खाते थे, कभी भूमि पर गिर पड़ते थे, कभी चेष्टा रहित खड़े होते थे, कभी काँपने लगते थे, कभी लड़खड़ाते थे, कभी आर्त स्वर से रोने लगते थे, कभी चिल्लाते हुए कूद-कूद कर चलते थे, कभी गाते थे, कभी नाचते थे और कभी-कभी एक साथ ही समस्त प्रेम विकार उनके अंगों में प्रतीत होते थे ॥४-५॥

हे माता ! अब आप विशेष रूप से सावधान होजाएँ और मुझको स्वस्थ कराकर, धैर्य से यह सुनें ॥ ६ ॥

उस दिन किसी कारण से श्रीकृष्ण का मन उदास था, इसीलिये वह अभी तक अपने महल के शयन घर में ही सो रहे थे। उनसे कुछ थोड़ी दूर पर श्री ऊधव जी देहली के पास बैठे हुए थे। वहाँ श्रीबलदेवजी, श्रीदेवकीजी, रोहिणी जी माता तथारुक्मिणीजी सत्यभामा आदि सब श्रीकृष्ण की महिषी गण तथा कंस की माता पद्मावति, जो इधर उधर की बात लगाने में कुशल है, बैठी हुई थीं, तथा और सब दासियाँ वहाँ उपस्थित थीं, जो विस्मित सी होकर चुप-चाप बैठी हुई थीं ॥७-८-९॥

तूष्णीभूताश्च ते सर्व्वे वर्त्तमानाः सविस्मयं ।
तत्र श्रीनारदं प्राप्तमैक्षन्तापूर्व्वचेष्टितं ॥१०॥

उत्थाय यत्नादानीय स्वास्थ्यं नीत्वा क्षणेन तं ।
प्रेमाश्रुक्लिन्नवदनं प्रक्षाल्याहुः शनैर्लघु ॥११॥

उन्होंने उस समय उन श्री नारदजी को आते हुए देखा, जिनकी चेष्टा पहिले से आज अपूर्व प्रतीत होती थी। फिर उन सब ने उठ कर बड़े यत्न से उनको अपने निकट लाकर, एक क्षण के लिये स्वस्थ किया। उनका मुखारविन्द, जो प्रमाश्रु बहने से भीगा हुआ था, धोकर, वह लोग श्री नारदजी से धीमे स्वर से शनैः शनैः इस प्रकार कहने लगे ॥१०-११॥

अदृष्टपूर्व्वमस्माभिः कीदृशं तेऽद्य चेष्टितं ।
आकस्मिकमिदं ब्रह्मस्तूष्णीमुपविश क्षणं ॥१२॥

"हे ब्रह्मन्! आज हमने, जो आपकी चेष्टा देखी है, वैसी कभी पहिले नहीं देखी। इसका क्या कारण है? एक क्षण के लिये तो शान्ति धारण कीजिये" ॥१२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

सगद्गदमुवाचाश्रुधारामीलितलोचने ।
यत्नादुन्मीलयन्नत्वा सकम्पपुलकाचितः ॥१३॥

श्रीपरीक्षित् जी कहने लगे ।

श्रीनारदजी, जिनके अंगों में कम्प पुलकादि हो रहे थे, और जिनके नेत्रों से प्रेमाश्रु धारा बहने के कारण, नेत्र कुछ बन्द से हो रहे थे, बहुत यत्न से उनको खोलकर, उन सबको प्रणाम करके गद्-गद् स्वर से इस प्रकार कहने लगे॥१३॥

श्रीनारद उवाच ।

मनोज्ञसौभाग्य-भरैकभाजनं
मया समं सङ्गमयध्वमुद्धवं ।
तदीयपादैकरजोऽथवा भवे-
त्तदैव शान्तिर्वत ! मेऽन्तरात्मनः ॥१४

श्री नारदजी बोले ।

मुझको उन श्री उद्धवजी से मिलाइये, जो मनोहर सौभाग्यों के भाजन हैं। यदि ऐसा न हो सके, तो कम से कम उनके चरणारविन्दों की रज का एक कणिका भी मुझको मिल जाए तो भी मेरी अन्तरात्मा को शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ १४ ॥

पुरातनैराधुनिकैश्च सेवकै-
रलब्धमाप्तोऽलमनुग्रहं प्रभोः ।
महत्तमो भागवतेषु यस्ततो
महाविभूतिः स्वयमुच्यते च यः ॥१५॥

पहिले भक्तों को अथवा आधुनिक भक्तों को जो श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं हुई, वह कृपा श्री उद्धवजी को प्राप्त हुई है। इसलिये स्वयं भगवान् कहते हैं कि "उद्धवजी सब भागवतों में सर्व श्रेष्ठ हैं, और वह मेरी महाविभूति हैं" ॥१५॥

पूर्व्वे परे च तनयाः कमलासनाद्याः
सङ्कर्षणादिसहजाः सुहृदः शिवाद्याः ।
भार्य्या रमादय उतानुपमा स्वमूर्त्ति-
र्न स्युः प्रभोः प्रियतमा यदपेक्षयाहो! ॥१६

अहो! श्रीकृष्ण को, अपने पूर्व पुत्र श्रीब्रह्मादिक, आधुनिक पुत्र श्री प्रद्युम्न आदिक, श्री बलदेवादिक भ्राता, श्रीशिवजी आदिक सुहृद, रमा आदिक भार्या तथा अपना दिव्य मंगल विग्रह भी इतना प्रिय नहीं है, जितने कि श्री उद्धवजी हैं ॥१६॥

भगवद्वचनान्येव प्रथितानि पुराणतः ।
तस्य सौभाग्यसन्दोहमहिम्नां व्यञ्जकान्यलं ॥१७

श्री उद्धवजी की सौभाग्य महिमा को वर्णन करने के लिये, पुराणों में बहुत सी भगवद् उक्तियाँ हैं ॥१७॥

तस्मिन् प्रसादजातानि श्रीकृष्णस्याद्भुतान्यपि ।
जगद्विलक्षनान्यद्य गीतानि यदुपुङ्गवैः ॥१८॥

आज, यादव गणों ने भी, उद्धवजी के प्रति जो श्रीकृष्ण की अद्भुत जगत् विलक्षण कृपा है, उसको विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ॥१८॥

प्रविश्य कर्ण-द्वारेण ममाक्रम्य हृदालयं ।
मदीयं सकलं धैर्य्यधनं लुण्ठन्ति हा ! हठात् ॥१६

हा ! वह शब्द, ज्योंही कर्ण कुहरों द्वारा मेरे हृदय मन्दिर में पहुँचे, त्योंही उन्होंने मेरा समस्त धैर्य रूपी धन बलात्कार करके लूट लिया ॥१६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

उद्धवो ऽत्यन्तसम्भ्रान्तो द्रुतमुत्थाय तत्पदौ ।
विधायाङ्के समालिङ्ग्य तस्याभिप्रेत्य हृद्गतं २०

श्रीपरीक्षित जी बोले ।

उद्धवजी, श्रीनारदजी के हृदय के अभिप्राय को जानकर, अत्यन्त संभ्रम से शीघ्रता पूर्वक उठकर, उनके चरणों को अपनी गोद में रख के आलिङ्गन करने लगे ॥२०॥

हृत्प्राप्तभगवत्तत्तत्प्रसाद-भरभाग्जनः ।
तदीयप्रेमसम्पत्तिविभवस्मृतियन्त्रितः ॥२१॥

रोदनैर्विवशो दीनो यत्नाद्धैर्य्यं श्रितो मुनिं ।
अवधाप्याह मात्सर्य्यात् सात्विकात् प्रमुदं गतः २२

उस समय उद्धवजी के हृदय में, एक दम उन भागवतों अर्थात् श्री व्रज सुन्दरियों की याद आई, जिन पर श्रीकृष्ण की पूर्ण कृपा है। वह उनकी प्रेम सम्पत्ति और वैभव से यन्त्रित होकर जोर २ से रोने लगे, और बहुत दीन हो गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने यत्न से कुछ धैर्य धारण किया। वह प्रेम के सात्विक मात्सर्य भाव से आनन्दित होकर, श्री नारदजी को सावधान कराते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥२१-२२॥

श्रीमदुद्धव उवाच ।

सर्व्वज्ञ! सत्यवाक् ! श्रेष्ठ!महामुनिवर ! प्रभो ! ।
भगवद्भक्तिमार्गादि गुरुणोक्तं त्वयेह यत् ॥२३

तत् सर्व्वमधिकं चास्मात् सत्यमेव मयि स्फुटं ।
वर्त्ततेति मया ज्ञातमासीदन्यैरपि ध्रुवं ॥२४॥

श्री उद्धवजी बोले ।

हे मुनि श्रेष्ठ नारदजी ! आप सर्वज्ञ, सर्व श्रेष्ठ एवं सत्य कहने वाले हो। सर्व समर्थ होकर भगवद्भक्ति मार्ग के प्रथम आचार्य हो। जो कुछ आपने कहा है वह सत्य है। मुझ पर श्रीकृष्ण की जो कृपा आपने वर्णन की है, वह उस से भी अधिक है। यह सब को विदित है। मैं भी इसी प्रकार समझता था और दूसरे भी यही कहते हैं ॥२३-२४॥

इदानीं यद्व्रजे गत्वा किमप्यनुभवं ततः ।
महासौभाग्यमानो मे स सद्यश्चूर्णतां गतः ॥२५॥

परन्तु मैं जब व्रज में गया, तो वहां मुझको एक अलौकिक अनुभव प्राप्त हुआ, जिससे मेरे उस अभिमान के, कि मैं श्रीकृष्ण का विशेष कृपा पात्र हूँ, टुकड़े २ हो गये ॥२५॥

तत एव हि कृष्णस्य तत्प्रसादस्य चाद्भुता ।
तत्प्रेम्णोऽपि मया ज्ञाता माधुरी तद्वतां तथा॥२६

उस अनुभव से मुझको, श्रीकृष्ण की, उनकी कृपा की, उनके प्रेम की तथा उनके प्रेमियों की अद्भुत माधुरी का ज्ञान हुआ ॥२६॥

तद्दर्शनेनैव गतो ऽतिधन्यतां
तर्ह्येव सम्यक् प्रभुनानुकम्पितं ।
तस्य प्रसादातिशयास्पदं तथा
मत्वा स्वमानन्द-भराप्लुतोऽभवं ॥२७

उनके दर्शन से ही, मैं अपना सौभाग्य जानकर यह समझने लगा, कि अब प्रभुने सम्यक् प्रकार से मुझ पर कृपा की है। अपने को उनका कृपा-पात्र मानकर आनन्द समुद्रमें निमग्न होगया ॥२७

गायं गायं यदभिलषता यत्ततोऽनुष्ठितं य-
त्तत् सर्व्वेषां सुविदितमितः शक्यतेऽन्यन्न वक्तुं।
नत्वा नत्वा मुनिवर ! मया प्रार्थ्यसे काकुभिस्त्वं
तत्तद्वृत्त-श्रवणरसतः संश्रयेथा विरामं ॥२८

मैंने मुक्त कण्ठ से श्रीव्रजसुन्दरियों का उत्कर्ष वर्णन करते हुए श्रीवृन्दाबन की गुल्म लता होने की अभिलाषा की थी। जिसकी प्राप्ति के लिये उनकी चरण रेणु मस्तक पर लगाने का जो अनुष्ठान किया था, वह सबको विदित है। इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कह सकता हूँ। हे मुनिवर नारदजी ! मैं आपसे विनय युक्त प्रणाम करके यह प्रार्थना करता हूँ, कि उस रस भरे वृत्तान्त को, इससे अधिक श्रवण करने की अभिलाषा न रक्खें ॥ २८ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तद्वाक्य-तत्त्वं विज्ञाय रोहिणी सास्रमब्रवीत् ।
चिरगोकुलवासेन तत्रत्यजनसम्मता ॥२६॥

श्रीपरीक्षित जी बोले ।

उद्धवजी के वाक्यों के अभिप्राय को जानकर श्रीरोहिणीजी, जोकि बहुत समय तक गोकुल में रहने के कारण वहाँ के निवासियों को अत्यन्त प्रिय थीं, प्रेमाश्रु बहाती हुईं इस प्रकार कहने लगीं ॥ २६ ॥

श्रीरोहिण्युवाच ।

आस्तान् श्रीहरिदास ! त्वं महादुर्द्दैवमारितान् ।
सौभाग्यगन्धरहितान्निमग्नान् दैन्यसागरे ॥३०॥
तत्तद्वाड़ववह्न्यर्च्चिस्ताप्यमानान् विषाकुलान् ।
क्षणाचिन्तासुखिन्या मे मा स्मृतेःपदवीं नय॥३१

श्रीरोहिणीजी बोलीं ।

अहा ! बड़े दुःख की बात है। हे श्रीहरिदास वर्य उद्धवजी ! जो (व्रजवासी) दुर्दैव से मरे हुए हैं, उन पर इनकी (श्रीकृष्ण) कृपा की गंध भी नहीं है। जो दैन्य सागर में डूबे हुए शोकरूपी वड़वानल से तप्त हो रहे हैं, जो श्रीकृष्ण के विरह जन्य विषसे व्याकुल हैं, उनका मुझको स्मरण मत कराओ। क्षणभर के लिये उनकी विस्मृति कराकर सुखका अनुभव करने दो ॥ ३० ॥ ३१ ॥

अहं श्रीवसुदेवेन समानीता ततो यदा ।
यशोदाया महार्त्तायास्तदानीन्तनरोदनैः ॥३२॥
ग्रावोऽपि रोदित्यशनेरप्यन्तर्द्दलति ध्रुवं ।

जब श्रीवसुदेवजी व्रजसे मुझको यहाँ लाए थे, उस समय श्रीयशोदाजी ने आर्त होकर जो रुदन किया था, निश्चय ही उसको सुनकर पाषाण भी रोने लगते हैं, और बज्रके भी टुकड़े २ हो जाते

जीवन्मृतानामन्यासां वार्त्तां कोऽपि मुखं नयेत्॥३३

अथागतं गुरु-गृहात् त्वत्प्रभुं प्रति किञ्चन ।
संक्षेपेणैव तद्वृत्तं दुःखादकथयं कुधीः ॥३४

नहि कोमलितं चित्तं तेनाप्यस्य यतो भवान् ।
सन्देशचातुरीविद्याप्रल्भः प्रेषितः परं ॥३५

अयमेव हि किं तेषु त्वत्प्रभोः परमो महान् ।
अनुग्रहप्रसादो यस्तात्पर्य्येणोच्यते त्वया ॥३६

मम प्रत्यक्षमेवेदं यदा कृष्णो व्रजेऽव्रजत् ।
ततो हि पूतनादिभ्यः केश्यन्तेभ्यो मुहुर्मुहुः ॥३७

दैत्येभ्यो वरुणेन्द्रादिदेवेभ्योऽजगरादितः ।
तथा — चिरन्तनस्वीयशकटार्जुनभङ्गतः ॥३८

को वा नोपद्रवस्तत्र जातो व्रजविनाशकः ।
तत्रत्यास्तु जनाः किञ्चित्तेऽनुसन्दधते न तत्॥३९

मोहिता इव कृष्णस्य मङ्गलं तत्र तत्र हि ।
इच्छन्ति सर्व्वदा स्वीयं नातेक्षन्ते च कर्हिचित्॥४०

स्वभावसौहृदेनैव यत्किञ्चित्सर्व्वमात्मनः ।
अस्योपकल्पयन्ते स्म नन्दसूनोः सुखाय तत् ॥४१

तदानीमपि नामीषां किञ्चिच्च त्वत्प्रभुना कृतं ।
इदानीं साधितस्वार्थो यच्चक्रे ऽयं क्व वच्मि तत्४२

श्रीपरीक्षिदुवाच ।
तच्छ्रुत्वा दुष्टकंसस्य जननी धृष्टचेष्टिता ।

हैं। अन्य व्रजनागरी आदि जो जीवित ही मृतक समान हैं, उनकी कथा कौन जिह्वा पर ला सकता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

हे उद्धवजी ! आपके प्रभु श्रीकृष्ण जब गुरुगृह से पढ़कर आए थे, तब मुझ कुबुद्धि ने संक्षेप से दुःख पूर्वक वृतान्त सुनाया था, जिस से उनका चित्त थोड़ा भी कोमल नहीं हुआ। उन्होंने आप को यह समझकर, कि आप संदेश चातुरी विद्या में कुशल हैं, व्रजमें भेजा था ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

हे उद्धवजी ! आपका जो यह अभिप्राय है, कि व्रजवासी ही श्रीकृष्ण के कृपापात्र हैं, तो मैं तुम से पूछती हूँ क्या आपके प्रभुकी कृपा के यही लक्षण हैं ? जो मैं ने वर्णन किये हैं ॥ ३६ ॥

मेरे प्रत्यक्ष में जब श्रीकृष्ण व्रजमें गये थे, उस समय से ही पूतना आदि से लेकर केशीपर्यन्त दैत्यों के बार २ आक्रमणों से, कभी वरुण इन्द्रादि देवताओं के भय से, कभी अजगर आदि सर्पों से, कभी प्राचीन शकट भंग होने से, कभी यमलार्जुन के टूट जाने से, ऐसे कौन से उपद्रव हैं जोकि व्रज विनाश के लिये नहीं हुए थे। इस प्रकार उपद्रव होते हुए भी, उन व्रजवासियों ने कभी भी उनका अनुसंधान नहीं किया, वलिक श्रीकृष्ण की रूप, गुण, माधुरी से मोहित होकर वे सदैव ही उनका मंगलाशासन मनाते रहते हैं। वह अपनी कुशलता का कभी ध्यान भी नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

वह व्रजवासी स्वाभाविक प्रेम से अपने लिये जो कुछ भी करते हैं, उनसब में भी श्रीकृष्ण सुखका ही तत्पर्य होता है ॥ ४१ ॥

उस समय भी तुम्हारे प्रभुने उन व्रजवासियों के लिये कुछ नहीं किया। किन्तु जब कि श्रीकृष्ण के समस्त कार्य सिद्ध होगये हैं, तो अब जो कुछ किया है, (अर्थात् उनका त्याग किया है) उसको मैं किस से कहूँ ॥ ४२ ॥

श्रीपरीक्षित जी कहने लगे।

यह सुनकर दुष्ट कंस की माता पद्मावति, जिसकी चेष्टा निर्लज्ज है, और जो बुढ़ापे के कारण

जराहतविचारा सा सशिरःकम्पमब्रवीत् ॥४३॥

विचार हीन है, सिरको कंपाती हुई बात काटकर इस प्रकार कहने लगी ॥ ४३ ॥

श्रीपद्मावत्युवाच ।

अहो ! बताच्युतस्तेषां गोपानामकृपावतां ।
आबाल्यात् कण्टकारण्ये पालयामास गोगणान्४४

श्री पद्मावति बोलीं ।

अहो ! बड़े दुःख की बात है। वह गोप बड़े निर्दयी हैं। उन्होंने बालकपन से ही कांटों के बन में श्रीकृष्ण से गैयाएँ चरवाईं ॥४४॥

पादुके न ददुस्तेऽस्मै कदाचिच्च क्षुधातुरः ।
गोरसं भक्षयेत् किञ्चिदिमं बध्नन्ति तत्स्त्रियः४५

उनके चरणों में पादुका भी नहीं पहिनाईं। जब कभी भूख से आतुर होकर उन्होंने किंचित मात्र गोरस खा भी लिया, तो उन गोप स्त्रियों ने उनको बाँध दिया ॥४५॥

आक्रोशन्ति च तद्दुःखं कालगत्यैव कृत्स्नशः ।
कृष्णेन सोढमधुना किं कर्त्तव्यं बतापरं ॥४६॥

उनको बहुत बुरा भला कहा, परन्तु श्रीकृष्ण ने यह समझ कर कि यह सब दुख, काल की गति से प्राप्त हुआ है, उसको सहन कर लिया। अब आप ही बताइये, इससे अधिक और वह क्या करते ? ॥४६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

प्रज्ञागाम्भीर्य्यसम्पूर्णा रोहिणी व्रजवल्लभा ।
तस्या वाक्यमनादृत्य प्रस्तुतं संवृणोति तत् ॥४७

श्रीपरीक्षित्‌जी बोले ।

श्री रोहिणीजी, जोकि बड़ी बुद्धिमती थीं, गम्भीरता से पूर्ण थीं, समस्त व्रज की जो वल्लभा थीं, पद्मावती के वाक्यों को तिरस्कार करके, अपने कहने के विषय को विस्तार पूर्वक फिर कहने लगीं ॥४७॥

श्रीरोहिण्युवाच ।

राजधानीं यदूनाञ्च प्राप्तः श्रीमथुरामयं ।
हतारिवर्गो विश्रान्तो राजराजेश्वरो ऽभवत् ॥४८

निर्जितोपकृताशेषदेवता-वृन्दवन्दितः ।
अहो ! स्मरति चित्तेऽपि न तेषां भवदीश्वरः॥४९

श्री रोहिणी जी बोलीं ।

शत्रुओं को मार कर श्रीकृष्ण ने यादवों की राजधानी मथुरा को विजय कर लिया है, और अब वह राजराजेश्वर होकर सुख से निवास कर रहे हैं। उन्होंने सब देवताओं को जीत लिया है। इसलिये इस समय देवताओं के भी बन्दनीय हो गये हैं। अहो ! बड़े दुःख की बात है, ऐसा होते हुए भी आपके ईश्वर श्रीकृष्ण, अब उन व्रजवासियों का स्मरण भी नहीं करते हैं ॥४८-४९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तद्वचोऽसहमानाह देवी कृष्णस्य वल्लभा ।
सदा कृतनिवासास्य हृदये भीष्मनन्दिनी ॥५०॥

श्रीपरीक्षितजी बोले ।

भीष्म दुलारी श्री रुक्मिणी देवी जो कि श्री कृष्ण की प्यारी हैं, और स्वर्ण रेखा के रूप से उनके वक्षस्थल में सदा विराजमान रहती हैं, श्री रोहिणीजी के वचनों को सहन न करके इस प्रकार कहने लगीं ॥५०॥

श्रीरुक्मिण्युवाच ।

भो! मातर्नवनीतातिमृदुस्वान्तस्य तस्य हि ।
अविज्ञायान्तरं किञ्चित् कथमेवं त्वयोच्यते ॥५१

किमपि किमपि ब्रूने रात्रौ स्वपन्नपि नामभि-
र्मधुरमधुरं प्रीत्या धेनूरिवाह्वयति क्वचित् ॥५२॥

उत सखि-गणान् कांश्चिद्गोपानिवाथ मनोहरां
समभिनयते वंशीवक्त्रां त्रिभङ्गिपराकृतिं ॥५३॥

कदाचिन्मातर्म्मे वितर नवनीतन्त्विति वदेत् ।
कदाचिच्छ्रीराधे! ललित! इति सम्बोधयति मां ५४

कदापीदं चन्द्रावलि ! किमिति मे कर्षति पटं ।
कदाप्यस्रासारैर्मृदुलयति तूलीं शयनतः ॥५५॥

स्वप्नादुत्थाय सद्योऽथ रोदित्यार्त्तस्वरैस्तथा ।
वयं येन निमज्जामो दुःखशोकमहार्णवे ॥५६॥

अद्यापि दृष्ट्वा किमपि स्वपन्निशि
क्रन्दन् शुचासौ विमनस्कतातुरः ।
दत्त्वाम्बरं मूर्द्धनि सुप्तवत्स्थितो
नित्यानि कृत्यान्यपि नाचरद्वत ॥५७॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ससपत्नीगणा सेर्षं सत्यभामाह भामिनी ।
हे श्रीरुक्मिणि निद्रायामिति किं त्वं प्रजल्पसि ५८

किमपि किमपि कुर्व्वन् जाग्रदप्यात्मचित्ते ।
शयित इव विधत्ते तादृशं तादृशञ्च ॥५९॥

श्रीरुक्मिणीजी बोलीं ।

हे माता रोहिणी जी ! श्रीकृष्ण का हृदय माखन से भी अधिक कोमल है। आप उनके अन्तःकरण को न जान कर इस प्रकार क्यों कहती हो ? ॥५१॥

श्रीकृष्ण कभी रात्रि में सोते हुए, अनेक नामों को लेते हुए, प्रेम युक्त मधुर २ स्वर से कभी गायों को, कभी सखाओं को, और कभी गोपों को बुलाने की तरह शब्द करते हैं। कभी वंशी मुख पर रखने की तरह मनोहर त्रिभंग ललित आकृति सरीखे अभिनय करते हैं। कभी इस प्रकार कहते हैं, "हे माता! मुझको माखन दीजिये" और कभी मुझको "हे राधे, हे ललिते" इस प्रकार सम्बोधन करते हैं। कभी मेरा वस्त्र खींच कर यह कहते हैं "हे चन्द्रावलि आप मेरी क्यों वंचना करती हो" कभी प्रेम अश्रुओं से शयन करते हुए अपने तकिया को भी भिगो देते हैं ॥५२-५३-५४-५५॥

कभी स्वप्न से जल्दी उठ कर आर्त स्वर से रोने लगते हैं। उनके इस दुःख को देख कर हम शोक रूपी महा सागर में डूब जाती हैं ॥५६॥

आज भी इन्होंने रात्री में कोई ऐसा स्वप्न देखा है, उसके शोक से आप उदास चित्त आतुर होकर रुदन कर रहे हैं। ओढ़ने के वस्त्र से अपना मुखारविन्द ढक कर सोते हुए की तरह लेट रहे हैं। आज इन्होंने अपना अब तक नित्य कर्म भी नहीं किया है ॥५७॥

श्रीपरीक्षित् जी कहने लगे ।

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण की और पटरानियों सहित उनकी परम प्रिया श्री सत्यभामा जी श्रीरुक्मिणीजी की बात काटती हुई ईर्षा से इस प्रकार कहने लगीं, "हे रुक्मणी जी निद्रा में ही श्रीकृष्ण ऐसा करते हैं, यह आप क्यों प्रलाप करती हो, किन्तु आप जिस प्रकार कहती हो उस प्रकार जागृत अवस्था में भी अपने चित्त में कभी कुछ, कभी कुछ, स्मरण करते हुए शयन की

वयमिह किल भार्य्या नामतो वस्तुतः स्युः ।
पशुपयुवतिदास्योऽप्यस्मदस्य प्रियास्ताः ॥६०॥

तरह इसी प्रकार करते रहते हैं। हे बहिन! हम तो उनकी स्त्रियाँ नाम मात्र की हैं, वस्तुतस्तु उन श्रीप्रभु को, गोपियों की दासियाँ भी हमारी अपेक्षा अधिक प्रिय हैं ॥५८-५६-६०॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

अशक्तस्तद्वचः सोढुं गोकुलप्राणबान्धवः ।
रोहिणीनन्दनःश्रीमान् बलदेवो रुषाब्रवीत्॥६१॥

श्रीपरीक्षितजी बोले ।

यह सुन कर श्री रोहिणी नन्दन श्री बलदेवजी जो कि व्रज के प्राण बन्धु हैं, उन वचनों को सहन न करते हुये रोष में भर कर इस प्रकार बोले ॥ ६१ ॥

श्रीबलदेव उवाच ।

वध्वः सहजतत्रत्यदैन्यवार्त्ताकथापरान् ।
अस्मान् वञ्चयतो भ्रातुरिदं कपटपाटवं ॥६२॥

श्री बलदेवजी कहने लगे ।

हे बन्धु गणों! यह सब कपट चातुरी मेरे भाई श्रीकृष्ण ने, हमको वञ्चना करने के लिये कर रक्खी है, जो कि हम, व्रज के लोगों की दैन्य वार्ता को कह सुन रहे हैं ॥६२॥

तत्र मास-द्वयं स्थित्वा तेषां स्वास्थ्यं चिकीर्षता
तन्न शक्तं मया कर्त्तुं वाग्भिराचरितैरपि ॥६३॥

अनन्यसाध्यं तद्वीक्ष्य विविधैः शपथैः शतैः ।
तान् यत्नादीषदाश्वास्य त्वरयात्रागतं बलात्॥६४

मैं वहाँ जाकर उन लोगों को सान्त्वना देने के लिये दो मास पर्यन्त ठहरा, परन्तु वाणी से और आचरणों से उनको शान्ति प्रदान नहीं कर सका। मैं यह देख कर कि, यह लोग श्रीकृष्ण के आये बिना शान्त नहीं हो सकते हैं मैंने विविध प्रकार की उन से सैंकड़ों सौगंध खाईं। इस यत्न से उनको कुछ आश्वासन देकर और श्रीकृष्ण को शीघ्र ही साथ लाने का बहाना करके बहुत कठिनता से मैं यहाँ आया ॥६३-६४॥

कातर्य्याद्वदितं कृष्ण! सकृद्गोष्ठं कयापि तत् ।
गत्वा प्रसङ्गसङ्गत्या रक्ष तत्रत्य-जीवनं ॥६५॥

मैंने यहाँ आकर बहुत दुख से इनसे कहा कि "हे भाई श्रीकृष्ण! आप एक बार ही व्रज में किसी बहाने से जाकर उन लोगों के प्राणों की रक्षा कीजिये ॥६५॥

गन्तास्मीति मुखे ब्रूते हृदयश्च न तादृशं ।
मानसस्य च भावस्य भवेत् साक्षिप्रयोजनं॥६६॥

इन्होंने मुख से तो यह कहा "मैं अभी जाता हूँ" परन्तु हृदय में जाने का विचार तक नहीं किया, क्योंकि मनुष्यों के मन का भाव उनके कार्य से मालूम हो जाता है ॥६६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इदमाकर्ण्य भगवानुत्थाय शयनाद्द्रुतं ।
प्रियप्रेमपराधीनो रुदन्नुच्चैर्बहिर्गतः ॥६७॥

श्रीपरीक्षित्जी कहने लगे ।

यह सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण शय्या से जल्दी उठ कर अपने प्रेमियों के प्रेम से पराधीन होकर उच्च स्वर से रोते हुए बाहर आए ॥६७॥

प्रफुल्लपद्मनेत्राभ्यां वर्षन्नश्रूणि धारया ।
सगद्गदं जगादेदं परानुग्रहकातरः ॥६८॥

श्रीभगवानुवाच ।

सत्यमेव महावज्रसारेन घटितं मम ।
इदं हृदयमद्यापि द्विधा यन्न विदीर्य्यति ॥६९॥

वाल्यादारभ्य तैर्यत्तत् पालनं विहितं चिरम् ।
अप्यसाधारणं प्रेम सर्व्वं तद्विस्मृतं मया ॥७०॥

अस्तु तावद्धितं तेषां कार्य्यं किञ्चित् कथञ्चन ।
उतात्यन्तं कृतं दुःखं क्रूरेण मृदुलात्मनां ॥७१॥

भ्रातरुद्धव ! सर्व्वज्ञ ! प्रेष्ठ-श्रेष्ठ ! वद द्रुतम् ।
करवाणि किमित्यस्माच्छोकाब्धेर्म्मां समुद्धर॥७२

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

नन्दपत्नी-प्रियसखी देवकी पुत्रवत्सला ।
आहेदं दीयतां यद्यदिष्यते तैः सुहृत्तमैः ॥७३॥

ततः पद्मावती राज्यदानभीता विमूढधीः ।
महिषी यदुराजस्य वृद्धा मातामही प्रभोः ॥७४॥

अप्युक्ताश्रवणात् पूर्व्वं राममात्रावहेलिता ।
स्वभर्त्तूरक्षितु राज्यं चातुर्य्यात् परिहासवत्॥७५

व्याहारपरिपाट्यान्यचित्ततापादनेन तं ।
यदुवंश्यैकशरणं विधातु स्वस्थमब्रवीत् ॥७६॥

श्रीपद्मावत्युवाच ।

त्वयानुतप्यते कृष्ण ! कथं मन्मन्त्रितं शृणु ।

दूसरों पर अनुग्रह करने के लिये व्याकुल जो रहते हैं, वह श्रीकृष्ण अपने खिले हुए कमल नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा को बहाते हुए, गद्-गद् स्वर से इस प्रकार कहने लगे ॥६८॥

श्रीभगवान् बोले।

आपने जो कहा है सो सब सत्य है, मेरा कठोर हृदय बज्र से भी कठिन है, जोकि आज पर्यन्त टुकड़े टुकड़े होकर फट नहीं गया ॥ ६९ ॥

जिन्होंने मेरा बाल अवस्था से लेकर बहुत काल पर्यन्त विविध प्रकार से लालन पालन किया है,उनके असाधारण प्रेम को मैंने भुला दिया ॥७०॥

उन लोगों का किञ्चितमात्र हित करना तो दूर रहा, बल्कि मुझ कठोर ने उनकी मृदुल आत्माओं को अत्यधिक दुख ही दिया है ॥ ७१ ॥

हे भाई उद्धव ! आप सब कुछ जानने वाले हो, मेरे अत्यन्त प्यारे हो, जल्दी से कहो, अब मैं क्या करूँ । मुझको इस शोक रूपी सागर से जल्दी निकालो ॥ ७२ ॥

श्रीपरीक्षितबोले :—

इसके पश्चात् पुत्र वत्सला श्री देवकी जी, जो श्री यशोदा जी कि प्रिय सखी हैं, यह कहने लगीं, "उन व्रज के प्यारे मित्रों की जो कुछ चाहना हो, वह पूर्ण करदी जाय ॥ ७३ ॥"

इसके पश्चात् श्रीउग्रसेन की रानी वृद्धा पद्मावति, जिनकी श्रीरोहिणी जी ने बात न सुन कर अवज्ञा की थी, और जो श्रीकृष्ण की नानी हैं, इस भय से कि कहीं श्रीकृष्ण व्रजबासियों को राज्य न दे दें, इसी हेतु से मूढ बुद्धि होकर, अपने भर्ता उग्रसेन के राज्य की रक्षा के लिये और यह समझ कर ऐसा करने से श्रीकृष्ण जोकि यदुवंशियों के शरण्य हैं, उनका चित्त दूसरी ओर होकर स्वस्थ हो जायगा, परिहास करती हुई चातुरी से इस प्रकार कहने लगीं ॥ ७४,७५,७६ ॥

श्रीपद्मावति कहने लगी :—

मैं यह सौगन्ध खाकर कह रही हूँ, हे श्रीकृष्ण आप क्यों अनुताप करते हैं। मेरी सलाह क्यों नहीं सुनते। आप दोनों भाइयों ने ग्यारह बर्ष तक

यदेकादशभिर्वर्षैर्नन्दगोपस्य मन्दिरे ॥ ७७ ॥
द्वाभ्यां युवाभ्यां भ्रातृभ्यामुपभुक्तं हि वर्त्तते ।
तत्र दद्यान्न दद्याद्वा गोरक्षाजीवनं स ते ॥७८॥
सर्व्वं तद्गर्ग-हस्तेन गणयित्वा कणानुशः ।
द्विगुणीकृत्य मद्भर्त्रा तस्मै देयं शपे स्वयं ॥७६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तच्च श्रीभगवान् कृत्वा श्रुतमप्यश्रुतं यथा ।
अजानन्निव पप्रच्छ शोक-वेगादथोद्धवं ॥८०॥

श्रीभगवानुवाच ।

भो ! विद्वद्वर ! तत्रत्याखिलाभिप्रायविद्भवान् ।
तेषामभीष्टं किं तन्मे कथयत्वविलम्बितं ॥८१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तच्छ्रुत्वा भगवद्वाक्यमुद्धवो हृदि दुःखितः ।
क्षणं निश्वस्य विस्मेरः सानुतापं जगाद तं ॥८२

श्रीमदुद्धव उवाच ।

न राजराजेश्वरताविभूती-
र्न दिव्यवस्तूनि च ते भवत्तः ।
न कामयन्तेऽन्यदपीह किञ्चि-
दमुत्र च प्राप्यमृते भवन्तं ॥८३॥

अवधानप्रसादोऽत्र क्रियतां ज्ञापयामि यत् ।
पश्चाद्विचार्य्य कर्त्तव्यं स्वयमेव यथोचितं ॥८४॥

पूर्व्वं नन्दस्य सङ्गत्या भवता प्रेषितानि ते ।
भूषणादीनि दृष्ट्वोचुर्म्मिथोमग्नाः शुगम्बुधौ ॥८५॥
अहो ! वत ! महत् कष्टं वयमेतदभीप्सवः ।
एतत्प्रसादयोग्याश्च ज्ञाताः कृष्णेन सम्प्रति॥८६॥
तदस्मज्जीवनं धिग्धिक् तिष्ठेत् कण्ठेऽधुनापियत् ।

श्रीनन्द गृह रह कर जो खान पान किया है, उस सब खर्चे की पाई पाई श्रीगर्गाचार्य के द्वारा, हिसाब लगा कर मेरे भर्ता (उग्रसेन जी) उससे दुगुना वहाँ भेज देंगे । तुमने जो उनकी गैया चराई हैं, उनके बदले में वह कुछ दें या न दें, उनकी खुशी रही ॥ ७७ । ७८ । ७६ ॥

श्रीपरीक्षित जी कहने लगे ।

इस वार्ता को भगवान् श्रीकृष्ण सुनते हुए भी अनसुनी कर के शोकातुर होकर अजान की तरह श्री उद्धव जी से पूछने लगे ॥ ८० ॥

श्रीभगवान् कहने लगे ।

हे विद्वानों में श्रेष्ठ उद्धव जी ! आप व्रज वासियों के अभिप्रायों को जानने वाले हैं । उनके लिये अभीष्ट क्या है, जल्दी से मुझसे कहो ॥ ८१ ॥

श्रीपरीक्षित जी बोले ।

इसके पश्चात् भगवान के वाक्यों को सुनकर श्री उद्धव जी के हृदय में बड़ा दुख हुआ, और वह एक क्षण के लिये लम्बा स्वांस खींचकर विस्मित होकर, दुख से इस प्रकार कहने लगे ॥८२॥

श्रीउद्धव जी बोले ।

वह व्रजबासी आपसे न तो चक्रवर्ती राजाओं की विभूतियां चाहते हैं, न स्वर्ग आदि में रहने वाली बस्तुओं की अभिलाषा करते हैं, और न इस लोक तथा परलोक की किसी चीज की इच्छा करते हैं, वह तो केवल चाहने योग्य आप ही को चाहते हैं ॥ ८३ ॥

आपसे जो मैं प्रार्थना करता हूँ, आप उसको कृपा करके सावधानी से सुनें, फिर आप स्वयं निश्चय करें कि क्या करना उचित है ॥ ८४ ॥

पहिले तो आपने वस्त्र भूषण आदि श्रीनन्द-राय के साथ वहाँ भेजे थे, उनको देख कर वह लोग शोक रूपी समुद्र में निमग्न होकर परस्पर इस प्रकार कहने लगे थे । "अहो ! वड़े खेद की वात है, अब तो श्रीकृष्ण ने यह समझ लिया है कि हम यही चाहते हैं और हम इसी प्रसाद के योग्य हैं । हमारे प्राणों को धिक्कार है, जोकि अब तक कण्ठसे नहीं निकलते, और क्या कहें

नन्दगोपांश्च धिग्धिग् ये तं त्यक्त्वैतान्युपानयन्॥८७

ततस्त्वद्गमनाशाञ्च हित्वा सह यशोदया।

मृतप्राया भवन्मात्रारेभिरेऽनशनं महत् ॥८८॥

कृतापराधवन्नन्दो वक्तुं किञ्चिद्दिनत्रयं।

अशक्तोऽत्यन्तशोकार्त्तो व्रजप्राणानवन् गतान्॥८९

भवतस्तत्र यानोक्तिं ग्राहयन् शपथोत्करैः।

दर्शयन् युक्तिचातुर्य्यममूनेवमसान्त्वयत् ॥९०॥

श्रीनन्द उवाच।

द्रव्याण्यादौ प्रेमचिह्नानि पुत्र

एतान्यत्र प्राहिणोत् सत्यवाक्यः

शीघ्रं पश्चादागमिष्यत्यवश्यं

तत्रत्यं स्वप्रस्तुतार्थं समाप्य ॥९१॥

श्रुत्वा ते तत्र विश्वस्य सर्व्वे सरलमानसाः।

भवत्प्रीतिं समालोच्यालङ्कारान् दधुरात्मसु ॥९२

श्रीकृष्णोऽत्र समागत्य प्रसादद्रव्यसंग्रहात्।

वीक्ष्याज्ञापालकानस्मान्नितरां कृपयिष्यति॥९३॥

भवान् स्वयमगत्वा तु यं सन्देशं समर्प्य मां।

प्राहिणोत्तेन ते सर्व्वे बभूवुर्निहता इव ॥९४॥

श्रीनन्दराय को भी धिक्कार है, जोकि उनको छोड़ कर इन वस्त्र भूषण आदि को ले आये" ॥८५-८६-८७॥

तब आपकी माता यशोदाजी, सब व्रज वासियों के साथ यह समझ कर कि, अब आप नहीं आयेंगे, मृतक प्राय हो गई हैं और उन्होंने सब खान पान छोड़ कर अनशन व्रत धारण कर लिया है॥८८॥

श्री नन्दरायजी भी यह समझ कर कि मुझ से बड़ा अपराध हुआ है, तीन दिन तक अत्यन्त शोकातुर होकर कुछ भी नहीं कह सके। फिर यह जान कर कि समस्त व्रज के प्राण जाने को हो रहे हैं, उनकी रक्षा करने के लिये सौ-सौ बार सौगन्ध खाकर, जो आपने यह कहा था, कि "मैं जल्दी ही आऊँगा," इस बात को कह कर, अपने युक्ति चातुर्य से उन लोगों को निश्चित कराते हुये शान्त किया था॥८९ ९०॥

श्रीनन्दरायजी बोले।

मेरे पुत्र श्रीकृष्ण जो कि सत्य वाक्य हैं, उन्होंने यह सब द्रव्य अपने प्रेम चिन्ह समझ कर भेजे हैं। वह वहाँ का आवश्यक कार्य समाप्त करके जल्दी ही यहाँ आयेंगे॥९१॥

सरल चित्त होने से उन सब व्रजवासियों को, श्रीनन्दराय की यह बात सुन कर विश्वास हो गया, और आपकी प्रीति की समालोचना करके, उन्होंने उन वस्त्र भूषण आदि को धारण कर लिया॥ ९२॥

यह समझ कर, कि जब श्रीकृष्ण यहां आवेंगे हमको अपने वस्त्र भूषणादि धारण किये हुये देख कर, यह ख्याल करेंगे, कि इन्होंने मेरी आज्ञा का पालन किया है, वह हम लोगों पर अधिक कृपा करेंगे॥ ९३॥

किन्तु आपने वहाँ स्वयं न आकर मुझको ही सन्देश देकर भेजा था, उससे वह सब व्रजबासी मृतक प्राय हो गये थे॥९४॥

तथा दृष्टया मया तत्र भवतो गमनं ध्रुवं ।
प्रतिज्ञाय प्रयत्नात्तान् जीवयित्वा समागतं॥९५

जब मैंने वहाँ का यह हाल देखा, तो मैं उनसे यह प्रतिज्ञा करके, कि श्रीकृष्ण अवश्य आयेंगे, इस प्रकार बहुत प्रयत्न से, मानो उनको जिवा कर यहाँ आया था ॥९५॥

त्वत्प्राप्तयेऽथ संन्यस्तसमस्तविषयाश्रयाः ।
प्रापुर्यादृगवस्थां ते तां पृच्छैतं निजाग्रजम् ॥९६॥

आपकी प्राप्ति के लिये, उन लोगों ने समस्त भोग पदार्थों का परित्याग कर दिया है, और वह लोग जिस अवस्था में इस समय हैं, उसको अपने भाई बलदाऊजी से पूछिये ॥९६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तद्विच्छेदभहादुःखाशङ्कया म्लापितानि सः ।
देवकीभीष्मजादीनां मुखान्यवनतान्यधः ॥९७॥

चरदस्राणि सस्नेहं विलोक्य मृदुलाशयः ।
मसीकर्परपत्राणि व्यग्रोऽयाचत संज्ञया ।९८॥

श्री परीक्षितजी बोले ।

श्रीकृष्ण के विच्छेद भय से दुखित होकर श्री देवकी, रुक्मिणीजी आदि का मुख मलीन हो रहा था, और वह नीचे को मस्तक करके अपने नेत्रों से अश्रु बहा रही थीं। ज्योंही श्रीकृष्ण ने यह अवस्था देखी, तो वह जिनका बहुत कोमल स्वभाव है, स्नेह से व्यग्र होकर इशारे से कागज़ कलम दवात लाने के लिये कहा ॥९७-९८॥

प्रस्तुतार्थं समाधायात्रत्यानाश्वास्य बान्धवान् ।
एषोऽहमागतप्राय इति जानीत मत्प्रियाः! ॥९९
एवमाश्वासनं प्रेमपत्रं प्रेषयितुं व्रजे ।
स्वहस्तेनैव लिखितं तच्च गाढप्रतीतये ॥१००॥

उन व्रजवासियों को विश्वास दिलाने के लिये, स्वयं अपने हस्त कमल से उस प्रेम पत्र को व्रज में भेजने के लिये इस प्रकार लिखने लगे "मेरे प्रिय जनो! यहाँ के शेष कार्य को समाधान करके और बन्धुओं को आश्वासन दे के मुझको आप लोग आया ही समझें" ॥९९-१००॥

तस्येहितमभिप्रेत्य प्राप्तोऽत्यन्तार्त्तिमुद्धवः ।
व्रजवासिमनोऽभिज्ञोऽब्रवीत् सशपथं रुदन्॥१०१

श्रीकृष्ण की चेष्टा का अभिप्राय समझ कर, श्री उद्धवजी, जो कि व्रजवासियों के मन की जानने वाले हैं, अति आर्त होकर रोते हुये शपथ खाकर इस प्रकार कहने लगे ॥१०१॥

श्रीमदुद्धव उवाच ।

प्रभो ! सुनिर्णीतमिदं प्रतीहि
त्वदीयपादाब्जयुगस्य तत्र ।
शुभप्रयाणं न विनास्य जीवे-
द्व्रजः कथञ्चिन्न च किञ्चिदिच्छेत्॥१०२

श्री उद्धवजी बोले ।

हे प्रभो ! यह निश्चय समझें कि आपके श्री चरणारविन्द पधारे बिना वहाँ वह लोग किसी प्रकार प्राणों को धारण नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त उनको किसी वस्तु की इच्छा नहीं है ॥१०२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

कुमतिः कंसमाताह सहासं धुन्वती शिरः ।
हुँहुँ देवकि ! निर्बुद्धे! बुद्धं बुद्धं मयाधुना १०३

श्रीपरीक्षितजी कहने लगे ।

इसके पश्चात् दुष्ट बुद्धि कंस की माता सिर कँपाती हुई हँस कर, इस प्रकार कहने लगी। हे विचार हीन देवकी! अब मैंने अच्छी तरह से

चिरं गोरसदानेन यन्त्रितस्योद्धवस्य ते ।
साहाय्यात्त्वत्सुतं गोपा नाययित्वा पुनर्व्वने १०४

भीषणे दुर्गमे दुष्टसत्त्वजुष्टे सकण्टके ।
संरक्षयितुमिच्छन्ति धूर्त्ताःपशुगणान्निजान् ॥ १०५

समझ लिया है, उन धूर्त गोपों ने इस उद्धव को लगातार बहुत दिन तक गोरस दे दे कर, अपने वश में कर लिया है। अब वह लोग इसकी सहायता से तेरे पुत्र को ले जाकर फिर उसी भयंकर दुर्गम, कंटक युक्त वन में, जिसमें हिंसक जीव रहते हैं, अपने पशुओं की रक्षा कराने की इच्छा करते हैं" ॥१०३-१०४-१०५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तत् श्रुत्या कुत्सितं वाक्यमशक्ता सोढुमञ्जसा ।
यशोदायाः प्रियसखी राममाताह कोपिता १०६

श्री परीक्षित्‌जी बोले ।

इस घृणित वाक्य को, श्रीराम माता रोहिणी जी, जो कि श्री यशोदाजी की प्रिय सखी हैं, सुन कर सहन नहीं कर सकीं और कुपित होकर इस प्रकार कहने लगीं ॥१०६॥

श्रीरोहिण्युवाच ।

आः कंसमातः ! किमयं गोरक्षायां नियुज्यते ।
क्षणमात्रश्च तत्रत्यैरदृष्टेऽस्मिन्न जीव्यते ॥१०७॥

श्री रोहिणी जी बोलीं ।

अरी कंस माता ! वह व्रजवासी जो कि एक क्षण काल भी, इनके देखे बिना प्राण धारण नहीं कर सकते हैं, क्या वे इनको गौ-चराने के लिये बुला रहे हैं ? ॥१०७॥

वृक्षादिभिस्त्वन्तरिते कदाचि-
दस्मिन् सति स्यात् सहचारिणां भृशम् ।
श्रीकृष्णकृष्णेति महाप्लुतस्वरै-
राह्वानभङ्ग्याकुलता सरोदना ॥१०८॥

जब कभी यह श्रीकृष्ण वृक्षों की ओट में भी हो जाते थे, तभी इनके सखा, इनको नहीं देख कर, इनको बुलाने के लिये उच्च स्वर से रोते हुए, इस प्रकार कहने लगते थे "हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीकृष्ण ! आप जल्दी से यहाँ आजाओ" ॥१०८॥

व्रजस्थितानान्त्वहरेवकाल-
रात्रिर्भवेदेकलवो युगश्च ।
रविं रजोवर्त्म च पश्यतां मुहु-
र्दशा च काचिन्मुरलीश्च शृण्वताम् १०९

जब श्रीकृष्ण गौओं को चराने के लिये वन में जाते थे, तब इनके विरह से व्रज में रहने वाले उस दिन को महाकाल रात्रि समझते हुये एक क्षण काल को युग के बराबर बिताते थे, और वह बार बार सूर्य, गोरज तथा इनके आने के मार्ग को देखते रहते थे। जिस समय मुरली की ध्वनि उनके कान में पड़ती थी, तो उनकी दशा अपूर्व सी हो जाती थी ॥१०९॥

अयं हि तत्तद्विपिनेषु कौतुका-
द्विहर्त्तुकामः पशुसंघसङ्गतः ।
वयस्यवर्गैः सह सर्व्वतोऽटितु
प्रयाति नित्यं स्वयमग्रजान्वितः ॥११०

वास्तव में बात यह है कि, यह श्रीकृष्ण तो उन वनों में अपने भैया दाऊजी और ग्वालवाल तथा गौओं को साथ लेकर, केवल विहार करने के लिये, नित्य एक प्रकार का खेल समझ कर जाते थे ॥ ११० ॥

यत्रातिमत्ताम्बुविहङ्गमाला-
कुलीकृताल्यावलिविभ्रमेण ।
विचालितानां कमलोत्पलानां
सरांसि गन्धैर्विलसज्जलानि ॥१११॥

वहां के अनेक सरोवरों के जल, उन कमलों की गन्ध से सुगन्धित हो रहे हैं, जो कि भौरों के इधर उधर गुञ्जार करने से हिल रहे हैं। उन भौरों को मत्त जल पक्षियों के झुण्ड एक जगह स्थिर नहीं होने देते हैं ॥१११॥

तथा महाश्चर्यविचित्रतामयी
कलिन्दजा सा व्रजभूमिसङ्गिनी ।
तथाविधा विन्ध्यनगादिसम्भवाः
पराश्च नद्यो विलसन्ति यत्र च ॥११२॥

व्रज भूमि के संग से श्री यमुनाजी की भी अद्भुत विचित्र शोभा हो रही है। यही नहीं, बल्कि और नदियाँ भी जो कि विंध्याचल आदि गिरियों से निकल कर यहाँ बहती हैं, वह भी शोभा को प्राप्त हो रही हैं ॥११२॥

तत्तत्तटं कोमलवालुकाचितं
रम्यं सदा नूतनशाद्वलावृतम् ।
स्वाभाविकद्वेषविसर्जनोल्लस-
न्मनोज्ञनानामृगपक्षिसंकुलम् ॥११३॥

उन नदियों के दोनों तट, जोकि स्वच्छ कोमल बालु से आवृत हैं, जिन पर नित्य नूतन कोमल दूर्वा के लगने से अति शोभा हो रही है। वहाँ रहने वाले स्वाभाविक परस्पर द्वेष करने वाले पशु पक्षियों ने अपने २ बैर को छोड़ दिया है, और वह आनन्द से एक साथ हिल मिल कर विहार कर रहे हैं ॥११३॥

दिव्यपुष्पफलपल्लवावली-
भारनम्रितलतातरुगुल्मैः ।
भूषितं मदकलापि कोकिल-
श्रेणिनादितमजस्तुतिपात्रम् ॥११४॥

जहाँ की गुल्म, तथा वृक्ष लता, दिव्य पुष्प फल तथा पल्लवों के भार से झुकी हुई होने से सुशोभित हो रही हैं, जिन पर मत्त मयूर तथा कोकिला आदि पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड, मधुर स्वरों से नाद कर रहे है, उस भूमि तट तथा और वस्तुओं की प्रशंसा श्री ब्रह्माजी ने भी की थी ॥ ११४ ॥

वृन्दारण्ये व्रजभुवि गवां तत्र गोवर्द्धने वा
नास्ते हिंसाहरणरहिते रक्षकस्याप्यपेक्षा ।
गावो गत्वोषसि विपिनतस्ता महिष्यादियुक्ताः
स्वैरं भुक्त्वा सजलयवसं सायमायान्तिवासम्११५

हिंसा तथा चोरी से रहित उस व्रज भूमि में, वृन्दाबन में, तथा गोवर्धन में गौओं की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ सब गौएँ भैंस आदि के सहित प्रातःकाल स्वयं बन में चली जाती हैं, और वहाँ सुन्दर तृण खा कर, इच्छानुसार जल पीकर सायं काल वापिस घर पर आ जाती हैं ॥११५॥

श्रीवृद्धोवाच ।

अरे ! वाले! ऽतिवाचाले ! तत् कथं ते गवादयः ।
अधुना रक्षकाभावान्नष्टा इति निशम्यते ॥११६॥

वृद्धा कंस माता कहने लगी ।

अरी रोहिणी ! तुम बालिका हो, अति वाचाल हो। यदि ऐसी बात है, तो हम यह सुनते हैं, कि गौओं का रक्षक न होने से वह सब गौएँ नष्ट-प्रायः हो गईं। फिर ऐसा क्यों हुआ ॥११६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

श्रीमद्गोपालदेवस्तच्छ्रुत्वा सम्भ्रान्तियन्त्रितः ।
जातान्तस्तापतः शुष्यन्मुखाब्जः शङ्कयाकुलः ११७

प्रथमापरकालीनब्रजवृत्तान्तवेदिनः ।
मुखमालोकयामास बलदेवस्य साश्रुकं ॥११८॥

रोहिणी-नन्दनो भ्रातुर्भावं बुद्ध्वा स्मरन् व्रजं ।
स्वधैर्य्यरक्षणाशक्तः प्ररुदन्नब्रवीत् स्फुटं॥११९॥

श्री बलदेव उवाच ।

गवां केव कथा कृष्ण ! ते तेऽपि भवतः प्रियाः ।
मृगा विहङ्गा भाण्डीरकदम्बाद्याश्च पादपाः१२०

लतानि कुञ्जपुञ्जानि शाद्वलान्यपि जीवनं ।
भवत्येवार्पयामासुः क्षीणाश्च सरितोऽद्रयः ॥१२१

मनुष्याः कतिचिद्भ्रातः! परं ते सत्यवाक्यतः ।
जाताशयैव जीवन्ति नेच्छ श्रोतुमतःपरं ॥१२२

किन्त्विदानीमपि भवान् यदि तान्नानुकम्पते ।
यम एव तदा सर्व्वान् वेगेनानुग्रहीष्यति॥१२३

यत्तत्र च त्वयाकारि निर्विषः कालियो ह्रदः ।

शोकोऽयं विपुलस्तेषां शोकेऽन्यत्कारणं शृणु१२४

तत्रत्ययमुना स्वल्पजला शुष्केव साजनि ।

श्री परीक्षितजी कहने लगे ।

यह सुन कर श्रीमद्गोपालदेव श्रीकृष्ण घबड़ा गये, और अन्तःकरण के ताप से उनका मुखारविन्द सूख गया। गौओं की अनिष्ट शंका से, व्याकुल होकर उन दाऊजी के मुख की ओर देखने लगे, जिनके नेत्रों से अश्रु बह रहे थे, और जो पहिले तथा अब के व्रज के सब वृत्तान्त जानने वाले थे ॥११७-११८॥

रोहिणी नन्दन श्री बलदेवजी अपने भाई श्री कृष्ण के भाव को जानकर व्रज की याद करके, धैर्य नहीं रख सके, और रुदन करते हुए स्पष्ट रूप से कहने लगे ॥११९॥

श्री बलदेवजी कहने लगे ।

हे कृष्ण !-गौओं की तो बात ही क्या है जो और भी आपके प्रिय मृग, पक्षी, भाण्डीरवट, तथा कदम्ब आदि वृक्ष लता कुञ्ज तृण आदि हैं, उन्होंने भी अपने प्राणों को आपके चरणों में अर्पण कर दिया है। श्री गोवर्धन तथा यमुनादि नदियाँ भी क्षीणता को प्राप्त होगई हैं ॥१२०-१२१॥

हे भाई कृष्ण ! वहाँ के कुछ मनुष्य केवल आपके सत्य वाक्यों पर विश्वास करते हुए, दर्शन आशा से अपने प्राणों को रक्खे हुए हैं बस इसी में समझ लो और ज्यादा सुनने की इच्छा मत करो। इस अवस्था पर भी, यदि आप उन पर अनुग्रह नहीं करेंगे, तो श्री यमराज उन सब को अवश्य ही ग्रस लेंगे ॥१२२ १२३॥

(व्रज की वास्तविक दशा क्या कहें) वहाँ इस बात का भी बड़ा दुख है, कि कालिय ह्रद को भी आपने विष रहित कर दिया है। (नहीं तो विष पान से प्राणों का विसर्जन कर देतीं) दूसरा भी बड़े शोक का कारण सुनिये, कि श्री यमुना में भी जल थोड़ा रह गया है, जिसके कारण सूखी हुई सी प्रतीत होती हैं। (वरना डूब कर प्राण त्याग देतीं) श्री गोवर्धन जो आपके कर कमलों से उठ कर स्वर्ग तक पहुँच गया था, वह भी अब बहुत नीचा होगया है। (नहीं तो गिर कर ही

गोवर्द्धनोऽभून्नीचोऽसौ स्वःप्राप्तो यो धृतस्त्वया१२५
न यान्त्यनशनात् प्राणास्त्वन्नामामृतसेविनां ।
परं शुष्कमहारण्यदावाग्निर्भविता गतिः ॥१२६

अपने प्राणों को छोड़ देतीं) और क्या कहें वहाँ के लोगों ने अपना खान पान तक बन्द कर दिया है। उनके प्राण केवल आपके नाम अमृत के सेवन करने से ही अटके हुए हैं। अब सूखे हुए महारण्य की एक मात्र दावाग्नि ही उनकी गति है ॥ १२४ ॥ ॥ १२५-१२६ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

शृण्वन्नसौ तत् परदुःखकातरः
कण्ठे गृहीत्वा मृदुलस्वभावकः ।
रामं महादीनवदश्रुधारया
धौताङ्गरागोऽरुददुच्चसुस्वरं ॥१२७॥

श्रीपरीक्षितजी बोले ।

यह सुन कर, श्रीकृष्ण जो कोमल स्वभाव होने से दूसरे के दुख को सहन नहीं कर सकते हैं, अपने भुजदण्डों को श्री दाऊजी के गले में डाल कर, बड़े दीन की तरह अश्रुधारा बहाते हुए, जिससे कि उनके अंग में लगा हुआ चन्दन आदि भी धुल गया है, उच्च स्वर से रुदन करने लगे॥१२७

पश्चाद्भूमितले लुलोठ सबलो मातर्मुमोह क्षणा-
त्तादृग्रोदनदुःस्थतानुभवतश्चापूर्व्ववृत्तात्तयोः ।
रोहिण्युद्धवदेवकीमदनभूश्रीसत्यभामादयः
सर्व्वेऽन्तःपुरवासिनो विकलतां भेजूरुदन्तो मुहुः
॥१२८॥

हे माता ! इसके पश्चात् श्रीकृष्ण दाऊजी के सहित भूमि पर गिर पड़े, और क्षण में ही मूर्छा को प्राप्त हो गये। उनके रुदन के दुःख से दुःखी होते हुए, इस अपूर्व घटना को देख कर, श्री रोहिणी, उद्धव, देवकी, रुक्मिणी तथा श्री सत्य-भामा आदि तथा और सब अन्तःपुर में रहने वाले बार-बार रुदन करते हुए विकलता को प्राप्त हो गये ॥१२८॥

श्रुत्वान्तःपुरतोऽपुराकलितमाक्रन्दं महार्त्तस्वरै-
र्धावन्तो यदवो जवेन वसुदेवेनोग्रसेनादयः ।
तत्रागत्य तथाविधं प्रभुवरं दृष्ट्वा रुदन् विह्वला
विप्रा गर्गमुखास्तथा पुरजनाश्चापूर्व्वदृष्टेक्षया
॥१२९॥

अंतःपुर से अपूर्व रोने की ध्वनि सुन कर श्री वसुदेव श्री उग्रसेनजी तथा और यादव गण आर्त्तस्वर से चिल्लाते हुए भाग कर वहां आए। श्रीकृष्ण तथा श्री बलदेवजी की इस अवस्था को देख कर विह्वल होकर जोर २ से रोने लगे। इसी प्रकार श्री गर्गाचार्य से आदि लेकर सब ब्राह्मण गण तथा और पुरवासी भी वहां आकर इसी प्रकार रुदन करने लगे ॥१२९॥

इति श्रीभागवतामृते भगवदनुग्रह-
निर्द्धारखण्डे प्रियतमो नाम
षष्ठोऽध्यायः ।

इस श्रीवृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के श्रीभगवान् के श्रेष्ठ कृपापात्रों के विवेचन नामक खण्ड में "प्रियतम" नाम छटवाँ अध्यायः समाप्त हुआ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इत्थं सपरिवारस्य मातस्तस्यार्त्तिरोदनैः ।
ब्रह्माण्डं व्याप्य सञ्जातो महोत्पातचयः क्षणात् १

श्रीपरीक्षित्‌जी कहने लगे ।

हे माता ! इस प्रकार परिवार सहित श्रीकृष्ण का आर्तस्वर से रुदन का शब्द एक क्षण काल में ही समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होगया, जिससे अनेक प्रकार के बड़े-बड़े उत्पात होने लगे ॥१॥

तत्रान्यबोधकाभावात् स्वयमागाच्चतुर्मुखः ।
वृतो वेदपुराणाद्यैः परिवारैः सुरैरपि ॥२॥

चतुर्मुख श्री ब्रह्माजी यह जान कर कि इन को अब समझाने वाला कोई नहीं है, सब देवताओं को तथा अपने परिवार, मूर्ति स्वरूप वेद पुराण आदि को साथ लेकर, वहाँ उपस्थित हुए ॥ २ ॥

तमपूर्व्वदशाभाजं प्रेष्ठप्रणयकातरं ।
निगूढनिजमाहात्म्यभरप्रकटनोद्धतं ॥३॥

महानारायणं ब्रह्मा पितरं गुरुमात्मनः ।
सचमत्कारमालोक्य ध्वस्तधैर्य्योऽरुदत् क्षणं॥४॥

संस्तभ्य यत्नादात्मानं स्वास्थ्यं जनयितुं प्रभोः।
उपायं चिन्तयामास प्राप चानन्तरं हृदि ॥५॥

तत्रैव भगवत्पार्श्वे रुदन्तं विनतासुतं ।
उच्चैः सम्बोध्य यत्नेन सवोधीकृत्य सोऽवदत्॥६

वहाँ श्री ब्रह्माजी ने अपने पिता, गुरु स्वरूप महानारायण, श्रीकृष्ण को इस अवस्था में देखा, जिसमें वह अपने प्रेमियों के प्रेम से दुखित होकर एक अपूर्व दशा में पहुँच रहे हैं, तथा उन्होंने यह अनुभव किया कि अब प्रभु अपनी निगूढ़ प्रेम माधुरी की महिमा को प्रकट करने के लिये व्याकुल हैं। इस चमत्कार को देख कर श्री ब्रह्माजी अपना धैर्य नहीं रख सके और वह भी एक क्षण के लिये रोने लगे। फिर यत्न से अपने आपको स्वस्थ्य करके अपने प्रभु को शान्त करने के लिये उपाय ढूंढ़ने लगे। कुछ देर के बाद उनके अन्तःकरण में एक उपाय आया। तब वह श्री-गरुडजी को, जो कि भगवान् के समीप ही में स्थित होकर रो रहे थे, उच्चस्वर से अपने निकट बुलाकर और यत्न से उन को सावधान करके, इस प्रकार कहने लगे ॥३-४-५-६॥

श्रीब्रह्मोवाच ।

यच्छ्रीवृन्दावनं मध्ये रैवताद्रिसमुद्रयोः ।
श्रीमन्नन्दयशोदादिप्रतिमालंकृतान्तरं ॥७॥

गोयूथैस्तादृशैर्युक्तं रचितं विश्वकर्म्मणा ।

श्रीब्रह्माजी बोले ।

यहाँ रैवत पर्वत तथा समुद्र की बीच की भूमि में जो श्री वृन्दाबन विश्वकर्माजी ने रचा है, जहाँ श्री नन्दराय तथा श्री यशोदा आदि की प्रतिमाएँ अलंकृत की गई हैं जहां गौओं के यूथों की रचना की गई है, और जिसकी शोभा

राजते माथुरं साक्षाद्वृन्दावनमिवागतं ॥८॥

तत्रेमं साग्रजं यत्नाद्यथावस्थं शनैर्नय ।
केवलं यातु तत्रैषा रोहिण्योऽन्यो न कश्चन॥९॥

ऐसी है मानो मथुरा मण्डल अन्तरगत साक्षात् श्री वृन्दाबन ही वहां आकर विराजमान हुआ है। वहां आप श्रीकृष्ण को दाऊजी के सहित बहुत सावधानी से शनैः शनैः इसी अबस्था में अपने ऊपर बैठा कर पहुँचा दें, इतना ध्यान रक्खें, कि इन दोनों के अतिरिक्त वहां केवल श्री रोहिणी जी ही जा सकें और कोई नहीं ॥७ ८-९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

प्रयत्नात् स्वस्थतां नीतो ब्रह्मणा स खगेश्वरः ।
विशारदवरः पृष्ठे मन्दं मन्दं न्यधत्त तौ ॥१०॥

स्वस्थानं भेजिरे सर्व्वे चतुर्वक्त्रेण बोधिताः ।
संज्ञामिवाप्तो रामस्तु नीयमानो गरुत्मता ॥११॥

श्रीनन्दनन्दनस्तत्र पर्य्यङ्के स्थापितः शनैः ।
साक्षादिवावतिष्ठन्ते यत्र तद्गोपगोपिकाः ॥१२॥

उद्धवेन सहागत्य देवकी पुत्रवत्सला ।
रुक्मिणीसत्यभामाद्या देव्यः पद्मावती च सा१३

तादृग्दशागतं कृष्णमशक्तास्त्यक्तुमञ्जसा ।
दूराद्दृष्टिपथेऽतिष्ठन्निलीय ब्रह्मयाञ्चया ॥१४॥

श्रीपरीक्षित्‌जी बोले ।

श्री गरुड़जी ने, जिन को ब्रह्माजी ने प्रयत्न से सचेत कराया था, बहुत बुद्धिमानी से धीरे २ उन दोनों को अपनी पीठ पर विराजमान कराया। ब्रह्माजी ने सब यादवों को तथा और अन्य द्वारिका बासियों को सचेत करा कर अपने २ स्थान पर भेज दिया। जिस समय गरुडजी उनको ले जा रहे थे, रास्ते में बलदेवजी की कुछ मूर्छा खुल गई। श्री गरुडजी ने वहां पहुँच कर श्रीकृष्ण को धीरे २ पलंग पर शयन करा दिया, जिनके समीप ही गोप तथा श्री गोपिका साक्षात् की की तरह विराजमान हो रही थीं। श्रीकृष्ण को इस अवस्था में अकेले नहीं छोड़ सकने के कारण, श्री देवकीजी, जिनकी अपने पुत्र में अत्यन्त ममता थी, तथा रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियां तथा पद्मावति श्री उद्धवजी को साथ ही लेकर वहाँ ही पहुँचीं परन्तु ब्रह्माजी की प्रार्थना से दूर ही खड़ी रहीं और छिप कर उस घटना को देखने लगीं ॥१०-११-१२-१३-१४॥

नारदस्तु कृतागस्कमिवात्मानममन्यत ।
देवानां यादवानाञ्च सङ्गेऽगान्न कुतूहलात्॥१५

वियत्यन्तर्हितो भूत्वा बद्धैकं योगपट्टकं ।
निविष्टो भगवच्चेष्टामाधुर्य्यानुभवाय सः ॥१६॥

उस समय श्रीनारदजी ने अपने आपको अपराधी की तरह माना, और वह देवता तथा यादवों के साथ नहीं गये। बल्कि कौतुहल से केवल एक योगियों सरीखा वस्त्र बांधकर आकाश में अन्तर्हित हो गये, ताकि वहां स्थित होकर भगवत लीला माधुरी का अनुभव कर सकें। ॥ १५-१६ ॥

गरुडश्चोपरि व्योम्नः स्थित्वाप्रत्यक्षमात्मनः ।
पक्षाभ्यामाचरंश्छायामन्ववर्त्तत तं प्रभुं ॥१७॥

श्रीगरुड़ जी ने आकाश में अलक्ष रूप से स्थित होकर अपने पंखों से अपने प्रभु पर छाया करली ॥१७॥

अथ कृष्णाग्रजः प्राप्तः क्षणेन स्वस्थतामिव ।
तं सर्वार्थमभिप्रेत्य विचक्षणशिरोमणिः ॥१८॥

क्षिप्रं स्वस्यानुजस्यापि सम्मार्ज्य वदनाम्बुजं ।
वक्षोदरान्तरे वंशीं भृङ्गवेत्रे च हस्तयोः ॥१९॥

कण्ठे कदम्बमालाञ्च बर्हापीडञ्च मूर्द्धनि ।
नवं गुञ्जावतंसञ्च कर्णयोर्निदधे शनैः ॥२०॥

रचयित्वा वन्यवेशं त्वष्टृकल्पितवस्तुभिः ।
बलादुत्थापयन् धृत्वाब्रवीदुच्चतरस्वरैः ॥२१॥

श्रीबलदेव उवाच ।

श्रीकृष्ण ! कृष्ण ! भो ! भ्रातरुत्तिष्ठोत्तिष्ठ जागृहि ।
पश्याद्य वेलातिक्रान्ता विशन्ति पशवो वनं॥२२
श्रीदामाद्या वयस्याश्च स्थिता भवदपेक्षया ।
स्नेहेन पितरौ किञ्चिन्न शक्तौ भाषितुं त्वयि२३
पश्यन्त्यस्ते मुखाम्भोजमिमा गोप्यः परस्परं ।
कर्णाकर्णितया किञ्चिद्वदन्त्यस्त्वां हसन्ति हि २४

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इत्थं प्रजल्पताभीक्ष्णं नामभिश्च सलालनं ।
आहूयमानो हस्ताभ्यां चाल्यमानो बलेन च २५
रामेणोत्थाप्यमानोऽसौ संज्ञामिव चिराद्गतः ।
वदन् शिवशिवेति द्रागुदतिष्ठत् सविस्मयं ॥२६॥
उन्मील्य नेत्रकमले सम्पश्यन् परितो भृशं ।
स्मयमानः पुरो नन्दं दृष्ट्वा ह्रीणो ननाम तं॥२७

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण के भाई बलदेवजी ने जो कि चतुरों के मुकुट मणि हैं, सचेत होकर एक क्षण काल में ही ब्रह्माजी के अभिप्राय को समझ लिया, कि यह सब घटना श्रीकृष्ण को सान्त्वना करने के लिये ही की गई है। इसलिये उन्होंने जल्दी से श्रीकृष्ण के मुखारविन्द को पोंछ कर, उनकी फेंट के वस्त्र में वंशी को घुसेड़ दिया। हस्त कमलों में शृङ्ग तथा वेत्र को दे दिया और कण्ठ में कदम्ब के फूलों की माला को पहना दिया। मस्तक पर मोर मुकट धारण करवा कर नवीन गुञ्जाओं की माला तथा कुण्डल धीरे धीरे धारण करा दिये। इस प्रकार आपका विश्वकर्मा की रची हुई वस्तुओं से वनविहार के उपयोग शृङ्गार करके, वह श्रीकृष्ण को अपने सहारे से पकड़ कर, उठाने के लिये उच्चस्वर से इस प्रकार कहने लगे ॥१८-१९-२०-२१॥

श्रीबलदेवजी बोले ।

हे भैया श्रीकृष्ण उठो ! उठो ! अब आप जागिये। देखो बहुत देर हो गई है। सब गौएँ बन को जा रही हैं और आपके साथ के ग्वाल बाल श्रीदामा आदि आपकी बाट निहार रहे हैं। बाबा और मैया आपके स्नेह के वश होकर बोल भी नहीं सकते हैं। देखिये यह गोपियाँ आपके मुख कमल को देख कर, आपस में कुछ काना फूसी करती हुई, आपकी ओर हँस रही हैं ॥२२-२३-२४॥

श्रीपरीक्षितबोले ।

जब कि बलदेवजी के लाड़ भरे प्यारे २ नामों से पुकारने पर भी वह नहीं उठे, तब उन्होंने उनको अपने हाथों से जोर से हिला कर उठाया। इस प्रकार बलदेवजी के जगाने से बहुत देर बाद श्रीकृष्ण की कुछ मूर्छा खुली और विस्मय से शिव-शिव कहते हुए वह जल्दी से उठे और अपने नेत्र कमल खोल कर चारों ओर बार-बार देखने लगे। आपने अपने सामने श्रीनन्दरायजी को देख कर मुस्कराते हुए उनको लज्जा से प्रणाम किया। और श्री यशोदाजी को जो कि स्नेह से टकटकी

अब्रवीत् पार्श्वतां वीक्ष्य यशोदाञ्च हसन्मुदा ।
स्नेहात्तदाननन्यस्तनिर्निमेषेक्षणामिव ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच ।

अद्य प्रभाते भो ! मात ! रस्मिन्नेव क्षणे मया ।
चित्राः कति कति स्वप्ना जाग्रतेव न वीक्षिताः२९
मधुपुर्य्यामितो गत्वा दुष्टाः कंसादयो हताः ।
जरासन्धादयो भूपा निर्जिताः सुखिताः सुराः३०
निर्म्मिताम्भोनिधेस्तीरे द्वारकाख्या महापुरी ।
नान्यवृत्तानि शक्यन्ते ऽधुना कथयितुं जवात् ३१
अनेन स्वप्नविघ्नेन दीर्घेण स्वान्तहारिणा ।
अन्यवासरवत् काले शयनान्नोत्थितं मया ॥३२

भो ! आर्य्य ! तन्महाश्चर्य्यमसम्भाव्यं न मन्यते ।
भवता चेत्तदारण्ये गत्वा वक्ष्यामि विस्तरात्३३

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

एवं सम्भाष्य जननीमभिवन्द्य ससादरं ।
वनभोग्येप्सुरालक्ष्य रोहिण्योक्तोऽत्यभिज्ञया॥३४

श्रीरोहिण्युवाच ।

भो ! वत्स ! तव माताद्य त्वन्निद्राधिक्यचिन्तया
त्वदेकपुत्रा दुःस्थेव तदलं बहुवार्त्तया ॥३५॥

अग्रतो निःसृता गास्त्वं गोपांश्चानुसर द्रुतं ।
मयोपस्कृत्य सद्भोग्यं वनमध्ये प्रहेष्यते ॥३६॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

तथा वदन्तीं सुस्निग्धां रोहिणीञ्चाभिवाद्य सः ।

बाँध कर आपके मुखारविन्द को देख रहीं थीं एक ओर खड़ी हुई देख कर, प्रभु हँसते हुए प्रसन्न चित्त से इस प्रकार कहने लगे ॥२५-२६-२७-२८॥

श्रीभगवान् बोले ।

हे माता ! आज प्रभात इसी क्षण में मैंने कई चित्र-विचित्र स्वप्न जाग्रत की तरह इस प्रकार देखे, कि मैंने मथुरा जाकर दुष्ट कंस आदि का वध किया है । जरासंध आदि राजाओं को जीत कर देवताओं को सुखी किया है । और समुद्र के किनारे द्वारका नाम की एक बड़ी पुरी का निर्माण किया है, इत्यादि और भी कई प्रकार के बड़े-बड़े स्वप्न देखे हैं, परन्तु जल्दी के कारण मैं अब उनको वर्णन नहीं कर सकता हूँ । इन स्वप्नों ने ही मेरे अन्तःकरण को बहुत काल तक हरण किये रक्खा है । इसीलिये और दिन सरीखे मैं नियत काल पर शयन से उठ भी नहीं सका हूँ । ॥ २९-३०-३१-३२ ॥

हे बलदेव भैया ! जो मैंने आश्चर्य जनक स्वप्न देखे हैं उनको यदि आप झूठ नहीं मानो, तो मैं बन में जाकर विस्तार पूर्वक आपसे कहूंगा ॥३३॥

श्रीपरीक्षितजी बोले ।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी माता से कह कर आदर पूर्वक उनको प्रणाम किया । फिर बुद्धिमती रोहिणी जी श्रीकृष्ण की बन भोजन की इच्छा जान कर इस प्रकार कहने लगीं ॥३४॥

श्री रोहिणीजी बोली ।

हे वत्स ! तुम्हारी माता यशोदाजी जिनके तुम ही एक पुत्र हो आज तुम्हारे देर से उठने की चिन्ता से कुछ दुखी सी हो रही हैं । इसलिये इन से तुम और बात चीत मत करो । गौयें और आपके सखा वृन्द दूर चले गये हैं । तुम भी जल्दी से उनके साथ जाओ । मैं अच्छे-अच्छे पदार्थ बना कर तुम्हारे लिये बन में ही भेज दूंगी ॥३५-३६॥

श्रीपरीक्षित जी बोले ।

जब श्रीकृष्ण ने कोमल चित्त वाली रोहणी जी की यह बात सुनी तब उन्होंने उनको प्रणाम

स्थितं करतले मातुर्नवनीतं शनैर्हसन् ॥३७॥

चौर्य्येणेव समादाय निजज्येष्ठं समाह्वयन् ।
अप्राप्याग्रे गवां सङ्गे गतं न बुभुजे घृणी॥३८॥

भोग्यं माध्याह्निकं चाटुपाटवेन स्वमातरौ ।
सम्प्रार्थ्य पुरतोगत्वा गोपीः सम्भाष्य नर्म्मभिः॥
॥ ३९ ॥

रुन्धानो वेणुनादैर्गा वर्त्तमानां सहालिभिः ।
राधिकामग्रतो लब्ध्वा सनर्म्मस्मितमब्रवीत्॥४०

श्रीनन्दनन्दन उवाच ।

प्राणेश्वरि ! रहःप्राप्तं भक्तमेकाकिनञ्च माम् ।
सम्भाषसे कथं नाद्य तत् किं वृत्तासि मानिनी॥४१

अपराद्धं मया किन्ते नूनं ज्ञातमहो ! त्वया ।
सर्व्वज्ञे ! ऽद्यतनस्वप्नवृत्तं तत्तन्ममाखिलं ॥४२॥

त्वां विहायान्यतो गत्वा विवाहा बहवः कृताः ।
तासां क्षितिपपुत्रीणामुद्यतानां मृतिं प्रति ।
पुत्रपौत्रादयस्तत्र जनिता दूरवर्त्तिना ॥ ४३ ॥

अस्तु तावदिदानीं तद्गम्यते त्वरया वने ।
सन्तोषदे प्रदोषेऽद्य मया त्वं मोदयिष्यसे ॥४४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

इत्थं सपुष्पविक्षेपं वदन् दृष्ट्वा दिशोऽखिलाः ।

किया, और हँसते हुए श्रीयशोदा जी के हस्त कमलों से शनै शनै चोरी की तरह माखन छीन कर श्रीदाऊजी को बुलाया, परन्तु उस समय श्री दाऊजी गौओं को साथ लेकर कुछ आगे चले गये थे। इसलिये भाई की ममता से आपने भी उस माखन को नहीं खाया ॥ ३७ । ३८ ॥

फिर आपने अपनी दोनों माताओं से विनय पूर्वक मध्याह्न के भोजन द्रव्य भेजने के लिये प्रार्थना की। आगे चलकर आप श्रीगोपियों से हास्य परिहास करने लगे ॥ ३९ ॥

फिर आपने अपनी मुरली नाद से गौओं को रोक लिया, और आप मुस्कराते हुए श्रीराधिका जी से जोकि अपनी सहचरियों सहित आगे खड़ी हुई थी हास्य परिहास करते हुये यह कहने लगे ॥ ४० ॥

श्रीनन्दनन्दन बोले ।

हे प्राणेश्वरी श्रीराधे ! आज आप इस एकान्त स्थल में भी मुझसे क्यों नहीं बोलती हो। मैं आपका एकान्तिक भक्त हूँ। क्या आपने आज मानिनी व्रत धारण कर लिया है ? मुझसे क्या अपराध हुआ है। हाँ हाँ मैं समझ गया। आप सर्वज्ञ हैं, जो मैं ने आज स्वप्न देखा था, उसका सब वृत्तान्त आप जानती हैं। हे प्रिये ! मैंने आपको छोड़ कर दूसरी जगह जाकर जो बहुत से विवाह किये थे उसका कारण सुनिये। जब कि वे राज कन्या विवाह के लिये इतनी आतुर हुई थीं कि उनके मनोरथ पूरण नहीं होने से वह मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगी। तब मैंने उनसे विवाह किए थे। जिससे उनके अनेक पुत्र पौत्रादि हुये। खैर अब जो कुछ हुआ सो हुआ, अब मुझ को वन में जाने की जल्दी है. हे संतोषदात्! आज सायंकाल को मैं आपको आनन्द प्रदान करूँगा ॥ ४१ । ४२ । ४३ । ४४ ॥

श्रीपरीक्षित् जी कहने लगे ।

इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण ने उन श्रीराधिका जी की प्रतिमा पर फूलों की वर्षा की, और चारों ओर देख कर आपने उस मूर्ति का चुम्बन, आलि-

तां सचुम्बनमालिङ्ग्य गोगोपैः सङ्गतोऽग्रतः॥४५

अदृष्टपूर्व्वं व्रजवेशमद्भुतं
महामनोज्ञं मुरलीरवान्वितं।
यदान्वभूत् स्नेहभरेण देवकी
तदैव वृद्धाप्यजनि स्नुतस्तनी॥४५॥

रुक्मिणीजाम्बवत्याद्याः पुराऽनुत्थेन कर्हिचित्।
महाप्रेम्णा गता मोहं धैर्य्यहान्यापतन् क्षितौ४७

वृद्धा च मत्ता सह सत्यभामया
कामस्य वेगादनुकुर्व्वती मुहुः।
आलिङ्गनंचुम्बनमप्यधाव-
द्धर्त्तुं हरिं बाहुयुगं प्रसार्य्य ॥४८॥

पुरा तदर्थानुभवादिवासौ
कथञ्चिदादित्यसुतावलम्ब्य
शमं समं प्राज्ञवरोद्धवेन
बलाद्विकृष्यावरुरोध ते द्वे ॥४९॥

गोविन्ददेवस्त्वनुचारयन् गा
गतः पुरस्तादुदधिं निरीक्ष्य।
तं मन्यमानो यमुनां प्रमोदात्
सखीन् विहाराय समाजुहाव॥५०॥

गताःकुत्रवयस्याः! रुथ श्रीदामन्! सुबलार्ज्जुन!
सर्व्वे भवन्तो धावन्तो वेगेनायान्तु हर्षतः ॥५१॥

कृष्णायां पाययित्वा गा विहराम यथासुखं।
मधुरामलशीताम्बु वाहिन्यामवगाह्य च ॥५२॥

एवमग्रेसरन् गोभिरम्बुधेर्निकटं गतः।
महाकल्लोलमालाभिः कोलाहलवतोऽच्युतः ॥५३

सर्व्वतो वीक्ष्य तत्तीरे प्रकटां स्वां महापुरीं।

ङ्गन आदि किया फिर आप आगे चल कर ग्वाल तथा गैयों से मिले ॥ ४५ ॥

श्रीदेवकी जी ने जब श्रीकृष्ण के इस अपूर्व, अद्भुत, मनोहर व्रज वेश को देखा, जोकि मुरली बजाते हुये जा रहे थे। तो वृद्धा होने से भी स्नेह से उनके स्तनों से दूध की धारा श्राव होने लगी ॥ ४६ ॥

श्रीरुक्मिणी, जामवति आदि जिनको इस प्रकार के प्रेम का पहिले कभी अनुभव नहीं हुआ था, इस महा प्रेम से धैर्य नहीं रख सकीं, और वह मूर्छित होकर भूमि परगिर पड़ीं ॥ ४७ ॥

वह वृद्धा पद्मावती श्री सत्यभामा के साथ कामातुर होकर बार बार श्रीकृष्ण को आलिङ्गन चुम्बनादि करने के लिये अपने हाथों को फैलाकर उनकी ओर भागने लगीं ॥ ४८ ॥

परन्तु बुद्धिमती श्रीकालिन्दी जी ने, जोकि पहिले इस व्रजवेश का अनुभव कर चुकी थीं बहुत कठिनता से अपने धैर्य को रोक कर श्रीउद्धव जी के साथ उन दोनों को बल पूर्वक खैंच कर आगे जाने से रोक लिया ॥ ४९ ॥

इस प्रकार गाय चराते चराते श्रीकृष्ण ने आगे समुद्र को देखा। वह उसको यमुना जान कर आनन्द से जल-विहार करने के लिये अपने सखाओं को बुलाने लगे ॥ ५० ॥

"सब ग्वाल बाल! कहाँ गये? हे श्रीदामा! हे सुबल! अर्जुन। आप सब जल्दी से भाग कर आनन्द पूर्वक यहाँ आओ" ॥ ५१ ॥

"हम सब इस यमुना में जिसका जल मधुर निर्मल तथा शीतल हैं, पहिले गौओं को पानी पिलावेंगे फिर आनन्दसे जल विहार करेंगे।"५२॥

इस प्रकार कह कर श्रीकृष्ण गौओं को साथ लेकर समुद्र के किनारे पहुँचे, जिसमें बड़ी बड़ी तरङ्गे उठ रही थीं और उनसे भारी शब्द हो रहा था। फिर वहाँ जाकर चकित होकर जबकि उन्होंने चारों तरफ़ निगाह डाली, तो क्या देखते हैं कि एक बड़ी पुरी उस समुद्रके किनारेपर बसी हुइ है। जिसको देख कर विस्मत होकर वह यह

आलक्ष्य किमिदं क्वाहं कोऽहमित्याह विस्मितः ५४
इत्येवं सचमत्कारं मुहुर्जल्पन् महार्णवं ।
पुरीञ्चालोचयन् प्रोक्तःश्रीमत्सङ्कर्षणेन सः ॥५५॥

कहने लगे "यह क्या है ? मैं कहाँ हूँ ? मैं कौन हूँ ?" इस प्रकार आश्चर्य युक्त होकर आप प्रलाप करने लगे। समुद्र तथा उस पुरी को बार-बार देखने लगे। यह देख कर श्री बलदेव जी आपसे यह कहने लगे ॥५३ ५४-५५॥

श्रीबलदेव उवाच ।

आत्मानमनुसन्धेहि वैकुण्ठेश्वर ! मत्प्रभो ! ।
अवतीर्णोऽसि भूभारहाराय ज्ञापितोऽमरैः ॥५६॥
दुष्टान् संहर तच्छिष्टान् परिपालय सम्प्रति ।
यज्ञं पैतृस्वसेयस्य धर्म्मराजस्य सन्तनु ॥५७॥
प्रतिष्ठितस्त्वयैवासौ चक्रवर्त्ती युधिष्ठिरः ।
अनुशाल्वादिदुष्टानां बिभेति वरविक्रमात् ॥५८॥
तत्तत्र गत्वा तान् हन्तुं यतस्व यदुभिः सह ।
तवैव वैरतस्ते हि तावकान् पीडयन्ति तान् ॥५६

श्री बलदेवजी कहने लगे ।

हे श्रीवैकुण्ठेश्वर ! हे मेरे प्रभो ! आप अपने आप का अनुसंधान कीजिये। देवताओं की प्रार्थना करने पर इस पृथ्वी के भार को हरने के लिये आपका अवतार हुआ है। इसलिये अब आप दुष्टों का संहार करके सज्जनों की रक्षा कीजिये। और अपनी भूआ के लड़के श्री धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ का समाधान कीजिये। आपने ही उनको चक्रवर्ती राजा बनाया था। अब वह शल्व के छोटे भाई तथा और दुष्टों के बल से डरे हुये हैं, अब आप यदुओं को साथ लेकर वहाँ जाकर उनका बध कीजिये। वह लोग आपके वैर के कारण ही आपके प्रिय युधिष्ठिर आदि को पीड़ा दे रहे हैं ॥ ५६-५७-५८-५६ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

एवं रसान्तरं नीत्वानुजं स्वस्थयितुं वचः ।
यदुक्तं बलरामेण श्रुत्वा भावान्तरं गतः ॥६०॥
जगाद भगवान् क्रुद्धो भ्रातः! शाल्वानुजादयः।
के ते वराका हन्तव्या गत्वैकेन मयाधुना ॥६१॥
भवान् प्रत्येतु सत्यं मे सप्रतिज्ञमिदं वचः ।
इत्थं प्रसङ्गसङ्गत्या मुग्धभावं जहौ प्रभुः॥६२॥

श्रीपरीक्षित जी कहने लगे ।

श्री बलदेवजी ने श्रीकृष्ण को इस भाव से दूसरे भाव में ले जा कर, स्वस्थ्य करने के लिये जो वाक्य कहे थे उनको वह सुन कर भावान्तरमें प्राप्त हो गये। वह क्रोधित होकर इस प्रकार कहने लगे, "हे भाई बलदेव ! वह नीच शाल्व के छोटे भाई क्या चीज़ हैं, उनको मैं अभी अकेला जाकर बध करता हूँ, इस बात को आप सच समझें, मैं आप से सौगन्द खा कर कहता हूँ"। इस प्रकार के प्रसङ्ग से आपका प्रेम निमग्न भाव जाता रहा, आप पहिले की तरह स्वस्थ होगये ६०-६१-६२॥

परितो मुहुरालोक्य श्रीमद्द्वारवतीश्वरं ।
श्रीयादवेन्द्रमात्मानं प्रत्यभिज्ञातवांस्तदा॥६३॥

फिर श्रीकृष्ण ने चारों ओर देखा, जिस से आपको यह अच्छी तरह से ज्ञात होगया, कि मैं द्वारकाधीश यादवेन्द्र हूँ ॥६३॥

प्रासादाभ्यन्तरे सुप्तं सस्माराथ करे स्थितां ।
वंशीं स्वस्याग्रजस्यापि बन्यवेशञ्च दृष्टवान् ॥६४

यह स्मरण किया कि मैं तो महल में सो रहा था, यहाँ कैसे आगया ? फिर आपने अपने हाथ में वंशी को देखा, अपना तथा दाऊजी का बन

पुर्य्यावहिःप्रयाणेन गोपालनमवेक्ष्य च ।
विस्मयं संशयश्चाप्तो जहास हृदि भावयन् ॥६५॥

वेश देख कर और यह समझ कर, कि मैं पुरी से बाहर आया हुआ हूँ। गौओं को चरा रहा हूँ। इससे आप विस्मय तथा संशय को प्राप्त होकर हँसने लगे ॥६४-६५॥

ततो हलधरः स्मित्वा तदीयहृदयङ्गमः ।
सर्व्वं ब्रह्मकृतं तस्याकथयत्तत् सहेतुकं ॥६६॥

तब श्री बलदेव जी आपके हृदय के भाव को जान कर मुस्कराने लगे, और उनसे सब वृत्तान्त कह सुनाया कि, यह सब ब्रह्मा जी का ही किया हुआ है ॥६६॥

ततो ह्रीण इव ज्येष्ठमुखं पश्यन् स्मितं श्रितः ।
रामेणोद्धर्त्य तत्राब्धौ स्नापितो धूलिधूसरः ॥६७

श्रीकृष्ण दाऊजी के मुख की ओर लज्जायुक्त मुस्कराते हुए देखने लगे। दाऊजी ने आपके धूलि-धूसर अंगों का मार्जन कराते हुये, समुद्र में स्नान कराया ॥६७॥

तदानीमेव सम्प्राप्तं भगवद्भावकोविदं ।
आरुह्यालक्षितस्तार्क्ष्यं निजप्रासादमागतः ॥६८॥

उस समय भगवान् के भाव को जानने वाले गरुड़जी वहाँ आकर सेवा में उपस्थित हुए। आप उस पर चढ़ कर, अलक्ष्य भाव से अपने महल में चले गये ॥६८॥

सर्व्वज्ञेनोद्धवेनाथ देवकीरुक्मिणीमुखाः ।
प्रबोध्यान्तःपुरे देव्यो भगवत्पार्श्वमापिताः॥६९॥

इसके पश्चात् सर्वज्ञ श्री उद्धव जी ने, श्री-देवकी, रुक्मिणी आदि को चेत कराकर, उन सब को महल में भगवान् के निकट पहुँचा दिया ॥६९॥

माता च देवकी पुत्रमाशीर्भिरभिनन्द्य तं ।
भोगसम्पादनायास्य कालाभिज्ञा द्रुतं गता ॥७०

तब श्रीमाता देवकी जी ने अपने पुत्र श्रीकृष्ण को आशीर्वाद आदि से मंगलाशासन किया, और वह आपके भोजन समय को जान कर, भोग सामग्रियाँ तैयार करने के लिये जल्दी से भोजन-शाला में चली गईं ॥७०॥

स्तम्भाद्यन्तरिताः सत्यो देव्योऽतिष्ठन् प्रभुप्रियाः।
सत्यभामा न तत्रागात्तां कृष्णोऽपृच्छदुद्धवं ॥७१

श्री रुक्मिणी आदि आपकी सब रानियाँ खम्भों की ओट में छिप कर खड़ी होगईं, परन्तु श्री सत्यभामा को वहाँ न देख कर श्रीकृष्ण ने, उनकी बाबत उद्धव से पूछा ॥७१॥

श्रीहरिदास उवाच ।
वृन्दावने यदा जातो विजयो रैवतार्च्चिते ।
प्रभोस्तदातनं भावमबुधभ्रामकं परं ॥७२॥

श्री उद्धवजी बोले ।

हे प्रभो! जिस समय आप उस श्रीवृन्दाबन में पधारे थे, जिसकी रैवत पर्वत भी सेवा करता है, उस समय आपका ऐसा विचित्र भाव था, जिसको भाव शून्य पुरुष नहीं समझ सकते हैं।

कमप्यालोक्य देवीभिः सह तत्रैव दूरतः ।
स्थिता निलीय दुर्बुद्धिरूचे पद्मावती खला ॥७३

आप की माता श्री देवकी जी तथा रुक्मिणी आदि महिषी गण के साथ कंस माता पद्मावती

देवक्यरे ! पुण्यहीने ! रे ! रे ! रुक्मिणि ! दुर्भगे !
सत्यभामे ! ऽवरे ! हन्त ! जाम्बवत्यादयोऽवराः ७४
पश्यतेदमितोऽर्व्वाक् स्वमभिमानं विमुञ्चत ।
आभीरीणां हि दास्याय तपस्यां कुरुतोत्तमां ॥७५

तद्दुर्व्वचो निशम्यादौ देवक्योक्तमभिज्ञया ।
समस्तजगदाधारभवदाधारभूतया ॥७६॥
आश्चर्य्यमत्र किं मूर्खे ! पूर्व्वजन्मनि यत्तपः ।
समं श्रीवसुदेवेन मयाकारि सुताय तत् ॥७७॥
अतोऽयमावयोः प्राप्तः पुत्रतां वरदेश्वरः ।
अस्मिन्नन्द-यशोदाभ्यांभक्तिः सम्प्रार्थिता विधिं ७८
तस्यैतद्भक्तवर्य्यस्य तादृशेन वरेण तौ ।
आवाभ्यामपि माहात्म्यं प्राप्तौ सपरिवारकौ॥७९

ताभ्यां स्नेहभरेणास्य पालनं तत्तदीहितं ।
अतोऽस्यैतादृशो भावस्तयोर्युक्तो हि मे प्रियः८०

अथ श्रीरुक्मिणी देवी सहर्षमिदमब्रवीत् ।
यद्वाक्य-श्रवणात् सर्व्वभक्तानां प्रेम वर्द्धते ॥८१
या भर्त्तृपुत्रादि विहाय सर्व्वं
लोकद्वयार्थाननपेक्षमाणाः ।
रासादिभिस्तादृशविभ्रमैस्त-
द्रीत्या भजंस्तत्र तमेनमार्त्ताः ॥८२
अतो हि या नौ बहुसाधनोत्तमैः
साध्यस्य चिन्त्यस्य च भावयोगतः ।

ने छिप कर वह भाव दूर से खड़े होकर देखा था। उस समय उस दुर्बुद्धि दुष्टा पद्मावती ने इस प्रकार कहा था, "अरी पुण्यहीन देवकी ! अरी दुर्भगा रुक्मिणी ! अरी हीन सत्यभामा, जाम्बवती आदि ! अहह हा ! बड़े दुःख की बात है। अब आप सब अपने २ अभिमानों को छोड़ दो, और उन अहीरियों की दासी बनने के लिये कठोर तपस्या करो ॥७२ ७३-७४-७५॥

उसके यह दुर्वाक्य सुन कर श्री देवकीजी जो अत्यन्त बुद्धिमती हैं, जिन्होंने अपनी कुख में समस्त जगत के आधार स्वरूप आपको धारण किया था, वह इस प्रकार कहने लगीं, "अरी मूर्ख पद्मावती ! इस में क्या आश्चर्य है। पहिले जन्म में श्री वसुदेवजी के सहित हमने भगवान् को पुत्र रूप से प्राप्ति के लिये जो तपस्या की थी, उसके फल स्वरूप ये सुत हमको प्राप्त हुआ है। परन्तु श्री नन्दराय तथा श्री यशोदाजी ने श्री-ब्रह्माजी से श्रीकृष्ण में भक्ति करने के लिये प्रार्थना की थी, इसलिये उस भक्त श्रेष्ठ ब्रह्माजी के वर के प्रभाव से उन दोनों की अपने परिवार सहित हम से भी अधिक महिमा है ॥७६-७७-७८-७९॥

उन दोनों ने बड़े स्नेह से इनका विविध प्रकार से लोलन पालन किया था। इसलिये श्रीकृष्ण का उनके प्रति इस प्रकार का भाव करना उचित ही है, और वह भाव मुझको भी प्रिय लगता है ॥ ८० ॥

इसके पश्चात् श्री रुक्मिणीजी आनन्द सहित इस प्रकार कहने लगीं, जिन वाक्यों के सुनने से सब भक्तों का प्रेम बढ़ता है ॥८१॥

जिन गोपियों ने अपने पति पुत्रादिकों को छोड़ कर, यह लोक तथा परलोक के सुखों को तिलाञ्जलि देकर, वृन्दावन में रास विलास में, श्रीकृष्ण की इस प्रकार प्रेमातुर होकर सेवा की है, उनकी हम कैसे बराबरी कर सकती हैं ॥८२॥

इसलिये जिस श्रीकृष्ण को हम उत्तम-उत्तम बहुत प्रकार के साधनों से प्राप्त करती हैं और

महाप्रभोः प्रेमविशेषपालिभिः
सत्साधनध्यानपदत्वमागताः॥८३॥

तास्वेतस्य हि धर्म्मकर्म्मसुतपौ-
त्रागारकृत्यादिषु
व्यग्राभ्योऽस्मदथादरैः पतितया-
सेवाकरिभ्योऽधिकः।
युक्तो भाववरो न मत्सरपदं
चोद्वाहभाग्भ्यो भवेत्
संश्लाघ्योऽथ च यत्प्रभोः प्रियजना-
धीनत्वमाहात्म्यकृत् ॥८४॥

ततोऽन्याभिश्च देवीभिरेतदेवानुमोदितं।
सात्राजिती परं मानगेहं तदसहाविशत् ॥८५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच।

श्रीमद्गोपीजन-प्राणनाथः सक्रोधमादिशत्।
सा समानीयतामत्र मूर्खराज-सुना द्रुतं ॥८६॥

श्रेष्ठा विदग्धास्वभिमानसेवा
चातुर्य्यतो नन्दयितुं प्रवृत्ता।
गोपालनारी-रतिलम्पटं तं
भर्त्तारमत्यन्तविदग्धताढ्यं ॥८७॥

दासीभ्यस्तादृशीमाज्ञां तस्याकर्ण्य विचक्षणा।
उत्थाय मार्ज्जयन्त्यङ्गं त्वरया तत्र सागता ॥८८

स्तम्भेऽन्तर्धाप्य देहं स्वं स्थिता लज्जाभयान्विता।

अनेक प्रकार से अपनी चित्त वृत्तियों को रोक कर जिसका हम ध्यान करती हैं, वही प्रभु अपने श्रेष्ठ प्रेम से उन गोपियों का ध्यान करते हैं ॥८३॥

श्रीकृष्ण का प्रेम हमारी अपेक्षा, उन श्री गोपियों में इसलिये अधिक है, क्योंकि हमको इनके साथ विवाहे जाने का बड़भाग प्राप्त हुआ है, इस से हम उनकी सेवा उनको अपना पति जान कर धर्म, कर्म, सुत, पौत्र, घर आदि कार्यों में व्यग्र होकर, गौरव बुद्धि से करती हैं, परन्तु वह गोपी इन सब बातों को छोड़ कर शुद्ध भाव से सेवा करती हैं। इसलिये हम लोगों को उनसे मत्सरता नहीं करनी चाहिये, बल्कि उस भाव की प्रशंसा करनी चाहिये। हमारे प्रभु जो अपने प्रिय जनों के आधीन हो जाते हैं. यह बात उनकी महिमा को अधिक बढ़ाने वाली है ॥८४॥

इसके पश्चात् आपकी और पटरानियों ने भी श्रीरुक्मिणी जी की बात का अनुमोदन किया, परन्तु सत्राजित पुत्री श्री सत्यभामा इसको सहन नहीं कर सकी, और वह मान गृह में चली गई ॥८५

श्रीपरीक्षितजी बोले।

उस समय श्री गोपी जन प्राणनाथ श्रीकृष्ण ने क्रोधित होकर इस प्रकार आदेश दिया "उस मूर्ख सत्राजित की कन्या सत्यभामा को जल्दी से यहाँ लाओ" ॥८६॥

चतुर शिरोमणि श्री सत्यभामा ने अपनी इस मान सेवा से अपने प्रभु श्रीकृष्ण को प्रसन्न करना चाहा था, परन्तु वह विदग्ध शेखर एक मात्र व्रज गोपियों के प्रेम के ही रसिक हैं. इसलिये वह प्रसन्न नहीं हुये ॥८७॥

बुद्धिमती श्री सत्यभामा ने जब इस प्रकार आज्ञा, दासी द्वारा सुनी, तो वह उठ कर अपने अंगों का मार्जन करके जल्दी वहाँ आकर उपस्थित हुई ॥८८॥

लज्जा और भय युक्त होकर अपनी देह को खम्भे की ओट में छिपा कर, खड़ी होगई। प्रभु

संलक्ष्य प्रभुणा प्रोक्ता संरम्भावेशतः स्फुटं ॥८९

श्रीभगवानुवाच ।

अरी! सात्राजिति ! क्षीणचित्ते! मानो यथा त्वया ।
क्रियते रुक्मिणीप्राप्तपारिजातादिहेतुकः॥९०॥
तथा व्रजजनेष्वस्मन्निर्भरप्रणयादपि ।
अवरे ! किं न जानासि मां तदिच्छानुसारिणं॥९१
कृते सर्व्वपरित्यागे तैर्भद्रं यदि मन्यते ।
शपे तेऽस्मिन् क्षणे सत्यं तथैव क्रियते मया॥९२
स्तुवता ब्रह्मणोक्तं यद्वृद्ध-वाक्यं न तन्मृषा ।
तेषां प्रत्युपकारेऽहमशक्तोऽतो महाऋणी॥९३॥
यदि च प्रीतये तेषां तत्र यामि वसामि च ।
तथापि किमपि स्वास्थ्यं भाव्यं नालोचयाम्यहं९४

मदीक्षणादेव विगाढ़भावो-
दयेन लब्धा विकला विमोहं ।
न दैहिकं किञ्चन तेन देहं
विदुर्न चात्मानमहो ! किमन्यत्॥९५॥
दृष्टेऽपि शाम्येन्मयि तन्न दुःखं
विच्छेदचिन्ताकुलितात्मनां वै ।
हर्षाय तेषां क्रियते विधिर्यो
दुःखं स सद्यो द्विगुणीकरोति॥९६॥
अदृश्यमाने च मयि प्रदीप्त-
वियोगवह्ने विकलाः कदाचित् ।
मृता इवोन्मादहताः कदाचि-
द्विचित्रभावं मधुरं भजन्ते ॥९७॥

ने जब उनको देखा तो वह क्रोधित होकर स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहने लगे ॥८९॥

श्रीभगवान् बोले ।

अरी सत्राजित की बेटी सत्यभामा ! तुम छोटे चित्त वाली हो ! जिस प्रकार रुक्मिणी को पारिजात आदि देने से तुमने मान किया था, उसी प्रकार मेरा व्रज नागरियों में जो चरम सीमा का प्रेम है, उसको देख कर भी तुम मान करने लग गई। अरी बुद्धिहीने ! क्या तुम यह नहीं जानती हो, मैं जो कुछ करता हूँ गोपियों की इच्छा अनुसार ही करता हूँ। मैं तुम्हारी सौगंध खाकर कहता हूँ, कि वह व्रज गोपिका तुम सब को छोड़ कर वहाँ चलना ही अच्छा समझे, तो मैं इसी क्षण उनके कहने के अनुसार करने को तैयार हूँ। श्री ब्रह्माजी ने स्तुति करते समय जो कहा था, उस बृद्ध के वह वाक्य झूठे नहीं हो सकते हैं। मैं उनके उपकार के बदले में प्रतिउपकार करने में असमर्थ हूँ। इसलिये मैं उनका भारी ऋणी हूँ। मैं यह देखता हूँ कि यदि उन की प्रीति के लिये वहाँ जाकर रहूँ, तो भी वह प्रसन्न नहीं होंगीं ॥९०-९१-९२-९३-९४॥

क्योंकि मुझको देखते ही उनका निगूढ़ प्रेम उमड़ आएगा और वह विकल होकर मूर्छित हो जायेंगीं। उनको अपने देह तथा देह सम्बन्धी अन्य पदार्थों का ही क्या, बल्कि उनको अपनी आत्माओं का भी ज्ञान नहीं रहेगा। मुझको देख कर भी वह शान्त नहीं होंगीं बल्कि मेरी भावी विच्छेद की चिन्ता से दुखी होकर और अधिक व्याकुल हो जायेंगीं। मैं जो काम उनके आनन्द के लिये करता हूँ, उसका फल यह होगा, कि उससे उनका दुख दुगुना हो जायगा। जब कभी मुझको नहीं देखती हैं, तो वह विच्छेद रूपी अग्नि से विकल होकर मृतक की तरह हो जाती हैं। कभी २ वह मेरे समान वरण वाले अन्धकार पुञ्ज आदि को देखती हैं, तो वह मेरा स्वरूप जान कर उससे चुम्बन आलिङ्गन आदि करने लगती

तमिस्रपुञ्जादि यदेव किञ्चि-
न्मदीयवर्णोपममीक्ष्यते तैः ।
सचुम्बनं तत् परिरभ्यते म-
द्धिया परं तत् क्व नु वर्णनीयं ॥६८॥
अतएव मया स्वस्य स्थितिमप्यस्थितेः समां ।
दृष्ट्वा नागम्यते तत्र शृण्वर्थं युष्मदुद्वहे ॥६६॥
तासामभावे पूर्व्वं मे वसतो मथुरापुरे ।
विवाहकरणे काचिदिच्छाप्यासीन्न मानिनि! १००
मदनाप्त्या तु रुक्मिण्या वाञ्छन्त्याः प्राणमोचनं
श्रुत्वास्या विप्रवदनादार्त्तिविज्ञप्तिपत्रिकां ॥१०१
महादुष्टनृपश्रेणिदर्पं संहरता मया ।
पाणिगृहीतः संग्रामे हत्वा राज्ञां प्रपश्यतां॥१०२
अस्याः सन्दर्शनात्तासामाधिक्येन स्मृतेर्भवात् ।
महाशोकार्त्तिजनकात् परमाकुलतामगां ॥१०३
षोडशानां सहस्राणां सशतानां मदाप्तये ।
कृतकात्यायनीपूजाव्रतानां गोपयोषितां ॥१०४॥
निदर्शनादिव स्वीयं किञ्चित् स्वस्थयितुं मनः।
तावत्य एव यूयं वै मयात्रैता विवाहिताः॥१०५
अहो!भामिनि!जानीहि तत्तन्मम महासुखं ।
महिमापि स मां हित्वा तस्थौ तत्रोचितास्पदे१०६
चित्रातिचित्रैरुचिरैर्विहारै-
रानन्दपाथोधितरङ्गमग्नः ।
नाज्ञासिषं रात्रिदिनानि तानि
तत्तन्महामोहनलोकसङ्गात् ॥१०७॥
बाल्यक्रीडाकौतुकेनैव ते ते
दैत्यश्रेष्ठा मारिताः कालियोऽपि ।

हैं। उनके प्रेम को वर्णन करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। इसलिये मैं यह समझ कर कि मेरा वहां रहना, नहीं रहना बराबर है, मैं वहाँ नहीं जाता हूँ। अब तुम्हारे विवाहों के प्रयोजनों को कहता हूँ, सुनिये। मैं उन व्रजवासियों को छोड़ कर जब मथुरा रहने लगा, तो हे माननी सत्यभामा! मेरे विवाह करने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी। परन्तु जब श्री रुक्मिणी ने ब्राह्मण के हाथ विनय पत्रिका भेजी थी, जिसमें उन्होंने यह लिखा था, यदि आप मुझको स्वीकार नहीं करेंगे, तो मैं अपने प्राण नहीं रक्खूंगी। यह सुन कर मैंने उन दुष्ट राजाओं के अभिमान को चूर्ण कर के सब राजाओं के देखते-देखते श्रीरुक्मिणीजी को हरण करके, उनसे पाणिग्रहण किया था ॥६५॥ ॥ ६६-६७-६८-६६-१००-१०१-१०२ ॥

जब मुझको श्री रुक्मिणी जी के दर्शन से उन व्रज नागरियों की अधिक स्मृति आने लगी, जिससे मैं शोकातुर होकर परम व्याकुल होगया। मेरी प्राप्ति के लिये जो सोलह हजार एक सौ गोपियों ने कात्यायनी देवी की पूजा की थी, इस लिये मैंने यह समझ कर कि उनकी प्रतिनिधी स्वरूप प्राप्त होने से, उनके दर्शनों से मेरा मन कुछ स्वस्थ होजायगा, इसी कारण मैंने उतनी ही संख्या में आप सबके साथ विवाह किये। हे भामिनी! आप भली प्रकार समझो कि मेरा वह महा सुख, तथा मेरी वह महिमा यहाँ नहीं आई बल्कि मुझ को परित्याग करके वह दोनों वहाँ ही रहीं और वास्तव में वही स्थान उनके रहने योग्य है ॥१०३-१०४-१०५-१०६॥

मैं वहाँ के मोहन करने वाले लोगों के सहवास से महामुग्ध होकर चित्र-विचित्र विहार के आनन्द रूपी समुद्र में निमग्न हो, यह नहीं जानता था कि कब रात्री होगी और कब दिन निकलेगा ॥ १०७ ॥

मैंने बाल क्रीड़ा में खेलते-खेलते बड़े-बड़े दुष्ट दैत्यों का बध किया था। उस दुष्ट कालीय सर्प

दुष्टो निर्दम्याशु निःसारितोऽसौ
पाणौ सव्ये ऽधारि गोवर्द्धनः सः १०८
तादृक्सन्तोषार्णवेऽहं निमग्नो
येन स्तोत्रं कुर्व्वतां वन्दनश्च ।
ब्रह्मादीनां भाषणे दर्शने च
मन्वानोऽघं व्यस्मरं देवकृत्यं ॥१०६॥

को भी दमन करके वहाँ से बाहर निकाल दिया था। मैंने बाएँ हाथ से गोवर्धन पर्वत धारण कर लिया था। मैं वहाँ ऐसे आनन्द समुद्र में निमग्न था, जिससे स्तुति तथा बन्दना करने वाले ब्रह्मा आदि देवताओं के दर्शन तथा उनसे संभाषण करना भी पाप समझता था। अधिक क्या कहूँ, मैं उस समय देव कार्य को भी भूल गया था। ॥ १०८-१०६ ॥

रूपेण वेषेण रवामृतेन
वंश्याश्च पूर्व्वानुदितेन विश्वं।
सम्मोहितं प्रेमभरेण कृत्स्नं
तिष्ठन्तु दूरे व्रजवासिनस्ते॥११०॥

व्रजवासियों की बात तो दूर रही, उस समय मेरे उस रूप, वेश, अपूर्व अमृत सदृश वंशी के नाद तथा मेरी प्रेम माधुरी ने समस्त विश्व को मोहित कर लिया था ॥१०॥

आकाशयाना विधि-रुद्र शक्राः
सिद्धाः शशीदेवगणास्तथान्ये ।
गावो वृषा वत्सगणा मृगाश्च
वृक्षा खगा गुल्मलतास्तृणानि॥१११
नद्योऽथ मेघाः सचराः स्थिराश्च
सचेतनाचेतनकाः प्रपञ्चाः ।
प्रेमप्रवाहोत्थविकाररुद्धाः
स्वस्वस्वभावात् परिवृत्तिमापुः॥११२

जिसका परिणाम यह हुआ कि विमान में स्थित श्री ब्रह्माजी, महादेवजी, इन्द्रादि देववर्ग, सिद्ध, चन्द्रमा, गैयां, बिजार, बछड़े, मृग, पक्षी, वृक्ष, गुल्मलता, तृण, नदियां, मेघ, स्थावर, जङ्गम, चेतन, अचेतन समस्त प्रपञ्च में, मेरे प्रेम प्रभाव ने सात्विक विकार प्रगट किये थे। उन विकारों से, उन सबके अपने-अपने स्वाभाविक धर्म छूट गये थे, और वह सब विपरीत धर्मों का आचरण करने लगे ॥१११-११२॥

एतत् सत्यमसत्यं वा कालिन्दी पृच्छ्यतामियं !
या तु व्रजजनस्वैरविहारानन्दसाक्षिणी ॥११३॥

मैं जो कुछ कह रहा हूँ, यह सत्य है, या असत्य है, इसे कालिन्दी जी से पूछ लें. क्योंकि मैंने उन व्रजवासियों के साथ स्वतन्त्र बिहार करके. जो आनन्द अनुभव किया है. उनकी यह साक्षी हैं ॥ ११३ ॥

अधुना तु स एवाहं स्वज्ञातीन् यादवानपि ।
नेतुं नार्हामि तं भावं नर्म्मक्रीडाकुतूहलैः ॥११४

वही मैं हूँ, परन्तु अब मैं अपनी जाति वाले यादवों को, हास परिहास से भी. उन व्रजवासियों के भाव को, ग्रहण कराने में असमर्थ हूँ ॥ ११४ ॥

दुष्करं मे बभूवात्र त्वादृशां मानभञ्जनं ।

हे सत्यभामा! मुझको अब तुम जैसों का मान भंग करना यहाँ दुष्कर हो रहा है, क्योंकि वहाँ तो मैं यह काम मुरली से लेता था,

अतोऽत्र मुरली त्यक्ता लज्जयेव मया प्रिया ११५

अब मैंने उस प्यारी मुरली का लज्जा से परित्याग कर दिया है ॥११५॥

अहो! वत! मया तत्र कृतं यादृक् स्थितं यथा।

तदस्तु किल दूरेऽत्र निर्वक्तुश्च न शक्यते ॥११६

अहो बड़े खेद की बात है! जिस प्रकार की लीलाएँ वहाँ करके, मैं जिस प्रकार के आनन्द से रहता था, उस प्रकार की यहाँ करने की बात तो दूर रही, मैं उनका वर्णन भी नहीं कर सकता हूँ ॥११६॥

एकः स मे तद्व्रजलोकवत् प्रिय-
स्तादृग्महाप्रेमभरप्रभावतः।
वक्ष्यत्यदः किञ्चन बादरायणि-
र्मज्जीविते शिष्यवरे स्वसन्निभे॥११७

मुझको एक शुकदेव जी ही व्रजवासियों के सदृश प्रिय हैं। उनके हृदय में, जो महा प्रेम भरा हुआ है, उसके प्रभाव से, वह उन व्रज लीलाओं में से कुछ, अपने समान श्रेष्ठ शिष्य उन श्री परीक्षितजी से कहेंगे, जिनकी मैंने गर्भ में रक्षा की थी ॥ ११७ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच।

श्रीपरीक्षित् जी कहने लगे।

एतादृशं तद्व्रजभाग्य-वैभवं
संरम्भतः कीर्त्तयतो महाप्रभोः।
पुनस्तथाभावनिवेशशङ्कया
ताः प्रेरिता मन्त्रिवरेण संज्ञया॥११८

इस प्रकार जब श्रीकृष्ण ने क्रोधित होकर, व्रज के सौभाग्य वैभव को वर्णन किया तब मन्त्रि-वर श्री उद्धव जी ने, इस डर से कि कभी फिर पहिले की तरह आप भावविष्ट नहीं हो जायें। आपकी शान्ति के लिये इङ्गित से महिषी गण को आपके निकट आने के लिये प्रेरित किया ॥११८॥

सर्व्वा महिष्यः सह सत्यभामया
भैष्मादयो द्रागभिसृत्य मूर्द्धभिः।
पादौ गृहीत्वा रुदितार्द्रकाकुभिः
संस्तुत्य भर्त्तारमशीशमञ्छनैः ॥११६

तब श्री सत्यभामा को साथ लेकर रुक्मिणी आदि सब महिषी गण जल्दी से उनके निकट आईं और अपने मस्तकों को उनके चरणारविन्दों में रख कर, विनय पूर्वक गद्-गद् होकर अपने पति को शान्त करने के लिये शनैः शनैः स्तुति करने लगीं ॥११६॥

भोजनार्थश्च तेनैश्च देवकी रोहिणी तथा।
अन्नपानादिसहिते तत्र शीघ्रं प्रवेशिते ॥१२०॥

श्री उद्धव जी ने, श्री देवकी तथा रोहिणीजी से श्रीकृष्ण के लिये भोजन लाने के लिये कहा। वह दोनों जल्दी ही सब सामग्रियों सहित वहां आकर उपस्थित हुईं ॥१२०॥

बलदेवं कृतस्नानं प्रवेश्य कृतिना तदा।
द्वारान्ते नारदस्तिष्ठेति विज्ञापितो विभुः॥१२१
सर्व्वान्तरात्मदृक् प्राह सस्मितं नन्दनन्दनः।

तब चतुर शिरोमणि उद्धवजी ने दाऊजी को जो स्नान कर चुके थे, वहां लाकर उपस्थित किया, और श्रीकृष्ण से यह निवेदन किया, कि द्वार पर श्री नारदजी आये हुये हैं। श्रीकृष्ण सबके अन्त-र्यामी हैं, इसलिये मुस्कराते हुए यह कहने लगे,

अद्य केन निरुद्धोऽसो यन्नायात्यत्र पूर्व्ववत् १२२

प्रत्युवाचोद्धवःस्मित्वा प्रभो! भीत्यापि लज्जया ।

ततो ब्रह्मण्यदेवेन स्वयमुक्तः प्रवेश्य सः ॥१२३॥

"आज उन नारदजी को किसने रोक दिया जिस से कि वह पहिले की तरह यहां नहीं आते हैं।" फिर उद्धवजी मुस्कराते हुए कहने लगे "हे प्रभो! वह अपने अपराध के डर से तथा लज्जा से नहीं आते हैं" तब ब्रह्मण्य देव श्रीकृष्ण स्वयं नारदजी के निकट गये, और उनको अपने साथ वहां प्रवेश कराया, फिर आप उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥१२१-१२२-१२३॥

श्रीभगवानुवाच ।

मत्प्रीत्युत्पादनव्यग्र! श्रीनारद! सुहृत्तम! ।

हितमेवाकृतात्यन्तं भवान्मे रसिकोत्तम! ॥१२४

श्रीभगवान् बोले।

हे सुहृद नारद जी! आप रसिकोत्तम हो! आपने मेरा अत्यन्त ही हित किया है, जो कि आप मेरी प्रीति को उत्पादन कराने में लगे हुए हो ॥ १२४ ॥

प्राग्यद्यपि प्रेमकृतात् प्रियाणां
विच्छेददावानलवेगतोऽन्तः ।
सन्तापजातेन दुरन्तशोका-
वेशेन गाढं भवतीव दुःखं ॥१२५
तथापि सम्भोगसुखादपि स्तुतः
स कोऽप्यनिर्व्वाच्यतमो मनोरमः ।
प्रमोदराशिः परिणामतो ध्रुवं
तत्र स्फुरेत्तद्रसिकैकवेद्यः ॥१२६॥
तच्छोकदुःखोपरमस्य पश्चा-
च्चित्तं यतः पूर्णतया प्रसन्नं ।
सम्प्राप्तसम्भोगमहासुखेन
सम्पन्नवत्तिष्ठति सर्व्वदैव ॥१२७॥
इच्छेत् पुनस्तादृशमेव भावं
क्लिष्टं कथञ्चित्तदभावतः स्यात् ।
येषां न भातीति मतेऽपि तेषां
गाढोपकारी स्मृतिदः प्रियाणां॥१२८॥
कथञ्चन स्मारणमेव तेषा-
मवेहि तज्जीवनदानमेव ।

अपने प्यारों के प्रेम के कारण, विरह रूपी दावानल के वेग से जो अंतःकरण में तीव्र संताप होता है, और उससे जो असीम शोक प्रगट होता है, यद्यपि उस शोक आवेश से पहिले-पहले जो अत्यन्त दुख सा प्रतीत होता है, वास्तव में वह दुख, दुख नहीं है, बल्कि सम्भोग सुख से भी प्रशंसनीय है। परिणाम में वह आनन्द अनिर्वचनीय, तथा मनोरम है। उस समय जो सुख प्रतीत होता है, उसको रसिक जन ही जानते हैं, क्योंकि जैसे सम्भोग प्राप्त होने से चित्त अत्यन्त सुखी होता है, उसी प्रकार शोक और दुख के पश्चात्, अभिष्ट वस्तु की निरन्तर स्फूर्ति से अन्तःकरण पूर्ण प्रसन्न होजाताहै॥१२५-१२६-१२७

विरह के पश्चात् जो अन्तःकरण, आनन्द समुद्र में निमग्न होता है, उस आनन्द को यदि अन्तःकरण बलात्कार से हटा कर, विरह जन्य शोकादि भाव लाने की चेष्टा करे, तो भी वह आनन्द नहीं हट सकता है। यदि किसी के मत में ऐसा नहीं है, तो इतना अवश्य ही है, कि विरह में उनको अपने प्यारों की याद से अवश्य ही सुख होता है ॥१२८॥

अपने प्राण प्यारों का किसी प्रकार से भी स्मरण होना, उनके प्रेमियों के लिये जीवन दान

तेषां यतो विस्मरणं कदाचित्
प्राणाधिकानां मरणाच्च निन्द्यं ॥१२९

न सम्भवेद्स्मरणं कदापि
स्वजीवनानां यदपि प्रियाणां।
तथापि केनापि विशेषणेन
स्मृतिः प्रहर्षाय यथा सुजीवितं॥१३०॥

इत्येवमुपकारोऽद्य भवताकारि मे महान् ।
तत्तेऽस्मि परमप्रीतो निजाभीष्टान् वरान् वृणु१३१

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

मुनिर्जय जयोद्घोषैः सवीणागीतमंडत ।
व्रजक्रीडोत्थनामाढयैः कीर्त्तनैश्च वरप्रदं ॥१३२॥

स्वयं प्रयागस्य दशाश्वमेध-
तीर्थादिके द्वारवतीपरान्ते ।
सम्भाषितानां विषये भ्रमित्वा
पूर्णार्थितां श्रीमदनुग्रहेण ॥१३३॥

विप्रादीनां श्रोतुकामो मुनीन्द्रो
हर्षात् कृष्णस्याननादेव साक्षात् ।
एवं मातः! प्रार्थयामास हृद्यं
तस्मिन् रम्योदारसिंहे वरं प्राक्॥१३४॥

श्रीकृष्णचन्द्र ! कस्यापि तृप्तिरस्तु कदापि न ।
भवतोऽनुग्रहे भक्तौ प्रेम्णि चानन्दभाजने ॥१३५

श्रीभगवानुवाच ।

विदग्धनिकराचार्य्य ! को नामायं वरो मतः ।
स्वभावो मत्कृपाभक्तिप्रेम्णां व्यक्तोऽयमेवयत्१३६

प्रयागतीर्थमारभ्य ग्रामं ग्राममितस्ततः ।
अत्रागत्य च ये दृष्टाः श्रुताश्च भवता मुने!॥१३७

के बराबर है, और उनका भूल जाना मृत्यु से भी निन्दनीय हैं ॥१२९॥

यद्यपि अपने प्राणों के बराबर प्यारों की, याद कभी भी विस्मरण नहीं होती है, तो भी किसी विशेष स्मृति से अतिशय आनन्द होता है। जैसे प्राण धारियों को अपने प्राण रखते हुये भी उत्सव आदि में अधिक सुख प्राप्त होता है ॥१३०॥

हे नारदजी ! आपके कारण से आज मेरा बड़ा उपकार हुआ है। इसलिये मैं आप पर बड़ा प्रसन्न हूँ, आप को जो अभीष्ट हो सो वर माँगलें ॥१३१॥

श्रीपरीक्षितजी बोले।

यह सुन कर श्री नारदजी जय जय ध्वनि करने करने लगे, और अपने वीणा से वर प्रद श्रीकृष्ण की व्रज क्रीडा सम्बन्धी नामों का कीर्तन करते हुये स्तुति करने लगे ॥१३२॥

हे माता ! प्रयाग दशाश्वमेध घाट से लेकर, श्री द्वारकापुरी पर्यन्त देश विदेशों में भ्रमण करते हुये, श्री नारदजी ने प्रथम ब्राह्मण से लेकर, द्वारिका वासियों पर्यन्त, जिन-जिन भक्तों से सम्भाषण किया है वास्तव में यह सब श्रीकृष्ण के पूर्ण कृपा पात्र हैं। तो भी यही बात साक्षात् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से सुनने के लिये उन मुनीन्द्र ने हर्ष पूर्वक उन उदार श्रेष्ठ से प्रथम मनोहर वर मांगा ॥१३३-१३४॥

"हे कृष्णचन्द्र ! मैं यह वर मांगता हूँ, कि आपके आनन्द स्वरूप अनुग्रह भक्ति, तथा प्रेम में किसी को कभी भी तृप्ति न हो"॥१३५॥

श्रीभगवान् बोले।

हे चतुर शिरोमणि नारद ! आपने यह वर क्या मांगा ? क्योंकि मेरी भक्ति, प्रेम, तथा अनुग्रह का यह स्वभाव ही है जो कि सबको विदित है ॥१३६॥

हे मुनि श्री नारदजी ! प्रयाग तीर्थ से लेकर यहाँ तक आपने इधर उधर घूम कर जिन जिन मेरे भक्तों को देखा है, तथा जिन जिन का आपने

सर्व्वे समस्तसर्व्वार्था जगन्निस्तारकाश्च ते ।
मत्कृपा विषयाः किञ्चित्तारतम्यं श्रिताः परं १३८

तथापि तेषामेकोऽपि न तृप्यति कथञ्चन ।
तद्गृहाण वरानन्यान्मत्तोऽभीष्टतरान्वरान् १३९

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

नर्त्तित्वा नारदो हर्षाद्भैक्ष्यवत् सद्वरद्वयं ।
याचमानो जगादेदं तं वदान्यशिरोमणिं॥१४०॥

श्रीनारदउवाच ।

स्वदानातृप्त!वृत्तोऽहमिदानीं सफलश्रमः ।
त्वन्महाकरुणापात्रजनविज्ञानमाप्तवान् ॥१४१॥

अयमेव वरः प्राप्तो ऽनुग्रहश्चोत्तमो मतः ।
याचे तथाप्युदारेन्द्र ! हार्दं किञ्चिच्चिरन्तनं १४२

पायं पायं व्रजजनगणप्रेमवापीमराल !
श्रीमन्नामामृतमविरतं गोकुलाब्ध्युत्थितं ते ।
तत्तद्वेशाचरितनिकरोज्जृम्भितं मिष्टमिष्टं
सर्व्वाल्लोकान् जगति रमयन्मत्तचेष्टो भ्रमाणि १४३

त्वदीयास्ताः क्रीडाः सकृदपि भुवो वापि वचसा
हृदा श्रुत्याङ्गैर्व्वा स्पृशति कृतधीः कश्चिदपि यः।

नाम सुना है, वह सब कृत कृत्य हैं। वह सब इस जगत् का निस्तार कर सकते हैं,और सब मेरी कृपा के भाजन हैं। परन्तु किसी-किसी अंश में उनमें कुछ कुछ तारतम्य(न्यूनाधिक) है। तो भी उन सब में किसी प्रकार से कोई भी तृप्त नहीं है, इसलिये हे नारदजी! जो और कोई आपको अभीष्ट वर हो वह मुझ से माँगलें ॥१३७-१३८-१३९॥

श्रीपरीक्षितजी बोले ।

तब श्री नारदजी आनन्द से नाचने लगे, और उन्होंने श्रीकृष्ण से, जो कि सब दानियों के मुकुट मणि हैं, भिक्षा की तरह झोली पसार कर यह श्रेष्ठ दो वर मांगते हुए इस प्रकार कहने लगे॥१४०॥

श्रीनारदजी बोले ।

हे श्रीकृष्ण! आप अपने श्री दिव्य मङ्गल विग्रह को भी दान देकर तृप्त नहीं होते हैं। अब मेरा तो सब परिश्रम सफल हुआ, क्योंकि मैंने आपके श्रेष्ठ कृपा पात्रों को, अच्छी तरह से जान लिया है ॥१४१॥

यही वर मुझको प्राप्त हो गया है, और यही मैं आपका उत्तम अनुग्रह समझता हूँ। तो भी हे उदारेन्द्र! मैं अपने हृदय के चिरकाल से चिन्तित वरों को मांगता हूँ ॥१४२॥

हे श्रीकृष्ण! आप व्रज जन प्रेम रूपी सरोवर के हँस हो! प्रथम यह वर मांगता हूँ, कि आपके अमृत सरीखे उन नामों को, जो कि गोकुल रूपी समुद्र से प्रगट हुये हैं, और जो आपके गोप वेश तथा लीलाओं को उद्दीपन कराने वाले हैं, और जो मधुर से भी मधुर हैं, मैं उन्मत्त होकर निरन्तर पान करता हुआ, समस्त लोकों को उनमें रमण कराता हुआ, इस जगत में भ्रमण करता रहूँ ॥१४३॥

दूसरा वर मैं यह माँगता हूँ, कि जो कोई भी हो, जिसने विश्वास सहित आपकी लीला अथवा बिहार भूमि को एक बार भी अपने मुख से उच्चारण कर लिया, अथवा कानों से सुन लिया, अथवा

स नित्यं श्रीगोपीकुचकलसकाश्मीरविलस-

त्वदीयाङ्घ्रिद्वन्द्वे कलयतुतरां प्रेमभजनं ॥१४४॥

हृदयमें धारण कर लिया, अथवा अपने और किसी अंग को उनमें लगा दिया, वह आपके उन श्री-युगल चरणारविन्दों की, जोकि श्री व्रजनागरियों के कुचों के केशर से रञ्जित हैं, प्रेम भक्ति को पूर्ण रूप से निरन्तर वह मनुष्य लाभ किया करें ॥१४४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ततः श्रीहस्तकमलं प्रसार्य्य परमादरात् ।

एवमस्त्विवति सानन्दं गोपीनाथेन भाषित्तं॥१४५

श्रीपरीक्षित जी बोले।

इसके पश्चात् गोपीनाथ श्रीकृष्ण ने बहुत आदर पूर्वक अपने हस्त कमल को ऊँचा उठाकर आनन्द सहित यह कहा कि "ऐसा ही होगा"॥१४५

ततो महापरानन्दार्णवे मग्नो मुनिर्भृशं ।

गायन्नृत्यन् वहुविधं कृष्णं चक्रे सुनिर्वृतं॥१४६

यह सुन कर श्री नारद मुनि महा परमानन्द समुद्र में निमग्न हो गये, और बार बार गाते हुये तथा बहुत प्रकार से नृत्य करते हुये उन्होंने श्री-कृष्ण को बड़ा आनन्दित किया ॥१४६॥

वुभुजे भगवद्भ्यां स परमान्नं सपानकं ।

देवकी-रोहिणीदृष्टं रुक्मिणया परिवेषितं॥१४७॥

उद्धवेन स्मार्य्यमाणं वीजितं सत्यभामया ।

अन्याभिर्महिषीभिश्च रञ्जितं तत्तदीहया ॥१४८॥

आचान्तो लेपितो गन्धैर्मालाभिर्मण्डितो मुनिः।

अलङ्कारैर्वहुविधैरर्चितश्च मुरारिणा ॥१४९॥

फिर वह श्रीनारद मुनि श्रीरामकृष्ण के साथ अनेक प्रकार के मिष्ट अन्न पानादि भोजन करने के लिये बैठे, जिनको श्री देवकी रोहिणी जी दृष्टि से जांच कर रही थी। श्रीरुक्मिणी जी प्रवेशन कर रही थीं। श्री सत्यभामा जी पंखा से ठण्डा कर रही थी। अन्यान्य पटरानियां जिनको अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित कर रही थी, उस समय श्री उद्धवजी स्वाद स्मरण कराते जाते थे। इस प्रकार भोजन करने के पश्चात् उन सबने आचमन किया, फिर श्रीकृष्ण ने श्रीनारद जी को चन्दनादि से लेपन किया, और उनको सुगन्धित पुष्पों की मालाओं से अलंकृत करके पूजन किया ॥१४७-१४८-१४९॥

अथ प्रयागे गत्वा तान् मदपेक्षाविलम्बितान् ।

मुनीन् कृतार्थयानीति समनुज्ञाप्य माधवं ॥१५०

स्वयं यद्भक्तिमाहात्म्यमनुभूतमितस्ततः ।

सानन्दं वीणया गायन् स ययौ भक्तिलम्पटः१५१

फिर भक्ति रसिक नारद जी ने, श्रीकृष्ण से यह कहा। "मुझे प्रयाग में जाकर उन मुनियों को कृतार्थ करना है, जो कि मेरी बाट निहार रहे हैं" "फिर उनसे आज्ञा लेकर श्री नारदजी उस भक्ति की महिमा को, जो कि आपने इधर उधर घूम कर अनुभव की थी, आनन्द सहित अपनी वीणा में गाते हुए वहाँ पहुँचे ॥१५०-१५१॥

तेऽपि तन्मुखतः सर्व्वं श्रुत्वा तत्तन्महाद्भुतं ।
सारसंग्राहिणोऽशेषमन्यत् सर्व्वं जहुर्द्दढं ॥१५२॥

उन सार ग्रहण करने वाले मुनियों ने, जब श्री नारदजी के मुख से अद्भुत भक्ति की महिमा सुनी, तो उन्होंने अपने अपने साधनों को सम्यक् रूप से परित्याग कर दिया ॥१५२॥

केवलं परमं दैन्यमवलम्ब्यास्य शिक्षया ।
श्रीमन्मदनगोपाल-चरणाब्जमुपासत ॥१५३॥

और वह सब उनके उपदेश से, केवल एक परम दैन्य का अवलम्बन करके, श्रीमन्मदन गोपाल के चरणारविन्दों की उपासना करने लगे ॥ १५३ ॥

मातर्गोपकिशोरं तं त्वञ्च रासरसाम्बुधिं ।
तत्प्रेममोहिताभिः श्रीगोपीभिरभितो वृतं॥१५४॥
अमूषां दास्यमिच्छन्ती तादृशप्रेमभङ्गिभिः ।
नित्यं भजस्व तन्नाम-संकीर्त्तनपरायणा ॥१५५॥

हे माता ! आप भी उन गोप किशोर श्रीकृष्ण को, जोकि रास रस के समुद्र हैं, और जो उनके प्रेम से मोहित हुई ब्रज नागरियों से आवृत हैं। श्री गोपियों के चरणारविन्दों की दासी भाव की इच्छा करती हुई, उन्हीं सरीखी प्रेम माधुरी से नाम संकीर्तन परायण होकर भजें ॥१५४-१५५॥

गोपीनां महिमा कश्चित्तासामेकोऽपि शक्यते ।
न मया स्वमुखे कर्त्तुं मेरुर्मक्षिकया यथा ॥१५६॥

जैसे मक्खी सुमेरु पर्वत को मुख में नहीं रख सकती है, ऐसे ही उन गोपियों की महिमा के एक कण को भी मैं वर्णन नहीं कर सकता हूँ ॥१५६॥

अहो! कृष्णरसाविष्टः सदा नामानि कीर्त्तयेत् ।
कृष्णस्य तत्प्रियाणाञ्चभैष्म्यादीनां गुरुर्म्मम१५७

अहो ! मेरे गुरु श्री शुकदेवजी, श्रीकृष्ण रस से आविष्ट होकर, सदा श्रीकृष्ण तथा उनकी प्रिया श्री रुक्मिणी आदि के नामों का ही कीर्तन करते रहते हैं ॥१५७॥

गोपीनां विततात्भुतस्फुटतर-
प्रेमानलार्च्चिश्छटा-
दग्धानां किल नामकीर्त्तनकृता-
त्तासां विशेषात् स्मृतेः ।
तत्तीक्ष्णज्वलनोच्छिखाग्रकणिका-
स्पर्शेन सद्यो महा-
वैकल्यं स भजन् कदापि न मुखे
नामानि कर्त्तुं प्रभुः ॥१५८॥

परन्तु वह श्रीशुकदेव जी, उन ब्रज नागरियों के, जो कि पराकाष्ठा की प्रेम रूपा अग्नि के उत्ताप से निरन्तर दग्ध ही हो रही हैं, नामों को अपनी जिह्वा से उच्चारण करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि ज्यों ही वह उनके नामों का कीर्तन करना प्रारम्भ करते हैं, त्यों ही श्री शुकदेवजी को उन गोपियों की विशेष स्मृति हो जाती है, जिससे वह उन ब्रज नागरियों के हृदय स्थित प्रेमानल के कठोर ताप की कणिका को छूते ही व्याकुल हो कर अधीर हो जाते हैं ॥१५८॥

तासा नाथं वल्लवीनां समेतं
ताभिः प्रेम्णा संश्रयन्ती यथोक्तं ।
मातः ! सत्यं तत्प्रसादान्महत्त्वं
तासां ज्ञातुं शक्ष्यसि त्वञ्च किञ्चित् १५९

हे माता ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, कि मेरे कहने के अनुसार उन गोपियों सहित श्रीगोपीनाथ की, प्रेम पूर्वक शरण लेने से, उनकी कृपा से आप भी, श्री ब्रज नागरियों की कुछ महिमा को जान सकोगी ॥१५९॥

एतन्महाख्यानवरं महाहरेः
कारुण्यसारालयनिश्चयार्थकं ।
यः श्रद्धया संश्रयते कथञ्चन
प्राप्नोति तत्प्रेम तथैव सोऽप्यरं ॥१६०॥

इस श्रेष्ठ महा आख्यान को, जिसमें श्रीकृष्ण के कृपा पात्रों का निर्धारण किया गया है, जो कोई श्रद्धा से सुनेंगे अथवा सुनावेंगे वह उनके श्रेष्ठ प्रेम को जल्दी ही लाभ कर सकेंगे ॥१६०॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृतेभगवत्कृपाभर-
निर्द्धारखण्डे पूर्णो नाम
सप्तमोऽध्यायः ।
समाप्तञ्चेदं प्रथमखण्डम् ।

इस श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के
श्रीभगवान् के श्रेष्ठ कृपापात्रों के विवेचन
नामक खण्ड में " पूर्ण " नाम
सातवाँ अध्यायः
समाप्त हुआ ॥
यह प्रथम खण्ड समाप्त हुआ ।

✻ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रायनमः ✻

श्रीश्रीवृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय—खण्डम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

श्रीजनमेजय उवाच ।

सत्यं सच्छास्त्रवगर्थिसारः संगृह्य दुर्ल्लभः ।
गूढ़ः स्वमात्रे पित्रा मे कृष्णप्रेम्णा प्रकाशितः १

श्रीमद्भागवताम्भोधिपीयूषमिदमापिवन् ।
न तृप्यामि मुनिश्रेष्ठ ! त्वन्मुखाम्भोजवासितं ॥२

तन्मातापुत्रयोर्विद्वन् ! सम्वादः कथ्यतां तयोः ।
सुधासारमयोऽन्योऽपि कृष्णपादाब्जलुब्धयोः ॥३

श्रीजनमेजय कहने लगे ।

यह बात ठीक है, कि मेरे पिता श्रीपरीक्षित्‌जी ने, श्रीकृष्ण प्रेम के प्रभाव से श्रेष्ठ शास्त्रों का गूढ़ तथा दुर्लभ सार निकाल कर, अपनी माता श्री उत्तरा जी से प्रकाशित किया, किन्तु हे मुनि श्रेष्ठ! श्रीमद्भागवत रूपी समुद्र से प्रगटित तथा आपके मुख कमल से सुवासित, इस अमृत को पान करके मेरी तृप्ति नहीं हुई। इसलिये हे विद्वन्! उन श्रीकृष्ण चरणारविन्द के रसिक माता पुत्रों का अमृत सार स्वरूप और कोई दूसरा सम्वाद कहिये ॥१-२-३॥

श्रीजैमिनिरुवाच ।

नैतत्स्वशक्तितो राजन्! वक्तुं ज्ञातुञ्च शक्यते ।
सर्व्वज्ञानाञ्च दुर्ज्ञेयं ब्रह्मानुभविनामपि ॥४॥

कृष्णभक्तिरसाम्भोधेः प्रसादाद्बादरायणेः ।
परीक्षिदुत्तरा-पार्श्वे निविष्टोऽश्रौषमञ्जसा ॥५॥

परं गोप्यमपि स्निग्धे शिष्ये वाच्यमिति श्रुतिः।
तच्छ्रूयतां महाभाग ! गोलोकमहिमाधुना ॥६॥

श्रीजैमिनिजी कहने लगे ।

हे राजन्! यद्यपि इस विषय को अपनी शक्ति से न तो कोई जान सकता है, न कोई वर्णन कर सकता है, बल्कि जो ब्रह्म का अनुभव कर चुके हैं, अर्थात् जीवन मुक्त हैं, तथा सर्वज्ञ हैं, वे भी इसको नहीं जानते हैं। तो भी मैंने श्रीकृष्ण भक्ति रस के समुद्र स्वरूप श्रीशुकदेवजी की कृपा से श्रीपरीक्षित तथा उत्तरा के पास बैठ कर इस विषय को साक्षात् सुन कर अनुभव किया है॥४-५॥

हे बड़भागी जनमेजय ! वेद की ऐसी आज्ञा है कि गुरु को अधिकारी शिष्य से, अत्यन्त गूढ़ विषय भी कह देना चाहिये। इसलिये मैं अब श्री गोलोक धाम की महिमा कहता हूँ। सावधानी से सुनिये ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णकरुणासारपात्रनिर्द्धारसत्कथां ।

जब कि आपकी पितामही श्री उत्तराने, श्रीकृष्ण के कृपा पात्रों के विवेचन की श्रेष्ठ कथा

श्रुत्वाभूत् परमानन्दपूर्णा तत्र पितामही ॥७॥
तादृग्भक्तिविशेषस्य गोपीकान्त-पदाब्जयोः ।
श्रोतुं फलविशेषं तद्भोगस्थानञ्च सत्तमं ॥८॥
वैकुण्ठादपि मन्वाना विमृशन्ती हृदि स्वयं ।
तच्चानाकलयन्ती सा पप्रच्छ श्रीपरीक्षितं ॥९॥

सुनी, तो वह अत्यन्त आनन्दित हुई। वह, यह विचार करने लगीं कि श्री गोपीनाथ के चरणारविन्दों की श्री गोपी अनुगा परम भक्ति का फल, तथा इसका भोग स्थान, बैकुण्ठ से भी कोई महान् श्रेष्ठ होना चाहिये। परन्तु वह अपनी बुद्धि से इस बात का निर्णय नहीं कर सकीं। तब वह श्रीपरीक्षितजी से इस प्रकार पूछने लगीं ॥७-८-९॥

श्रीमदुत्तरोवाच ।

कामिनां पुण्यकर्त्तॄणां त्रैलोक्यं गृहिणां पदं ।
अगृहाणाञ्च तस्योर्द्ध्वं स्थितं लोकचतुष्टयं॥१०॥

श्रीउत्तरा बोलीं ।

सकाम पुण्य कर्म करने वाले गृहस्थियों को यह तीन भूः भुवः स्वः लोक प्राप्त होते हैं, और निष्काम कर्म करने वाले गृहस्थी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सन्यासियों को, इनसे ऊपर महः जनः तपः सत्यं यह चार लोक प्राप्त होते हैं॥१०

भोगान्ते पुनरावृत्तिमेते सर्व्वे प्रयान्ति हि ।
महरादिगताः केचिन्मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह ॥११॥

परन्तु भोग समाप्त होने से, यह सब लोक वासी इसी भूमण्डल पर ही फिर आकर जन्म ग्रहण करते हैं, जो महर्लोकादिकों को प्राप्त होते हैं, उनमें से कोई कोई श्रीब्रह्माजी के साथ मुक्त होजाते हैं ॥ ११ ॥

केचित् क्रमेण मुच्यन्ते भोगान् भुक्त्वार्चिरादिषु ।
लभन्ते यतयः सद्यो मुक्तिं ज्ञानपरा हि ये ॥१२

कोई कोई योगी अर्चिरादि मार्ग द्वारा क्रम से भोगों को भोगते हुये मुक्त होते हैं, और यति लोग जो ज्ञानपरा हैं, वे सद्यः मुक्ति को प्राप्तकरते हैं॥१२

भक्ता भगवतो ये तु सकामाः स्वेच्छयाखिलान्
भुञ्जानाः सुखभोगांस्ते विशुद्धा यान्ति तत्पदं१३

जो भगवान् के (श्रीध्रुवादि) सकाम भक्त हैं, वे अपनी इच्छा से सब सुख भोगों को भोगते हुये, विशुद्ध होकर भगवद्धाम को प्राप्त करते हैं ॥१३॥

वैकुण्ठं दुर्ल्लभं मुक्तैः सान्द्रानन्दचिदात्मकं ।
निष्कामा ये तु तद्भक्ता लभन्ते सद्य एव तत्॥१४

किन्तु जो भगवान् के निष्काम भक्त हैं वे तत्क्षण ही उस वैकुण्ठ कोप्राप्त होते हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, औरजो मुक्त पुरुषों को भी दुर्लभहै ॥१४॥

तत्र श्रीकृष्णपादाब्जसाक्षात्सेवासुखं सदा ।
वहुधानुभवन्तस्ते रमन्ते धिक्कृतामृतं ॥१५॥

उस वैकुण्ठमें श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की साक्षात् सेवा सुख को बहुत प्रकार से अनुभव करते हैं और मोक्ष को धिक्कारते हुये भगवान् के साथ रमण करते हैं ॥१५॥

ज्ञानभक्तास्तु तेष्वेके शुद्धभक्ताः परेऽपरे ।
प्रेमभक्ताःपरे प्रेमपराः प्रेमातुराः परे ॥१६॥
तारतम्यवतामेषां फले साम्यं न युज्यते ।
तारतम्यन्तु वैकुण्ठे कथञ्चिद्घटते न हि ॥१७॥

इन भक्तों में भी कोई ज्ञान मिश्रा, कोई शुद्ध, कोई प्रेमी, कोई प्रेम परा, कोई प्रेम आतुरा भक्त हैं। इन सब भक्तों में परस्पर तारतम्य (न्यूनाधिक) है। इसलिये इन सब का फल एक नहीं होना चाहिये। परन्तु वैकुण्ठ में किसी प्रकार का तारतम्य दिखाई नहीं पड़ता है॥१६-१७॥

पर्य्यवस्यति सारूप्यसामीप्यादौ च तुल्यता ।
न श्रूयते परं प्राप्यं वैकुण्ठादधिकं कियत् ॥१८॥

यद्यपि सारूप्य, सामीप्य, आदि मुक्तियों में, कुछ तारतम्यसा प्रतीत होता है, तो भी विचार कर के देखने से यह सब एक ही समान प्रतीत होते हैं । प्रायः वैकुण्ठ से अधिक और कोई श्रेष्ठ प्राप्ति स्थान सुनने में नहीं आता है ॥१८

तत्प्रदेशविशेषेषु स्वस्वभावविशेषतः ।
स्वस्वप्रियविशेषाप्त्या सर्व्वेषामस्तु वा सुखं ।१६

परां कष्ठां गतं तत्तद्रसजातीयतोचितं ।
अथापि रासकृत्ताद्दग्भक्तानामस्तु का गतिः॥२०

यद्यपि उक्त वैकुण्ठ के पृथक् पृथक् प्रदेशों में सब भक्त, अपने अपने भाव के अनुरूप, अपने अपने प्रिय उपास्य स्वरूपों को पाकर, अपने रस जाति के चरम सीमा के सुख को अनुभव करते हैं, किन्तु (यहाँ यह प्रश्न है) रास विहारी श्रीकृष्ण के जो भक्त हैं, वह कौन से लोक को प्राप्त होंगे ? और उनकी क्या गति होगी ॥ १६ । २०॥

ये सर्व्वनैरपेक्ष्येण
राधादास्येच्छवः परम् ।
संकीर्त्तयन्ति तन्नाम
तादृशप्रियतामयाः ॥२१॥

जिन्होंने सब आशाओं को छोड़ कर केवल श्रीराधा दासी होने की ही इच्छा की है, और और जो उन्हीं के प्रेम में निमग्न होकर सदा उन्हीं के नामों का संकीर्तन करते रहते हैं ॥२१॥

अन्येषामिव तेषाञ्च
प्राप्यश्चे दूहन्न तृप्यति ।
अहो ! नन्दयशोदादेर्न
सहे तादृशीं गतिं ॥२२॥

उन भक्तों को भी अन्य भक्तों की भाँति, क्या उसी वैकुण्ठ में कोई विशेष स्थान प्राप्त है ? इस बात से मेरे हृदय को संतोष नहीं होता है । (यदि इसे क्षणमात्र को मान भी लिया जाय,) तो भी अहो ! यह बड़े दुख की बात है, कि श्री नन्दराय, श्रीमाता यशोदा आदि नित्य परिकरों की भी यही गति हो ? अर्थात् यह भी उसी वैकुण्ठ को प्राप्त हों, जहाँ सब भक्त लोग जाते हैं । इस बात को मैं कभी सहन नहीं कर सकती हूँ ॥ २२ ॥

विविधानां महिम्नां हि यत्र काष्ठाः पराः पराः ।
कोटीनां पर्य्यवस्यन्ति समुद्रे सरितो यथा ॥२३॥

तदर्थमुचितं स्थानमेकं वैकुण्ठतः परम् ।
अपेक्षितमवश्यं स्यात्तत्प्रकाश्योद्धरस्व मां ॥२४

उन (श्रीनन्दयशोदा आदि) में करोड़ों प्रकार की चरम सीमा प्राप्त, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ अनेक महिमाऐं, इस प्रकार आकर प्रविष्ट होती हैं, जिस तरह अनेक नदियां स्वतः सिद्ध समुद्र में आकर मिल जाती हैं । उन श्रीनन्दराय आदि के लिये, उनके योग्य वैकुण्ठ से भी कोई श्रेष्ठ स्थान अवश्य होना चाहिये । यदि ऐसा कोई स्थान है, तो उसका वर्णन कर के इस संदेह से मेरा उद्धार कीजिये ॥ २३।२४ ॥

श्रीजैमिनिरुवाच ।

मातुरेवं महारम्यप्रश्नेनानन्दितः सुतः ।
तां नत्वा माश्रुरोमाश्चमारेभे प्रतिभाषितुम् ॥२५॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

श्रीकृष्णजीविते ! मातस्तदीयविरहासहे ! ।
तवैव योग्यः प्रश्नोऽयं न कृतो यश्च कैश्चन ॥२६

निजप्रियसखस्यात्र श्रीसुभद्रापतेरहम् ।
येन पौत्रतया गर्भे तव सज्जन्म लम्भितः ॥२७

गर्भान्तरे च धृतचक्रगदेन येन
ब्रह्मास्त्रतोऽहमवितः सहितो भवत्या ।
वाल्ये नरेषु निजरूपपरीक्षणश्च
नीतो मुहुः परमभागवतोचितं यत् ॥२८

येनानुवर्त्ती महतां गुणैः कृतो
विख्यापितोऽहं कलिनिग्रहेण ।
सम्पाद्य राज्यश्रियमद्भुतां ततो
निर्व्वेदितो भूसुरशापदापनात् ॥२९॥

तच्छिष्यरूपेण च मत्प्रियं तं
संश्राव्य शापं निलयान्धकूपात् ।
श्रीवासुदेवेन विकृष्य नीतः
प्रायोपवेशाय मतिं द्युनद्यां ॥ ३० ॥

मुनीन्द्रगोष्ठ्यामुपदेश्य तत्त्वं
शुकात्मना येन भयं निरस्य ।

श्रीजैमिनिजी बोले ।

श्रीमाता उत्तरा के महारमणीक प्रश्नों से आनन्दित होकर, श्रीपरीक्षित जी, जो रोमाञ्चित हो रहे हैं, प्रेम अश्रु वहाते हुये अपनी माता को अभिवादन करके इस प्रकार प्रत्युत्तर देने लगे ॥ २५ ॥

श्री परीक्षित्‌जी बोले ।

हे माता ! आपको श्रीकृष्ण ने प्राणदान दिया था, और आप उनके विरह को सहन करने में असमर्थ हो। यह प्रश्न आपके ही करने योग्य है, ऐसा प्रश्न पहले कभी किसी ने नहीं किया है ॥२६॥

श्रीकृष्ण ने, अपने प्रिय सखा, श्रीसुभद्रा जी के पति श्री अर्जुन के पौत्र रूप में, मुझे आपके गर्भ में श्रेष्ठ जन्म दिया है ॥२७॥

श्रीकृष्ण ने अपने हस्त कमल में गदा तथा चक्र धारण करके, ब्रह्म अस्त्र से आपके सहित गर्भ में मेरी रक्षा की थी। उन्होंने बाल्यावस्था में मुझ से अपने रूप की सब पुरुषों में बार बार चिन्हार कराकर, मुझे परम भागवतों के योग्य अवस्था प्रदान की है ॥ २८ ॥

उन्होंने मुझमें श्रेष्ठ गुणों को प्रदान करके, (श्रीइक्ष्वाकु आदि) महत्‌जनों का अनुवर्ती किया है । कलियुग का निग्रह कराकर उन्होंने जगत् में मेरी विख्याति कराई है, उन्होंने मेरी बड़ी भारी राज सम्पत्ति का विस्तार कराकर, ब्राह्मण के शापके वहाने से उस सम्पत्ति से मेरा वैराग्य कराया है ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ने उस ब्राह्मण के शिष्य रूप से उस शापको सुनवाया था जोकि मुझको भी अभीष्ट है। इससे मुझको गृह रूपी अन्धकूप से निकाल कर श्री गङ्गा जी के तटपर प्रायोपवेशन करने के लिये प्रवृत कराया है ॥ ३० ॥

जिन श्रीकृष्ण ने, उन श्रेष्ठ मुनियों की समाज में श्रीशुकदेव स्वरूप से, मुझको यथार्थ तत्व का उपदेश करा कर मेरे भय को दूर कराया है अब वही श्रीकृष्ण अपने स्नेही, आपके संग

प्रमोद्य च स्वप्रियसङ्गदानात्

कथामृतं सम्प्रति च प्रपाय्ये॥३१॥

कृष्णं प्रणम्य निरुपाधिकृपाकरं तं

संवर्द्ध्य विप्रवचनादरतो गृहीतं।

स्वस्यान्तकालमिदमेकमना ब्रुवे ते

प्रश्नोत्तरं सकलवैष्णवशास्त्रसारं॥३२॥

श्रुतिस्मृतीनां वाक्यानि साक्षात्तात्पर्य्यतोऽप्यहं।

व्याख्याय वोधयित्वैतत्त्वां सन्तोषयितुं क्षमः॥३३

तथापि स्वगुरोः प्राप्तं प्रसादात् संशयच्छिदं।

अत्रेतिहासमादौ ते व्यक्तार्थं कथयाम्यमुं॥३४॥

विप्रो निष्किञ्चनः कश्चित् पुरा प्राग्ज्योतिषे पुरे।

बसन्नज्ञातशास्त्रार्थो वहुद्रविणकाम्यया॥३५॥

तत्रत्यदेवीं कामाख्यां श्रद्धयानुदिनं भजन्।

तस्याः सकाशात्तुष्टायाः स्वप्ने मन्त्रं दशाक्षरं३६

लेभे मदनगोपालचरणाम्भोजदैवतं।

तद्ध्यानादिविधानाढ्यं साक्षादिव महानिधिं ३७

देव्यादेशेन तं मन्त्रं विविक्ते सततं जपन्।

धनेच्छाया निवृत्तोऽभूल्लेभे च हृदि निर्वृतिं॥३८

वस्तुतस्त्वानभिज्ञोऽन्यत् स किञ्चित्पारलौकिकं।

साधनं किल साध्यश्च वर्त्तमानममन्यत॥३९॥

गृहादिकं परित्यज्य भ्रमंस्तीर्थेषु भिक्षया।

गतो निर्व्वाहयन् देहं गङ्गासागरसङ्गमं॥४०॥

से मुझको आनन्द प्रदान कराके, कथा रूप अमृत पान करा रहे हैं॥३१॥

निर्हेतुक कृपा आकर श्रीकृष्ण को प्रणाम करके, सादर ग्रहण किया गया ब्राह्मण के उस शाप की अवधि को, जिसके कारण मेरा अन्त काल निकट आगया है, बढ़ा कर, स्थिर चित्त से आपके प्रश्न का, मैं वह उत्तर देता हूँ, जो समस्त वैष्णव शास्त्रों का सार भूत है॥३२॥

यद्यपि श्रुति, स्मृति, शास्त्रों के प्रमाणों की साक्षात् तथा तात्पर्य अर्थ की व्याख्या करके, मैं आपके प्रश्नों का उत्तर देकर आपको सन्तोष कराने में समर्थ हूँ, तो भी मेरे गुरु श्रीशुकदेवजी की कृपा से, जो मैंने संशय छेदन करने वाले इस इतिहास को प्राप्त किया है, उसको मैं पहले आप से स्पष्ट रूप में कहता हूँ॥३३-३४॥

पूर्व काल में कोई दरिद्री ब्राह्मण, प्राग्ज्योतिषपुर अर्थात् आसाम में रहता था। वह शास्त्रों के तात्पर्य अर्थ को न समझ कर, केवल द्रव्य प्राप्ति की इच्छा से, श्रद्धा पूर्वक वहाँ रहने वाली कामाख्या देवी की प्रति दिन पूजा किया करता था। इस से वह देवी, उस ब्राह्मण पर प्रसन्न हुई, और स्वप्न में उस ब्राह्मण को, उस दशाक्षर (गोपाल) मन्त्र का ध्यान आदि विधि सहित उपदेश किया,, जिसके अधिष्ठाता देवता श्रीमदन गोपाल हैं। वह मन्त्र उस ब्राह्मण को महानिधि की तरह प्राप्त हुआ, वह ब्राह्मण, उस देवी के आदेश से,उस मन्त्र का निर्जन स्थान पर निरन्तर जप करने लगा, जिस से उसकी धन कामना भी निवृत हो गई। वह अपने हृदय में आनन्द अनुभव करने लगा॥३५-३६-३७-३८॥

वह ब्राह्मण, उस मन्त्र के यथार्थ स्वरूप को न जान कर, अपने मन में यह विचार करता था, कि परलोक प्राप्ति के लिये इस मन्त्र के अतिरिक्त और कोई अन्य साधन होगा। इस लिये वह अपने घर को छोड़ कर भिक्षा वृत्ति से, अपने देह का निर्वाह करता हुआ, तीर्थों पर भ्रमण करता

विप्रान् गङ्गातटेऽपश्यत् सर्व्वविद्याविशारदान् ।
स्वधर्म्माचारनिरतान् प्रायशो गृहिणो बहून्॥४१

करता गंगासागर पहुँचा। वहाँ गंगातट पर, उसने प्रायः गृहस्थी ब्राह्मणों को देखा, जोकि सर्व विद्या के जानने वाले थे, और अपने अपने धर्माचरण में रत थे ॥३९-४०-४१॥

तैर्वर्ण्यमानमाचारं नित्यनैमित्तिकादिकं ।
आवश्यकं तथा काम्यं स्वर्गं शुश्राव तत्फलं॥४२

वह आपस में, आचार नित्य नैमित्तिक आदि आवश्यक धर्म, तथा काम्य कर्मों की चर्चा कर रहे थे, जिनका फल, स्वर्ग की प्राप्ति है ॥४२॥

नानासङ्कल्पवाक्यैश्च तदनुष्ठाननिष्ठतां ।
दृष्ट्वा तत्रोदितश्रद्धः प्रवृत्तः शिक्षितः स तैः ॥४३

अनेक प्रकार के संकल्पों से उन ब्राह्मणों की अपने अपने अनुष्ठानों में निष्ठा देख कर, उस दरिद्री ब्राह्मण की भी, उन अनुष्ठानों में श्रद्धा हो गई। वह उन ब्राह्मणों से शिक्षा ग्रहण करके, उनके सदृश अनुष्ठान करने लगा ॥४३॥

देव्याज्ञादरतो मन्त्रमपि नित्यं रहो जपन् ।
तत्प्रभावान्न लेभेऽन्तःसन्तोषं तेषु कर्म्मसु ॥४४॥

परन्तु, वह देवी की आज्ञा का सम्मान करने के लिये निर्जन स्थान पर जाकर नित्य उस मन्त्र को जपता रहा, जिसके प्रभाव से उस ब्राह्मण के अन्तःकरण को, उन कर्मों में प्रवृत्त होने से भी सन्तोष नहीं हुआ ॥४४॥

स निर्व्विद्य मतः काशीं ददर्श बहुदेशजान् ।
यतिप्रायान् जनांस्तत्राद्वैतव्याख्याविवादिनः॥४५

उन कर्मों से विरक्त होकर, फिर वह ब्राह्मण काशी गया, और वहाँ अनेक देशों से आये हुए प्रायः सन्यासियों के दर्शन किये, जो कि अद्वैत वेदान्त के वाद बिवाद में कुशल थे ॥४५॥

विश्वेश्वरं प्रणम्यादौ गत्वा प्रतिमठं यतीन् ।
नत्वा सम्भाष्य विश्रामं तेषां पार्श्वे चकार सः ४६

सर्व प्रथम उसने श्री विश्वनाथ महादेव को दण्डवत प्रणाम किया। फिर उसने प्रत्येक सन्यासी के मठ में जाकर, उनको अभिवादन किया और उनसे वार्त्तालाप करके वहीं उनके पास रहने सहने लगा ॥४६॥

वादेषु शुद्धबुद्धीनां तेषां पाणितलस्थवत् ।
मोक्षं बोधयतां वाक्यैः सारं मेने स तन्मतं ॥४७

वह सन्यासी, जिनकी केवल बाद बिवाद में शुद्ध बुद्धि थी, और वह वाक्यों से इस प्रकार मोक्ष का बोध कराते थे, मानो मोक्ष कोई हाथ में रक्खी हुई वस्तु के सदृश है। यह सुन कर उस ब्राह्मण ने उनके मत ही को श्रेष्ठ जाना ॥४७॥

शृण्वन्नविरतं न्यासमोक्षोत्कर्षपराणि सः ।
तेभ्यो वेदान्तवाक्यानि मणिकर्ण्यां समाचरन्॥४८

वह ब्राह्मण नित्य प्रति, मणिकर्णिका घाट पर स्नान करके, श्री विश्वनाथजी का दर्शन करता था। उन सन्यासियों से नित्य प्रति निरन्तर ऐसे वेदान्त वाक्यों को सुनता था, जिनमें सन्यास तथा मोक्ष का ही उत्कर्ष वर्णन है। वह उन सन्या-

स्नानं विश्वेश्वरं पश्यंस्तेषां सङ्गेऽप्रयासतः ।
मिष्टेष्टभोगान् भुञ्जानः सन्न्यासं कर्त्तुमिष्टवान्
॥ ४६ ॥

स्वजप्यं गौरवाद्देव्यास्तथान्तः सुखलाभतः ।
अत्यजन्नेकदा स्वप्नेऽपश्यत्तन्मन्त्रदेवतां ॥५०

तन्महारम्यताकृष्टः परमानन्दगोचरः ।
तज्जपान्यप्रवृत्तौ हि न लेभे स मनो-बलं ॥५१

इतिकर्त्तव्यतामूढो दीनः सन् स्वप्नमागतः ।
तया देव्या सहागत्य तत्रादिष्टः शिवेन सः॥५२

मा मूर्ख ! कुरु सन्न्यासं द्रुतं श्रीमथुरां व्रज ।
तत्र वृन्दावनेऽवश्यं पूर्णार्थस्त्वं भविष्यसि ॥५३

सोत्कण्ठो मथुरां गन्तुं मुहुस्तां कीर्त्तयंस्ततः ।
स तद्देशदिशं गच्छन् प्रयागं प्राप वर्त्मनि ॥५४

तस्मिन्नसन्माधवपादपद्मे
गङ्गाश्रितश्रीयमुनामनोज्ञे ।
स्नानाय माघोषसि तीर्थराजे
प्राप्तान् स साधून् शतशो ददर्श ॥५५

तेषां सदा गीत-नति-स्तवादिभिः
श्रीविष्णुपूजोत्सवमैत्तताभितः ।
तन्नामसंकीर्त्तनवाद्यनर्त्तनैः
प्रेम्णार्त्तनादै रुदितैश्च शोभितं ॥५६

सियों के साथ मिष्ट-मिष्ट पदार्थों को, जो कि अनायास में ही प्राप्त होते थे खाता था। इन सब बातों को देखकर उस ब्राह्मण की सन्यास लेने की इच्छा होगई ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

ऐसा होते हुए भी, उस ब्राह्मण ने, उस देवी के गौरव से, तथा इस कारण से कि जप करने से उसको आनन्द अनुभव होता था उस मन्त्र के जप को नहीं छोड़ा। एक दिन उसने स्वप्न में उस मन्त्र के देवता का दर्शन किया, जिस के मनोहर रूप से आकृष्ट होकर, उसने परमानन्द को लाभ किया। अब उस जप को छोड़ कर, उस ब्राह्मण का मन सन्यास आदि में नहीं लगता था ॥ ५० ॥ ५१ ॥

तब वह ब्राह्मण दीन होकर, यह विचार करने लगा "अब क्या करना चाहिये"। तब स्वप्न में श्रीविश्वनाथ जी ने, उस कामाख्या देवी के साथ आकर, उसको यह आदेश दिया, "अरे मूर्ख! तुम सन्यास मत लो, तुम जल्दी ही श्रीमथुरापुरी चले जाओ, वहाँ श्रीवृन्दावन में जाकर तुम अवश्य कृत कृत्य हो जाओगे" ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

यह सुनकर उसको मथुरापुरी जाने की बड़ी उत्कण्ठा हुई। वह बार बार मथुरा, मथुरा कीर्तन करने लगा, और मथुरा की दिशा की ओर चलते चलते वह प्रयाग पहुँचा ॥ ५४ ॥

वहाँ जाकर उसने तीर्थराज प्रयाग में, जो कि श्रीमाधव भगवान् के चरण कमलों से विभूषित और श्रीगंगा तथा श्रीयमुना द्वारा मनोरम है, और जहाँ माघ मास के प्रातः स्नान के लिये हज़ारों साधु महात्मा आये हुए हैं, उन सबके दर्शन किये ॥ ५५ ॥

वहाँ जाकर, उस ब्राह्मण ने यह देखा, कि चारों ओर साधु लोग श्रीविष्णु भगवान् की पूजा करते हुए निरन्तर गीत, वाद्य, स्तुति, नमस्कार आदि कर रहे हैं। उन वैष्णवों की अनेक प्रकार के नाम संकीर्तन, वाद्य, नृत्य तथा प्रेमार्त रोदन आदि से शोभा हो रही है ॥ ५६ ॥

सोऽबुधो विस्मयं प्राप्तो
वैष्णवान् पृच्छति स्म तान् ।
हे गायका ! वन्दिनो रे !
दण्डवत् पातिनो भुवि ॥५७
भो वादका ! नर्त्तका ! रे !
रामकृष्णेति वादिनः !
रोदका ! रम्यतिलका—
श्चारुमालाधरा ! नराः ! ॥५८
भवतैकं क्षणं स्वस्था न कोलाहलमर्हथ ।
वदतेदं विधद्ध्वे किं कं वार्च्चयथ सादरं ॥५६
तच्छ्रुत्वोपहसन्ति स्म केचित्तं केचिदब्रुवन् ।
रे ! मूढ ! तूष्णीं तिष्ठेति केऽप्यूचुर्दीनवत्सलाः
॥ ६० ॥

श्रीवैष्णवा ऊचुः ।

अये ! विप्रज ! जानासि
न किञ्चिद्वत ! मूढधीः ।
विष्णुभक्तान् पुनर्मैवं
सम्बोधय न जल्प च ॥६१
भगवन्तमिमे विष्णुं—
नित्यं वयमुपास्महे ।
गुरोर्गृहीतदीक्षाका—
यथामन्त्रं यथाविधि ॥६२
श्रीनृसिंहतनुं केचिद्रघुनाथं तथापरे ।
एके गोपालमित्येवं नानारूपं द्विजोत्तम ! ॥६३

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ततोऽसौ लज्जितो विप्रोऽपृच्छत् सप्रश्रयं मुदा ।
कुतो वसति कीदृक् स कं वार्थं दातुमीश्वरः ॥६४

जब कि उस मूर्ख ब्राह्मण ने ऐसा देखा, तो वह आश्चर्य युक्त होकर उन वैष्णवों से इसप्रकार पूँछने लगा "हे गाने वालो! हे स्तुति करने वालो! अरे भूमि पर दण्ड की नाईं गिरने वालो! हे बजाने वालो! हे नाचने वालो! अरे राम कृष्ण कहने वालो! हे रोने वालो! अरे पुरुषो! तुमने मस्तकों पर बड़े बड़े सुन्दर तिलक लगा रक्खे हैं, और तुम सुन्दर सुन्दर माला धारण कर रहे हो, तुम सब एक क्षण के लिये तो चुप हो जाओ। हल्ला गुल्ला मत करो, तुम लोग क्या कर रहे हो, यह मुझ से कहो? तुम यह बताओ कि आदर सहित किस की पूजा कर रहे हो?" ॥ ५७ ॥ ॥ ५८ ॥ ५६ ॥

यह सुन कर उन वैष्णवों में से, कोई कोई उस ब्राह्मण का परिहास करने लगे, और कोई कोई इस प्रकार कहने लगे "अरे मूर्ख! चुप रह" और कोई दीनवत्सल वैष्णव इस प्रकार कहने लगे ॥ ६० ॥

श्रीवैष्णव बोले।

अरे ब्राह्मण पुत्र! तुम कुछ भी नहीं जानते हो, तुम मूर्ख हो, यह सब श्री विष्णु भगवान् के भक्त हैं। फिर कभी भूलकर भी इनको इस प्रकार के सम्बोधन नहीं देना, और न इस प्रकार से बकवास करना ॥ ६१ ॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! जिस मन्त्र की, जिस प्रकार विधि है उसी विधि के अनुसार श्री गुरु जी से दीक्षा ग्रहण करके, हम सब श्री विष्णु भगवान् की निरन्तर उपासना कर रहे हैं। हमारे में से कोई तो श्रीविष्णु भगवान् के स्वरूप श्रीनरसिंह जी की, कोई श्रीरामचन्द्र जी की, कोई श्रीगोपाल जी आदि स्वरूपों की पूजा कर रहे हैं ॥६२॥६३॥

श्रीपरीक्षितजी बोले।

यह सुनकर वह ब्राह्मण लज्जित होकर नम्रता से प्रसन्नता पूर्वक यह पूँछने लगा। "वह आपका ईश्वर कहाँ रहता है? उसका कैसा आकार है? और वह क्या दे सकता है?" ॥ ६४ ॥

श्रीवैष्णवा ऊचुः ।

सदा सर्व्वत्र वसति बहिश्चान्तश्च स प्रभुः ।

कश्चिन्न सदृशस्तेन कथञ्चिद्विद्यते क्वचित् ॥६५॥

श्रीवैष्णव बोले ।

वह ईश्वर सर्व सामर्थ्यवान हैं, वह भीतर बाहिर सदा सब जगह रहते हैं। उनके बराबर का कोई भी, कहीं भी, कभी भी, किसी अंश से भी नहीं है ॥ ६५ ॥

सर्व्वान्तरात्मा जगदीश्वरेश्वरो

यः सच्चिदानन्दघनो मनोरमः ।

वैकुण्ठलोके प्रकटः सदा वसेद्

यः सेवकेभ्यः स्वमपि प्रयच्छति ॥६६॥

वह जगत के ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, सब प्राणियों की अन्तर आत्मा हैं। मन को रमाने वाले, तथा सच्चिदानन्द घन स्वरूप हैं। वह सदा वैकुण्ठ लोक में साक्षात् स्वरूप से रहते हैं, और वह अपने सेवकों को, और पदार्थों का तो कहना ही क्या है, स्वयं अपने दिव्य मङ्गल विग्रह को भी दे देते हैं ॥६६॥

श्रुतिस्मृतिस्तूयमानः केनास्य महिमोच्यतां ।

तदत्र वाच्यमानानि पुराणानि मुहुः शृणु ॥६७

जब कि उनकी महिमा की श्रुति भी स्तुति कर रही हैं, तो फिर उनको और कौन वर्णन कर सकता है। हे ब्राह्मण ! इस लिये यहाँ जो पुराण पाठ हो रहा है, उसको आप निरन्तर सुनिये॥६७॥

माधवं नम चालोक्य प्रतिरूपं जगत्प्रभोः ।

ततोऽचिरादिदं सर्व्वं परञ्च ज्ञास्यसि स्वयं ॥६८

श्री जगदीश्वर के अर्चा स्वरूप श्री माधव भगवान् के दर्शन करके, उनको दण्डवत् प्रणाम कीजिये। इस से आप यह सब, बल्कि इस से भी अधिक स्वयं बहुत जल्दी जान सकोगे ॥६८॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

ततः श्रीमाधवं वीक्ष्य नमंस्तस्मिन् व्यचष्ट सः ।

सारूप्यं स्वजपे चिन्त्यमानदेवस्य किञ्चन॥६९॥

श्रीपरीक्षित जी बोले।

इसके पश्चात् उस ब्राह्मण ने, श्रीमाधव भगवान् के दर्शन करके, उनको प्रणाम किया। अपने जप ध्यान के इष्ट देवता स्वरूप के सदृश कुछ उनिहार, उन श्री माधव भगवान् में देखी ॥६९॥

तत्र किञ्चित्पुराणं स शृणोति सह वैष्णवैः ।

तैरर्च्यमाना विविधा विष्णु-मूर्त्तीश्च पश्यति॥७०

वहाँ वह, उन वैष्णवों के साथ कुछ पुराण पाठ सुनने लगा। उसने श्री विष्णु भगवान् की अनेक प्रकार की उन मूर्तियों का दर्शन किया, जिनकी कि वह वैष्णव लोग पूजा कर रहे थे॥७०॥

तथापि प्रत्यभिज्ञेयं तस्य न स्यादचेतसः ।

मद्देवो जगदीशोऽयं माधवोऽपि सतां प्रभुः॥७१

तो भी उस अज्ञ ब्राह्मण को, यह पहिचान नहीं हुई, कि मेरे उपास्य देव और इन वैष्णवों के उपास्यदेव माधव भगवान्, यह दोनों एक ही जगदीश्वर स्वरूप हैं ॥७१॥

इदं स विमृशत्येषामुपास्यो जगदीश्वरः ।

इस प्रकार वह ब्राह्मण अपने मनमें यह विचार करने लगा कि इन वैष्णवों के उपास्य देव

स एव माधवश्चायं मयान्यः कोऽप्युपास्यते ।।७२
शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-विभूषितचतुर्भुजः ।
न मद्देवस्ततः कस्मात् प्रतीयेत स माधवः ।।७३।।

श्री माधव भगवान् ही जगदीश्वर हैं। और मैं किसी दूसरे की उपासना करता हूँ। यह माधव भगवान् चतुर्भुज हैं और शङ्ख चक्र गदापद्म से विभूषित हैं, और मेरे देव इस प्रकार नहीं हैं। इसलिये मैं अपने देव को किसी तरह इन माधव भगवान् में प्रतीति करूँ ।।७२-७३।।

नायं नरार्द्धसिंहार्द्धरूपधारी च मत्प्रभुः ।
न वामनोऽप्यसौ मीनकूर्म्मकोलादिरूपवान् ।।७४

और यह जिनका आधा शरीर मनुष्य का है और आधा सिंह का है, यह भी मेरे प्रभु नहीं हैं। और यह वामन, मीन, कूर्म, बाराह, आदि भगवान् के स्वरूप भी मेरे प्रभु नहीं हैं ।।७४।।

नापि कोदण्डपाणिः स्यात् राघवो राजलक्षणः।
केषाञ्चिदेषां पूज्येन गोपालेनास्तु वा सदृक् ।।७५
मन्येऽथापि मदीयोऽयं न भवेज्जगदीश्वरः ।
नास्ति तल्लक्षणं माघ-माहात्म्यादौ श्रुतंहि यत् ७६

महाराज श्री रामचन्द्रजी भी जिनके हाथ में धनुष बाण है,मेरे प्रभु नहींहैं। इनमें कोई-कोई श्री गोपालजी की पूजा करते हैं, उनकी उनिहार मेरे प्रभु सरीखी है, तो भी मैं यह मानता हूँ कि यह मेरे उपास्य स्वरूप जगदीश्वर नहीं हैं। क्योंकि मैंने जो उस जगदीश्वर के लक्षण माघ महात्म्य में सुने थे, वह लक्षण मेरे उपास्य देव में नहीं मिलते हैं ।। ७५-७६ ।।

गोपार्भ-वर्गैः सखिभिर्वने स गा
वंशीमुखो रक्षति वन्यभूषणः ।
गोपाङ्गना-वर्गविलास-लम्पटो
धर्म्मं सतां लङ्घयतीतरो यथा ।।७७।।

मेरे उपास्य देव बन पुष्पादि से श्रृङ्गार करके वंशी मुख पर रख कर, अपने ग्वाल बालों के साथ श्री वृन्दाबन में गौएँ चराते हैं। उन्होंने साधारण पुरुषों की नाईं श्रेष्ठ धर्मों का उल्लङ्घन किया है और जो व्रजनागरियों के साथ रास विलास करने के रसिक हैं ।।७७।।

देव्याः प्रभावादानन्दमस्याप्याराधने लभे ।
तन्नजह्यां कदाप्येनमेतन्मन्त्र-जपं न च ।।७८।।

परन्तु ऐसा होते हुये भी, उस देवी के प्रभाव से मैं उनकी आराधना करने में आनन्द लाभ करता हूँ। इसलिये मैं अपने उपास्यदेव को, तथा उनके मन्त्र के जप को, कभी भी परित्याग नहीं करूँगा ।।७८।।

एवं स पूर्ववन्मन्त्रं तं जपन्निर्ज्जने निजं ।
देवं साक्षादिवैक्षेत सतां सङ्ग-प्रभावतः ।।७९।।

इस प्रकार विचार करके वह ब्राह्मण पहले की तरह निर्जन स्थान में अपने उस मन्त्र का जप करने लगा। और उन वैष्णवों के संग के प्रभाव से अपने इष्ट देव का प्रत्यक्ष की भाँति दर्शन करने लगा ।।७९।।

वस्तु-स्वभावादानन्द-मूर्च्छामाप्नोति कर्हिचित् ।

कभी कभी उस ब्राह्मण को वस्तु के प्रभाव से आनन्द मूर्छा हो जाती थी। यह अवस्था कुछ

व्युत्थाय जप-कालापगममालक्ष्य शोचति ॥८०॥
उपद्रवोऽयं को मेऽनु जातो विघ्नो महान् किल ।
न समाप्तो जपो मेऽद्यतनो रात्रीयमागता ॥८१॥

देर तक रहने के पश्चात् जब वह सचेत होता था, तो जप काल का अतिक्रम देख कर यह सोचने लगता था, कि यह कोई उपद्रव ही नहीं है, बल्कि मेरे जप का कोई महा विघ्न है। रात हो गई अब तक मैंने जप समाप्त नहीं किया ॥८०-८१॥

किं निद्राभिभवोऽयं मे किं भूताभिभवोऽथवा ।
अहो! मद्दुःस्वभावो यच्छोकस्थानेऽपि हृत्सुखं॥८२

क्या मुझे नींद आगई ! अथवा क्या मुझ में किसी प्रेत का आवेश होगया ? अहो ! मेरा यह कैसा दुष्ट स्वभाव है। शोक के स्थान पर मेरे हृदय में उल्टा आनन्द होता है ॥८२॥

एकदा तु तथैवासौ शोचन्नकृतभोजनः ।
निद्राणो माधवेनेदं समादिष्टः ससान्त्वनं ॥८३॥

एक दिन इस प्रकार सोच करते-करते उसने भोजन भी नहीं किया फिर जिस वक्त वह सो गया, श्री माधव भगवान् ने स्वप्न में उसको सान्त्वना देकर इस प्रकार आदेश किया ॥८३॥

विप्र!विश्वेश्वरस्यानुस्मर वाक्यमुमापतेः ।
यमुना-तीरमार्गेण तच्छ्रीवृन्दावनं व्रज ॥८४॥
तत्रासाधारणं हर्षं लप्स्यसे मत्-प्रसादतः ।
विलम्बं पथि कुत्रापि मा कुरुष्व कथश्चन ॥८५

"हे ब्राह्मण ! श्री उमापति विश्वनाथजी के वाक्यों का स्मरण कर। श्री यमुनाजी के किनारे किनारे होते हुए तुम इसी मार्ग से श्री वृन्दाबन चले जाओ। वहां जाकर मेरी कृपा से तुम अतुल आनन्द प्राप्त करोगे। रास्ते में कहीं भी, कभी भी, बिलम्ब नहीं करना" ॥८४-८५॥

ततः स प्रातरुत्थाय हृष्टः सन् प्रस्थितः क्रमात् ।
श्रीमन्मधुपुरीं प्राप्तः स्नातो विश्रान्तितीर्थके॥८६॥

इसके पश्चात् वह ब्राह्मण प्रातःकाल उठ कर आनन्दित होकर उस दिशा की ओर चल पड़ा, और क्रम क्रम से चलते-चलते वह श्री मथुरापुरी पहुँचा। वहां श्री विश्रान्त घाट पर श्री यमुनाजी में स्नान किया ॥८६॥

गतो वृन्दावनं तत्र ध्यायमानं निजे जपे ।
तं तं परिकरं प्रायो वीक्ष्याभीक्ष्णं ननन्द सः ८७

फिर श्री वृन्दाबन जाकर उसने वहां उन परिकरों से कुछ अर्थात् गैया, कदम्ब आदि वृक्षों को देखा, जिनका वह अपने जप में ध्यान कता था। जिससे उस ब्राह्मण को अपार आनन्द हुआ ॥ ८७ ॥

तस्मिन् गोभूषितेऽपश्यन् कमपीतस्ततो भ्रमन् ।
केशी-तीर्थस्य पूर्वस्यां दिशि शुश्राव रोदनं ॥८८

जब वह गौओं से भूषित उस वृन्दाबन में इधर उधर भ्रमण करने लगा, तो उसने किसी भी मनुष्य को वहां नहीं देखा। परन्तु थोड़ी देर बाद केशीघाट की पूर्व दिशा में उसको एक रोने की आवाज सुनाई दी ॥८८॥

तद्दिग्भागं गतः प्रेम्णा नामसंकीर्त्तनैर्युतं ।
तदाकर्ण्य मुहुस्तत्र तं मनुष्यममार्गयत् ॥८९॥

जिसको सुन कर वह उसी दिशा की ओर गया, और प्रेम सहित नाम संकीर्तन मिश्रित उस ध्वनि को सुन कर, वह वहां उस मनुष्य का अन्वेषण करने लगा जिसकी आवाज़ आ रही थी ॥ ८९ ॥

घनान्धकारारण्यान्तः सोऽपश्यन् कश्चिदुन्मुखः।
निर्द्धार्य्य तद्ध्वनि-स्थानं यमुना-तीरमव्रजत्॥९०

अब कि उसने घने अन्धकार पूर्ण बन में वहां कुछ नहीं देखा, तो वह ऊपर को मुख करके यह सोचने लगा कि यह शब्द कहां से आ रहा है, कुछ देर के अनन्तर वह उस ध्वनि स्थान का निश्चय करके श्री यमुनाजी के तट पर पहुँचा॥९०॥

तत्र नीप-निकुञ्जान्तर्गोप-वेशपरिच्छदं ।
किशोरं सुकुमाराङ्गं सुन्दरं तमुदैक्षत ॥९१॥

वहां जाकर एक कदम्ब की निकुञ्ज में एक अति सुकुमार, सुन्दर, गोप वेषधारी, किशोर स्वरूप एक पुरुष को देखा ॥९१॥

निजेष्टदेवता-भ्रान्त्या गोपालेति महामुदा ।
समाह्वयन् प्रणामाय पपात भुवि दण्डवत् ॥९२॥

अपने इष्ट देवता की भ्रान्ति से, वह उनको गोपाल! गोपाल! इस प्रकार आनन्द से पुकार कर प्रणाम करने के लिये भूमि पर दण्ड की नाईं गिरा, जिस से उन गोप वेष धारी पुरुष की वहिर्दृष्टि होगई। उन्होंने जोकि सब सर्वज्ञोंमें शिरोमणि हैं, आये हुये उस ब्राह्मण को जिनका जन्म स्थान मथुरा, कामाख्या देश में निवास, तथा श्री मदन गोपाल के उपासक जान कर, कुञ्ज से बाहर आकर उस ब्राह्मण को उठा कर नमस्कार तथा आलिङ्गन किया, और उसको अपने पास बैठा लिया ॥ ९ -९३-९४ ॥

ततो जातबहिर्दृष्टिः स सर्व्वज्ञ-शिरोमणिः ।
ज्ञात्वा तं माथुरं विप्रं कामाख्यादेशवासिनम्९३
श्रीमन्मदनगोपालोपासकश्च समागतं ।
निःसृत्य कुञ्जादुत्थाप्य नत्वालिङ्ग्य न्यवेशयत्९४

अथातिथ्येन सन्तोष्य
विश्वासोत्पादनाय सः ।
किञ्चित्तेनानुभूतं यद्व्य-
ञ्जयामास सस्मितं ॥९५॥

इसके पश्चात् उन गोप वेश धारी पुरुष ने, उस को यथा योग्य आतिथ्य करके उसको संतुष्ट किया। फिर अपने में विश्वास उत्पादन कराने के लिये मुस्कराते हुये, जो उस ब्राह्मण ने अनुभव किया था, उसमें से कुछ वृत्तान्त उस ब्राह्मण को कह सुनाया ॥९५॥

बुद्ध्वा गोपकुमारं तं लब्ध्वेवात्मप्रियं मुदा ।
विश्वस्तोऽकथयत्तस्मिन् स्ववृत्तिं ब्राह्मणोऽखिलं
॥ ९६ ॥

उस ब्राह्मण ने, उसको गोप कुमार जान कर, जिसके मिलने से उसको अपने प्रिय के मिलने के समान आनन्द हुआ था, उस पर विश्वास किया। और उससे अपना समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥९६॥

सकार्पण्यमिदञ्चासौ प्रश्रितः पुनरब्रवीत् ।
तं सर्व्वज्ञ-वरं मत्वा सत्तमं गोपनन्दनं ॥९७॥

फिर वह ब्राह्मण उन श्रेष्ठ गोप कुमार को सर्वज्ञ जान कर विनय युक्त दीन होकर इस प्रकार कहने लगा ॥९७॥

श्रीब्राह्मण उवाच ।

श्रुत्वा वहुविधं साध्यं साधनञ्च ततस्ततः ।
प्राप्यं कृत्यश्च निर्णेतुं न किञ्चिच्छक्यते मया॥९८

श्रीब्राह्मण बोले ।

हे गोप कुमार ! मैंने यहां वहां बहुत प्रकार के साध्य साधन सुने, परन्तु अभी तक मैं यह निश्चय नहीं कर सका, कि मेरे लिये क्या कर्त्तव्य है। और क्या प्राप्ति स्थान है ॥९८॥

यच्च देव्याज्ञया किञ्चिदनुतिष्ठामि नित्यशः ।
तस्यापि किं फलं तच्च कतमत् कर्म्म वेद्मि न॥९९

मैं उस देवी की आज्ञा से नित्य प्रति कुछ अनुष्ठान कर रहा हूँ। परन्तु मैं यह नहीं जानता, कि यह क्या कर्म है, और इस कर्म के करने से क्या फल होगा ॥९९॥

तेनेदं विफलं जन्म मन्वानः कामये मृतिं ।
परं जीवामि कृपया शिवयोर्माधवस्य च ॥१००

इसलिये मैं अपने इस जन्म को निष्फल समझता हुआ मरने की इच्छा करता हूँ, परन्तु केवल श्री विश्वनाथ, श्री कामाख्या देवी तथा श्री माधव भगवान् की कृपा से अपने प्राणों को धारण कर रहा हूँ ॥१००॥

तयैवात्राद्य सर्व्वज्ञं दयालुं त्वां स्व-देववत् ।
प्राप्य हृष्टः प्रसन्नोऽस्मि कृपणं मां समुद्धर ॥१०१

उन्हीं की कृपा से यहां आज मैं, अपने इष्टदेव सरीखे, सर्वज्ञ, दयालु, आपको पाकर आनन्दित हुआ हूँ। हे प्रभो ! मैं बहुत दीन हूँ कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये ॥१०१॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

निशम्भ सादरं तस्य
वचनं स व्यचिन्तयत् ।
एतस्य कृतकृत्यस्य
जाता पूर्णार्थता किल ॥१०२॥

श्रीपरीक्षित जी बोले ।

श्री गोप कुमार ने आदर सहित उस ब्राह्मण के बचनों को सुना, और वह मन ही मन में यह विचार करने लगा, कि यह ब्राह्मण कृत-कृत्य हो गया है। केवल श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों के साक्षात् दर्शन को छोड़ कर और कोई कर्म इसका शेष नहीं रहा है ॥१०२॥

केवलं तत्पदाम्भोज-साक्षादीक्षावशिष्यते ।
तज्जपेऽर्हति नासक्तिं किन्तु तन्नाम-कीर्त्तने॥१०३

अब इसकी मन्त्र जाप में और आसक्ति की विशेष आवश्यक्ता नहीं है। बल्कि उनके श्रीनाम संकीर्तन में अधिक आसक्ति होनी चाहिये ॥१०३॥

श्रीमन्मदनगोपाल-पादाब्जोपासनात् परं ।
नामसंकीर्त्तनप्रायाद्वाञ्छातीतफलप्रदात् ॥१०४॥

श्रीमन् मदन गोपाल के चरणारविन्दों की उस उपासना से, अधिक और कोई भी साधन नहीं है, जिसमें प्रायः नाम संकीर्तन अधिक है और जो वांञ्छा से भी अधिक फल प्रदान करने वाली

तल्लीलास्थल-पालीनां श्रद्धा-सन्दर्शनादरैः ।
सम्पाद्यमानान्नितरां किञ्चिन्नास्त्येव साधनं१०५

सञ्जातप्रेमकाच्चास्माच्चतुर्व्वर्गविडम्बकात् ।
तत्पादाब्जवशीकारादन्यत् साध्यं न किञ्चन१०६

इति वोधयितुं चास्य सर्व्वसंशयनोदनं ।
स्व-वृत्तमेव निखिलं नूनं प्राक् प्रतिपादये ॥१०७
स्वयमेव स्वमाहात्म्यं कथ्यते यन्न तत् सतां ।
सम्मतं स्यात्तथाप्यस्य नान्याख्यानाद्धितं भवेत्
॥१०८॥

एवं विनिश्चित्य महानुभावो
गोपात्मजोऽसाववधार्य्य विप्रं ।
आत्मानुभूतं गदितुं प्रवृत्तः
पौराणिको यद्वदृषिः पुराणं॥१०९॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।
अत्रेतिहासा वहवो विद्यन्तेऽथापि कथ्यते ।
स्ववृत्तमेवानुस्मृत्य मोहादावपि सङ्गतं ॥११०॥

गोपालवृत्तवैंश्यस्य गोवर्द्धननिवासिनः ।
पुत्रोऽहमीदृशो वालः पुरा गाश्चारयन्निजाः॥१११
तस्मिन् गोवर्द्धने कृष्णातीरे वृन्दावनेऽत्र च ।
माथुरे मण्डले वालैः समं विप्रवर ! स्थितः॥११२

वन-मध्ये च पश्यामो नित्यमेकं द्विजोत्तमं ।
दिव्यमूर्त्तिं विरक्ताढ्यं पर्य्यटन्तमितस्ततः ॥११३
कीर्त्तयन्तं मुहुः कृष्णं जपध्यानरतं क्वचित् ।

है, जो उनके लीलास्थलों के श्रद्धा से दर्शन तथा प्रीति करने से भली प्रकार से सम्पन्न होती है। ॥ १०४-१०५ ॥

और साध्य भी उनके चरणारविन्दों के प्रेम को छोड़ कर, और कुछ नहीं है। जिस से आप वशीभूत हो जाते हैं, जिसके प्रभाव से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग में तुच्छ भाव हो जाता है॥१०६

इस लिये इस ब्राह्मण को साध्य साधन तत्व के बोध कराने के लिये, पहले मैं अपने समस्त चरित्र को इन से कहूँगा। जिससे इनके समस्त संशय दूर हो जायेंगे। यद्यपि अपनी महिमा को स्वयं अपने मुख से वर्णन करना, यह श्रेष्ठ पुरुषों का मत नहीं हैं, तो भी इस ब्राह्मण का और दूसरे आख्यान के सुनने से कभी भी हित नहीं होगा ॥१०७-१०८॥

इस प्रकार निश्चय करके वह महानुभाव गोप कुमार, उस ब्राह्मण को सावधान करके, अपना स्वयं बीता हुआ चरित्र इस प्रकार से कहने के लिये प्रवृत्त हुये, जैसे पुराण कहने वाले ऋषि लोग पुराणों को वर्णन करते हैं ॥१०९॥

श्रीगोपकुमारजी बोले ।

इस विषय में बहुत इतिहास विद्यमान हैं। तो भी मैं अपने बीते हुये तथा अपने मूर्छित अवस्था के चरित्रों को याद करके कहता हूँ ॥११०॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! मैं इसी बाल अवस्था में पहले एक वैश्य का लड़का था, जो कि गोवर्धन में रहता था, और गोपाल वृत्ति करता था। मैं भी मथुरा मण्डल के अन्तर्गत यहां श्री वृन्दावन में श्रीयमुनाजी के तट पर, श्री गोवर्धन में ग्वाल वालों के साथ रह कर गैया चराता था ॥१११-११२

इस वन में, मैं एक श्रेष्ठ ब्राह्मण को नित्य प्रति देखता था, जिसकी दिव्य मूर्ति थी, और वह बड़ा विरक्त था। वह इधर-उधर भ्रमण करता हुआ बार-बार श्रीकृष्ण नाम का कीर्तन करता रहता था। कभी-कभी वह जप ध्यान में बैठ जाता था, कभी नृत्य करने, कभी गाने, कभी हँसने,

नृत्यन्तं क्वापिगायन्तं क्वापि हासपरं क्वचित् ।११४

विक्रोशन्तं क्वचिद्भूमौस्खलन्तं क्वापि मत्तवत् ।
लुठन्तं भुवि कुत्रापि रुदन्तं क्वचिदुच्चकैः ॥११५॥

विसंज्ञं पतितं क्वापि श्लेष्मलालाश्रु-धारया ।
पङ्कयन्तं गवां वर्त्म-रजांसि मृतवत् क्वचित्॥११६

कभी चिल्लाने लगता था। कभी भूमि पर गिर पड़ता था, कभी मत्त होकर भूमिपर लौटने लगता था। कभी उच्चस्वर से रोने लगता था। कभी मूर्च्छित होकर गिर पड़ता था। कभी अपनी अश्रुधारा तथा मुख की लार आदि से गौओं की धूलि युक्त रास्ते की भूमि को कीच कर देता था। कभी वह मृतप्राय हो जाता था ॥११३। ११४। ११५। ११६॥

कौतुकेन वयं वाला यामोऽमुं वीक्षितुं सदा ।
स तु गोपकुमारान्नो लब्ध्वा नमति भक्तितः॥११७

गाढमाश्लिष्यति प्रेम्णा सर्वाङ्गेषु सचुम्वनं ।
परित्यक्तुं न शक्नोति मादृशान् प्रियबन्धुवत्।११८

हम सब ग्वाल बाल केवल खेल समझ कर नित्य प्रति उनके दर्शन को जाते थे। परन्तु वह हम सब को देखकर भक्ति सहित प्रणाम करता था। और हमारा प्रेम सहित गाढ़ आलिङ्गन करके चुम्बन करता था। उस समय वह हम को अपने प्रिय बन्धुओं की तरह छोड़ ने में असमर्थ हो जाता था ॥ ११७। ११८॥

मया गोरसदानादिसेवयासौ प्रसादितः ।
एकदा यमुनातीरे प्राप्यालिङ्ग्य जगाद मां॥११९

मैं ने उनको गोरस दान आदि की सेबा से प्रसन्न किया था। एक दिन मुझको यमुना किनारे पाकर उन्होंने मेरा आलिङ्गन किया। और वह मुझ से इस प्रकार कहने लगे ॥ ११९॥

वत्स ! त्वं सकलाभीष्ट-सिद्धिमिच्छसि चेदिमं ।
प्रसादं जगदीशस्यस्नात्वा केश्यां गृहाणमत्।१२०

"हे वत्स ! यदि तुम सकल अभीष्ट सिद्धि करने की इच्छा करते हो, तो इस केशीघाट में स्नान कर के मुझे से जगदीश के इस प्रसाद को ग्रहण करो" ॥ १२०॥

एवमेतं भवन्मन्त्रं स्नातायोपदिदेश मे ।
पूर्णकामोऽनपेक्ष्योऽपि स दयालुशिरोमणिः॥१२१

यद्यपि वह ब्राह्मण पूर्ण काम था, और उनको किसी चीज़ की भी अपेक्षा नहीं थी। तो भी क्योंकि वह दयालु-शिरोमणि थे, इसलिये उन्होंने मुझको स्नान करवा कर उसी (दशाक्षर गोपाल) मन्त्र का उपदेश किया जोकि आपका मन्त्र है ॥१२१

पूजाविधिं शिक्षयितुं ध्येयमुच्चारयन् जपे ।
प्रेमाकुलो गतो मोहं रुदन् विरहिणीव सः॥१२२॥

जब वह उस मन्त्र की पूजा विधि शिक्षा देने के लिये जप का ध्यान बताने लगे, तब वह विरहिणी की तरह रुदन करने लगे, और मोह को प्राप्त हो गये ॥ १२२॥

संज्ञां प्राप्तोऽथ किञ्चिन्न प्रष्टुं शक्तो मया भिया ।
उत्थाय विमनस्कोऽगात्क्वापि प्राप्तः पुनर्नसः॥१२३

इसके पश्चात् जब उनको चेत हुआ, तो मैंने उनसे भय से कुछ नहीं पूछा। और वह उठकर उदास से होकर कहीं चले गये। इसके बाद मुझको उनका दर्शन नहीं हुआ ॥ १२३॥

मया तु किमिदं लब्धं किमस्य फलमेव वा ।
मन्त्रः कथं साधनीय इति ज्ञातं न किञ्चन ।।१२४

मैं ने यह नहीं जाना, कि यह मन्त्र क्या है, इसका क्या फल है । इस मंत्र का किस प्रकार साधन करना चाहिये ॥ १२४ ॥

तद्वाक्य-गौरवेणैव मन्त्रं तं केवलं मुखे ।
केनाप्यलक्षितोऽजस्रं जपेयं कौतुकादिव ।।१२५।।

मैं उस मन्त्र का उस ब्राह्मण के वाक्य के गौरव से ही खेल की तरह, अलक्ष्य स्थान में जाकर केवल अपने मुख से ही निरन्तर जप करता रहता था ॥ १२५ ॥

तन्महापुरुषस्यैव प्रभावात्तादृशेन च ।
जपेन चित्त-शुद्धिर्मे तत्र श्रद्धाप्यजायत ।।१२६।।

उस महा पुरुष ब्राह्मण के प्रभाव से, इस प्रकार के जप करने से मेरा चित्त शुद्ध हो गया । और मेरा उस मन्त्र में विश्वास हो गया ॥ १२६ ॥

तद्वाक्यञ्चानुसन्धाय जगदीश्वरसाधकं ।
तं मन्त्रं मन्यमानोऽहं तुष्यन्नजपपरोऽभवं।।१२७

उस ब्राह्मण के वाक्य को याद करके, कि यह मन्त्र जगदीश्वर की प्राप्ति कराने वाला है मैं प्रसन्न होकर नित्य प्रति उसका जप करने लगा ॥ १२७ ॥

कीदृशो जगदीशोऽसौ कदा वा दृश्यतां मया ।
तदेकलालसो हित्वा गृहादीनुजाह्नवीमगां।।१२८

मैं केवल इस लालसा से, कि वह जगदीश किस प्रकार का है; और उसके मुझको कब दर्शन होंगे, अपने घर बार को छोड़ कर श्री गंगा जी के तट पर चला गया ॥ १२८ ॥

दूराच्छङ्ख-ध्वनिं श्रुत्वा तत्पदं पुलिनं गतः ।
विप्रं वीक्ष्यानमं तत्र शालग्रामशिलार्चकं ।।१२९

वहाँ दूर से शंख ध्वनि सुन कर मैं गंगा के उस किनारे पर पहूँचा, जहाँ से कि वह ध्वनि आ रही थी । वहाँ एक ब्राह्मण को देखकर, जोकि श्रीशालिग्राम भगवान की पूजा कर रहा था, मैं ने उनको प्रणाम किया ॥ १२९ ॥

कमिमं यजसि स्वामिन्निति पृष्टो मया हसन् ।
सोऽवदत्किं न जानासि वालायं जगदीश्वरः।।१३०

उनसे यह पूछा "हे स्वामिन् ! आप यह किसकी पूजा कर रहे हैं" तब हँसते हुये उसने कहा-"हे बालक ! क्या तुम नहीं जानते, ये जगदीश्वर हैं" ॥ १३० ॥

तच्छ्रुत्वाहं सुसंप्राप्तो निधिं लब्ध्वेव निर्द्धनः ।
नष्टं वा वान्धवा वन्धुं परमां मुददासवान्।।१३१

यह सुन कर मुझको इस प्रकार का आनन्द हुआ, जैसे निर्धन को धन पाकर, अथवा जिसके बन्धु बान्धव मर गये हों, उनके पुनः प्राप्त होने से सुख होता है ॥ १३१ ॥

जगदीशं मुहुः पश्यन् दण्डवत्प्रश्रद्धयानमम् ।
पादोदकं सनिर्म्माल्यं विप्रस्य कृपयाप्नुवं ।।१३२

मैं उन जगदीश्वर को बार बार दर्शन करके श्रद्धा से दण्डवत् प्रणाम करता था । फिर उस ब्राह्मण की कृपा से मुझको उनका चरणामृत प्रसाद मिला ॥ १३२ ॥

उद्यतेन गृहं गन्तुं
करण्डे तेन शायितं ।
जगदीशं विलोक्यार्त्तो
व्यालपं सास्रमीदृशं॥१३३॥

इसके पश्चात् जब कि वह ब्राह्मण अपने घर जाने के लिये उद्यत हुआ, और उसने उन श्री शालिग्राम भगवान् को अपने बक्स में शयन कर दिया। तो मैं अपने जगदीश को इस प्रकार देख कर आर्त्त होकर अश्रु बहाता हुआ इस प्रकार विलाप करने लगा॥१३३॥

हा! हा! धृतः करण्डान्तरस्थाने परमेश्वरः।
किमप्यसौ न चाभुङ्क्त निद्रा तु क्षुधया कथं१३४

हाय! हाय! बड़ा अन्याय किया! आपने मेरे परमेश्वर को बक्स में बन्ध कर दिया। इन्होंने कुछ भी नहीं खाया है। यह भूख से व्याकुल हैं इनको कैसे निद्रा आयेगी॥१३४॥

प्रकृत्यैव न जानामि माथुरब्राह्मणोत्तम!।
अस्माद्विलक्षणः कश्चित् क्वाप्यस्तिजगदीश्वरः
॥१३५॥

हे मथुरा बासी श्रेष्ठ ब्राह्मण! उस समय, मैं वास्तव में इनके अतिरिक्त कहीं भी, और किसी जगदीश्वर को नहीं जानता था॥१३५॥

इत्यकृत्रिमसन्तापं विलापातुरमब्रवीत्।
ब्राह्मणः सान्त्वयित्वा मां ह्रीणवद्विनयान्वितः
॥१३६॥

वह ब्राह्मण मुझ को यह जान कर कि इसका सन्ताप और विलाप बनावटी नहीं है, लज्जा युक्त होकर विनय से मुझको सान्त्वना देता हुआ यह कहने लगा॥१३६॥

नववैष्णव! किं कर्त्तुं दरिद्रः शक्नुयां परं।
अर्पयामि स्व-भोग्यं हि जगदीशाय केवलं॥१३७

"हे नये भक्त! मैं दरिद्री हूँ, क्या कर सकता हूँ। मैं केवल अपने भोजन के द्रव्य को जगदीश्वर के अर्पण कर देता हूँ॥१३७॥

यदि पूजोत्सवं तस्य वैभवञ्च दिदृक्षसे।
तदैतद्देश-राजस्य विष्णु-पूजानुरागिणः॥१३८॥
महासाधोः पुरीं याहि वर्त्तमानामदूरतः।
तत्र साक्षात् समीक्षस्व दुर्दर्शं जगदीश्वरं॥३९॥

यदि आपको इन जगदीश्वर की पूजा उत्सवों तथा वैभवों के देखने की इच्छा है, तो आप इसी देश के वर्तमान राजा, जोकि श्रीविष्णु पूजा के बड़े अनुरागी हैं, और बड़े साधु हैं, निकट ही उनकी पुरी में जाइये। वहां साक्षात् उन जगदीश्वर के दर्शन कीजिये जो बहुत दुर्लभता से प्राप्त होते हैं॥१३८-१३९॥

हृत्पूरकं महानन्दं सर्व्वथानुभविष्यसि।
इदानीमेत्य मद्गेहे भुङ्क्ष्व विष्णु-निवेदितं॥१४०

उनके दर्शन से आप तृप्ति पूर्वक सर्व प्रकार के परमानन्द का अनुभव करोगे। अब आप मेरे घर चल कर, श्री विष्णु निवेदित प्रसाद ग्रहण कीजिये॥ १४०॥

तद्वाचानन्दितोगत्वा क्षुधितोऽपि तदालयं।
तं प्रणम्य तदुद्दिष्टवर्त्मना तां पुरीमगां॥१४१॥

मैं उन ब्राह्मण के वचन सुन कर बड़ा आनन्दित हुआ। और भूख लगने पर भी मैं उसके घर नहीं गया, बल्कि उनको प्रणाम करके उनके दिखाये हुये रास्ते से, उस पुरी में पहुँचा॥१४१॥

अन्तःपुरे देव-कुले जगदीशार्च्चण-ध्वनिं ।
अपूर्व्वं तुमुलं दूराच्छ्रुत्वापृच्छममुं जनान् ॥१४२

विज्ञाय तत्र जगदीश्वरमीक्षितुं तं
केनाप्यवारितगतिः सजवं प्रविश्य ।
शङ्खारि-पङ्कज-गदा-विलसत्कराब्जं
श्रीमच्चतुर्भुजमपश्यमहं समर्चं ॥१४३॥

सर्व्वाङ्गसुन्दरतरं नवमेघ-कान्ति
कौशेयपीतवसनं वनमालयाढ्यं ।
सौवर्णभूषणमवर्ण्यकिशोरमूर्त्ति
पूर्णेन्दुवक्त्रममृतस्मितमब्जनेत्रं ॥१४४॥

सम्पूजितं विविधदुर्लभवस्तु-वर्गैः
सेवानुषक्तपरिचारक-वृन्द-जुष्टं ।
नृत्यादिकञ्च पुरतोऽनुभवन्तमारा-
त्तिष्ठन्तमासन-वरे सुपरिच्छदाढ्यं ॥१४५

वहाँ राजा के महल में एक देव मन्दिर था, जहाँ से जगदीश के पूजन की बड़ी अपूर्व ध्वनि आ रही थी। उसको मैंने दूर से सुना, और लोगों से जब उसके विषय में पूछा, तब यह मालूम हुआ कि यह जगदीश्वर भगवान् का मन्दिर है। उनके दर्शन करने के लिये मेरी बड़ी उत्कट इच्छा हुई, और मैं बिना किसी रोक टोक के भागता हुआ वहां पहुँचा। मैंने सामने ही उन श्रीचतुर्भुज भगवान् का दर्शन किया, जिनके हस्तकमलों में शंख चक्र पद्म गदा विराजमान हैं। जिनके सर्वाङ्ग बहुत सुन्दर हैं, जिन की कान्ति नवीन मेघ के समान है, जो रेशमी पीत वस्त्र धारण किये हुये हैं। जो वन-माला और स्वर्ण के भूषणों से आभूषित हैं, जिनका अपूर्व किशोर स्वरूप है, मुखारविन्द पूर्ण चन्द्रमा सरीखा है, जिनका मन्द हास अमृत के समान, तथा नेत्र कमल, कमल के सदृश हैं, जिनका विविध प्रकार की दुर्लभ-दुर्लभ वस्तुओं से पूजन हो रहा है, जिनकी सेवा में अनुरागी परिचारक गण लगे हुये हैं, जिनके सामने बहुत प्रकार के नृत्य गान आदि हो रहे हैं, और वह प्रभु ठाट बाट से एक उच्च सुन्दर सिंहासन पर विराजमान हैं ॥१४२-१४३-१४४-१४५॥

परमानन्दपूर्णोऽहं प्रणमन् दण्डवन्मुहुः ।
व्यचिन्तयमिदं स्वस्यापश मद्य दिदृक्षितं ॥१४६

मैंने बड़ा आनन्दित होकर उनको बार-बार दण्डवत् प्रणाम किया। और मैं मन ही मन में यह विचार करने लगा कि जिनके दर्शन करने की मेरी बहुत दिनों से अभिलाषा थी आज मैंने उनके दर्शन किये ॥ १४६ ॥

सम्प्राप्तो जन्मसाफल्यं न गमिष्याम्यतः क्वचित् ।
वैष्णवानाञ्च कृपया तत्रैव न्यवसं सुखं ॥१४७॥

उस समय मैंने अपने जन्म को सफल समझा, और यह विचार किया, अब यहाँ से कहीं भी नहीं जाऊँगा। और मैं वहाँ वैष्णवों की कृपा से सुख पूर्वक रहने लगा ॥१४७॥

भुञ्जानो विष्णु-नैवेद्यं पश्यन् पूजा-महोत्सवं ।
शृण्वन् पूजादि-माहात्म्यं यत्नान्मन्त्रं रहोजपन्
॥१४८॥

मैं वहाँ पूजा महोत्सवों के दर्शन करके, विष्णु भगवान् के प्रसाद को पाकर, पूजादि माहात्म्य को सुनता रहता था। और निर्जन स्थान पर अपने मन्त्र का भी जप करता था ॥१४८॥

अस्यास्तु ब्रज-भूमेः श्रीगोपक्रीडा-सुखञ्च तत् ।
कदाचिदपि मे ब्रह्मन् ! हृदयान्नापसर्पति ॥१४९

परन्तु हे ब्राह्मण ! ऐसा होते हुये भी मैं अपनी इस ब्रज-भूमि शोभाको और गोप बालकों के साथ खेलने के आनन्द को कभी भी हृदय से नहीं भूलता था ॥ १४९ ॥

एवं दिनानि कतिचित् सानन्दं तत्र तिष्ठतः ।
तादृक् पूजाविधाने मे परमा लालसाजनि॥१५०

इस प्रकार आनन्द से रहते-रहते मुझको बहुत दिन बीत गये। फिर जिस प्रकार वहां पूजा होती थी, उसी प्रकार करने की मेरी भी बड़ी अभिलाषा हुई ॥ १५० ॥

अथापुत्रः स राजा मां वैदेशिकमपि प्रियात् ।
सुशीलं वीक्ष्य पुत्रत्वे परिकल्प्याचिरान्मृतः१५१

वहां के उन राजा के कोई पुत्र नहीं था, वह मुझको दूसरे देश का होते हुए भी, सुशील देख कर बड़ा प्यार करते थे। इसलिये उन्होंने मुझको ही गोद ले लिया, और थोड़े काल के बाद उस राजा ने देह छोड़ दिया ॥ १५१ ॥

मया च लब्धा तद्राज्यं विष्णु-पूजा मुदाधिका।
प्रवर्त्तिता तदन्नैश्च भोज्यन्ते साधवोऽन्वहं ॥१५२

उस राज्य को पाकर मैं विष्णु भगवान् की पूजा आनन्द से करने लगा। मैंने भोग राग को और अधिक बढ़ा दिया, जिससे नित्य प्रति बहुत साधु महात्मा भोजन करने लगे ॥१५२॥

स्वयञ्च क्वचिदासक्तिमकृत्वा पूर्व्ववद्वसन् ।
जपं निर्व्वाहयन् भुञ्जे प्रसादान्नं प्रभोः परं १५३

मैं यह सब करता हुआ भी पहले की तरह अनासक्त होकर रहता था, और अपने नित्य नियमित जप को समाप्त करके केवल प्रभु के प्रसाद रूप अन्न को ही पाता था ॥१५३॥

राज्ञोऽस्य परिवारेभ्यः प्रादां राज्यं विभज्य तत् ।
तथापि राज्यसम्बन्धाद्दुःखं मे बहुधोद्भवेत् ॥१५४
कदापि पर-राष्ट्राद्भीः कदाचिच्चक्रवर्त्तिनः ।
विविधादेशसन्दोह-पालनेनास्वतन्त्रता ॥१५५॥

मैंने उस राज्य को विभाग करके उस राजा के बन्धु बान्धवों में बांट दिया था, तो भी राज्य सम्बन्धि मुझको बहुत प्रकार के दुःख प्राप्त हुए। कभी तो दूसरे राजाओं का डर, कभी चक्रवर्ती के आधीन होकर उसके नाना प्रकार के आदेशों का पालन करना इत्यादि ॥१५४-१५५॥

जगदीश्वर-नैवेद्यं स्पृष्टमन्येन केनचित् ।
नीतं वहिर्व्वा सन्दिग्धो न भुङ्क्ते कोऽपि सज्जनः
॥ १५६ ॥

उस मन्दिर की सेवा में भी यह दुःख था, कि श्री जगदीश्वर भगवान् के प्रसादी अन्न को यदि अन्य कोई छू देता था, अथवा मन्दिर के बाहर ले जाता था, तो उसको कोई भी श्रेष्ठ पुरुष सन्देह युक्त होकर, ग्रहण नहीं करता था ॥१५६॥

मर्म्मशैल्येन चैतेन निर्व्वेदो मे महानभूत् ।

ऐसा करने से मुझको इतना दुःख होता था, जैसे किसी के हृदय में बरछी लगने से होता है। इत्यादि कारणों से यद्यपि मुझको राज्य से तीव्र

नेशे दिदृक्षितं साक्षात् प्राप्तं त्यक्तुञ्च तं प्रभुं १५७

वैराग्य होगया था तो भी मैं उन प्रभु को साक्षात् पाकर छोड़ने में असमर्थ था, जिनके दर्शन करने की मेरी चिरकाल से अभिलाषा थी ॥१५७॥

एतस्मिन्नेव समये तत्र दक्षिण-देशतः ।
समागतैः साधुवरैः कथितं तैर्थिकैरिदं ॥१५८॥

उस समय वहां दक्षिण देश से कई श्रेष्ठ साधु आये थे, जोकि तीर्थ यात्रा कर रहे थे, उन्होंने मुझको इस प्रकार कहा ॥१५८॥

दारुब्रह्मजगन्नाथो भगवान् पुरुषोत्तमे ।
क्षेत्रे नीलाचले क्षारार्णव-तीरे विराजते ॥१५९॥

"समुद्र के किनारे नीलाचल पर्वत पर पुरुषोत्तम क्षेत्र में दारुविग्रह स्वरूप से साक्षात् भगवान् श्री जगन्नाथ जी बिराजमान हैं" ॥१५९॥

महाविभुतिमात्राज्यमौत्कलं पालयन् स्वयं ।
व्यञ्जयन्निज-माहात्म्यं सदा सेवक-वत्सलः १६०

"जो कि बड़े विभूति शाली हैं, सदा सेवक वत्सल हैं और उड़ीसा राज्य को स्वयं पालन करते हुए बिराजमान हैं। जो अपनी महिमा को स्वयं प्रकाश कर रहे हैं" ॥१६०॥

यस्यान्नं पाचितं लक्ष्म्या स्वयं भुक्त्वा दयालुना
दत्तं तेन स्व-भक्तेभ्यो लभ्यते देव-दुर्लभं॥१६१॥
महाप्रसादसंज्ञञ्च तत्पृष्टं येन केनचित् ।
यत्र कुत्रापि वा नीतमविचारेण भुज्यते ॥१६२॥

"जहाँ श्री लक्ष्मी जी भोग सामिग्री स्वयं अपने हाथों से बनाती हैं, जिसको वह दयालु भगवान् स्वयं भोजन करके उस अवशिष्ट प्रसाद को अपने भक्तों को दे देते हैं, जो देवताओं को भी दुर्लभ है और जिसकी महाप्रसाद संज्ञा है, जो अन्य किसी के छू जाने से भी निर्दूषित रहता है। इस लिये उसको कोई भी छू सकता है। और उसको जहाँ कहीं भी ले जाकर बिना विचार किये हुए सब लोग ग्रहण करते हैं" ॥१६१-१६२॥

अहो ! तत्क्षेत्र-माहात्म्यं गर्दभोऽपि चतुर्भुजः ।
यत्र प्रवेशमात्रेण न कस्यापि पुनर्भवः ॥१६३॥

"अहो ! उस धाम की महिमा को क्या वर्णन करें, जहाँ धाम की महिमा से गधा भी चतुर्भुज स्वरूप है। जहाँ केवल प्रवेश करने से ही जीव आवा-गमन से छूट जाता है" ॥१६३॥

प्रफुल्लपुण्डरीकाक्षो तस्मिन्नत्रेक्षिते जनैः ।
फलं स्यादेवमश्रौषमाश्चर्य्यं पूर्व्वमश्रुतं ॥१६४॥

"उन कमल नेत्र भगवान् के दर्शन करने से ही सब पुरुषों का जन्म सफल हो जाता है।" इस प्रकार मैंने वहाँ की अद्भुत अपूर्व महिमा सुनी जो मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी" ॥१६४॥

तद्दिदृक्षाभिभूतोऽहं सर्व्वं सन्त्यज्य तत्क्षणे ।
संकीर्त्तयन् जगन्नाथमौड्रदेश-दिशं श्रितः॥१६५॥

तब मेरी उनके दर्शन करने की अत्यन्त इच्छा हुई। मैंने उसी क्षण राज्यादि सब परित्याग करके श्रीजगन्नाथ भगवान् का कीर्तन करते हुये उड़ीसा देश का रास्ता लिया ॥१६५॥

तत्क्षेत्रमचिरात् प्राप्तस्तत्रत्यान् दण्डवन्नमन् ।

मैं बहुत जल्दी उस क्षेत्र में पहुँचा। मैंने वहाँ के बासियों को दण्डवत प्रणाम किया। उन

अन्तःपुरं प्रविष्टोऽहं तेषां करुणया सतां ॥१६६॥

दूराददर्शि पुरुषोत्तम-वक्त्र-चन्द्रो
भ्राजद्विशालनयनो मणिपुण्ड्रभालः ।
स्निग्धाभ्रकान्तिररुणाधरदीप्तिरम्यो
ऽशेषप्रसादविकसत्स्मितचन्द्रिकाढ्यः॥१६७

तत्राग्रतो गन्तुमनाश्च नेशे
प्रेम्णा हतो वेपथुभिर्निरुद्धः ।
रोमाञ्चभिन्नोऽश्रुविलुप्तदृष्टिः
स्तम्भं सुपर्णस्य कथञ्चिदाप्तः॥१६८॥

दिव्याम्बरालङ्करणस्रगावली-
व्याप्तं मनो-लोचन-हर्षवर्द्धनं ।
सिंहासनस्योपरि लीलया स्थितं
भुक्त्वा महाभोगगणान् मनोहरान्॥१६९
प्रणाम-नृत्य-स्तुति-वाद्य-गीत-
परांस्तु सप्रेम विलोकयन्तं ।
महामहिम्नां पदमीक्ष्यमाणो
ऽपतं जगन्नाथमहं विमुह्य ॥१७०॥

संज्ञां लब्ध्वा समुन्मील्य लोचने लोकयन् पुनः।
उन्मत्त इव तं धर्त्तुं सवेगोऽधावमग्रतः ॥१७१॥

चिराद्दिदृक्षितो दृष्टो जीवितं जीवितं मया ।

प्राप्तोऽद्य जगदीशोऽयं निज-प्रभुरिति ब्रुवन्॥१७२

सवेत्रघातं प्रतिहारिभिस्तदा
निवारितो जातविचारलज्जितः ।

सज्जनों की कृपा से फिर मैंने अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥ १६६ ॥

तब दूर से श्री पुरुषोत्तम भगवान् के उस मुख चन्द्र के दर्शन किये, जोकि बड़े-बड़े नेत्र कमलों से सुशोभित हैं, जिनके मस्तक पर मणियों का तिलक चमक रहा है, जिनकी कान्ति मनोहर मेघ के समान है, अरुण अधर देदीप्यमान हैं, और जिनका मन्द हास इस प्रकार का है मानो समस्त जनों पर उनकी असीम कृपा का विकास हो रहा है ॥१६७॥

मेरे मन में यह आया, कि मैं उनके पास जाऊँ, परन्तु प्रेम ने मुझको रोक लिया। मेरा देह रोमाञ्चित होकर काँपने लगा। अश्रुओं की धारा बहने से उस समय मुझको कुछ नहीं दीख पड़ता था और मैं बड़ी कठिनता से गरुड़ खम्बा तक पहुँचा ॥१६८॥

फिर मैंने उन भगवान्, जो दिव्य वस्त्र अलंकार माला धारण किये हुये हैं, जिनके दर्शन मन तथा नेत्रों के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं, जो अनेक प्रकार के मनोहर-मनोहर भोगों को भोगते हुए सुन्दर सिंहासन पर सुशोभित हैं, जो अपने समक्ष में गीत वाद्य नृत्य स्तुति प्रणाम आदि करने वालों को कृपा दृष्टि से देख रहे हैं जो बड़ी-बड़ी महिमाओं के आश्रय स्वरूप हैं, ऐसे श्री जगन्नाथजी के दर्शन करके मैं मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। इसके पश्चात् जब मुझको चेत हुआ, तब मैंने अपने नेत्र खोल कर फिर उनके दर्शन किये। मैं उन्मत्त सा होकर वेग से दौड़ता हुआ, उनको आलिङ्गन करने के लिये आगे चला ॥१६९-१७०-१७१

उस समय मैं इस प्रकार कहता हुआ जाता था "आज मुझको उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिनके लिये मैं चिरकाल से अभिलाषा कर रहा था। अहो! आज इन जगदीश के दर्शन से मेरा जन्म सफल हुआ। यही मेरे निज प्रभु हैं" ॥१७२॥

मैं (ज्योंही प्रभु को आलिङ्गन करने के लिये आगे बढ़ा) त्योंहीं वहाँ के दर्वानों ने मुझको बेतों

प्रभोः कृपां तामनुमन्य निर्गतो
महाप्रसादान्नमथाप्नुवं बहिः ॥१७३॥

तद्भुक्त्वा सत्वरं ब्रह्मन् ! भगवन्मन्दिरं पुनः ।
प्रविश्याश्चर्य्य-जातं यन्मया दृष्टं मुदां पदं ॥१७४

हृदि कर्त्तुं न शक्यते तत् कथं क्रियतां मुखे ।
एवं तत्रदिवा पूर्णं स्थित्वानन्दोऽनुभूयते ।१७५॥

रात्रौ महोत्सवे वृत्ते वृहच्छृङ्गारसम्भवे ।
निर्गम्य ते तु निर्वृत्ते पुष्पाञ्जलिमहोत्सवे॥१७६

नेत्थं ज्ञातः सतां सङ्गे कालो नवनवोत्सवैः ।
तदैवास्या व्रजभुवः शोको मे निरगादिव॥१७७

श्रीजगन्नाथदेवस्य सेवकेषु कृपोत्तमा ।
विविधाज्ञा च सर्व्वत्र श्रूयतेऽप्यनुभूयते ॥१७८॥

नान्यत् किमपि रोचेत जगन्नाथस्य दर्शनात् ।
पुराणतोऽस्य माहात्म्य-शुश्रूषापि निवर्त्तते।१७९

शारीरं मानसं वा स्यात् किञ्चिद्दुःखं कदाचन ।
तच्च श्रीपुण्डरीकाक्षे दृष्टे सद्यो विनश्यति॥१८०

फलं लब्धं जपस्येति मत्वोदासे स्म तत्र च ।
एवं चिरदिनं तत्र न्यवसं परमैः सुखैः ॥१८१॥

अथ तस्यान्तरीणायां सेवायां कर्हिचित् प्रभोः ।

से मारा और भीतर जाने से रोक दिया। तब मुझको होश आया और मैं बड़ा लज्जित हुआ। इसको भी मैंने प्रभु की कृपा ही समझा। जब मैं बाहर आया तब मुझको महाप्रसाद मिला ॥१७३॥

हे ब्रह्मन् ! उसको पाकर मैं जल्दी से फिर भगवान के मन्दिर में गया वहां जाकर जो मैं ने देखा, उससे मुझको इतना आनन्द तथा आश्चर्य हुआ, जोकि मेरे हृदय में नहीं समाता है। उसको मैं, अपने मुख से किस तरह वर्णन करूँ। इस प्रकार मैंने सारे दिन वहाँ रह कर आनन्द अनुभव किया ॥ १७४। १७५ ॥

रात्रि में बड़े शृङ्गार के उत्सव के पश्चात् पुष्पाञ्जलि होने बाद मैं वहाँ से बाहर आया ॥१७६

साधु महात्माओं के साथ इस प्रकार के नये नये उत्सवों को देख कर मुझको समय का ज्ञान नहीं रहा। मैं इस आनन्द में व्रज-भूमि के विच्छेद के दुख को भी भूल सा गया ॥१७७

श्रीजगन्नाथ जी की अपने सेवकों के प्रति जो उत्तम कृपा है, और जो वह विविध प्रकार की उनको आज्ञा करते हैं, इस बात को मैं ने जहाँ तहाँ श्रवण भी किया, और स्वयं भी अनुभव किया ॥ १७८ ॥

तब मुझको उनके दर्शन छोड़ कर और कुछ अच्छा नहीं लगता था। इसलिये श्रीजग-न्नाथ महिमा आत्मक जो वहाँ पुराण पाठ होता था, उसके सुनने की भी मेरी इच्छा निवृत होगई ॥ १७९ ॥

मुझको शारीरिक तथा मानसिक दुख जब कभी हो जाते थे, वह भी कमल नेत्र श्रीजगन्नाथ भगवान के दर्शन से शीघ्र नष्ट हो जाते थे ॥१८०॥

मैं यह समझ कर कि मुझको अपने जप का फल मिल गया है उस जप से कुछ उदा-सीन सा रहने लगा। इस प्रकार चिरकाल तक मैंने वहाँ आनन्द पूर्वक निवास किया ॥ १८१ ॥

इसके पश्चात् मेरी यह रुचि हुई, कि मैं प्रभु की कोई एक अन्तरंग सेवा करूँ। परन्तु

जाता रुचिर्म्मे तापोऽपि तस्या अघटनान्महान्
॥ १८२ ॥

यश्चक्रवर्त्ती तत्रत्यः स प्रभोर्मुख्यसेवकः ।

श्रीमुखं वीक्षितुं क्षेत्रे यदा याति महोत्सवे॥१८३

सज्जनोपद्रवोद्यानभङ्गादौ वारितेऽप्यथ ।

मादृशोऽकिञ्चनाः स्वैरं प्रभुं द्रष्टुं न शक्नुयुः१८४

एवमुद्भूतहृद्रोगोऽद्राक्षं स्वगुरुमेकदा ।
श्रीजगन्नाथदेवाग्रे परमप्रेमविह्वलं ॥ १८५ ॥
न स सम्भाषितुं शक्तो मया तर्हि गतः क्वचित् ।
अलक्षितो जगन्नाथ-श्रीमुखाकृष्टचेतसा ॥१८६॥
इतस्ततो मृग्यतासौ दिनेऽन्यस्मिंस्तटे ऽम्बुधेः ।
नामसंकीर्त्तनानन्दैर्नृत्यल्लब्धो मयैकलः॥१८७॥

दण्डवत् प्रणमन्तं मां दृष्ट्वाशीर्व्वादपूर्व्वकं ।
आश्लिष्याज्ञापयामास सर्व्वज्ञोऽनुग्रहादिदं ॥१८८

यद्यत्संकल्प्य भो वत्स ! निजं मन्त्रं जपिष्यसि ।

तत्प्रभावेण तत् सर्व्वं वाञ्छातीतञ्च सेत्स्यति
॥ १८९ ॥

श्रीजगन्नाथदेवस्य सेवारूपञ्च विद्धि तं ।

एवं मत्वा च विश्वस्य न कदाचिज्जपं त्यजेः॥१९०

त्वमेतस्य प्रभावेण चिरजीवी भवान्वहं ।

जब मैं उसको प्राप्त नहीं कर सका, तो मुझको बड़ा सन्ताप हुआ ॥ १८२ ॥

वहाँ के जो चक्रवर्ती राजा थे वह प्रभु के प्रधान सेवक थे, जबकि किसी किसी महोत्सव के अवसर पर भगवान के दर्शन करने को जाते थे, तो यद्यपि उनकी आज्ञा थी कि मेरे आने के समय साधु-सन्तों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे, वहाँ के बगीचा आदि को कोई नष्ट नहीं कर सके, तो भी मेरे जैसे दरिद्रियों को उस समय प्रभु के दर्शन भली प्रकार नहीं होते थे ॥ १८३ ॥ १८४ ॥

इस प्रकार मेरे हृदय में दुख रहने लगा। तब मुझको एक दिन श्रीजगन्नाथ जी के समक्ष में अपने श्रीगुरुदेव जी के दर्शन हुये, जो प्रेम से परम विह्वल हो रहे थे। इस लिये उस समय, मैं उनसे सम्भाषण नहीं कर सका। जब मेरा मन श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन में लगा हुआ था तब वह अदृश्य हो गये। मैं उनको इधर उधर खोजता रहा। तब वह एक दिन समुद्र के किनारे पर आनन्द से नाम संकीर्तन तथा नृत्य करते हुए अकेले मिले ॥१८५॥१८६॥१८७॥

मैं ने उनको दण्डवत प्रणाम किया उन सर्वज्ञ ने मेरी तरफ देख कर आशीर्वाद दिया। मुझको आलिङ्गन कर के मेरे मन की बात जान कर इस प्रकार कृपा से आदेश किया ॥ १८८ ॥

"हे वत्स ! जिस जिस संकल्प से तुम इसमन्त्र का जप करोगे। इस मन्त्र के प्रभाव से तुम्हारी सब कामनायें बल्कि उनसे अधिक पूरी होंगी" ॥ १८९ ॥

"इस मन्त्र को तुम श्री जगन्नाथदेव की सेवा रूप ही समझो। इस प्रकार मेरे वाक्यों में विश्वास करके इस मन्त्र के जप को तुम कभी भी नहीं छोड़ना" ॥ १९० ॥

"तुम इस मन्त्र के प्रभाव से हमेशा के लिये चिरजीवी हो जाओगे। तुम्हारा यह गोप बालक रूप भी इस प्रकार नित्य बना रहेगा, और तुम्हारा

ईदृग्गोपार्भरूपश्च तत्फलाप्त्यर्हमानसः ॥१६१॥

मन भी सब फलों के अनुभव करने के योग्य हो जाएगा" ॥१६१॥

मां द्रक्ष्यसि कदाप्यत्र वृन्दारण्ये कदाचन ।
एवं स मामनुज्ञाप्य कुत्रापि सहसागमत् ॥१६२

"और तुम मुझको कभी तो यहाँ कभी श्री वृन्दाबन देखोगे"। इस प्रकार वह मुझ को आज्ञा करके जल्दी से कहीं चले गये ॥१६२॥

तद्वियोगेन दीनः सन् श्रीजगन्नाथमीक्षितुं ।
गतः शान्तिमहं प्राप्तो यत्नश्चाकरवं जपे ॥१६३॥

उनके वियोग से मैं व्याकुल होगया फिर मैं जब जगन्नाथ जी के दर्शन करने गया, तब मुझ को शान्ति प्राप्त हुई। अब मैं बहुत यत्न से जप करने लगा ॥१६३॥

यदास्या दर्शनोत्कण्ठा व्रजभूमेरभूत्तरां ।
तदा तु श्रीजगन्नाथ-महिम्ना स्फुरति स्म मे १६४
तत्त्वोत्रोपवनश्रेणी वृन्दारण्यतयार्णवः ।
यमुनात्वेन नीलाद्रिभागो गोवर्द्धनात्मना ॥१६५

मुझको व्रजभूमि के दर्शन करने की बड़ी उत्कण्ठा हुई। श्री जगन्नाथजी की महिमा से मुझको श्री जगन्नाथजी के बगीचे की श्रीवृन्दावन जैसी, समुद्र की यमुनाजी जैसी, चटक पर्वत की श्रीगोवर्धन सरीखी, स्फूर्ति होने लगी ॥१६४-१६५॥

एवं वसन् सुखं तत्र भगवद्दर्शनादनु ।
गुरुपादाज्ञया नित्यं जपामि स्वेष्टसिद्धये ॥१६६॥

इस प्रकार मैं वहाँ सुख पूर्वक रहने लगा। पहले श्री जगन्नाथ जी के दर्शन करता रहा फिर अपनी इष्ट सिद्धि के लिये गुरु के आदेश के अनुसार नित्य जप करने लगा ॥१६६॥

अथ तस्मिन्महाराजे कालं प्राप्तेऽस्य सूनुना ।
ज्येष्ठेनातिविरक्तेन राज्यमङ्गीकृतं न तत् ॥१६७॥
तत्राभिषिक्तः पृष्टस्यानुज्ञया जगदीशितुः ।
सम्परीक्ष्य महाराज-चिह्नानि सचिवैरहं ॥१६८॥

इसके पश्चात् जब कि उस देश के महाराज की वैकुण्ठ यात्रा होगई और उनके ज्येष्ठ पुत्र के विरक्त होने से जब उन्होंने उस राज्य को अंगीकार नहीं किया, तो उस राजा के मन्त्रियों ने श्री जगन्नाथ जी से प्रार्थना की। जिन्हों ने यह आज्ञा दी, कि जिनके राज चिह्न हों उनको राजा किया जाए। वह चिन्ह मुझ में देख कर उन्होंने मुझको ही राजा बना लिया ॥१६७-१६८॥

विविधा वर्द्धितास्तस्य मया पूजामहोत्सवाः ।
विशेषतो महायात्रा द्वादशात्रापि गुण्डिचा १६९

मैंने श्री जगन्नाथजी के बहुत प्रकार के पूजा उत्सवों को बढ़ा दिया। विशेष करके द्वादश महा यात्राओं को, जोकि १२ महीनों में की जाती हैं और उनमें भी श्री रथयात्रा उत्सव को अधिक बढ़ा दिया ॥ १६९ ॥

पृथिव्याः साधवः सर्व्वे मिलिता यत्र वर्गशः ।
प्रेम्णोन्मत्ता इवेक्ष्यन्ते नृत्यगीतादितत्पराः ॥२००

जिसमें इस पृथ्वी भर के समस्त सन्त महात्माओं के दल वहाँ इकट्ठे होते हैं। और वह प्रेम में उन्मत्त होकर नृत्य गीत वाद्य आदि करते हुये भगवान् के दर्शन करते हैं ॥२००॥

राज्यं राजोपभोग्यञ्च जगन्नाथ-पदाब्जयोः ।
समर्प्याकिञ्चनत्वेन सेवां कुर्व्वे निजेच्छया ॥२०१

मैंने उस राज्य को और राज्य सम्बन्धी सब भोग्य पदार्थों को श्री जगन्नाथजी के श्री चरण कमलों में अर्पण कर दिया। मैं अकिञ्चन होकर अपनी इच्छा से उनकी सेवा करने लगा ॥२०१॥

निजैः प्रियतमैर्नित्यसेवकैः सह स प्रभुः ।
नर्म्मगोष्ठीं वितनुते प्रेमक्रीडांच कर्हिचित् ॥२०२
यदा वा लीलया स्थाणुभावं भजति कौतुकी ।
प्रीणन्त्यथापि साश्चर्य्यास्ते तल्लीलानुसारिणः
॥२०३॥

वह श्री जगन्नाथ महाप्रभु अपने प्यारे निज नित्य सेवकों के साथ कभी-कभी हास्य परिहास्य करते थे, कभी उनके साथ प्रेम क्रीड़ा करते थे, कभी वह खिलाड़ी भगवान् अपनी लीला से चुप-चाप बैठ जाते थे, तो भी उनके लीला अनुसारी सेवक, अचम्भित से होकर आनन्द लाभ करते थे ॥ २०२-२०३ ॥

ममापि तत्र तत्राशा स्यादथागन्तुकोऽस्म्यहं ।
तदेकनिष्ठो नापि स्यां कथं तत्तत्प्रसादभाक् २०४

मेरी भी यह अभिलाषा हुई कि मैं भी उस आनन्द को अनुभव करूँ, परन्तु एक तो मैं नया गया हुआ था, दूसरे मैं एकनिष्ठ नहीं था, इस लिये उस आनन्द को मैं किस प्रकार अनुभव कर सकता ? ॥ २०४ ॥

तथाप्युत्कलभक्तानां तत्तत्सौभाग्यभावनैः ।
संजन्यमानया तत्तदाशयाधिः किलोद्भवेत् ॥२०५

उस देश बासी उडीया भक्तों के बड़ भाग्य को देख कर, मेरी भी उनके समान भाव होने की अभिलाषा होती थी, परन्तु उसको प्राप्त नहीं होने से मुझको बड़ा दुख होता था ॥२०५॥

नामसंकीर्त्तन-स्तोत्र-गीतानि भगवत्पुरः ।
श्रूयमाणानि दुन्वन्ति मथुरास्मारकाणि मां ॥२०६

जब कभी श्री जगन्नाथ जी के सामने इस प्रकार का नाम संकीर्तन, स्तोत्र, गान आदि होता था, जो मुझको व्रज की याद दिलाता था, उसको सुन कर मैं वहाँ (व्रज) जाने के लिये अधीर हो जाता था ॥२०६॥

साधुसङ्गबलाद्गत्वा दृष्टे राजीवलोचने ।
सर्व्वः शोको विलीयेत न स्यात्जिगमिषा क्वचित्
॥ २०७ ॥

परन्तु साधुओं के संग के प्रभाव से जब मैं श्री जगन्नाथ जी के दर्शन करने जाता था, तब उन कमल नयन भगवान् के दर्शन मात्र से मेरा सब दुख दूर हो जाता था। और मेरी दूसरी जगह जाने की इच्छा भी निवृत्त हो जाती थी ॥ २०७ ॥

तथापि मम साम्राज्यसम्पर्केण हृदि स्वतः ।
भगवद्दर्शनानन्दः सम्यग्नोदेति पूर्व्ववत् ॥२०८

अब मेरे हृदय को राज्य सम्पर्क होने से भगवद् दर्शन में पहले सरीखा आनन्द अनुभव नहीं होता था ॥२०८॥

यात्रामहोत्सवांश्चाहमावृतो राजमण्डलैः ।
सुखं कलयितुं नेशे स्वेच्छया बहुधा भजन् २०९

यात्रा महोत्सवों में भी मुझको बहुत चेष्टा करने से भी स्वेच्छा सुख प्राप्त नहीं होता था, क्योंकि मुझको चारों ओर से और और राजा घेरे रहते थे ॥२०९॥

राज्ञोऽपत्येष्वमात्येषु बन्धुष्वपि समर्प्य तं ।
राज्यभारं स्वयं प्राग्वदुदासीनतया स्थितः॥२१०

तब मैंने उस समस्त राज्य भार को उस राजा के पुत्रों बन्धुओं तथा मन्त्रियों को सौंप दिया, और मैं स्वयं पहले की तरह उदासीन भाव से रहने लगा ॥२१०॥

सुखं रहो जपं कुर्व्वन् जगन्नाथ-पदाब्जयोः ।
समीपे स्वेच्छया सेवामाचरन्नवसं ततः ॥२११॥

फिर मैं एकान्त में सुख पूर्वक जप करके, श्री जगन्नाथजीके चरणारविन्दों के निकट स्वेच्छा से सेवा करता हुआ, वास करने लगा ॥२११॥

तथापि लोकसम्मानादरतस्तादृशं सुखं ।
न लभेय विनिर्व्विन्नमनास्तत्राभवं स्थितौ॥२१२

तो भी लोक के सम्मान तथा आदर के कारण मुझको पहले सदृश सुख नहीं होता था। इसलिये तब मुझको वहाँ रहने में भी वैराग्य होगया॥२१२॥

गन्तुं वृन्दावनं प्रातराज्ञार्थं पुरतः प्रभोः ।
गतःश्रीमन्मुखं पश्यन् सर्व्वं तद्विस्मराम्यहो!२१३

मैं श्री वृन्दाबन जाने के लिये प्रातःकाल प्रभु से आज्ञा लेने गया, परन्तु ज्यों ही मुझको उनके मुखारबिन्द के दर्शन हुये त्योंही मैं वहाँ जाने की सब बात भूल गया ॥२१३॥

एवं सम्वत्सरे जाते मया तत्रैकदा श्रुतं ।
मथुरायाः प्रायातेभ्योऽत्रत्यवृत्तं विशेषतः ॥२१४
शोकदुःखातुरो रात्रौ शयानं मां महाप्रभुः ।
इदमाज्ञापयामास पर-दुःखेन कातरः ॥२१५॥

इस प्रकार एक साल गुज़र गया। इसके पश्चात् एक दिन मथुरा से गये हुए पुरुषों से वहाँ का सब वृतान्त बिशेष रूप से सुना ॥२१४॥

जिससे मुझको बड़ा शोक हुआ, और दुखा-तुर होकर मैं रात्रि में जब सो गया, तो स्वप्न में श्री जगन्नाथ जी ने मेरे दुख से कातर होकर इस प्रकार आज्ञा की ॥२१५॥

भो! गोपनन्दन! क्षेत्रमिदं मम यथा प्रियं ।
तथा श्रीमथुराऽथासौ जन्मभूमिर्विशेषतः ॥११६

"हे गोप कुमार! यह पुरुषोत्तम क्षेत्र भी मुझको वैसा ही प्यारा है, जैसी श्री मथुरा, परन्तु वहाँ मेरी जन्म भूमि है, इसलिये वह इससे अधिक प्रिय है" ॥२१६॥

वाल्यलीलास्थलीभिश्च ताभिस्ताभिरलङ्कृता।
निवसामि यथात्राहं तथा तत्रापि विभ्रमन्॥२१७

"वह मथुरा मण्डल मेरी अनेक प्रकार की वाल्य लीलाओं से अलंकृत है। जैसा मैं यहाँ निवास करता हूँ वैसा ही वहाँ भी अनेक प्रकार के विहार करता हुआ रहता हूँ" ॥२१७॥

सदा दोलायमानात्मा कथं तदनुतप्यसे ।

"तुम अपने चित्त को डामांडोल करके क्यों दुख पाते हो। तुम वहाँ चले जाओ। कुछ काल

तत्रैव गच्छ काले मां तद्रुपं द्रक्ष्यसि ध्रुवं ॥२१८

आज्ञामालां प्रातरादाय पूजा-
विप्रैर्वासे मे समागत्य दत्तां ।
कण्ठे वद्ध्वा प्रस्थितो वीक्ष्य चक्रं
नत्वाथाप्तो माथुरं देशमेतं ॥२१६॥

इति श्रीवृहद्भागवतामृते श्रीगोलोक-
माहात्म्यखण्डे वैराग्यं नाम
प्रथमोऽध्यायः ।

के अनन्तर निश्चय ही तुम मेरे गोपस्वरूप के दर्शन करोगे" ॥२१८॥

फिर प्रातःकाल मेरे स्थान पर आकर श्री जगन्नाथ जी के पुजारी ने भगवान् की आज्ञा माला मुझ को दी। जिसको मैंने अपने गले में धारण कर लिया। श्री नीलचक्र के दर्शन करके मैंने वहाँ से ही प्रणाम किया। फिर मैं वहाँ से चल कर इस मथुरा देश में पहुँचा ॥२१६॥

इस श्रीवृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के
श्री गोलोक माहात्म्य खण्ड में "वैराग्य"
नाम प्रथम अध्यायः
समाप्त हुआ ॥

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रायनमः *

श्रीश्रीवृहद्भागतामृतम्

द्वितीय—खण्डम् ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

श्रीगोपकुमार उवाच ।

माथुरोत्तम ! विश्रान्तौ स्नात्वा वृन्दावनं गतः ।
अत्र गोवर्द्धनादौ च यथाकामं परिभ्रमन् ॥१॥

पिबंश्च गोरसं पूर्व्वबान्धवैस्तैरलक्षितः ।
भजन् स्वजप्यमनयं दिनानि कतिचित् सुखं ॥२॥

अथ सन्दर्शनोत्कण्ठा जगदीशस्य साजनि ।
ययेदं शून्यवद्वीक्ष्य पुरुषोत्तममस्मरं ॥३॥

आर्त्तस्तत्र जगन्नाथं द्रष्टुमोड्रान् पुनर्व्रजन् ।
पथि गङ्गातटेऽपश्यं धर्म्माचारपरान् द्विजान् ॥४॥
विचित्रशास्त्रविज्ञेभ्यस्तेभ्यश्चाश्रौषमद्भुतं ।
स्वर्गो नामोर्द्धदेशेऽस्ति देवलोकोऽन्तरीक्षतः ॥५॥
विमानावलिभिः श्रीमान्निर्भयो दुःखवर्जितः ।
जरामरणरोगादिदोषवर्गवहिस्कृतः ॥६॥

महासुखमयो लभ्यः पुण्यैरत्रोत्तमैः कृतैः ।

श्री गोपकुमार बोले ।

हे माथुर श्रेष्ठ ब्राह्मण ! मैं फिर श्री मथुराजी आया, श्री विश्रान्त घाट पर स्नान करके इस वृन्दाबन में पहुँचा, और यहाँ तथा श्रीगोवर्धन आदि पर्वतों में यथेष्ठ भ्रमण करने लगा। यद्यपि मैं समय-समय पर अपने बन्धु बान्धवों के घर जाकर गोरस पान करता रहता था, तो भी वह लोग मुझको नहीं पहचानते थे। अपने मन्त्र का जप करते हुए मैंने कुछ दिन यहाँ सुख से बिताए ॥ १-२ ॥

इसके पश्चात् मेरी श्री जगदीश जी के दर्शन करने की फिर तीव्र उत्कण्ठा हुई, जिससे मैं इस मथुरा मण्डल को शून्य की तरह देखने लगा, तब मुझको पुरुषोत्तम क्षेत्र की याद आई ॥३॥

आर्त होकर श्री जगन्नाथ जी के दर्शन के लिये मैं फिर उड़ीसा देश को चला। रास्ते में श्रीगंगा जी के तट पर, मैंने स्वधर्म आचरण करने वाले उन ब्राह्मणों को देखा, जो विविध प्रकार के शास्त्रों के जानने वाले थे। उन से मैंने यह सुना कि ऊपर कोई एक देव लोक है, जिसको स्वर्ग कहते हैं, जो बहुत से विमानों से शुशोभित है, जो सब प्रकार के भय तथा दुख से रहित है और जहाँ ज़रा, मरण, रोग आदि कोई दोष नहीं हैं॥४-५-६॥

इस भारत वर्ष में जो उत्तम पुण्य करते हैं, उनको वह स्थान प्राप्त होता है। जहाँ के अधि—

यस्य शक्रोऽधिपो ज्यायान् भ्राता श्रीजगदीशितुः ॥७॥

यद्यप्यस्ति विलस्वर्गो विष्णुशेषाद्यलंकृतः ।
भौमस्वर्गश्च तद्द्वीपवर्षादिषु पदे पदे ॥८॥

विचित्ररूपश्रीकृष्णपूजोत्सवविराजितः ।
तथाप्युदूर्ध्वतरो लोको दिव्यस्ताभ्यां विशिष्यते॥६

यस्मिन् श्रीजगदीशोऽस्ति साक्षाददितिनन्दनः ।
तस्योपेन्द्रस्य वार्त्ता च श्रीविष्णोरद्भुता श्रुता १०

आरुह्य पक्षीन्द्रमितस्ततोऽसौ
क्रीडन् विनिघ्नन्नसुरान्मनोज्ञैः ।
लीलावचोभीरमयन्नजस्रं
देवान्निजभ्रातृतयार्च्यते तैः ॥११॥

तद्दर्शने जातमनोरथाकुलः
सङ्कल्पपूर्वं स्वजपं समाचरन् ।
स्वल्पेन कालेन विमानमागतं
मुदाहमारुह्य गतस्त्रिपिष्टपं ॥१२॥

पूर्वं गङ्गातटनृपगृहे यस्य दृष्टा प्रतिष्ठा
तं श्रीविष्णुं सुरगणवृतं सच्चिदानन्दसान्द्रं ।
तत्रापश्यं रुचिरगरुडस्कन्धसिंहासनस्थं ।
वीणागीतं मधुरमधुरं नारदस्यार्चयन्तं ॥१३॥

प्राप्यं द्रष्टुमिष्टश्च दृष्ट्वा
तत्रात्मानं मन्यमानः कृतार्थं ।

पति वह श्री इन्द्र है। जो श्री जगदीश अर्थात् श्रीवामन भगवान् के बड़े भाई हैं ॥७॥

यद्यपि पाताल आदि भी श्री विष्णुभगवान् तथा शेष आदि स्वरूपों से सुशोभित हैं, और भौम स्वर्ग के भिन्न-भिन्न द्वीपों में विचित्र प्रकार से श्रीकृष्ण पूजा उत्सव होते रहते हैं. तो भी जो उर्ध्वलोक में स्वर्ग है, वह पाताल तथा भौम स्वर्ग से श्रेष्ठ है, क्योंकि वह इन लोकों के ऊपर विराजमान हैं। वहाँ साक्षात् श्रीविष्णु भगवान् अदितिनन्दन स्वरूप से रहते हैं, जिनका उपेन्द्र नाम है तथा जिनकी अद्भुत महिमा सुनी जाती है ॥ ८-६-१० ॥

वह श्रीउपेन्द्र भगवान् श्री गरुड पर चढ़ कर इधर-उधर बिहार करते रहते हैं। विघ्न करने वाले असुरों का बध करते हैं। वह अपनी मनोहर लीलाओं तथा वाणी से देवताओं को निरन्तर आनन्द प्रदान करते हैं। देव गण उनको अपना भाई समझ कर उनका पूजन करते हैं ॥११॥

उन कर्म काण्डी ब्राह्मणों से इस प्रकार सुन कर उनके दर्शन करने के लिये मेरा मन बड़ा व्याकुल हुआ। फिर मैंने उस लोक की प्राप्ति के संकल्प से अपने मन्त्र का जप किया। जिसका फल यह हुआ कि थोड़े ही काल में विमान आया और मैं प्रसन्न चित्त होकर उस पर चढ़ कर स्वर्ग चला गया ॥१२॥

वहाँ मैंने उन श्रीविष्णु भगवान् के दर्शन किये, जिनके अर्चा विग्रह स्वरूप से गंगा तट पर राजा के मन्दिर में दर्शन किये थे। वह प्रभु सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, देव गणों से आवृत हैं, गरुड पर विराजमान हैं। उनकी श्री नारदजी मधुर-मधुर वीणा बजाते हुए स्तुति कर रहे हैं ॥१३॥

तब मुझ को यह निश्चय हुआ। जिन भगवान् की प्राप्ति तथा दर्शन के लिये मैं दीर्घ काल से लालायित हो रहा था, उनके दर्शन करके अब मैं

दूराद्भूयो दण्डवद्वन्दमान-

स्तेनाहूतोऽनुग्रहस्निग्धवाचा ॥ १४ ॥

दिष्ट्या दिष्ट्या गतोऽसि त्वमत्र श्रीगोपनन्दन !

अलं दण्डप्रणामैर्म्मे निकटेऽनुसराभयं ॥१५॥

तस्याज्ञया महेन्द्रेण प्रेरितैस्त्रिदशैरहम् ।

अग्रतः सादरं नीत्वा प्रयत्नादुपवेशितः ॥१६॥

दिव्यैर्द्रव्यैस्तर्पितो नन्दनाख्ये
ऽरण्ये वासं प्रापितोऽगां प्रहर्षं ।
वीक्षे काचित्तत्र भीर्नास्ति शोको
रोगो मृत्युर्ग्लानिरार्त्तिर्जरा च ॥ १७ ॥

सन्तु वा कतिचिद्दोषास्तानहं गणयामि न ।

तादृशं जगदीशस्य सन्दर्शनसुखं भजन् ॥१८॥

महेन्द्रेणार्च्यते स्वर्गविभूतिभिरसौ प्रभुः ।

भ्रातृत्वेनेश्वरत्वेन शरणत्वेन चान्वहम् ॥१९॥

मनस्यकरवं चैतदहो ! धन्यः शतक्रतुः ।

यो हि श्रीविष्णुना दत्तं साधयित्वा निराकुलं॥२०

त्रैलोक्यैश्वर्य्यमासाद्य भगवन्तमिमं मुदा ।

उपहारचयैर्दिव्यैर्गृह्यमाणैः स्वयं यजेत् ॥२१॥

एवं ममापि भगवानयं किं कृपयिष्यति ।

इति तत्रावसं कुर्व्वन् ससङ्कल्पं निजं जपं॥२२॥

अथैकस्य मुनीन्द्रस्य दूषयित्वा प्रियां बलात् ।

कृत-कृत्य होगया हूँ। ज्यों ही मैं दूर से दण्डवत् प्रणाम करने लगा, त्यों ही प्रभु ने कृपा भरी मधुर बाणी से अपने निकट बुलालिया और वह यह कहने लगे ॥ १४ ॥

"हे गोप कुमार ! तुम इस स्वर्ग में आये हो, यह बहुत अच्छा हुआ। अब दण्डवत प्रणामों को रहने दो निर्भय होकर मेरे निकट आओ ॥१५॥

उनकी आज्ञा से, श्रीइन्द्र ने मेरे लेने के लिये देवताओं को भेजा। वह मुझको आदर पूर्वक उनके समीप ले गये और प्रयत्न से मुझको वहाँ बिठला दिया ॥ १६ ॥

फिर उन्होंने मुझको श्रीनन्दन नामक उद्यान में ठहराकर दिव्य अमृत आदि भोग्य पदार्थों से तृप्त किया, जिससे मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। वहाँ मैंने किसी प्रकार का भय, शोक, रोग, मृत्यु, ग्लानि, दुख तथा जरा को नहीं देखा ॥१७॥

वहाँ कोई कोई दोष भी थे, परन्तु जगदीश के दर्शनों के सुख से मैंने उन पर कुछ ध्यान नहीं दिया ॥ १८ ॥

यह इन्द्र उन श्रीउपेन्द्र भगवान को भाई, ईश्वर, तथा रक्षक भाव से स्वर्ग की विभूतियों से प्रति दिन अर्चन करते हैं ॥ १९ ॥

मैं मन ही मन में यह विचार करने लगा "यह इन्द्र धन्य है" भगवान ने इनको, स्वर्ग के सब उपद्रव मिटाकर यह स्थान प्रदान किया है। इन्द्र उस त्रैलोक्य ईश्वरत्व को प्राप्त करके, आनन्द से वहाँ के दिव्य दिव्य उपहारों द्वारा श्री उपेन्द्र भगवान की स्वयं पूजा करते हैं, जिनको प्रभु साक्षात् स्वरूप से ग्रहण करते हैं २०। २१ ॥

(यह सौभाग्य देखकर मैं यह विचार करने लगा) "क्या मुझ पर भी यह भगवान इसी प्रकार कृपा करेंगे ?" इस संकल्प से जप करता हुआ मैं वहाँ रहने लगा ॥ २२ ॥

इसके पश्चात् इन्द्र किसी मुनि की भार्या को बल पूर्वक दूषित करके लज्जा और शाप

लज्जया शापभीत्या च शक्रः कुत्राप्यलीयत॥२३

दैवैरन्विष्य वहुधा स न प्राप्तो यदा ततः।

अराजकत्वात्त्रैलोक्यमभिभूतमुपद्रवैः ॥ २४ ॥

श्रीविष्णोराज्ञया देवैर्गुरुणा प्रेरितैरथ।

ऐन्द्रे पदेऽभिषिक्तोऽहमदित्याद्यनुमोदितः ॥२५॥

ततोऽदितिं शचीं जीवं ब्राह्मणानपि मानयन्।

त्रैलोक्ये वैष्णवीं भक्तिं पूर्णां प्रावर्त्तयं सदा॥२६॥

स्वयं तस्याः प्रभावेण स्वराज्येऽपि यथा पुरा।

सदाऽकिञ्चनरूपोऽहं न्यवसं नन्दने वने ॥२७॥

अत्यजंश्च जपं स्वीयमकृतज्ञत्वशङ्कया।

विस्मर्त्तुं नैव शक्नोमि व्रजभूमिमिमां क्वचित्॥२८

तच्छोकदुःखैरनुतप्यमानः
शुष्काननोऽहं जगदीश्वरेण।
संलक्ष्य तोष्येय मुहुः कराब्ज-
स्पर्शेन चित्रैर्वचनामृतैश्च ॥२९॥

ज्येष्ठसोदरसम्बन्धमिव पालयता स्वयम्।

मत्तोषणाय मद्दत्तं भोग्यमादाय भुज्यते॥३०॥

तेन विस्मृत्य तद्दुःखं पूजयाऽपूर्ववृत्तया।

प्रीणयन् स्नेहभावात्तं लालयेयं कनिष्ठवत्॥३१॥

एवं मां स्वस्थमापाद्य स्वस्थाने कुत्रचिद्गतः।

के भय से कहीं अन्य स्थान पर जा छिपे, देवताओं ने उनका बहुत प्रकार से अन्वेषण किया परन्तु वह नहीं मिले। इन्द्र के वहाँ नहीं होने से त्रिलोकी में बड़े बड़े उपद्रव होने लगे। तब श्रीविष्णु भगवान की आज्ञा से, श्रीवृहस्पति जी ने, देवताओं से मुझको इन्द्र पद पर अभिषिक्त करने के लिये कहा। फिर उन्होंने माता अदिति की अनुमति से मेरा अभिषेक किया ॥ २३। २४। २५ ॥

तब मैंने माता अदिति, शची, श्रीगुरु वृहस्पति जी. तथा और और ब्राह्मणों का सन्मान करते हुये त्रिलोकी में श्रीविष्णु भगवान की भक्ति को नित्य पूर्ण रूप से प्रवृत करा दिया ॥२६॥

जैसा मैं पहले चक्रवर्ती राज्य पाकर भक्ति के प्रभाव से अकिंचन रहता था, उसी प्रकार वहाँ भी उस नन्दन बन में सदा अकिंचन रूप से बास करने लगा ॥ २७॥

मन्त्र के जप को नहीं करने से कभी मैं कृतघ्न न हो जाऊँ, इस भय से मैंने उस मन्त्र के जप को नहीं छोड़ा। वहाँ भी इस व्रज भूमि की स्मृति मुझसे दूर नहीं हुई ॥ २८॥

जिसके विच्छेद के कारण शोक और दुख से तपता हुआ, मेरा मुख सूख गया। जब उपेन्द्र भगवान ने यह देखा, तो उन्होंने अपने हस्त कमल से बार बार स्पर्श करके, और मधुर मधुर बचनामृत से मुझको प्रसन्न किया ॥ २९॥

वह भगवान मुझको अपने बड़े भाई की तरह मान कर, मेरी प्रसन्नता के लिये मेरे दिये हुये भोग पदार्थों को पाते थे ॥ ३०॥

इससे मैं ब्रज के विरह रूपी दुख को भूल गया। मैं नई नई सामग्रियों से उनको तृप्त करके, छोटे भाई की तरह स्नेह भाव से उनका लालन पालन करने लगा ॥ ३१॥

इस प्रकार जब उन्होंने मुझको स्वस्थ देखा, तो वह अपने किसी अन्य स्थान पर चले गये। वह उपेन्द्र भगवान कहाँ रहते हैं, इसको हम

उपेन्द्रो वसति श्रीमान्न लभ्येत सदेक्षितुम्॥३२॥

नहीं जानते हैं, और न हम उनके वहाँ सदा दर्शन कर सकते हैं ॥ ३२ ॥

ततो यो जायते शोकस्तेन नीलाचलप्रभुम्।

अचलाश्रितवात्सल्यं द्रष्टुमिच्छेयमेत्य तं ॥३३॥

इसी कारण से मुझको फिर शोक हुआ, जिससे मेरी यह अभिलाषा हुई कि मैं नीलाचल जाकर श्रीजगन्नाथ भगवाग के दर्शन करूँ, जो सदा प्रकट स्वरूप से वहाँ विराजमान हैं, और जिनका अपने आश्रितों पर बड़ा वात्सल्य है ॥ ३३ ॥

प्रादुर्भूतस्य विष्णोस्तु तस्य तादृक् कृपाभरैः।

आधिः सर्व्वो विलीयेत पाश्चात्योऽपि तदाशया ॥ ३४ ॥

इसके पश्चात् श्रीविष्णु भगवान् जब फिर प्रकट हुए, और उन्होंने पहले की तरह मुझ पर फिर कृपा की, तब मेरी सब मान्सिक पीड़ाऐं दूर होगईं। और उनके भावी विरह दुखने भी फिर आने की आशा से मुझको नहीं सताया ॥ ३४ ॥

एवं निवसता तत्र शक्रत्वमधिकुर्व्वता।

ब्रह्मन्! सम्वत्सरो दिव्यो मयैको गमितः सुखं ॥ ३५ ॥

हे ब्रह्मन्! इस प्रकार इन्द्र पदवी पर मैं देवताओं के प्रमाण से एक वर्ष पर्यन्त आनन्द पूर्वक रहा ॥ ३५ ॥

अकस्मादागतास्तत्र भृगुमुख्या महर्षयः।

पद्भ्यां पावयितुं यान्तस्तीर्थानि कृपया भुवि॥३६

अकस्मात वहाँ भृगु आदि महर्षि पधारे, जो कृपा करके अपने चरणारविन्दों से तीर्थों को पवित्र करने के लिये भूमण्डल जारहे थे ॥३६॥

ससम्भ्रमं सुरैः सर्व्वैर्ऋषिभिर्गुरुणा स्वयं।

विष्णुना चार्च्यमानास्ते मया दृष्टाः सविस्मयं ॥ ३७ ॥

उनको देखकर, सब देवता गण, ऋषि तथा श्रीवृहस्पतिजी सहित श्रीविष्णु भगवान ने उनका आदर सहित पूजन किया। यह देखकर मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३७ ॥

अहञ्चाभिनवो विष्णु-सेवानन्दहृतान्तरः।

न जाने तानथ स्वीयैः प्रेरितस्तैरपूजयम् ॥३८॥

मैं एक तो नया था दूसरे श्रीविष्णु भगवान की सेवानन्द में मेरा हृदय निमग्न था, इसलिये मैंने उनको नहीं पहचाना। परन्तु अपने देवताओं से प्रेरित होकर मैंने भी उनका पूजनकिया॥ ३८ ॥

अभिनन्द्य शुभाशीर्भिर्मां तेऽगच्छन् यथासुखं।

तिरोऽभवदुपेन्द्रोऽपि मया पृष्टास्तदामराः ॥३९॥

तब वह भृगु आदि ऋषि मुझको आशीर्वाद देकर मेरी प्रशंसा करते हुये सुख पूर्वक वहाँ से चले गये। जब श्री उपेन्द्र भगवान भी अन्तर्धान हो गये, तब मैंने देवताओं से पूछा ॥ ३९ ॥

पूज्या देवा नृणां पूज्या देवानामप्यमी तु के।

किंमाहात्म्या महातेजोमयाः कुत्र वसन्ति वा॥४०

"मनुष्यों से देवताओं का पूजन किया जाता है। जिनका देवगण भी पूजन करते हैं यह कौन हैं? इनकी क्या महिमा है? और यह बड़े तेजस्वी कहाँ रहते हैं?" ४० ॥

महाभिमानिभिर्देवैर्मत्सराक्रान्तमानसैः ।

लज्जयेव न तद्वृत्तमुक्तं गुरुरथाब्रवीत् ॥४१॥

उन देवताओं ने बड़े अभिमानी होनेके कारण, अपनी मत्सरता तथा लज्जा से उस वृतान्त को नहीं कहा, परन्तु श्री गुरु वृहस्पतिजी इस प्रकार कहने लगे ॥४१॥

श्रीवृहस्पतिरुवाच !

अत ऊर्द्ध्वं महर्लोको राजते कर्म्मभिः शुभैः ।

प्राप्यो महद्भिर्यो नश्येत्त्रैलोक्यप्रलयेऽपि न ॥४२

श्री वृहस्पतिजी बोले ।

इस लोक से ऊपर एक महर्लोक है। जिसको बड़े-बड़े शुभ कर्म करने वाले प्राप्त होते हैं। जो त्रिलोकी के प्रलय होने पर भी नष्ट नहीं होता है॥४२

यथा हि कोटिगुणितं साम्राज्यात् सुखमैन्द्रिकं ।

तत् कोटिगुणितं तत्र प्राजापत्यं सुखं मतं ॥४३॥

तेनामी सेवितास्तत्र निवसन्ति महासुखैः ।

यज्ञेश्वरं प्रभुं साक्षात् पूजयन्तः पदे पदे ॥४४॥

जैसे चक्रवर्ती राजा के सुख से इन्द्र पदवी का सुख करोड़ गुणा अधिक होता है, इसी प्रकार इन्द्र पदवी के सुख से प्रजापति का सुख करोड़ गुना अधिक होता है। यह श्री भृगु आदि प्रजापति भी इसी प्रकार के सुख का अनुभव करते हुये महर्लोक में निवास करते हैं। यह बड़े-बड़े यज्ञों द्वारा साक्षात् श्री यज्ञेश्वर भगवान् का पृथक् पृथक् पूजन करते रहते हैं ॥४३-४४॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तच्छ्रुत्वेन्द्रपदे सद्यो निर्व्विद्यैच्छं तमीक्षितुं ।

पूज्यपूज्यैर्महद्भिस्तैः पूज्यमानं महाप्रभुं ॥४५॥

श्री गोपकुमार बोले ।

यह सुन कर, उसी समय मेरा इन्द्र पद में वैराग्य हो गया। मेरी उन श्री यज्ञेश्वर भगवान् के दर्शन करने की इच्छा हुई, जिनका वह प्रजापति भी, जो कि बड़े-बड़े पूज्य पाद देवताओं के भी पूजनीय हैं, अर्चन करते हैं ॥४५॥

तत् सङ्कल्प्य जपं कुर्व्वन्नचिरादूर्द्ध्वमुत्थितः ।

व्योमयानेन तं प्राप्तो लोकं तत्र व्यलोकयं॥४६॥

त्रैलोक्ये यत् सुखं नास्ति वैभवं भजनं तथा ।

निर्दोषं तत्र तत् सर्व्वमस्त्यनिर्व्वाच्यमाशु तत्॥४७

उनके दर्शन के संकल्प से जब मैंने अपने मन्त्र का जप किया, तो बहुत जल्दी मैं व्योमयान द्वारा ऊपर को उठ कर उस लोक में पहुंचा। वहाँ जाकर मैंने जिस निर्दोष तथा अनिर्वचनीय सुख वैभव तथा भगवद्भजन का अनुभव किया, वह त्रिलोकी में कहीं नहीं है ॥४६-४७॥

वितायमानेषु महामखेषु तै-
र्म्महर्षिभिर्भक्तिपरैः सहस्रशः ।
मखाग्निमध्ये प्रभुरुत्थितः स्फुर-
न्मखेश्वरः क्रीडति यज्ञ-भागभुक् ॥४८॥

जहाँ बड़े-बड़े महर्षि भक्ति परायण होकर बड़े-बड़े हजारों यज्ञों के अनुष्ठान कर रहे हैं। उन यज्ञ कुण्डों के मध्य से श्री यज्ञेश्वर भगवान् प्रगट होकर, यज्ञ के भागों को ग्रहण करते हुए विहार कर रहे हैं ॥४८॥

स यज्ञमूर्त्ती रविकोटितेजा
जगन्मनोहारिमहाप्रतीकः ।

यद्यपि उन यज्ञ पुरुष भगवान् का तेज करोड़ों सूर्यों के समान है, तो भी उनके अंग प्रत्यङ्ग समस्त जगत के मन को हरण करते हैं। वह

प्रसार्य्य हस्तांश्चरुमाददानो
वरान् प्रियान् यच्छति याजकेभ्यः ॥४६

स्वयं अपने हाथों को पसार-पसार के चरु ग्रहण करते हुए यज्ञ करने वालों को अभीष्ट वर प्रदान करते हैं ॥४६॥

तद्दर्शनोज्जृम्भितसम्भ्रमाय
हर्षान्नमस्कारपराय मह्यं ।
दत्तो निजोच्छिष्टमहाप्रसाद-
स्तेन स्व-हस्तेन दयार्द्रवाचा ॥५०॥

उनके दर्शन से मैं एक बार तो अपने कर्तव्य को भूल गया, फिर आनन्दित होकर मैंने उनको दण्डवत् प्रणाम किया। तब उन्होंने अपनी दया युक्त कोमल वाणी से, मुझको अपने पास बुला कर, स्वयं अपने हाथ से अपना उच्छिष्ट महा-प्रसाद दिया ॥५०॥

अपूर्व्वलब्धमानन्दं परमं प्राप्नुवंस्ततः ।
कारुण्यातिशयात्तस्य संसिद्धाशेषवाञ्छितं॥५१॥

जिसको प्राप्त करके मुझको अपूर्व आनन्द हुआ। उनकी अतिशय कृपा से मेरी समस्त वाँछाएँ पूर्ण होगई ॥५१॥

दयालूनां महर्षीणां सङ्गत्येतस्ततो भ्रमन् ।
प्रत्यावासं तथैवाहमद्राक्षं जगदीश्वरं ॥५२॥

उन दयालु महर्षियों के साथ इधर उधर घूमते हुए तथा उनके पृथक्-पृथक् घरों पर जाकर भी मैंने इसी प्रकार श्री जगदीश्वर यज्ञ पुरुष भगवान् के दर्शन किये ॥५२॥

ततः कृतार्थतानिष्ठां मन्वानः स्वस्य सर्व्वथा ।
सानन्दं निवसंस्तत्र प्रोक्तोऽहं तैर्म्महर्षिभिः॥५३॥

फिर मैंने अपने आपको पूर्ण रूप से कृतार्थ माना। और मैं आनन्द से वहाँ रहने लगा। तब वह महर्षि लोग मुझ से इस प्रकार कहने लगे ॥५३॥

श्रीमहर्षय ऊचुः ।

भो गोपवैश्यपुत्र ! त्वमेतल्लोकस्वभाव्रजं ।
प्रदीयमानमस्माभिर्विप्रत्वं स्वीकुरु द्रुतं ॥५४॥

श्री महर्षिगण बोले ।

हे गोपकुमार ! आप वैश्य पुत्र हो, इस लोक में केवल ब्राह्मण ही निवास कर सकते हैं। इस लिये हम आपको ब्राह्मणत्व देते हैं। आप उसको जल्दी से स्वीकार करें ॥५४॥

महर्षीणामेकतमो भूत्वा त्वमपि पूजय ।
जगदीशमिमं यज्ञैश्चिरमात्मदिदृक्षितं ॥५५॥

आप भी हमारे समान महर्षि होकर यज्ञों द्वारा उन यज्ञेश्वर भगवान् की पूजा किया करें, जिनके दर्शन करने के लिये तुम्हारी बहुत दिनों से अभिलाषा है ॥५५॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तच्छ्रुत्वाचिन्तयं ब्रह्मन् ! वैश्यत्वे स्यात्सुखं महत्
प्रभोरेषाञ्च विप्राणां तद्भक्तानामुपासनात् ॥५६॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! यह सुन कर मैंने अपने मनमें यह विचार किया कि वैश्य होने से मुझको बड़ा सुख है क्योंकि इससे मैं अपने प्रभु तथा उनके भक्त ऋषियों की सेवा कर सकता हूँ ॥५६॥

एषां यज्ञैकनिष्ठानामैक्येनावश्यके निजे ।

इन ऋषियों की एक मात्र यज्ञ में ही निष्ठा है। जब मैं इनके सदृश ऋषि हो जाऊँगा, तब मेरे

जपे च सद्गुरूद्दिष्टे मान्द्यं स्याद्दृष्टसत्फले॥५७

सद्गुरु के दिये हुये उस मन्त्र के जप में श्रद्धा कम हो जायगी, जो कि साक्षात् फल देने वाला है ॥५७॥

ततस्ताननुमान्याहमनङ्गीकृत्य विप्रतां ।

तत्रावसं स्वतो जातप्राजापत्यमहासुखैः ॥५८॥

फिर मैंने उनको सन्मान देते हुये, ब्राह्मणत्व को स्वीकार नहीं किया। और मैं वहाँ उस लोक के प्रभाव से प्रजापतियों के सदृश महा सुख का अनुभव करता हुआ रहने लगा ॥५८॥

न दोषास्तत्र शोको वा शङ्का वा कापि विद्यते।

नान्यच्च किञ्चिद्यज्ञेश-प्रीत्यै यज्ञोत्सवानृते॥५९॥

वहाँ किसी प्रकार का दोष, शोक, शंका आदि नहीं हैं, और न ही और कोई कार्य है। केवल यज्ञेश्वर भगवान् की प्रीति के लिये यज्ञों के उत्सव होते रहते हैं ॥५९॥

किन्तु यज्ञ-समाप्तौ स्याद्दुःखमन्तर्हिते प्रभौ ।

वृत्ते यज्ञान्तरे चास्य प्रादुर्भावात् पुनः सुखं ॥६०

किन्तु यज्ञ समाप्त होने से जिस समय भगवान् अन्तर्धान हो जाते थे, उस समय मुझको बड़ा दुःख होता था। फिर जब यज्ञों के अनुष्ठान से भगवान् पुनः प्रगट होते थे तब सुख होता था॥६०॥

चतुर्युग-सहस्रस्य

तत्रत्यैकदिनस्य हि ।

अन्ते त्रैलोक्य-दाहेन

जनलोकोऽभिगम्यते ॥६१॥

वहाँ का एक दिन इस भूलोक के युगों की हज़ार चौकड़ियों के बराबर है। दिन के अन्त में त्रिलोकी का प्रलय हो जाता है। जब प्रलय में यह त्रिलोकी दग्ध होने लगती है, तब इसका ताप महर्लोक तक पहुँचता है। इससे उस समय में वह ऋषि लोग तथा मैं वहाँ रहने में असमर्थ होकर, जन लोक चले जाते हैं ॥६१॥

रजन्यामिव जातायां यज्ञाभावेन तत्र तु ।

यज्ञेशादर्शनेन स्याद्दाहस्तद्दाहतोऽधिकः ॥६२॥

जन लोक में रात्रि के कारण से यज्ञ नहीं होते थे। इसी लिये यज्ञेश्वर भगवान् का दर्शन भी नहीं होता था। इस कारण से त्रिलोकी के प्रलय के समय में जो पीड़ा मुझको महर्लोक में होती थी, उससे भी अधिक मैं वहाँ अनुभव करता था ॥६२॥

ततोऽक्षयवटच्छाये क्षेत्रे श्रीपुरुषोत्तमे ।

आगत्य श्रीजगन्नाथं पश्येयमिति रोचते॥६३॥

तब मेरे मन में यह इच्छा हुई, "अब मुझको श्री पुरुषोत्तम क्षेत्र में जाकर अक्षय बट की छाया में श्री जगन्नाथ जी के दर्शन करने चाहियें" ॥६३॥

महर्लोके गतेऽप्यात्मजपाद्रहसि पूर्ववत् ।

सम्पाद्यमानाच्छोकः स्यादस्या भूमेर्दिदृक्षया ॥६४॥

(फिर मैं जन लोक से महर्लोक गया) वहाँ जाकर भी पहिले की तरह मैं अपने मन्त्र का एकान्त स्थान पर जप करता रहता था। जिसके प्रभाव से मुझको इस व्रज भूमि के दर्शन करने की इच्छा सताने लगी ॥६४॥

प्रादुर्भूतोऽथ भगवानिज्यमानो दयानिधिः ।
यदा मामाह्वयेत् प्रीत्या मन्नीतं लीलयात्ति च ६५
तदालीयेत सर्व्वार्त्तिस्तमः सूर्य्योदये यथा ।
रात्रावपि तदेकाशाबद्धो नेशे क्वचिद्गतौ ॥६६॥

परन्तु जब यज्ञ करने से यज्ञेश्वर भगवान् फिर प्रगट हुये, तो उन्होंने मुझको प्रीति से अपने निकट बुलाया। मेरे समर्पण किये हुये भोग्य पदार्थों को पाया, उससे मेरा सब दुःख इस प्रकार नष्ट हो गया, जैसे सूर्योदय से अन्धकार नष्ट हो जाता है। यद्यपि रात्रि में भगवान् के दर्शन नहीं होते थे तो भी पुनर्दर्शन की आशा से मैं प्रसन्न ही रहता था, और किसी अन्य जगह जाने की इच्छा नहीं करता था ॥६५-६६॥

तत्रैकदा महातेजःपुञ्जरूपो दिगम्बरः ।
पाञ्चषाब्दिकबालाभः कोप्यागादूर्ध्वलोकतः ६७

वहाँ एक बार महा तेजस्वी, दिगम्बर, जिन की अवस्था ५-६ वर्ष के बालक के सदृश प्रतीत होती थी, कोई महा पुरुष उर्ध्व लोक से आये॥६७॥

विहाय यज्ञ-कर्म्माणि भक्त्योत्थाय महर्षिभिः ।
प्रणम्य ध्याननिष्ठोऽसौ यज्ञेश्वरवदर्च्चितः॥६८॥

उनको देख कर उन ऋषियों ने अपने-अपने यज्ञ कर्मों को छोड़ दिया, सब ने उठ कर भक्ति से प्रणाम किया। फिर उन्होंने उन ध्यान निष्ठ महा पुरुष का यज्ञेश्वर भगवान् की तरह पूजन किया॥६८

यथाकामं गते तस्मिन्मया पृष्टा महर्षयः ।
कुत्रत्यः कतमो वायं भवद्भिरार्च्चितः कथं ॥६९॥

जब वह दिगम्बर अपनी इच्छा से कहीं चले गये। तब मैंने उन महर्षियों से यह पूछा। "यह कहाँ रहते हैं? कौन है? और आप लोग इनका क्यों पूजन करते हैं?" ॥६९॥

श्री महर्षय ऊचुः ।

सनत्कुमारनामायं ज्येष्ठोऽस्माकं महत्तमः ।
आत्मारामाप्तकामानामाद्याचार्य्यो वृहद्व्रतः॥७०

श्री महर्षिगण बोले।

इनका श्री सनत्कुमार नाम है। यह हमारे ज्येष्ठ भ्राता हैं, गुणों से हम सब से श्रेष्ठ हैं। यह बड़े व्रत को धारण करने वाले हैं, तथा आत्माराम, आप्तकाम मुनियों के आदि गुरु हैं॥७०

इत ऊर्द्ध्वतरे लोके तपःसंज्ञे वसत्यसौ ।
भ्रातृभिस्त्रिभिरन्यैश्च योगीन्द्रैः स्वसमैः सह॥७१

यह इस महर्लोक से ऊपर तप लोक में अपने और तीन भाइयों तथा इन्हीं के बराबर और योगीन्द्रों के साथ निवास करते हैं॥७१॥

वृहद्व्रतैकलभ्यो यः क्षेमं यस्मिन् सदा सुखं ।
प्राजापत्यात् सुखात् कोटिगुणितं चोर्द्ध्वरेतसं७२

उस तप लोक में नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही जाते हैं। जहाँ सदा मङ्गल रहता है। वहाँ के नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को जो सुख होता है वह प्रजापति के सुख से कोटि गुणा अधिक है ॥७२॥

यथा यज्ञेश्वरः पूज्यस्तथायश्च विशेषतः ।
गृहस्थानामिवास्माकं स्वकृत्यस्यागतोऽपि च ७३

जैसे श्री यज्ञेश्वर भगवान् पूजनीय हैं, इसी प्रकार ये भी हैं। विशेष करके हमारे जैसे गृहस्थियों को अपने-अपने कामों को छोड़ कर इनकी पूजा करनी चाहिये ॥७३॥

श्री गोपकुमार उवाच ।

ततोऽकार्षमहं चित्ते तत्राहो कीदृशं सुखं ।

ईदृशाः कति वान्ये स्युरेषां पूज्यश्च कीदृशः ॥७४

एवं तत्तद्दिदृक्षुः सन् समाहितमना जपन् ।

भूत्वा परमतेजस्वी तं लोकं वेगतोऽगमं ॥७५॥

तत्र दृष्टो मया श्रीमान् सनकोऽथ सनन्दनः ।

असौ सनत्कुमारोऽपि चतुर्थश्च सनातनः ॥७६॥

सम्मन्यमानास्तत्रत्यैस्तादृशैरेव ते मिथः ।

सुखगोष्ठीं वितन्वानाः सन्त्यगम्यां हि मादृशैः ७७

भगवल्लक्षणं तेषु तादृङ्नास्ति तथाप्यभूत् ।

तेषां सन्दर्शनात्तत्र महान्मोदो मम स्वतः ॥७८॥

यथास्थानं प्रयातेषु ध्याननिष्ठेषु तेष्वथ ।

द्रष्टुं भ्रमामि सम्भाव्य पूर्व्ववज्जगदीश्वरं ॥७६

इतस्ततो न दृष्ट्वा तमपृच्छं तान् महामुनीन् ।

न ते स्तुवन्तं मामग्रे नमन्तं लोकयन्त्यपि ॥८०॥

प्रायः सर्व्वे समाधिस्था नैष्ठिका उद्र्ध्वरेतसः ।

स्वारामाः पूर्णकामास्ते सेव्यमानाश्च सिद्धिभिः ८१

भगवद्दर्शनाशा च महती फलिता न मे ।

श्री गोपकुमार बोले ।

यह सुन कर मैंने, मन में यह विचार किया, "उस लोक में किस प्रकार का सुख है ? इन जैसे कितने वहाँ योगीन्द्र हैं ? और उनके पूज्य भगवान् भी वहाँ किस प्रकार के हैं ?" ॥७४॥

इस प्रकार विचार करके उनके दर्शन की इच्छा से एकाग्र चित्त होकर जब मैंने अपने मन्त्र का जप प्रारम्भ किया, तब मैं परम तेजस्वी होकर शीघ्र ही तप लोक में चला गया ॥७५॥

वहाँ जाकर मैंने श्री सनक, सनन्दन, सनातन, तथा सनतकुमार चारों भाईयों के दर्शन किये ॥ ७६ ॥

उस लोक में इन्हीं के सदृश और भी योगीन्द्र थे, जो इनका सम्मान कर रहे थे। वह परस्पर आनन्दित होकर इस प्रकार के सत्संग की वार्तालाप कर रहे थे, जो मुझ जैसों के लिये समझना भी कठिन है ॥७७॥

यद्यपि श्रीसनकादिक में, भगवत लक्षण प्रतीत नहीं होते थे, तो भी उनके दर्शनों से मुझको बड़ा आनन्द हुआ ॥७८॥

जब वह ध्यान निष्ठ योगीन्द्र अपने-अपने स्थानों पर चले गये। तो मैं यह समझ कर कि यहाँ भी पहले की तरह जगदीश्वर होंगे, उनके दर्शन करने के लिये मैं इधर-उधर भ्रमण करने लगा ॥ ७६ ॥

परन्तु मुझको कहीं भी उनके दर्शन नहीं हुये तब मैं उन महा मुनियों से पूछने लगा। परन्तु उन लोगों ने बार-बार स्तुति, प्रणाम करने पर भी मेरी ओर नहीं देखा ॥८०॥

क्योंकि वह सब नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रायः समाधि में बैठे रहते हैं। आत्माराम पूर्ण काम होते हुए भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ उनकी सेवा करती रहती हैं ॥८१॥

श्री भगवान् के दर्शन करने की मेरी बड़ी अभिलाषा थी, जो सफल नहीं हुई। उनके संग प्रभाव से वह आशा भी जाती रही। तो भी

उताभूद्विरमन्तीव तेषां सङ्ग-स्वभावतः ॥८२॥
तत्राथाप्यवसं तेषां प्रभाव-भरदर्शनात् ।
गुरु-वाग्गौरवादृष्टफलत्वाच्चात्यजन् जपं ॥८३॥
स्थानस्वभावजाच्चित्तप्रसादानन्दतोऽधिकं ।
तेन सम्पद्यमानेन सा दिदृक्षा विवर्द्धिता॥८४॥
सदा नीलाचले राजज्जगन्नाथदिदृक्षया ।
यियासुं तत्र संलक्ष्याब्रवीन्मां पिप्पलायनः॥८५
श्रीपिप्पलायन उवाच ।
इदं महत् पदं हित्वा कथमन्यद्यियाससि ।
कथम्वा भ्रमसि द्रष्टुं दृग्भ्यां तं परमेश्वरं ॥८६॥
समाधत्स्व मनः स्वीयं ततो द्रक्ष्यसि तं स्वतः ।
सर्व्वत्र वहिरन्तश्च सदा साक्षादिव स्थितं ॥८७॥
परमात्मा वासुदेवः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
नितान्तं शोधिते चित्ते स्फुरत्येष न चान्यतः॥८८
तदानीञ्च मनोवृत्त्यन्तराभावाद् सुसिद्ध्यति ।
चेतसा खलु यत् साक्षाच्चक्षुषा दर्शनं हरेः॥८९॥
मनःसुखेऽन्तर्भवति सर्व्वेन्द्रियसुखं स्वतः ।
तद्वृत्तिष्वपि वाक्चक्षुः श्रुत्यादीन्द्रियवृत्तयः ॥९०
मनो-वृत्तिं विना सर्व्वेन्द्रियाणां वृत्तयोऽफलाः ।

उनका प्रभाव देख कर मैं वहाँ रहने लगा। मैंने गुरु आज्ञा के गौरव से तथा साक्षात् फल प्राप्ति होने से उस मन्त्र के जप को नहीं छोड़ा ॥८२-८३॥

उस स्थान के प्रभाव से मेरा चित्त प्रसन्न रहने लगा, जिससे मुझको जप में अधिक आनन्द आने लगा। जिस जप के प्रभाव से फिर भगवद् दर्शन करने की भी इच्छा बढ़ गई ॥ ८४ ॥

तब मेरी यह अभिलाषा हुई, मैं नीलाचल पर्वत पर जाकर श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करूँ।" यह जान कर श्रीपिप्पलायन योगीन्द्र कहनेलगे॥८५॥

श्रीपिप्पलायन बोले।

आप इस बड़े पद को छोड़ कर दूसरी जगह जाने की क्यों इच्छा करते हो? परमेश्वर को अपने नेत्रों से देखने के लिये क्यों भ्रमण करते रहते हो ?। ८५ ॥

आप अपने मन को समाधि में स्थिर कीजिये, उनके स्वतः ही आपको दर्शन हो जायेंगे। वह परमेश्वर सर्वत्र बाहर भीतर सदा साक्षात् की तरह स्थित रहते हैं ॥ ८७ ॥

वह परमात्मा श्रीवासुदेव भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। चित्त भली प्रकार शुद्ध होने से उसमें उनकी स्फूर्ति होती है अन्य किसी प्रकार से उनके दर्शन नहीं हो सकते हैं ॥ ८८ ॥

श्रीभगवान् के नेत्रों द्वारा दर्शन भी वास्तव में चित्त से ही होते हैं। क्योंकि उस अवस्था में मन की और कोई वृत्ति न रह कर एक मात्र उनकी ही स्फूर्ति होती है ॥ ८९ ॥

वाक्, वाणी, नेत्र, श्रोत्र तथा और इन्द्रियों की वृत्तियाँ मन वृत्ति के आधीन हैं, इसलिये मन में सुख का संचार होने से सब इन्द्रियाँ स्वतः ही प्रसन्न हो जाती हैं ॥ ९० ॥

मन वृत्ति के बिना और सारी इन्द्रियों की वृत्तियाँ निष्फल हैं, क्योंकि जब तक आत्मा इनका अनुभव नहीं करे, तब तक उन वृत्तियों के किये हुये कर्म बिना किये के सदृश हैं। परन्तु

कृतापीहाऽकृतैव स्यादात्मन्यनुपलब्धितः ॥९१॥

कदाचिद्भक्तवात्सल्याद् याति चेद् दृश्यतां दृशोः ।

ज्ञानदृष्टैयैव तज्जातमभिमानः परं दृशोः ॥९२॥

तस्य कारुण्यशक्त्या वा दृश्योऽस्त्वपि वहिर्दृशोः

तथापि दर्शनानन्दः स्वयोनौ जायते हृदि॥९३॥

अनन्तरश्च तत्रैव विलसन् पर्य्यवस्यति ।

मन एव महापात्रं तत्सुखग्रहणोचितम् ॥९४॥

तत्प्रसादोदयाद् यावत् सुखं वर्द्धेत मानसम् ।

तावद्वर्द्धितुमीशीत न चान्याद्बाह्यमिन्द्रियं ॥९५॥

अन्तर्ध्यानेन दृष्टोऽपि साक्षाद्दृष्ट इव प्रभुः ।

कृपाविशेषं तनुते प्रमाणं तत्र पद्मजः ॥ ९६ ॥

साक्षाद्दर्शनमप्यस्य भक्तानामेव हर्षदम् ।

कंस-दुर्योधनादीनां भयदोषादिनोच्यते ॥९७॥

परानन्दघनं श्रीमत् सर्व्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ।

नारायणस्य रूपं तत् साक्षात् संपश्यतामपि ॥९८

मधुकैटभमुख्यानामसुराणां दुरात्मनाम् ।

न लीनो दुष्टभावोऽपिसर्व्व-पीडाकरो हि यः॥९९

आनन्दकस्वभावोऽपि भक्तिमाहात्म्यदर्शनात् ।

आत्मा मन के बिना स्वतन्त्र रूप से किसी पदार्थ का अनुभव नहीं कर सकती है, इसलिये दर्शनादिक में भी मन ही प्रधान है ॥ ९१ ॥

कभी कभी वह भगवान् अपने भक्त वात्सल्यादि गुणों के आधीन होकर, भक्तों के नेत्र गोचर हो जाते हैं, तो भी वह दर्शन मन के संयोग से ही होते हैं। नेत्र को स्वतन्त्र रूप से दर्शन करने का केवल अभिमान मात्र है ॥९२॥

यद्यपि उनकी करुणा शक्ति से उनके साक्षात् दर्शन बाहर नेत्रों द्वारा होते हैं। तो भी दर्शन के आनन्दको तो हृदय ही अनुभव करता है ॥९३॥

जब कि भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं उस समय भी मन ही दर्शन आनन्द को अनुभव करता है। इसलिये मन ही उस सुखको अनुभव करने के लिये श्रेष्ठ पात्र है ॥ ९४ ॥

प्रभु की कृपा जितनी बढ़ती जाती है मन का आनन्द भी उसके अनुसार बढ़ता रहता है। परन्तु वाह्य इन्द्रियाँ इतनी वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सकती हैं, इसलिये इतना सुख भी अनुभव नहीं कर सकती हैं ॥ ९५ ॥

ध्यान में प्रभु के दर्शन करना भी साक्षात् दर्शन के बराबर हैं। भगवान् उस अवस्था में साक्षात् की तरह विशेष कृपा भी करते हैं। इसमें प्रमाण श्रीब्रह्मा जी है ॥ ९६ ॥

भगवान् के साक्षात् दर्शन भक्तों को ही हर्ष देने वाले होते हैं क्योंकि प्रभु के दर्शन कंस दुर्योधन आदि को, केवल भय, दोष आदि बढ़ाने वाले ही हुये ॥ ९७ ॥

परमानन्दघन स्वरूप श्रीमन् नारायण सब इन्द्रियों को सुख प्रदान करने वाले हैं। परन्तु मधु कैटभ आदि दुष्ट असुरों का उनके साक्षात् दर्शन होने से भी उनका वह दुष्टभाव दूर नहीं हुआ, जो सब को पीड़ा देता था ॥ ९८। ९९ ॥

(अब यह प्रश्न होता है कि भगवान् आनन्द स्वरूप हैं, फिर उनके दर्शन से असुरों को भी आनन्द होना चाहिये, इसका यह उत्तर है)

भक्तान् हर्षयितुं कुर्य्या-
दुर्घटश्च स ईश्वरः ॥१००॥

कि वह भगवान् सर्व शक्तिमान हैं इस लिये आनन्द स्वरूप होने से भी अपनी भक्ति की महिमा को बढ़ाने के लिये तथा अपने भक्तों को आनन्द प्रदान करने के लिये दुर्घट घटना का भी अनुष्ठान करते हैं ॥१००॥

भक्तौ नवविधायाश्च मुख्यं स्मरणमेव हि ।
तत्समग्रेन्द्रियश्रेष्ठमनोवृत्तिसमर्पणं ॥१०१॥

नवधा भक्ति में स्मरण भक्ति ही मुख्य है। वह स्मरण भक्ति केवल उस मन वृत्ति अर्पण से होती है, जिसके आधीन सब इन्द्रियाँ हैं और जो सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ है ॥१०१॥

अन्तरङ्गान्तरङ्गान्तु प्रेमभक्तिं यथारुचि ।
दातुमर्हत्यविश्रामं मन एव समाहितं ॥१०२॥
अशेषसाधनैः साध्यः समस्तार्थाधिकाधिकः ।
यो वशीकरणे गाढोपायो भगवतोऽद्वयः॥१०३॥
तत्प्रसादैकलभ्यो यस्तद्भक्तैकमहानिधिः ।
विचित्रपरमानन्दमाधुर्य्य-भरपूरितः ॥१०४॥
महानिर्व्वाच्यमाहात्म्यः पदार्थः प्रेमसंज्ञकः ।
परिणामविशेषे हि चेतोवृत्तेरुदेति सः ॥१०५॥

एकाग्र मन ही साधक की रुचि के अनुसार छुपी से छुपी हुई उस प्रेम भक्ति को निरन्तर दे सकता है, जो प्रेम भक्ति समस्त साधनों का साध्य रूप है, जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थों से भी श्रेष्ठ है, जो भगवान् को वशीकरण करने के लिये अद्वितीय श्रेष्ठ उपाय है, जो एक मात्र भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है, जो भक्तों की महानिधि है, जो विचित्र प्रकार के आनन्द माधुरी से परिपूर्ण है, जिसकी महिमा वाणी के अगोचर है और जिसकी संज्ञा प्रेम है। वह प्रेम चित्तवृत्ति के सर्वोत्तम विशेष परिणाम अवस्था में ही प्रकट होता है॥ १०२-१०३-१०४॥ ॥ १०५ ॥

मनसो हि समाधानं मन्यसे दुष्करं यदि ।
चक्षुःसाफल्यकामो वा भगवन्तं दिदृक्षसे ॥१०६

यदि आप मन को एकाग्र करना दुष्कर समझते हो, अथवा अपने नेत्रों को सफल करने के लिये भगवान् के दर्शन करना चाहते हो, तो आप भारतवर्ष में जाइए, वहाँ हमारे इस लोक के ईश्वर श्रीनरनारायण स्वरूप से गंधमादन पर्वत पर अर्थात् श्री बद्रिकाश्रम में विराजमान हैं, उनके दर्शन कीजिये ॥१०६-१०७॥

तद्गच्छ भारतं वर्षं तत्र नोऽत्रत्यमीश्वरं ।
नारायणं नरसखं पश्याद्रौ गन्धमादने ॥१०७॥

अन्तर्वहिश्च पश्याम-
स्तं समाधिपरायणाः ।
नातो विच्छेददुःखं
स्यादित्यगात्तत्र स प्रभुः॥१०८॥

हम लोग समाधि में स्थित होकर बाहर भीतर सब जगह उनके दर्शन करते रहते हैं। इससे हमको उनका विरह, दुख नहीं देता। अतः वह प्रभु यहाँ रहने की आवश्यकता नहीं समझ कर श्री बद्रिकाश्रम चले गये हैं ॥१०८॥

लोकशिक्षाहितार्थन्तु कुर्वन्नास्ते महत्तपः ।

धनुर्विद्यागुरुर्ब्रह्मचारिवेशो जटाधरः ॥१०६॥

वहाँ वह, लोक शिक्षा तथा हित के लिये घोर तपस्या कर रहे हैं। धनुर्विद्या के गुरु हैं। और ब्रह्मचारी वेष से जटा धारण करके विराजमान हैं॥ १०६॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तत्रैव गन्तुकामं मां
चत्वारः सनकादयः ।
पश्यात्रैव तमित्युक्त्वा
वहुरूपान्यदर्शयन् ॥११०॥

श्री गोपकुमार बोले ।

जब उन चारों सनकादिकों ने मुझको वहाँ जाने की इच्छा वाला देखा, तो वह यह कहने लगे "आप उनके यहाँ ही दर्शन कीजिए" फिर उन्होंने भगवान् के अनेक स्वरूपों के दर्शन कराए॥ ११०॥

एको नारायणो वृत्तो विष्णुरूपोऽपरोऽभवत् ।
अन्यो यज्ञेशरूपोऽभूत् परो विविधरूपवान्॥१११

उनमें से एक ने तो श्रीमन् नारायण स्वरूप धारण किया, दूसरे श्रीविष्णु स्वरूप हो गये, तीसरे यज्ञेश्वर स्वरूप, और चौथे ने भगवान् के विविध प्रकार के स्वरूप धारण किये॥१११॥

भयेन वेपमानस्तानवोचं साञ्जलिर्नमन् ।
अपराद्धं मया वाढं क्षमध्वं दीनवत्सलाः! ॥११२

फिर मैं उनके दर्शन करके भय से कांपने लगा, हाथ जोड़ कर नमस्कार करके यह कहने लगा "हे दीनवत्सल भगवान्! मुझ से बड़ा अपराध हुआ, आप क्षमा कीजिए" ॥११२॥

स्पृष्टोऽहं तैर्मूर्द्धिन लब्ध्वा समाधिं
दृष्टानि प्राक् तानि रूपाण्यपश्यं ।
व्युत्थानेऽपि ध्यानवेगात् कदाचित्
प्रत्यक्षाणीवानुपश्येयमारात् ॥११३॥

तब श्री सनकादिक ने मेरे शिर पर हाथ फेरा, जिससे मैं भी समाधि में स्थित होगया। जो पहले स्वरूपों का मुझको दर्शन हुआ था, उन सब को मैंभी समाधिमें देखने लगा। जब कभी समाधि अवस्था को छोड़ कर मेरी वाह्य दृष्टि होती थी, उस समय भी ध्यान के प्रभाव से वह सब स्वरूप मुझको, समीप में ही प्रत्यक्ष की तरह दिखाई पड़ते थे॥११३॥

ततो जपेऽपि मे निष्ठामविन्दत सुखं स्वतः ।
किन्त्वस्या माधुरी भूमेर्व्याकुलीकुरुते मनः॥११४

फिर मेरी मन्त्र के जप करने में भी स्वाभाविक निष्ठा बढ़ गई। जिससे मुझको अपार सुख हुआ। परन्तु वृन्दावन की माधुरी ने मेरे मन को व्याकुल कर दिया॥११४॥

सुषुप्तिरिव काचिन्मे कदाचिज्जायते दशा ।
तया जपेऽन्तरायः स्यात्तत्तद्रूपेक्षणे तथा ॥११५॥

कभी कभी मेरी दशा सुषुप्ति अवस्था की तरह हो जाती थी, जिससे मेरे जप में तथा भगवान् के दर्शन में विघ्न होता था॥११५॥

विलपामि ततो नीलाचलं जिगमिषामि च ।

इससे मैं रोदन करता हुआ श्री नीलाचल जाने की इच्छा करता था। तब वहाँ के रहने

तत्रत्यैस्तैस्तु तद्वृत्तं पृच्छ्येयाहं ससान्त्वनं ॥११६

सशोकं कथ्यमाना सा श्रुत्वामीभिः प्रशस्यते ।
मया तथानुबुद्धये त दुःखमेवानुमन्यते ॥११७॥

अथाभ्यासवलेनान्तर्वहिश्च जगदीश्वरं ।
तत्तद्रूपेण पश्यामि प्रत्यक्षमिव सर्व्वतः ॥११८॥

कदाचित् सनकादींश्च ध्याननिष्ठावशं गतान् ।
विन्दतस्तानि रूपाणि दृष्ट्वाप्नोमि परां मुदं ॥११९

तत्तद्रहितकालेऽपि न सीदामि तदाशया ।
इत्थं चिरदिनं तत्र सुखेनैवावसं सदा ॥१२०॥

कदाचित् पुष्करद्वीपे स्वभक्तान् कृपयेक्षितुं ।
प्रस्थितो हंसमारूढस्तत्रायातश्चतुर्मुखः ॥१२१॥
परमैश्वर्य्यसम्पन्नः स वृद्धः सनकादिभिः ।
ससम्भ्रमं प्रणम्याभिपूजितो भक्तिनम्रितैः ॥१२२

आशीर्भिर्वर्द्धयित्वा तान् स्नेहेनाघ्राय मूर्द्धसु ।
किञ्चित् समनुशिष्यासौ तं द्वीपं वेगतोऽगमत् १२३

तत्तत्त्ववृत्तं संपृष्टा मयाऽवोचन् विहस्य ते ।
अत्रागतयाधुनापीमं गोपवालक! वेत्सि न ॥१२४

प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा स्रष्टा विश्वस्य नः पिता ।
स्वयम्भूः परमेष्ठ्येप जगत्पात्यनुशास्त्यपि ॥१२५

वाले इस वृत्तान्त को पूछ कर मुझको सान्त्वना देते थे ॥ ११६ ॥

मैं दुखित होकर, उस अवस्था को उनसे कहता था तो वह मेरी उल्टी प्रशंसा करते थे, मुझको इसका बोध नहीं था मैं तो इसको दुख ही मानता था ॥११७॥

इस ध्यानाभ्यास के बल से मैं भीतर वाहर सब जगह प्रत्यक्ष की तरह जगदीश्वर भगवान् के रूप को देखने लगा ॥११८॥

कभी कभी श्री सनकादिक समाधि के प्रभाव से भगवत् रूप को प्राप्त हो जाते थे। उस समय मुझको उनके दर्शन करके बड़ा आनन्द होता था ॥ ११९ ॥

जब कभी मैं उनको भगवत् रूप धारण किये हुये नही देखता था, तो भी पुनः दर्शन की आशा से मैं दुख नहीं पाता था। इसी प्रकार बहुत दिनों तक मैं वहाँ सुख पूर्वक रहा ॥१२०॥

एक बार वृद्ध पितामह श्री ब्रह्माजी बड़े ठाट-बाट से हंस पर चढ़ कर, श्री पुष्करद्वीप में कृपया अपने भक्तों को देखने के लिये जा रहे थे। रास्ते में वह तपलोक पधारे, जिनको देख कर श्री सनकादिक ने नम्र होकर प्रणाम किया, तथा भक्ति पूर्वक पूजन किया ॥१२१-१२२॥

श्री ब्रह्माजी ने सनकादिक को आशीर्वाद देकर, उनके मस्तकों का स्नेह से आघ्राण किया। फिर कुछ उनको उपदेश देकर वह जल्दी ही पुष्कर द्वीप चले गये ॥१२३॥

जब मैंने उनसे इस वृतान्त को पूछा तो वह हँस कर यह कहने लगे, "हे गोपबालक! तुम इस तपलोक में आकर भी इनको नही जानते हो? यह प्रजापतियों के भी पति श्री ब्रह्माजी हैं। इस संसार की सृष्टि करने वाले यह हमारे पिता हैं। यह स्वयं आप ही प्रगट हुये हैं और सब से श्रेष्ठ पद पर सुशोभित हैं। इस जगत का पालन और अनुशासन करने वाले हैं। यह "सत्य" नामक

अस्य लोकस्तु सत्याख्यः सर्व्वोपरि विराजते ।
शतजन्मकृतैः शुद्धैः स्वधर्म्मैर्लभ्यते हि यः॥१२६

तत्र वैकुण्ठलोकोऽस्ति यस्मिन् श्रीजगदीश्वरः ।
सहस्रशीर्षा वर्त्तेत समहापुरुषः सदा॥१२७॥

तस्य पुत्र इव ब्रह्मा श्रूयते न च भिद्यते ।
ब्रह्मैव लीलया तत्र मूर्त्तिभ्यां भाति नो मतं॥१२८

श्रीगोपकुमार उवाच ।
तच्छ्रुत्वा तत्र गत्वा तं महापुरुषमीक्षितुं ।
जपं कुर्व्वंस्तपोलोके निविष्टोऽन्तःसमाधिना॥१२९

मुहूर्त्तानन्तरं दृष्टी समुन्मील्य व्यलोकयं ।
ब्रह्मलोकाप्तमात्मानं तत्र श्रीजगदीश्वरं॥१३०॥

श्रीमत्सहस्रभुजशीर्षपदं महान्तं
नीलाम्बुदाभमनुरूपविभूषणाढ्यं ।
तेजोनिधिं कमलनाभमनन्तभोग-
तल्पे शयानमखिलाक्षिमनोऽभिरामं॥१३१

संवाह्यमानचरणं रमया सुपर्णे
बद्धाञ्जलौ कृतदृशं विधिनार्च्यमानं।
भूयो विभूतिभिरमुं बहु लालयन्तं
श्रीनारदप्रणयभक्तिषु दत्तचित्तं ॥१३२
महारहस्यं निगमार्थतत्त्वं
स्वभक्तिमार्गं कमलासनाय ।

उस लोक में रहते हैं, जो कि सब से ऊपर विराजमान है। जो कोई सौ जन्म तक अपने धर्म को पवित्रता से पालन करता है, उसको वह लोक प्राप्त होता है ॥१२४-१२५-१२६॥

वहाँ श्री वैकुण्ठलोक भी है जिसमें श्रीजगदीश्वर भगवान् सहस्रशीर्षा स्वरूप से सदा विराजमान हैं। जिनको श्री महापुरुष भी कहते हैं ॥ १२७ ॥

हम ऐसा सुनते हैं कि उनके ही पुत्र श्रीब्रह्मा जी हैं, परन्तु इन दोनों में भेद नहीं है। हमारा तो यह मत है, कि श्री ब्रह्माजी ने ही लीला से इन दोनों रूपों को धारण कर रखा है ॥१२८॥

श्री गोपकुमार बोले ।

जब मैंने यह सुना तो मेरी यह अभिलाषा हुई कि सत्यलोक में जाकर महापुरुष भगवान् के दर्शन करने चाहियें। इस लिये उस तपलोक में ही समाधि में स्थित होकर मैं उस मन्त्र का जप करने लगा ॥१२९॥

एक मुहूर्त मात्र में, ज्योंही मैंने आँखें खोलीं, त्योंही अपने आपको ब्रह्मलोक में पाया, और वहाँ श्री जगदीश्वर भगवान् के दर्शन किये ॥१३०॥

जिनका श्री दिव्य मङ्गल विग्रह बड़ा प्रकाण्ड है। जिनके हजारों भुजा, मस्तक तथा चरण हैं, जिनकी कान्ति नीले मेघ सरीखी है, जो विविध प्रकार के अलङ्कारों से विभूषित हैं, जो तेज के निधि स्वरूप हैं, जिनकी नाभी से कमल प्रगट हुआ है, जो शेषनाग पर शयन करते हुए सबके नेत्रों तथा मनको आनन्द प्रदान कर रहे हैं, जिनके चरण कमल श्री लक्ष्मी जी पलोट रही हैं, जो प्रभु उन गरुड़ जी को प्रेम भरी दृष्टि से देख रहे हैं, जो हाथ जोड़ कर उनके आगे खड़े हैं, जिनका पूजन श्री ब्रह्माजी अपनी अनेक विभूतियों से कर रहे हैं, जो ब्रह्माजी का बहुत प्रकार से लालन पालन कर रहे हैं। श्री नारदजी प्रेम भक्ति से नृत्य गान कर रहे हैं जिनको प्रभु दत्तचित्त होकर श्रवण कर रहे हैं। वह प्रभु अपने मन्दिर के

शनैर्विवृत्योपदिशन्तमन्त-

निजालयेन्द्रस्य विराजमानं ॥१३३॥

अथो तदाकर्ण्य चतुर्मुखश्च

प्रमोदसम्पद्विवशीभवन्तं ।

अनूद्य नीचैरनुमोदमानं

मुहुस्तदङ्घ्रीनभिवन्दमानं ॥१३४॥

प्रमोदवेगात् पतितं विसंज्ञं

विलोक्य सा मामभिगम्य लक्ष्मीः ।

निनाय संज्ञां वहु लालयित्वा

स्ववालवत् पार्श्वमुत स्वभर्त्तुः ॥१३५॥

भगवन्तं मुहुः पश्यन् प्रणमन्नवदं मनः ।

निजेप्सितान्तमद्यागा निश्चलं त्वं मुदं भज॥१३६

अशेषशोकसन्त्रासदुःखहीनमिदं पदं ।

परमर्द्धिपरानन्दनिचितं जगदर्चितं ॥१३७॥

यादृशः सम्भवेद्भ्रातर्जगदीशश्च तादृशः ।

भात्यशेषमहत्तायाः परां काष्टां गतः स्फुटं १३८

स्नेहमन्वभवो लक्ष्म्या

दृग्भ्यां पश्याधुना प्रभुं ।

माथुरव्रजभूशोकं

यियासां चान्यतो जहि ॥१३९॥

जगदीशाद्विधातेव लालनं चेदभीप्ससि ।

तन्महापुरुषादिष्टमन्त्रशक्त्या फलिष्यति॥१४०॥

श्रेष्ठ भवन में विराजमान होकर श्री ब्रह्माजी को वेदों का सार स्वरूप महा गोपनीय भक्ति मार्ग का विस्तार पूर्वक शनैः शनैः उपदेश कर रहे हैं ॥१३१-१३२-१३३॥

यह सुन कर श्री ब्रह्माजी आनन्द से विह्वल होगए। उन्होंने धीमे स्वर से भगवान् के उपदेशों का अनुमोदन किया। फिर वह बार-बार उनके चरणारविन्दों में प्रणाम करने लगे। यह सब देख कर मैं आनन्द के वेग से मूर्छित होकर गिर पड़ा। तब श्री लक्ष्मी जी ने मेरे निकट आकर बहुत प्रकार से लालन पालक करके मुझको चेत कराया। वह मुझको अपने बालक की तरह लाड चाव करती हुई अपने पति श्री भगवान् के पास ले गईं ॥१३४ १३५॥

मैं बार बार भगवान् के दर्शन तथा प्रणाम करके अपने मन में इस प्रकार कहता था। "अरे मन! आज तेरी अभिलाषा पूर्ण हुई है। तू स्थिर होकर आनन्द अनुभव कर। यह लोक सब प्रकार के दुख शोक तथा त्रास से रहित हैं और श्रेष्ठ निधि तथा बड़े आनन्द युक्त हैं। इस लिये इस लोक का समस्त जगत् पूजन करते हैं। हे भ्राता मन! जैसा जगदीश्वर होना चाहिये, वैसे ही यह स्वरूह हैं क्योंकि इन में सब महिमाओं की परा काष्ठा साक्षात् स्वरूप से विराजमान है ॥१३६॥ ॥ १३७-१३८ ॥

अरे मन! तू श्री लक्ष्मीजी के स्नेह को अनुभव कर, अब अपनी आँखों से प्रभु के दर्शन कर। अब मथुरा तथा व्रज भूमि के विछेद के शोक को तथा वहाँ जाने की इच्छा को छोड़ कर यहाँ ही निवास कर. और किसी जगह मत जा। यदि रे मन! तेरी यह इच्छा है कि यह जगदीश्वर भगवान् मेरा भी श्री ब्रह्मा की तरह लालन-पालन करें, तो यह तेरी अभिलाषा भी उस महा पुरुष के दिये हुये मन्त्र के जप से पूरी हो जाएगी" ॥ १३९-१४० ॥

निद्रालीलां प्रभुर्भेजे लोकपद्मेऽस्य नाभिजे ।
सृष्टिरीतिं विधिर्वीक्ष्य स्वकृत्यायाभवद्बहिः॥१४१

पश्यन् प्रभोरूपमदो महाद्भुतं
तन्नाभिपद्मे युगपत्तथा जगत् ।
गूढोपदेशश्रवणाच्चतुर्मुख-
प्रेमप्रवाहश्च सुखं ततोऽवसं ॥१४२॥

कृत्स्ने लोकत्रये नष्टे रात्रावेकार्णवे सति ।
शेषोपरि सुखं शेते भगवान् ब्रह्मणा समं॥१४३॥

स्तूयते चित्रवाक्यैः स जनलोकादिवासिभिः ।
तन्महाकौतुकं वीक्ष्ये ब्रह्मलोकप्रभावतः ॥१४४॥

अन्तर्धाय कदाचिच्चेत् कुत्रापि भगवान् व्रजेत् ।
शोकः स्यादागते चास्मिन् समूलः क्षीयते स नः
॥ १४५ ॥

इत्थमह्नां कतिपये प्रयाते प्रातरेकदा ।
कौतुकाद्ब्रह्मणा स्पृष्टः फेणपुञ्जोऽसुरोऽभवत्।१४६

तद्भीत्यालीयत ब्रह्मा दैत्यो भगवता हतः ।
भयाक्रान्तो विधिर्नैति तत्पदेऽयुङ्क्त मां प्रभुः।१४७

अहन्तु वैष्णवानेव सृजंस्तद्भक्ति-वृद्धये ।
न्ययुञ्जमधिकारेषु वैष्णवानेव सर्व्वतः ॥१४८॥

इतस्ततो महायज्ञैरश्वमेधादिभिर्विभुम् ।

फिर भगवान् लीला से शयन कर गये। तब श्रीब्रह्मा जी उनकी उस नाभि कमल में जिसमें चौदह भुवन हैं, भगवान् से सृष्टि करने की रीति को ग्रहण करके, अपने कार्य को सम्पादन करने के लिये बाहर आये ॥१४१॥

इस प्रकार भगवान के अद्भुत स्वरूप का दर्शन करके, समस्त जगत् को उनकी नाभि कमल में देख कर और यह देख कर कि प्रभु के गूढ उपदेशों को सुन कर श्री ब्रह्मा जी प्रेम से विह्वल हो रहे हैं मैं वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥१४२

जब ब्रह्मा जी की रात्रि होने से इस त्रिलोकी का प्रलय हो जाता है, तब भगवान् ब्रह्माजी को साथ लेकर शेष नाग पर सुख पूर्वक शयन करते हैं। उस समय उस जन लोक के रहने वाले चित्र विचित्र वाक्यों से भगवान की स्तुति करते हैं। यह बड़ा कौतुक, अब मैंने ब्रह्म-लोक के प्रभाव से देखा ॥ १४३ । १४४ ॥

जब कभी भगवान् अन्तर्धान होकर कहीं चले जाते थे, तब मुझको शोक होता था। परन्तु फिर उनके लौट आने पर वह शोक समूल नष्ट हो जाता था ॥ १४५ ॥

इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुये। फिर एक बार प्रातः काल जब ब्रह्मा जी ने कौतुक से फेन, अर्थात झाग को स्पर्श किया, तो उससे एक बड़ा प्रकाण्ड असुर उत्पन्न हुआ ॥१४६

जिस दैत्य के डर से श्री ब्रह्मा जी छिप गये, फिर भगवान् ने उस दैत्य का वध किया। तो भी श्रीब्रह्मा जी भयाक्रान्त होकर अपने स्थान पर नहीं आये। तब प्रभुने मुझको उस ब्रह्म पद पर नियुक्त कर दिया ॥ १४७ ॥

तब मैंने भगवद्भक्ति की वृद्धि करने के लिये वैष्णवों की ही सृष्टि की, और सब अधिकारों (इन्द्रादि पदों) पर वैष्णवों को ही नियुक्त कर दिया ॥ १४८ ॥

जहाँ तहाँ जो बड़े बड़े अश्वमेधादि यज्ञ होते थे, उनमें भी मैंने भगवान् का ही पूजन कराया

सम्पूजयन्मुदां पूरैर्ब्रह्माण्डं समपूरयम् ॥१४९॥

पारमेष्ठ्ये न संरुद्धो वेदैर्मूर्त्तिधरैर्मखैः ।

पुराणैरितिहासैश्चागमैस्तीर्थैर्महर्षिभिः ॥१५०॥

ब्रह्मर्षिभिश्च वहुधा स्तूयमानो महामदैः ।

ग्रस्यमानोऽपि मुञ्चामि न स्माकिञ्चनतां निजां ॥ १५१ ॥

तथापि ब्राह्मयकृत्याब्धिभङ्गमग्नो न पूर्ववत् ।

लेभे भगवतो भक्तिसुखं चिन्तातुरान्तरः॥१५२॥

द्विपरार्द्धायुषि स्वस्य श्रूयमाणेऽपि कालतः ।

भयं स्यात् क्रियमाणे च जपे भूरियमार्त्तिदा॥१५३

जगदीश्वरतः पुत्रलालनन्तु महासुखम् ।

ममानुभवतश्चित्तवैकल्यं तद्विनश्यति ॥ १५४ ॥

अत्यन्तसन्निकर्षेण पितृबुद्ध्या च सेवया ।

कदाप्यागांसि जातानिमृष्यन्ते प्रभुणा मम॥१५५

तथाप्यन्तर्महोद्वेगः स्यात्ततो व्यञ्जिते श्रिया ।

स्नेहे मात्रेव हृष्टः स्यामेवं तत्रावसं चिरं ॥१५६॥

एकदा मुक्तिमत्राप्तमेकं तल्लोकवासिभिः ।

संश्लाघ्यमानमाकर्ण्य तानपृच्छं तदद्भुतं॥१५७॥

मुक्तेः परममुत्कर्षं दौर्लभ्यञ्च निशम्य तान् ।

जिससे यह समस्त ब्रह्माण्ड आनन्द से परिपूर्ण हो गया ॥ १४९ ॥

मुझको उस लोक की बड़ी से बड़ी सम्पत्तियाँ घेरे रहती थीं. समस्त वेद, यज्ञ, पुराण, इतिहास, तन्त्र, तीर्थ मूर्ति स्वरूप से मेरी सेबामें उपस्थित रहते थे, बड़े बड़े महर्षि बहुत प्रकार से मेरी स्तुति करते थे । यद्यपि इस प्रकार की बड़ीबड़ी संपत्ति आदिके अभिमानों से मैं ग्रस्त था तो भी मैंने अपनी निज अकिञ्चनता को नहीं छोड़ा ॥ १५० । १५१ ॥

इस प्रकार होते हुए भी, श्री ब्रह्मपद के कार्य रूप समुद्र की तरंगों में फँस कर मैं पहलेकी तरह भगवद् भक्ति सुख को अनुभव नहीं करता था, जिससे मेरे चित्त को बड़ी चिन्ता होती थी ॥ १५२ ॥

जब मैं यह सुनता था कि मेरी आयु द्विपरार्ध काल में समाप्त हो जायेगी, तब मुझको काल से भय होने लगता था । जिसकी निवृत्ति के लिये जब मैं मन्त्रका जप करता था तो मुझको इस ब्रजभूमि की स्मृति दुख देती थी ॥१५३॥

परन्तु जब श्रीजगदीश्वर भगवान् पुत्र भाव से मेरा लालन पालन करते थे तब उस सुखको अनुभव करके मेरे चित्त की विकलता नष्ट हो जाती थी ॥ १५४ ॥

अत्यन्त निकट रहने से तथा पितृ भाव द्वारा सेबा करने से मुझसे कभी कभी अपराध हो जाते थे जिनको वह प्रभु क्षमा कर देते थे तो भी मेरे मन में बड़ा उद्वेग होता था. जिसको जान कर श्रीलक्ष्मीजी वात्सल्य भाव से सांत्वना देकर आनन्द प्रदान करती थीं । इस प्रकार मैंने वहाँ चिरकाल तक निवास किया ॥१५५।१५६॥

एक बार इस भारत वर्ष के किसी एक जीव की मुक्ति हुई । वह सत्यलोक वाली उसकी बहुत प्रशंसा करने लगे । यह अद्भुत बात सुन कर मैंने उनसे इसके विषय में प्रश्न किया । उन सर्वज्ञों के मुख से मुक्ति का परम उत्कर्ष तथा

सर्व्वज्ञान् पुनरप्राच्छं तदुपायं तदीप्सया॥१५८॥

बहुलोपनिषद्भ्यः श्रुतिस्मृतिभिरन्विताः।

ऊचुरेकेन साध्योऽसौ मोक्षो ज्ञानेन नान्यथा॥१५९

कैश्चिदुक्तं सगाम्भीर्य्यं पुराणैरागमैरपि।

जन्यते भगवद्भक्त्या सुखं ज्ञानं सुदुर्घटं॥१६०॥

किम्वानुष्ठितया सम्यक् तयैव सुलभोऽस्ति सः।

श्रुतिस्मृतीनां कासाञ्चित् सम्मतिस्तत्र लक्षिता ॥ १६१ ॥

व्यक्तं तासां वचोऽश्रुत्वा क्रुद्धाः स्वैरागमादिभिः

महोपनिषदः काश्चिदन्वमोदन्त तत् स्फुटं॥१६२

गूढोपनिषदः काश्चित् कैश्चिद्गूढैर्महागमैः।

समं महापुराणैश्च तूष्णीमासन् कृतस्मिताः॥१६३

मोक्षो नु भगवन्मन्त्र-जपमात्रात् सुसिद्ध्यति।

न वेति कैश्चिदाम्नायपुराणादिभिरुल्वणः॥१६४

आगमानां विवादोऽभूत्तमसोढ्वा वहिर्गताः।

ते पुराणागमाः कर्णौ पिधायोपनिषद्युताः॥१६५

ततो महापुराणानां महोपनिषदां तथा।

माध्यस्थ्यादागमानान्तु जयो जातो मम प्रियः ॥ १६६ ॥

मयाभिप्रेत्य तद्भावं ते पुराणागमादयः।

दुर्लभता को सुनकर मैंने उस लोक की प्राप्ति के लिये, उनसे उपाय पूछा॥ १५७। १५८॥

बहुत उपनिषदों ने जोकि वहाँ देवी स्वरूप से विराजमान थीं, वेद तथा धर्म शास्त्रों को साथ लेकर यह कहा कि "मोक्ष एकमात्र ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है इसकी प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं है॥ १५९॥

किसी किसी पुराण तथा तन्त्र ने अपने गम्भीर भाव से कहा कि "वह दुर्घट ज्ञान भी भगवद्भक्ति द्वारा ही सुगमता से प्राप्त हो सकता है। अथवा केवल भक्ति के ही सम्यक् अनुष्ठान करने से मोक्ष सुलभ हो सकता है" इसकी पुष्टि के लिये किसी किसी श्रुति तथा स्मृति ने भी अपनी सम्मति को प्रकट किया है॥१६०.१६१॥

उपरोक्त श्रुति स्मृतिओं के भाषणों में भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं सुनकर, किसी किसी बड़े उपनिषदों ने अपने तन्त्र आदि शास्त्रों को साथ लेकर, क्रोधित होकर यह स्पष्ट रूप से अनुमोदन किया कि "भक्ति से अवश्य मेव मुक्ति हो सकती है॥ १६२॥

यह सुन कर कोई कोई गूढ़ उपनिषद् तन्त्रों तथा महा पुराणों के साथ चुप होकर मुस्कराने लगे॥ १६३॥

एक मात्र श्री भगवद् मन्त्र जप करने से ही मोक्ष सहज में प्राप्त हो सकती हैं या नहीं, इस विषय में किसी किसी वेद पुराणों के साथ तन्त्र शास्त्रों का घोर विवाद हुआ। जिसको सहन नहीं कर के महा पुराण तथा तन्त्र उपनिषदों को साथ लेकर अपने कानों को बन्द कर के (सभा से) बाहर चले गये॥ १६४। १६५॥

फिर महापुराणों तथा महा उपनिषदों को मध्यस्थ मान कर जब विचार किया गया, तो तन्त्र शास्त्रों की जय हुई जिसको कि मैं चाहता था॥ १६६॥

श्रीमद्भागवत आदि महापुराण तथा तन्त्र शास्त्र जो पहले अप्रसन्न होकर बाहिर चले गये थे,

अनुनीय सभा-मध्यमानीताः स्तुतिपाटवैः ॥१६७
तत्तत्त्वं सादरं पृष्टास्ते श्रीभागवतादयः ।
ऊचुः सात्वतसिद्धान्ताद्यागमाः श्रुतिमौलिभिः
॥१६८॥

मैंने उनके अभिप्राय को समझ कर दीन वाक्यों से उनकी स्तुति करके, उनको समझा कर, फिर भीतर सभा में प्रवेश कराया। जब मैं ने बहुत आदर पूर्वक उन श्री मद्भागवत पुराण आदि से मोक्ष के तत्व को पूछा, तब वह महापुराण तथा वैष्णव सिद्धान्त तन्त्र श्रेष्ठ श्रुतियों को साथ लेकर इस प्रकार कहने लगे ॥१६७-१६८॥

श्रीभक्तिशास्त्राण्यूचुः ।

लब्धब्रह्माधिकारेदं
महागोप्यं निधेरपि ।
भवत्सद्गुण-सन्दोहै-
राख्यामो मुखरीकृताः॥१६९॥

श्रीभक्तिशास्त्रों ने कहा।

हे ब्रह्माजी के अधिकार को प्राप्त करने वाले गोपकुमार! यद्यपि यह विषय जिसका आपने प्रश्न किया है, निधि से भी अधिक गोपनीय है, तो भी आपके सद्गुणों ने हमको वाचाल कर दिया है। इस लिये हम वर्णन करते हैं ॥१६९॥

क्वचित् प्रस्तूयतेऽस्माभिर्भगवद्भक्तितत्परैः ।
मोक्षस्तत्याजयितुं सम्यग्विनिन्द्य सपरिच्छदः
॥१७०॥

हम लोगों ने जो कि भगवद्भक्ति तत्पर हैं, किसी-किसी स्थान पर मोक्ष के लक्षण भी निरूपण किये हैं, जिनका तात्पर्य भी उस मोक्ष के दोषों को दिखला कर, ज्ञान सहित उसके त्याग कराने में ही है ॥१७०॥

निर्वक्तुं भक्तिमाहात्म्यं
कथ्यतेऽस्यापि तत् क्वचित् ।
न तु साध्यफलत्वेन
सुखगन्धोऽपि नास्ति यत् ॥१७१॥

भक्ति की महिमा को कथन करने के लिये हम लोगों ने किसी-किसी स्थान पर मोक्ष की प्रशंसा भी की है, किन्तु वह फल स्वरूप से नहीं की गई है, क्योंकि उस मोक्ष में सुख का गन्ध भी नहीं है ॥ १७१ ॥

यथारोग्ये सुषुप्तौ च
सुखं मोक्षेऽपि कल्प्यते ।
परन्त्वज्ञानसंज्ञोऽय-
मनभिज्ञप्ररोचकः ॥१७२॥

जैसे रोग से छुटकारा पाकर अथवा सुषुप्ति अवस्था से उठ कर मनुष्य अपने आपको सुखी मानता है, उसी प्रकार मोक्ष में भी सुख की कल्पना करते हैं। परन्तु यह "मोक्ष" संज्ञा ही अज्ञान से है। इसी के तत्व को नहीं जानने वाले लोगों को ही यह रुचि कारक है ॥१७२॥

कथञ्चिद्भगवन्नामाभासस्यापि स सिद्ध्यति ।
सकृदुच्चारमात्रेण किं वा कर्णे प्रवेशितः ॥१७३

किसी प्रकार से भी श्री भगवन्नाम के आभास के उच्चारण करने से अथवा कान में पड़ने से यह मोक्ष सिद्ध हो जाती है ॥१७३॥

विचाराचातुरीरम्यो मोक्षोऽयमवधार्य्यतां ।
तेषां वेदपुराणादिशास्त्राणां हि यथामतं ॥१७४॥

यद्यपि मुमुक्षु लोग मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ स्वरूप निरूपण करते हैं। किन्तु वेद शास्त्रों के मतों को छान वीन करने से ऐसा प्रतीत होता है, कि उपरोक्त सिद्धान्त, विचार चातुरी में कुशल लोगों का नहीं है ॥१७४॥

सोऽशेषदुःखध्वंसो वा-
ऽविद्याकर्म्मक्षयोऽथवा ।
मायाकृतान्यथारूपत्या-
गात् स्वानुभवोऽपि वा ॥१७५॥

किसी का तो यह मतहै कि सबप्रकार के दुःखों का ध्वंस हो जाना ही मोक्ष है। कोई कोई अविद्या तथा कर्म का क्षय हो जाना ही मोक्ष मानते हैं। और किसी मत में जो माया से अन्यथा भ्रान्ति हो रही है, उस भ्रम को छोड़ कर अपने आत्म स्वरूप का अनुभव होना ही मोक्ष है ॥१७५॥

जीवस्वरूपभूतस्य
सच्चिदानन्दवस्तुनः ।
साक्षादनुभवेनापि
स्यात्तादृक् सुखमल्पकं ॥१७६॥

जीव स्वयं अणु सच्चिदानन्द स्वरूप है, इस लिये मोक्ष अवस्था में उसको अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने से भी वह अपने स्वरूप के अनुरूप ही अल्प सुख का अनुभव करता है ॥१७६॥

शुद्धात्मतत्त्वं यद्वस्तु
तदेव ब्रह्म कथ्यते ।
निर्गुणं तच्च निःसङ्गं
निर्व्विकारं निरीहितं ॥१७७॥

(यदि यह कहें कि उस जीव को जब ब्रह्म का अनुभव होता है और वह ब्रह्म पूर्ण आनन्द स्वरूप हैं, फिर इसको पूर्ण आनन्द का अनुभव क्यों नहीं होता है ? उसका उत्तर यह हैः—प्रथम जीव अणु स्वरूप है और ब्रह्म विभु है, इस लिये यह अणु चैतन्य अपने स्वरूप से उस बृहद् ब्रह्म के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता है। दूसरे वह ब्रह्म जो अपनी स्वरूप शक्ति से रहित है, वह उस जीव को पूर्ण आनन्द आस्वादन नहीं करा सकता है) क्योंकि उन ज्ञानियों के मत में शुद्ध आत्म तत्व को ही ब्रह्म कहते हैं जो कि केवल निर्गुण, निसंग, निर्विकार, और निरीह है अर्थात् उस ब्रह्म में न तो कारुण्य आदि गुण हैं, न वह भक्तों का संग करता है, न उसका चित्त कभी भक्तों पर आर्द्र होता है, और न कभी अपने भक्तों के साथ किसी प्रकार की लीला करता है, इस लिये इस प्रकार अपनी स्वरूप शक्ति से रहित ब्रह्म के अनुभव करने से जीव को पूर्ण सुख की प्राप्ति नहीं होती है ॥ १७७ ॥

भगवांस्तु परं ब्रह्म
परात्मा परमेश्वरः ।
सुसान्द्रसच्चिदानन्द-
विग्रहो महिमार्णवः ॥१७८॥
सगुणत्वागुणत्वादि-
विरोधाः प्रविशन्ति तं ।

(क्यों जी पूर्ण सुख किस तरह प्राप्त हो सकता है ? इसका उत्तर यह हैः—भक्ति शास्त्रों के मत में भगवान् सर्व शक्तिमान हैं, इसलिये अपनी स्वरूप शक्ति रूपाभ क्ति से उस अणु स्वरूप जीव को भी अपने पूर्ण सुख का अनुभव कराते हैं।) षडैश्वर्य पूर्ण भगवान् , जो पर ब्रह्म हैं, परमात्मा अर्थात् अन्तर्यामी हैं, परमेश्वर अर्थात् सबके

महाविभूतिर्ब्रह्मास्य

प्रसिद्धेत्थं तयोर्भिदा ॥१७६॥

अतः सान्द्रसुखं तस्य श्रीमत्पादाम्बुज-द्वयं ।

भक्त्यानुभवता सान्द्रं सुखं सम्पद्यते ध्रुवं ॥१८०

सुखरूपं सुखाधारः शर्करा-पिण्डवन्मतं ।

श्रीकृष्ण-चरण-द्वन्द्वं सुखं ब्रह्म तु केवलं॥१८१॥

जीवस्वरूपं यद्वस्तु परं ब्रह्म तदेव चेत् ।

तदेव सच्चिदानन्दघनं श्रीभगवांश्च तत् ॥१८२॥

तथापि जीव-तत्त्वानि तस्यांशा एव सम्मताः ।

घनतेजः-समूहस्य तेजो-जालं यथा रवेः ॥१८३॥

नित्यसिद्धास्ततो जीवा भिन्ना एव यथा रवेः ।

अंशवो विस्फुलिङ्गाश्च वह्नेर्भङ्गाश्च वारिधेः १८४

अनादिसिद्धया शक्त्या चिद्विलासस्वरूपया ।

महायोगाख्यया तस्य सदा ते भेदितास्ततः१८५

अतस्तस्मादभिन्नास्ते

भिन्ना अपि सतां मताः ।

मुक्तौ सत्यामपि प्रायो

भेदस्तिष्ठेदतो हि सः ॥१८६॥

नियन्ता हैं, जिनका श्री दिव्यमङ्गल विग्रह सच्चिदानन्द मय है, अर्थात् आपके अंग प्रत्यंग सब घनीभूत आनन्द से ही गठित हैं, जो अचिन्त्य अद्भुत महिमाओं के समुद्र स्वरूप हैं, जिनमें सगुण निर्गुण परस्पर विरोधी धर्मों का भी समन्वय होता है, और जिन भगवान् का निर्विशेष ब्रह्म से यह भेद है, कि वह निर्विशेष ब्रह्म भगवान् की एक महाविभूति है ॥१७८-१७९॥

इस लिये जीव को,भगवान् के पूर्ण सुख स्वरूप, श्री युगल चरणारविन्दों का भक्ति से अनुभव करने से ही निश्चय पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सकती है ॥ १८० ॥

क्योंकि तत्ववेत्ताओं का यह मत है कि भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीयुगल चरणारविन्द, केवल सुख स्वरूप ही नहीं हैं, बल्कि मिश्री के पिण्ड की तरह स्वयं सुखाधार भी हैं, परन्तु ब्रह्म केवल सुख स्वरूप ही है ॥१८१॥

यद्यपि किसी किसी का यह मत है कि जो जीव का स्वरूप है वही परब्रह्म का है, और वही सच्चिदानन्द घन श्री भगवान् का है ॥१८२॥

तो भी तत्व दर्शियों का यह मत है कि जीव भगवान् के अंश स्वरूप हैं, जैसे कि बड़े भारी तेज पुञ्ज सूर्य नारायण की किरणें अंश हैं ॥१८३॥

इसलिये जीव भगवान् से सदा भिन्न रह कर भी नित्य विद्यमान रहते हैं, जैसे सूर्य की किरणें, अग्नि के पतंग तथा समुद्र की लहरें ॥१८४॥

भगवान् की चिद्स्वरूपा शक्ति, जो अनादि काल से विद्यमान है, जिसका योगमाया नाम है, उसने जीवों का भगवान् से अनादि काल से भेद करा रक्खा है ॥१८५॥

इसलिये श्रेष्ठों का यह मत है, कि जीव का स्वरूप श्री भगवान् के सदृश सच्चिदानन्द होने से अभेद है, और उनका अंश स्वरूप होने से भेद है। इसलिये जीव मुक्त होने से भी, भगवान् से प्रायः भिन्न ही रहते हैं ॥ १८६ ॥

सच्चिदानन्दरूपाणां जीवानां कृष्ण-मायया ।
अनाद्यविद्यया तत्त्वविस्मृत्या संसृतिर्भ्रमः ॥१८७

जीव तो सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, परन्तु श्री कृष्ण की अनादिसिद्ध अविद्या स्वरूपा माया से अपने स्वरूप को भूल जाते हैं, और अपने आपको संसारी मानने लगते हैं ॥१८७॥

मुक्तौ स्व-तत्त्वज्ञानेन मायापगमतो हि सः ।
निवर्त्तते घनानन्दब्रह्मांशानुभवो भवेत् ॥१८८॥

परन्तु जब उस जीव की अपने स्वरूपज्ञान से मुक्ति हो जाती है, तब माया दूर होने से उस का संसार रूपी भ्रम भी निवृत होजाता है। तब वह सच्चिदानन्दघनब्रह्म अर्थात् श्री भगवान् के अंश रूप अपने स्वरूप का अनुभव करता है ॥१८८

स्वसाधनानुरूपं हि फलं सर्व्वत्र सिद्ध्यति ।
अतः स्वरूप-ज्ञानेन साध्ये मोक्षेऽल्पकं फलं१८९

क्योंकि यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, जो जैसा साधन करता है उसके अनुरूप ही उसको फल मिलता है। इसलिये अपने स्वरूपज्ञान से उसको मोक्ष सुख भी थोड़ा ही मिलता है ॥१८९॥

संसार-यातनोद्विग्नै रसहीनैर्मुमुक्षुभिः ।
वहुधा स्तूयते मोक्षो यथा द्यौःस्वर्गकामिभिः१९०

वे ही मुमुक्षु लोग बहुत प्रकार से मोक्ष की स्तुति करते हैं, जो कि संसार यातना से घबराये हुए हैं और जो रस हीन हैं, जैसे कि स्वर्ग कामना वाले अनित्य स्वर्ग की ही प्रशंसा करते हैं॥१९०॥

सुखस्य तु पराकाष्ठा भक्तावेव स्वतो भवेत् ।
न्मयश्रीपदाम्भोज-सेविनां साधनोचिता ॥१९१

परन्तु सुख की पराकष्ठा, आनन्दघन भगवत चरणारविन्दों की सेवा करने वालों की, भक्ति के साधनानुसार स्वाभाविक ही होती है ॥१९१॥

परमातिशयप्राप्तमहत्त्वाबोधनाय हि ।
पराकाष्ठेति शब्द्येत तस्यानन्तस्य नावधिः १९२

यहाँ जो पराकाष्ठा सुख शब्द का प्रयोग किया गया है, वह परम अतिशय महान सुख के बोध कराने के लिये है, क्योंकि उस सुख की कोई सीमा नहीं है ॥१९२॥

तत्सुखं वर्द्धतेऽभीक्ष्णमनन्तं परमं महत् ।
न तु ब्रह्मसुखं मुक्तौ वर्द्धते सीमवद्यतः ॥१९३॥

वह ऐसा सुख अनन्त तथा महान होते हुए भी निरन्तर बढ़ता रहता है, परन्तु मुक्ति अवस्था में ब्रह्म सुख नहीं बढ़ता है। क्योंकि वृद्धि से विकार होता है। और वह ब्रह्म निर्विकारी है इस लिये वह सुख सीमा बद्ध है ॥१९३॥

परमात्मा परब्रह्म स एव परमेश्वरः ।
इत्येवमेषामैक्येन सजातीयभिदा हता ॥१९४॥

जो परब्रह्म है वही परमात्मा तथा परमेश्वर है, इसलिये उन सब का, एक ही तत्व होने के कारण, उनमें सजातीय भेद नहीं है ॥१९४॥

सदा वैजात्यमाप्तानां जीवानामपि तत्त्वतः ।

सब जीव भगवान् से विजाति धर्म प्राप्त होने से भी वास्तव में वह सब उन के अंश स्वरूप हैं,

अंशत्वेनाप्यभिन्नत्वाद्विजातीयभिदा मृता॥१९५

इसलिये उन सब का भगवान् से अभेद होने से, भगवान् में विजातीय भेद भी निवृत्त होजाताहै१९५

अस्मिन् हि भेदाभेदाख्ये सिद्धान्तेऽस्मत्सुसम्मते ।
युक्त्यावतारिते सर्व्वं निरवद्यं ध्रुवं भवेत्॥१९६॥

यह भेदाभेद नामक सिद्धान्त ही हमारा मत है। इसको युक्ति पूर्वक कहने से निश्चय ही भक्ति सम्बन्धी सब व्याख्यान निर्दोष हो जाते हैं ॥१९६॥

सदा प्रमाणभूतानामस्माकं महतां तथा ।
वाक्यानि व्यवहाराश्च प्रमाणं खलु सर्व्वथा१९७

इस विषय में श्रेष्ठ प्रमाण, हमारे जैसे प्रमाण भूत वेद पुराण आदि शास्त्रों के वचन तथा महात्माओं के वाक्य तथा उनके व्यवहार हैं ॥१९७।

तथैतदनुकूलानि पुरावृत्तानि सन्ति च ।
नैव सङ्गच्छते तस्मादर्थवादत्वकल्पना ॥१९८॥

इस विषय की पुष्टी के लिये प्राचीन बहुत से इतिहास भी विद्यमान हैं, इसलिये इन प्रमाणों में अर्थवाद कल्पना नहीं करनी चाहिये ॥१९८॥

अथाप्याचार्य्यमाणा सा नास्तिकत्वं वितन्वती ।
क्षिपेत् कल्पयितारं तं दुस्तरे नरकोत्करे ॥१९९॥

जो कोई इस प्रकार अर्थवाद की कल्पना करते हैं, वह केवल नास्तिकता को ही प्रकट करते हैं और उनकी वह कल्पनायें उनको घोर नरक में डालने वाली होती हैं ॥१९९॥

अहो ! श्लाघ्यः कथं मोक्षो
दैत्यानामपि दृश्यते ।
तैरेव शास्त्रै निन्द्यन्ते
ये गोविप्रादिघातिनः ॥२००॥

जो वेद शास्त्र मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं, वही वेद शास्त्र गौ, विप्र घाती असुरों की निन्दा करते हैं। किन्तु उस मोक्ष को वह गौ, विप्र घाती असुर लोग भी प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर बताओ हम लोग उस मोक्ष की किस प्रकार प्रशंसा करें ? ॥ २०० ॥

सर्व्वथा प्रतियोगित्वं यत्साधुत्वासुरत्वयोः ।
तत्साधनेषु साध्ये च वैपरीत्यं किलोचितं ॥२०१

साधु भाव तथा असुर भाव इन दोनों का परस्पर सर्व प्रकार विरोध है। इस लिये इन दोनों के साधन जिस प्रकार अलग-अलग हैं, इसी तरह इनके साध्य भी पृथक्-पृथक् होने चाहियें २०१

कृष्णभक्त्यैव साधुत्वं साधनं परमं हि सा ।
तया साध्यं तदङ्घ्र्यब्जयुगलं परमं फलं ॥२०२

श्रीकृष्णभक्ति से ही साधु भाव प्राप्त होता है और वह भक्ति ही परम साधन स्वरूपा है, जिस का साध्य रूप श्रेष्ठ फल, आपके युगल चरणारविन्द हैं ॥२०२॥

तद्भक्तिरसिकानान्तु महतां तत्त्ववेदिनां ।
साध्या तच्चरणाम्भोज-मकरन्दात्मिकैव सा २०३

बल्कि बड़े-बड़े तत्व दर्शी, जो प्रभुकी भक्ति के रसिक हैं, वह तो यह कहते हैं, कि श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की मकरन्द स्वरूपा भक्ति ही साध्य है ॥ २०३॥

सा कर्म्मज्ञानवैराग्यपेक्षकस्य न सिद्ध्यति ।
परं श्रीकृष्णकृपया तन्मात्रापेक्षकस्य हि ॥२०४

वह श्रेष्ठ भक्ति कर्म, ज्ञान तथा वैराग्य आदि से भी सिद्ध नहीं हो सकती है, इन सबकी आशा छोड़ कर जो केवल भक्ति को ही चाहते हैं, उनको यह भक्ति श्रीकृष्ण की कृपा से प्राप्त होजाती है२०४

कर्म्म विक्षेपकं तस्या वैराग्यं रसशोषकं ।
ज्ञानं हानिकरं तत्तच्छोधितं त्वनुयाति तां॥२०५

कर्म से उस भक्ति का विक्षेप होता है और वैराग्य से उसका रस सूख जाता है और ज्ञान से वह नष्ट होजाती है, इसलिये इन तीनों को अलग कर देना ही शुद्ध भक्ति की प्रथम कक्षा है ॥ २०५ ॥

आत्मारामाश्च भगवत्कृपया भक्त-सङ्गतः ।
सन्त्यज्य ब्रह्मनिष्ठत्वं भक्ति-मार्गं विशन्त्यतः ॥२०६॥

क्योंकि मोक्ष से भक्ति की महिमा अधिक है। इसलिये आत्माराम मुनि भी भगवत् कृपा तथा भक्त संग से अपनी ब्रह्म निष्ठा को छोड़ कर भक्ति मार्ग में ही प्रवेश करते हैं ॥२०६॥

मुक्ताश्चास्य तया शक्त्या सच्चिदानन्ददेहितां ।
प्रापितास्ते भजन्ते तं तादृशैः करणैर्हरिं॥२०७॥

मुक्त पुरुष भी भगवान् की स्वरूप शक्ति से सच्चिदानन्द देह प्राप्त करके, सेवा के उपयोगी इन्द्रियों से भगवान् का भजन करते हैं ॥२०७॥

स्वारामता त्वहङ्कार-त्यागमात्रेण सिद्ध्यति ।
सुकरोऽतीव तत्त्यागो मतस्तत्तत्त्ववेदिभिः ॥२०८

आत्मारामता तो अहंकार त्याग मात्र से ही सिद्ध हो जाती है। और तत्व दर्शियों का यह मत है कि उस अहंकार का त्याग करना भी सहज है ॥ २०८ ॥

अवान्तरफलं भक्तेरेव मोक्षादि यद्यपि ।
तथापि नात्मारामत्वं ग्राह्यं प्रेम-विरोधि यत्२०९

यद्यपि मोक्ष आदि, भक्ति का गौण फल है। तो भी आत्मारामता, भक्ति का गौण फल भी नहीं है। क्योंकि इससे उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है, इस लिये यह प्रेम की विरोधि है ॥२०९॥

भक्तेः फलं परं प्रेम तृप्त्यभावस्वभावकं ।
अवान्तरफलेष्वेतदतिहेयं सतां मतं ॥२१०॥

भक्ति का परम फल प्रेम है जिस का तृप्त नहीं होना ही स्वरूप है। भक्ति रसिकों का यही मत है, कि भक्ति के गौण फल मोक्षादि में भी आत्मारामता अति निकृष्ट पदार्थ है ॥२१०॥

भक्तिं विनापि तत्सिद्धावसन्तोषो भवेन्न तत् ।
श्रीमद्भागवतेन्द्राणां मते स हि गुणो महान्२११

भक्ति की महिमा में यह कोई दूषण नहीं है, कि आत्मारामता उस भक्ति के विना सिद्ध हो जाती है। बल्कि श्रीमद्भागवत आदि श्रेष्ठ शास्त्रों का तो यह मत है कि भक्ति से आत्मारामता नहीं होना ही भक्ति का भूषण है ॥२११॥

तद्धेतुश्चित्तशुद्धिर्व्वा
स्वधर्म्माचारभक्तितः ।

(अब यदि यह कहें कि जब भक्ति के बिना कोई भी फल सिद्ध नहीं हो सकता है, फिर आत्मारामता स्वतन्त्र किस तरह सिद्ध हुई ? इसका उत्तर यह है :-) कि भगवद् आज्ञा पालन बुद्धि से, स्वधर्म आचरण स्वरूपा वहिरंगा भक्ति से, चित्त, शुद्ध होकर आत्मारामता प्राप्त होती है,

वाह्यायास्त्वल्पकं भक्तेरा-
न्तर्य्याः सुमहत् फलं ॥२१२॥

परन्तु यह भक्ति का बहुत अल्प फल है। क्योंकि श्रवण कीर्तन आदि स्वरूपा अन्तरंगा भक्ति का परम फल प्रेम ही है ॥२१२॥

निजात्मारामतापश्चाद्भजतां तत्पदाम्बुजं ।
निर्व्विघ्नमचिरात् सिद्ध्ये द्भक्तिनिष्ठामहासुखं११३

जो आत्मारामी ज्ञानी अपनी आत्मारामता को छोड़ कर भगवद् चरणारविन्दों का भजन करते हैं, वह जल्दी ही बिना किसी विघ्न के भक्ति के परम सुख को अनुभव करते हैं ॥२१३॥

तत्रानुभविता सोऽनु-
भवनीयोऽनुभूतयः ।
वृत्तयः करणानाञ्च
वहुधा प्रस्फुरन्ति हि ॥२१४॥

(अब आत्मारामियों के समाधि सुख की अपेक्षा भगवत् भक्ति सुख का उत्कर्ष वर्णन करते हुए इस प्रकार २२१ श्लोक तक कहते हैं) साधक अर्थात् भक्त (भक्ति सुख के अनुभव करने वाले), साध्य अर्थात् भगवान् (जिसको अनुभव किया जाता है) और साधन अर्थात् अनुभव करने वाली इन्द्रियों की वृत्तियाँ (श्रवण कीर्तन आदि भक्ति), भक्त इन सबके द्वारा विविध प्रकार के सुख का आस्वादन करते हैं। इसका सारांश यह हुआ कि भक्त, विविध प्रकार की भक्ति द्वारा विविध प्रकार से भगवान् का अनुभव करते हुये बिविध प्रकार के आनन्द की उपलब्धी करते हैं२१४

परं समाधौ सुखमेकमस्फुटं
वृत्तेरभावान्मनसो न चाततं ।
वृत्तौ स्फुरद्वस्तु तदेव भासते
ऽधिकं यथैव स्फटिकाचले महः ॥२१५

परन्तु (आत्मारामियों को) समाधि अवस्था में केवल एक ही सुख का अनुभव होता है, और मन वृत्ति के अभाव से उसका विस्तार भी नहीं होता है। बल्कि उत्कण्ठा के न रहने से यह शून्य सा ही प्रतीत होता है। परन्तु भक्तों के जब वही सुख मन की वृत्ति में पड़ता है, तो अधिकता को प्राप्त होता है, जैसे कि आकाश स्थित सूर्य का प्रकाश स्फटिक मणि पर पड़ने से अधिक चमकने लगता है ॥ २१५ ॥

इत्थं समाधिजान्मोक्षात् सुखं भक्तौ परं महत् ।
तद्भक्तवत्सलस्यास्य कृपामाधुर्य्यजृम्भितं॥२१६॥

इस लिये समाधि से प्राप्त हुआ जो मोक्ष सुख, उस मोक्ष सुख की अपेक्षा भक्ति का सुख बड़ा है। क्योंकि वह सुख भक्त वत्सल श्रीकृष्ण की कृपा माधुरी से प्राप्त हुआ है ॥२१६॥

सदैकरूपं वहुरूपमद्भुतं
विमुक्तिसौख्यात् प्रतियोगि तत् सुखं ।

मुक्ति सुख से भक्ति सुख का विरोध है। क्यों कि मुक्ति सुख सदा एक सीमाबद्ध तथा तृप्ति जनक है, और भक्ति सुख विविध प्रकार, असीम तथा सदा स्वयं बढ़ते हुए भी उत्कण्ठा की वृद्धि

हरेर्महाभक्तिविलासमाधुरी-
भरात्मकं तर्क्यमतद्विदां न हि ॥२१७॥

कराने वाला है। और वह श्रीकृष्ण की श्रेष्ठ भक्ति के विलास माधुरी से परिपूर्ण है। भक्ति तत्व को नहीं जानने वाले उस सुख को तर्क द्वारा नहीं समझ सकते हैं ॥२१७॥

सदैकरूपोऽपि स विष्णुरात्मन-
स्तथा स्वभक्तेर्जनयत्यनुक्षणं।
विचित्रमाधुर्य्यशतं नवं नवं
तया स्वशक्त्येतरदुर्व्वितर्क्यया ॥११८॥
पारब्राह्मयं मधुरमधुरं पारमेश्यं च तद्वै
भक्तेष्वेष प्रवरकरुणा-प्रान्तसीमा-प्रकाशः।
तेषाञ्चैषा निविड़मधुरानन्दपूरानुभूते-
रन्त्यावस्थाप्रकृतिरुदिता धिक्कृतब्राह्मसौख्या
॥२१६॥

श्री भगवान् सदा एक स्वरूप होते हुये भी, अपनी उस स्वरूप शक्ति से जो कि तर्क के अगोचर है, अपनी तथा भक्ति की सैकड़ों विचित्र माधुरियों को क्षण-क्षण में नई-नई प्रगट करते हैं, यही उस परब्रह्म का पर ब्रह्मपना तथा परमेश्वर का परमेश्वरपना है। यही उनके भक्तों के प्रति उनकी पराकाष्ठा की करुणा है, जिससे वह इस प्रकार की विचित्र रूप माधुरी अनुभव कराते हैं। श्रेष्ठ पुरुष यही कहते हैं कि इस प्रकार का अनुभव ही उन भक्तों के बड़े आनन्द के अनुभव की स्वाभाविक चरम सीमा है, जिससे कि वह ब्रह्म सुख जैसे आनन्द को भी ठुकरा देते हैं ॥ २१८-२१६ ॥

स्वभक्तानां तत्तद्विविधमधुरानन्दलहरी-
सदासम्पत्त्यर्थं वहुतरविशेषं वितनुते।
यथा स्वस्मिंस्तत्तत्प्रकृतिरहितेऽपि ध्रुवतरं
तथा तेषां चित्राखिलकरणवृत्त्यादिविभवं ॥२२०

भगवान् अपने भक्तों को अपनी विविध प्रकार की आनन्द माधुरी को निरन्तर अनुभव कराने के लिये उनको समस्त इन्द्रियाँ तथा उन इन्द्रियों की वृत्तियाँ प्रदान करते हैं। जैसे भगवान् माया से अतीत होते हुये भी नित्य बिविध प्रकार की इन्द्रियादि को स्वयं स्वीकार करते हैं ॥२२०॥

नित्यैश्वर्य्यो नित्यनानाविशेषो
नित्यश्रीको नित्यभृत्यप्रसङ्गः।
नित्योपास्तिर्नित्यलोकोऽवतु त्वां
नित्याद्वैतब्रह्मरूपोऽपि कृष्णः ॥२२१॥

वह श्रीकृष्ण नित्य अद्वितीय ब्रह्म होते हुये भी उनकी ईश्वरता तथा विविध प्रकार की लीलाएँ तथा विभूतियाँ नित्य हैं। उनकी टहल करने वाले दास, उनकी उपासना तथा लोक भी नित्य हैं। हे गोप कुमार! ऐसे श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ॥२२१॥

महारसेऽस्मिन्नबुधैः प्रयुज्यते
सुकोमले कर्कशतर्ककण्टकं।
तथापि निर्व्वाणरतप्रवृत्तये
नवीनभक्तप्रमुदे प्रदर्शितं ॥२२२॥

यद्यपि उस भक्ति रूपी कोमल श्रेष्ठ रस में केवल अज्ञानी लोग ही कठोर तर्क रूपी कांटे का प्रयोग करते हैं, तो भी जिन साधकों की सायुज्य मुक्ति में आसक्ति है, उनकी उसमें आसक्ति छुड़वा कर, भक्ति में प्रवृत्ति कराने के लिये तथा नवीन भक्तों को आनन्द प्रदान कराने के लिये, हम लोगों ने यह मार्ग दिखलाया है ॥२२२॥

भवांस्तु यदि मोक्षस्य तुच्छत्वानुभवेन हि ।
विशुद्धभगवद्भक्ति-निष्ठा-सम्पत्तिमिच्छति ॥२२३
तदा निजं महामन्त्रं तमेव भजतां परं ।
अत्रापीदं महागूढं शृणोतु हृदयङ्गमं ॥२२४॥

हे गोपकुमार! यदि आप मोक्ष को तुच्छ अनुभव करके, विशुद्ध भगवद्भक्ति में निष्ठा रूपी-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते हैं, तो आप अपने उस मन्त्र का ही जप कीजिये और इस विषय में हृदय को आनन्द प्रदान करने वाले महागूढ़ तत्व को सुनिये ॥२२३-२२४॥

ब्रह्माण्डात् कोटिपञ्चाशद्योजनप्रमिताद्बहिः ।
यथोत्तरं दशगुणान्यष्टावावरणानि हि ॥२२५॥

यह ब्रह्माण्ड जिसका परिमाण पचास करोड़ योजन है, इस से बाहर इस ब्रह्माण्ड के परिमाण से दश-दश गुणा उत्तरोत्तर अधिक आठ आवरण हैं ॥ २२५ ॥

तान्यतिक्रम्य लभ्येत तन्निर्व्वाणपदं ध्रुवं ।
महाकालपुराख्यं यत् कार्य्यकारणकालनात्२२६

इन आठों आवरणों से पार होकर मुक्ति पद आता है, जो कि नित्य है । जहाँ प्राकृतिक कार्य कारण नष्ट हो जाते हैं, इस लिये इसको महाकालपुर भी कहते हैं ॥२२६॥

तत् स्वरूपमनिर्व्वाच्यं कथञ्चिद्वर्ण्यते बुधैः ।
साकारञ्च निराकारं यथामत्यनुसारतः ॥२२७॥

विद्वान् लोग वाणी से अगोचर इस लोक के स्वरूप को अपने-अपने मतों के अनुसार साकार तथा निराकार वर्णन करते हैं ॥२२७॥

भगवत्सेवकैस्तत्र गतैश्च स्वेच्छया परं ।
हृद्याकारं घनीभूतं ब्रह्मरूपं तदीक्ष्यते ॥२२८॥

भगवद्भक्त भी अपनी इच्छा से वहाँ जाकर मनोहर साकार परब्रह्म का दर्शन करते हैं॥२२८॥

अतस्तत्रापि भवतो दीर्घवाञ्छा-महाफलं ।
साक्षात् सम्पत्स्यते स्वीयमहामन्त्र-प्रभावतः२२६

इसलिये जो आपकी दीर्घ काल से वहां जाने की अभिलाषा है वह आप के इस श्रेष्ठ मन्त्र के प्रभाव से साक्षात फलीभूत हो जाएगी ॥२२६॥

वहुकालविलम्बश्च
भवान्नापेक्षतेऽत्र चेत् ।
तदा श्रीमथुरायास्तां
व्रजभूमिं निजां व्रज ॥२३०॥

यदि आप अपने मन्त्र का जप इस ब्रह्मलोक में करेंगे, तो वहाँ जाने के लिये आपको अधिक काल लगेगा, क्योंकि आप द्विपरार्ध के अन्त में ही वहाँ जा सकेंगे । यदि आप शीघ्रता चाहते हैं, तो आप मथुरा मण्डय के अन्तर गत अपनी व्रजभूमि में जाकर इस मन्त्र का जप कीजिये ॥२३०॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तेषामेतैर्व्वचोभिर्मे भक्तिर्वृद्धिं गता प्रभो ।
विचारश्चैष हृदयेऽजनि माथुर-भूसुर ! ॥२३१॥
भक्तिर्यस्येदृशी सोऽत्र साक्षात् प्राप्तो मया पिता ।
तं परित्यज्य गन्तव्यमन्यत्र वत ! किं कृते॥२३२

श्री गोपकुमार बोले ।

हे माथुर ब्राह्मण ! उन वेद शास्त्रों के वचनों से मेरी भगवान् में अधिक भक्ति बढ़ गई । इसलिये मेरे हृदय में यह विचार हुआ, कि जिन भगवान् की भक्ति की महिमा इस प्रकार की है, वह साक्षात् मुझ को पिता स्वरूप से प्राप्त हुए हैं। इसलिये बड़े दुःख की बात है कि मैं उनको त्याग कर दूसरी जगह जा रहा हूँ ॥२३१-२३२॥

इत्थमुद्विग्नचित्तं मां भगवान् स कृपाकरः ।
सर्व्वान्तरात्म-वृत्तिज्ञः समादिशदिदं स्वयं॥२३३

श्रीभगवानुवाच ।

निज-प्रियतमां याहि माथुरीं तां व्रज-क्षितिं ।
तत्तन्मत्परमक्रीड़ा-स्थल्यावलिविभूषितां॥२३४॥

यस्यां श्रीब्रह्मणाप्यात्म-तृणजन्माभियाच्यते ।
परिवृत्तेऽपि या दीर्घकाले राजति तादृशी॥२३५

तत्र मत्-परमप्रेष्ठं लप्स्यसे स्वगुरुं पुनः ।
सर्व्वं तस्यैव कृपया नितरां ज्ञास्यसि स्वयं॥२३६

महाकाल-पुरे सम्यग्मामेव द्रक्ष्यसि द्रुतं ।
तत्रापि परमानन्दं प्राप्स्यसि स्वमनोरमं ॥२३७

मत्प्रसाद-प्रभावेण यथाकाममितस्ततः ।
भ्रमित्वा परमाश्चर्य्यशतान्यनुभविष्यसि ॥२३८॥

कालेन कियता पुत्र ! परिपूर्णाखिलार्थकः ।
वृन्दावने मया सार्द्धं क्रीड़िष्यसि निजेच्छया२३९

श्रीगोपकुमार उवाच ।

एवं तदाज्ञया हर्षशोकाविष्टोऽहमागतः ।
एतद्वृन्दावनं श्रीमत्तत्क्षणान्मनसेव हि ॥२४०॥

इति श्रीवृहद्भागवतामृते श्रीगोलोक-
माहात्म्यखण्डे ज्ञाननामा
द्वितीयोऽध्यायः ।

इसके पश्चात् उन दयालु तथा सर्व अन्तर्यामी भगवान् ने, मेरे चित्त को उद्विग्न देख कर स्वयं इस प्रकार आदेश दिया ॥२३३॥

श्री भगवान् बोले ।

हे गोपकुमार ! आप उस मथुरा मण्डल अन्तर्गत व्रजभूमि में जाइए. जो मुझको बड़ी प्यारी है, जो मेरी विविध प्रकार की बिहार स्थलियों से विभूषित है। जिसमें स्वयं श्री ब्रह्माजी तृण जन्म पाने की प्रार्थना करते हैं और जो बहुत काल अतीत होने से भी पहले की तरह सुशोभित है। ॥ २३४-२३५ ॥

वहाँ आप मेरे परम प्यारे गुरु को फिर प्राप्त होंगे, जिनकी कृपा से आप स्वयं पूर्ण रूप से सब कुछ जान जाओगे ॥ २३६ ॥

आप मुझको महाकालपुर अर्थात् मुक्तिलोक में जल्दी ही देख कर; मनोहर परमानन्द को प्राप्त करोगे ॥ २३७ ॥

वहाँ आप मेरी कृपा के प्रभाव से स्वछन्द इधर-उधर भ्रमण करके सैकड़ों परम आश्चर्यजनक विषयों का अनुभव करोगे ॥२३८॥

हे पुत्र गोपकुमार ! कुछ काल के बाद आपके सब मनोरथ परिपूर्ण हो जाएँगे, और आप मेरे साथ स्वछन्द वृन्दावन में बिहार करोगे ॥२३९॥

श्रीगोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! मैं उन भगवान् की आज्ञा से हर्ष तथा शोक में आविष्ट होकर,इस मनोहर वृन्दाबन में मन सरीखे वेग से क्षण काल में ही आगया ॥ २४० ॥

इस श्रीवृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के
श्री गोलोक माहात्म्य नामक खण्ड में
"ज्ञान"नामक दूसरा अध्यायः
समाप्त हुआ ॥

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः *

श्रीश्रीवृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय–खण्डम् ।

तृतीयोऽध्यायः ।

श्रीगोपकुमार उवाच ।

ब्रह्मलोकादिमां पृथ्वीमागच्छन् दृष्टवानहं ।
पूर्व्वं यत्र यदासीत्तद्गन्धोऽप्यस्ति न कुत्रचित् ॥१

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! मैंने ब्रह्मलोक से इस पृथ्वी पर आकर यह देखा, कि पहले जो जहाँ जिस प्रकार था उसका गंध भी नहीं है ॥१॥

परं श्रीमथुरा तादृग्वनाद्रिसरिदन्विता ।
विराजते यथापूर्व्वं तादृशैर्जङ्गमैर्वृता ॥२॥

परन्तु श्री मथुरा मण्डल, वृन्दाबन, गोवर्धन श्री यमुना आदिक स्थावर जङ्गमों सहित उसी प्रकार विराजमान हैं, जैसे कि मैंने पहले देखा थे ॥ २ ॥

आज्ञां भगवतः स्मृत्वा भ्रमन् वृन्दावनान्तरे ।
अन्विष्य कुञ्जेऽत्रापश्यं स्वगुरुं प्रेममूर्च्छितं ॥३

मैं भगवान् की आज्ञा का स्मरण करके, इस वृन्दाबन में घूमता हुआ अपने गुरुजी को खोज करने लगा । तब मुझको कुञ्जान्तर्गत, प्रेम मूर्छित अवस्था में उनके दर्शन हुए ॥३॥

प्रयासैर्वहुभिः स्वास्थ्यं नीतोऽसौ वीक्ष्य मां नतं ।
परिरेभेऽथ सर्व्वज्ञो वुबुधे मन्मनोरथं ॥४॥

मैंने उनको बहुत प्रकार के यत्नों से स्वस्थ करके, उनके चरणों में प्रणाम किया । यह देख कर उन श्री गुरू जी ने मेरा आलिङ्गन किया, सर्वज्ञ होने के कारण उन्होंने मेरे मनोरथ को जान लिया ॥ ४ ॥

स्नात्वा स्वदत्तमन्त्रस्य ध्यानादिविधिमुद्दिशन् ।
किञ्चिन्मुखेन किञ्चिच सङ्केतेनाभ्यवेदयत् ॥५॥

फिर उन्होंने स्नान किया और जो पहले मन्त्र दिया था उसका ध्यान आदि विधि को, मुझ से कुछ तो अपने मुखारविन्द से कह कर, और कुछ संकेत द्वारा उपदेश किया ॥५।

जगाद च निजं सर्व्व-
मिदं प्रेष्ठाय तेऽददां ।
सर्व्वमेतत्प्रभावेण
स्वयं ज्ञास्यसि लप्स्यसे ॥६॥

पुनः इस प्रकार कहाः—"तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इस लिये जो कुछ मेरा सर्वस्व धन है वह तुमको दे दिया है । इसके प्रभाव से तुम सब कुछ स्वयं ही जान सकोगे तथा प्राप्त कर सकोगे" ॥६॥

हर्षेण महता तस्य पादयोः पतिते मयि ।
सोऽन्तर्हित इवागच्छद्यत्र कुत्राप्यलक्षितं ॥७॥

जब मैं बड़ा आनन्दित होकर उनके चरणों में पड़ा, तब वह अन्तर्धान होकर वहीं अलक्षित हो गये ॥ ७ ॥

अहश्च तद्वियोगार्त्तं मनो विष्टभ्य यत्नतः ।
यथादेशं स्वमन्त्रं तं प्रवृत्तो जप्तुमादरात् ॥८॥

मैं उनके विरह से दुखित, अपने मन को यत्न से धीरज धरवा कर, जैसा कि उन्होंने आदेश किया था, उसी प्रकार बड़े आदर से उस मन्त्र का जप करने लगा ॥८॥

पाञ्चभौतिकतातीतं स्वदेहं कलयन् रवेः ।
निर्भिद्य मण्डलं गच्छन्नूर्ध्वं लोकान् व्यलोकयं ६
दूषितान् वहुदोषेण सुखाभासेन भूषितान् ।
मायामयान्मनोराज्यस्वप्नदृष्टार्थसम्मितान् ॥१०॥

तब मैंने अपने देह को, पाँच भौतिक देह से अतीत देखा। और मैं सूर्य मण्डल को भेदन करके ऊपर गया। तब मैंने नीचे के लोकों को इस प्रकार देखाकि वह लोक बहुत दोषों से दूषित हैं। केवल सुख के अभास से ही भूषित हैं, और सब माया मय हैं। जैसे स्वप्न में किसी को राज्य प्राप्त होता है और आँख खुलने से नष्ट होजाता है, इसी प्रकार इन सब लोकों का हाल है" ॥६-१०॥

पूर्व्वं ये वहुकालेन संप्राप्ताः क्रमशोऽधुना ।
सर्व्वे निमेषतः क्रान्ता युगपन्मनसेव ते ॥११॥

मुझको जो जो लोक, पहले क्रम से वहुत काल में प्राप्त हुये थे, अब उन सब का मैंने एक साथ क्षण काल में ही मन सरीखे वेग से उलंघन किया ॥ ११ ॥

ब्रह्मलोकात् सुखैः कोटिगुणितैरुत्तरोत्तरं ।
वैभवैश्च महिष्ठानि प्राप्तोऽस्म्यावरणान्यथ ॥१२॥

फिर मैं उन श्रेष्ठ आवर्णों में पहुँचा, जहां का सुख तथा वैभव, ब्रह्मा के लोक से उत्तरोत्तर करोड़ों गुना अधिक है ॥१२॥

कार्य्योपाधिमतिक्रान्तैः प्राप्तव्यक्रममुक्तिकैः ।
लिङ्गाख्यं कारणोपाधिमतिक्रमितुमात्मभिः ॥१३

जिन आवर्णों में क्रम मुक्ति वाले, कार्य उपाधि को लंघन करके, लिङ्ग अर्थात् कारण उपाधि को लंघन करने के लिये पहुँचते हैं ॥१३॥

प्रविश्य तत्तद्रूपेण भुज्यमानानि कामतः ।
तत्तदुद्भवनिःशेषसुखसारमयानि हि ॥१४॥

वह मुक्त पुरुष क्रम से पृथक्-पृथक् आवर्णों में तत् तत् रूप से प्रवेश करके वहाँ के अशेष सुख मय भोगों को अपनी इच्छा से भोग कर, आगे को बढ़ते जाते हैं ॥१४॥

पृथिव्यावरणं तेषु प्रथमं गतवानहं ।
तदैश्वर्य्याधिकारिण्या धरण्या पूजितं प्रभुं ॥१५
ब्रह्माण्ड-दुर्ल्लभैर्द्रव्यैर्महाशूकररूपिणं ।

उन आवर्णों में जाता हुआ मैं पहले पृथ्वी आवर्ण में पहुँचा, वहाँ श्री पृथ्वी देवी, उस आवर्ण की विभूतियों की अधिकारिणी हैं। वह उन दिव्य सामग्रियों से जो इस ब्रह्माण्ड में प्राप्त नहीं हो सकती है उन श्री बाराह भगवान् का पूजन कर रही हैं, जिनके एक एक रोम कूप में

अपश्यं प्रतिरोमान्तर्भ्रमद्ब्रह्माण्डवैभवं ॥१६॥

तस्यां कारणरूपायां कार्य्यरूपमिदं जगत् ।
तदुपादानकं सर्व्वं स्फुरितश्च व्यलोकयं ॥१७॥

विधाय भगवत्पूजां तयातिथ्येन सत्कृतः ।
दिनानि कतिचित्तत्र भोगार्थमहमर्थितः ॥१८॥

तामनुज्ञाप्य केनाप्याकृष्यमाण इवाशु तत् ।
अतीत्यावरणं प्राप्तः पराण्यावरणानि षट्॥१६॥

महारूपधरैर्वारि:तेजो-वाय्यम्बरैस्तथा ।
अहङ्कार-महद्भ्याश्च स्वस्वावरणतोऽर्चितं ॥२०॥

क्रमेण मत्स्यं सूर्य्यश्च प्रद्युम्नमनिरुद्धकं ।
सङ्कर्षणं वासुदेवं भगवन्तमलोकयं ॥२१॥

स्व-कार्य्यात् पूर्व्वपूर्व्व-
स्मात् कारणं चोत्तरोत्तरं ।
पूज्यपूजकभोगश्री-
महत्त्वेनाधिकाधिकं ॥२२॥

पूर्व्ववत्तान्यतिक्रम्य प्रकृत्यावरणं गतः ।
महातमोमयं सान्द्रश्यामिकाच्चिमनोहरं ॥२३॥

तस्मिन्निजेष्टदेवस्य वर्ण-सादृश्यमातते ।
दृष्ट्वाहं नितरां हृष्टो नैच्छं गन्तुं ततोऽग्रतः॥२४

श्रीमोहिणी-मूर्त्तिधरस्य तत्र
विभ्राजमानस्य निजेश्वरस्य ।
पूजां समाप्य प्रकृतिः प्रकृष्ट-
मूर्त्तिः सपद्येव समभ्ययान्मां ॥२५॥

अनेकों ब्रह्माण्डों के वैभव घूम रहे हैं। ऐसे स्वरूप का मैंने दर्शन किया ॥१५-१६॥

इस कार्य रूपी जगत् को, जोकि उसके उपादान से बना हुआ है, मैंने कारण स्वरूप उस पृथ्वी में देखा ॥१७॥

इस पृथ्वी ने, भगवत् पूजन समाप्त करके, मेरा अतिथि सत्कार किया, और यह प्रार्थना की "आप कुछ दिन यहाँ रह कर भोगों को भोगिये"। परन्तु मुझको उस समय कोई आगे को खैंच सा रहा था, इसलिये मैं, उनसे आज्ञा लेकर उस आवर्ण से पार हुआ। इसी प्रकार मैंने छः और आवर्णों को लंघन किया ॥१८-१६॥

जहाँ किसी प्रकार बड़े-बड़े स्वरूप धारण करके जल, तेज वायु, आकाश, अहंकार तथा महतत्व अपने-अपने आवर्णों में क्रम से मत्स्य, सूर्य प्रद्युम्न, अनुरुद्ध, संकर्षण तथा वासुदेव भगवान् के पूजन करते हुए, मैंने दर्शन किये॥२० २१

जैसे कार्य रूपा पृथ्वी आवर्ण का, जल आवर्ण कारण है, इसी प्रकार पूर्व-पूर्व आवर्णों के उत्तर-उत्तर आवर्ण कारण हैं। इसी भाँति से एक आवर्ण से दूसरे आवर्ण के उपास्य देव, उपासक, भोग सम्पत्तियाँ तथा महिमाएँभी अधिक से अधिक हैं ॥२२॥

जैसे मैंने, पृथ्वी आवर्ण को उलंघन किया था, इसी प्रकार मैंने और सब आवर्णों को उलङ्घन किया, फिर मैं उस प्रकृति आवर्ण में पहुँचा। जहाँ का घोर अंधकार, नेत्रों तथा मनको आनन्द देने वाला है ॥२३॥

वहाँ मैंने उस आवर्ण को अपने इष्ट देव के वर्ण के सदृश देखा, जिससे आनन्दित होकर मेरी और आगे जाने की इच्छा नहीं रही ॥२४॥

उस लोक में अति सुन्दर श्री प्रकृति देवी, निज उपास्य भगवान् साक्षात् श्री मोहिनी स्वरूप की सेवा कर रही थीं। उन्होंने मुझको देख कर, अपनी पूजा समाप्त करके, मेरी आओ भगत् की ॥ २५ ॥

उपानयन् महासिद्धीरनिमाद्या ममाग्रतः ।
ययाचे च पृथिव्यादिवत्तत्र मदवस्थितिं ॥२६॥
सस्नेहश्च जगादेदं यदि त्वं मुक्तिमिच्छसि ।
तदाप्यनुगृहाणेमां मां तस्याः प्रतिहारिणीं॥२७॥
भक्तिमिच्छसि वा विष्णोस्तथाप्येतस्य चेटिकां ।
भगिनीं शक्तिरूपां मां कृपया भज भक्तिदां ॥२८

फिर उन्होंने अणिमा आदि महा सिद्धियों को उपहार स्वरूप से, मेरे सामने उपस्थित किया, और पृथ्वी आदि की तरह यह प्रार्थना की "आप कुछ दिन यहाँ रह कर आनन्द अनुभव कीजिये"। फिर स्नेह युक्त यह कहा "यदि आप मुक्ति की इच्छा करते हैं, तो मुझ पर अनुग्रह कीजिये, मैं मुक्ति की द्वार पालनी हूँ। यदि आप विष्णु भगवान् की भक्ति चाहते हैं, तो भी आप मुझको स्वीकार कीजिये मैं उनकी दासी, भगिनी, शक्ति तथा भक्ति देने वाली हूँ"॥२६-२७-२८॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तदशेषमनादृत्य विष्णुशक्तिधिया परं ।
तां नत्वावरणं रम्यवर्णं तद्द्रष्टुमभ्रमं ॥२६॥

श्रीगोपकुमार बोले ।

तब मैंने श्री प्रकृति देवी की भेंट को स्वीकार नहीं किया, उसको विष्णु की शक्ति समझ कर प्रणाम किया। फिर मैं उस सुन्दर वर्ण वाले आवर्ण को देखने के लिये भ्रमण करने लगा ॥२६॥

प्राधानिकैर्जीवसङ्घैर्भुज्यमानं मनोरमं ।
सर्व्वतः सर्व्वमाहात्म्याधिक्येन विलसत् स्वयं।३०
बहुरूपं दुर्विभाव्यं महामोहनवैभवं ।
कार्य्यकारणसङ्घातैः सेव्यमानं जगन्मयं ॥३१॥

मैंने यह देखा कि उस लोक के जीव, सुन्दर सुन्दर उन भोगों को भोग रहे हैं, जिनकी महिमा और सब लोकों से सब प्रकार से अधिक है, वह भोग्य पदार्थ स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, विविध प्रकार मन, वचन तथा वाणी के अगोचर हैं, जिनका वैभव चित्ताकर्षक है, जिन भोगों की पृथ्वी आदि कार्य कारण सेवा कर रहे हैं और जो जगत व्याप्त हैं ॥३०-३१॥

अथेश्वरेच्छयातीत्य दुरन्तं तद् घनं तमः ।
तेजःपुञ्जमपश्यन्तं दृङ्निमीलनकारकं ॥३२॥

इसके पश्चात् मैंने भगवत् इच्छा से उस घोर अपार तम को लङ्घन किया। फिर मैंने बड़े भारी तेज पुञ्ज को देखा, जिसको देखकर आखें चुंधिया जाती थीं ॥३२॥

भक्त्या परमया यत्नादग्रे दृष्टीः प्रसारयन् ।
सूर्य्यकोटिप्रतीकाशमपश्यं परमेश्वरं ॥३३॥
मनोदृगानन्दविवर्द्धनं विभुं
विचित्रमाधुर्य्यविभूषणाचितं ।
समग्रसत्पुरुषलक्षणान्वितं
स्फुरत् परब्रह्ममयं महाद्भूतं ॥३४॥

जब मैंने यत्न पूर्वक बड़ी भक्ति से अपनी दृष्टी को और आगे फैलाया, तब मैंने उन परमेश्वर (भूमा पुरुष) के दर्शन किये, जिनका तेज करोड़ों सूर्यों के प्रकाश के समान है, जो मन तथा नेत्रों के आनन्द को बढ़ने वाले हैं, जिनका स्वरूप, जगत व्याप्त है जो विविध प्रकार के सुन्दर-सुन्दर भूषणों से भूषित हैं, जिनमें उत्तम पुरुषों के समस्त लक्षण हैं, जो परब्रह्म स्वरूप से प्रकाशमान हैं और जिनका दिव्य मङ्गल विग्रह महा अद्भुत है।

सदा गुणातीतमशेषसद्गुणं
निराकृतिं लोकमनोरमाकृतिं ।
प्रकृत्यधिष्ठातृतया विलासिनं
तदीयसम्बन्धविहीनमच्युतं ॥३५॥

वह अच्युत भगवान् सर्वदा गुणातीत होते हुए भी अशेष गुणों के आधार स्वरूप हैं; जिनका स्वरूप निराकार होते हुए भी साकार है; जिनके स्वरूप से सबके मनों को आनन्द प्राप्त होता है, जो प्रकृति के अधिष्ठाता होकर भी उससे पृथक रह कर विहार करते हैं ॥३३-३४-३५॥

महासम्भ्रमसन्त्रासप्रमोदभरविह्वलः ।
तदा किं करवाणीति ज्ञातुं नेशे कथञ्चन ॥३६

तब मैं, बड़े सम्भ्रम, भय तथा आनन्द से विह्वल हो गया। उस समय, मैं यह नहीं जानता था "अब मुझको क्या करना चाहिये" ॥३६॥

यद्यपि स्वप्रकाशोऽसावतीतेन्द्रियवृत्तिकः ।
तत्कारुण्यप्रभावेण परं साक्षात् समीक्ष्यते ॥३७

यद्यपि वह भगवान् स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, और इन्द्रिय वृत्तियों से अगोचर हैं, तो भी मैंने उनकी कृपा के प्रभाव से उनके साक्षात् दर्शन किये ॥ ३७ ॥

नैतन्निश्चेतुमीशेऽयं दृग्भ्यां चित्तेन वेद्यते ।
किम्वातिक्रम्य तत्सर्व्वमात्मभावेन केनचित्॥३८

मैं इस बात को निश्चय नहीं कर सका, कि मैं उनके दर्शन नेत्रों से कर रहा हूँ या चित्त से, अथवा इन सबको अतिक्रम करके मैं उनको अपनी आत्मा से ही देख रहा हूँ ॥३८॥

क्षणान्निराकारमिवावलोकयन्
स्मरामि नीलाद्रिपतेरनुग्रहं ।
क्षणाच्च साकारमुदीक्ष्य पूर्व्वव-
न्महामहः पुञ्जममुं लभे मुदम् ॥३९॥

किसी क्षण में तो, मैं उनको निराकार की तरह देखता था, तब मुझको श्री जगन्नाथ की कृपा की याद आती थी। किसी क्षण में उनका पहले की तरह बड़ा तेज पुञ्ज साकार मूर्ति स्वरूप दर्शन करके आनन्द लाभ करता था ॥३९॥

कदापि तस्मिन्नेवाहं लीयमानोऽनुकम्पया ।
रक्षेय निजपादाब्जनखांशुस्पर्शतोऽमुना ॥४०॥

जब कभी मैं उनके दिव्य मङ्गल विग्रह में सायुज्य होने को होता था, तब मैं उनके चरणारविन्दों के नखों को स्पर्श करता था, जिससे वह कृपा करके मेरी रक्षा करते थे ॥४०॥

भिन्नाभिन्नैर्महासिद्धैः
सूक्ष्मैः सूर्य्यमिवांशुभिः ।
वृतं भक्तैरिवालोक्य
कदापि प्रीयते मनः ॥४१॥

जैसे कि सूर्य नारायण अपनी सूक्ष्म किरणों से परिवेष्टित रहते हैं, जैसे भगवान् अपने भक्तों से घिरे हुए रहते हैं, इसी प्रकार कभी-कभी मैं उन भगवान् को बड़े-बड़े उन मुक्त सिद्धों से परिवेष्टित देखता था, जिन का स्वरूप भगवान् से अभिन्न होकर भी भिन्न है, तब मुझको बड़ा आनन्द होता था ॥४१॥

इत्थमानन्दसन्दोहमनुविन्दन्निमग्नधीः ।
आत्माराम इवाभूवं पूर्णकाम इवाथवा ॥४२॥

इस प्रकार मैं आनन्द समुद्र में निमग्न होकर, आत्माराम अथवा पूर्ण काम सरीखा होगया ॥४२

तर्कार्चितविचारौघैरिदमेव परं पदं ।
परां काष्ठां गतं चैतदमंसि परमं फलं ॥४३

पदस्वाभाविकानन्दतरङ्गक्षोभविह्वले ।
चित्ते तदन्यस्व-प्राप्यज्ञानमन्तर्दधाविव ॥४४

श्रीमन्महाभागवतोयदेशतः
सन्मंत्रसेवा-वलतो न केवलं ।
लीना कदाचिन्निज-पुज्यदेवता—
पादाब्जसाक्षादवलोकलालसा ॥४५

उतास्य तेजोमयपुरुषस्य
चिरावलोकेन विवर्द्धितोऽभूत् ।
निजेष्टसन्दर्शनदीर्घलोभः
स्मृतेः स्मृतिं नीत इव प्रकर्षात् ॥४६

तेन तं प्रकटं पश्यन्नपि प्रीये न पूर्ववत् ।
सीदाम्यथ लयं स्वस्य शङ्कमानः स्वयम्भवं ॥४७

व्रजभूमाविहागत्य साधयेऽहं स्ववान्छितं ।
विमृशन्नेवमश्रौषं गीतवाद्याद्भूत-ध्वनिं ॥४८

हृष्टोऽहं परितः पश्यन् वृषारूढं व्यलोकयं ।
कमप्यूर्द्ध्वपदात्तत्रायान्तं सर्व्वविलक्षणं ॥४६

कर्पूरगौरं त्रिदृशं दिगम्बरं
चन्द्रार्द्धमौलिं ललितं त्रिशूलिनं ।
गङ्गाजलाम्लानजटावलीधरं-
भस्माङ्गरागं रुचिरास्थिमालिनं ॥५०

गौर्य्या निजाङ्काश्रितयानुरञ्जितं
दिव्यातिदिव्यैः कलितं परिच्छिदैः ।

मैंने, अपने मन में नाना प्रकार के तर्कों से बिचार करके यह निश्चय किया, कि यही परमपद है, और यही परम फल की पराकाष्ठा है ॥ ४३ ॥

इस पद के स्वभाविक आनन्द की लहरों से मेरा मन विह्वल होगया, और मेरे चित्त से यह बात अन्तर्धान की तरह हो गई, कि इसलोक से परे और कोई श्रेष्ठ प्राप्ति स्थान है ॥ ४४ ॥

परन्तु उन महाभागवत मेरे गुरु के उपदेश से, तथा उस श्रेष्ठ मन्त्र के जप के प्रभाव से, मेरी केवल यह लालसा नष्ट नहीं हुई, कि वह कौन सा दिन होगा, जब कि मैं अपने पूज्य देवता के चरणारविन्दों के साक्षात् दर्शन करूँगा ॥ ४५ ॥

किन्तु उन तेजमय भगवान् के बहुत काल तक दर्शन करने से मेरी अपने इष्ट देवता के दर्शन करने की लालसा बढ़ गई। मानों उनके दर्शनों से चित्त में अपने प्रभुका विशेष स्मरण रहने लगा ॥ ४६ ॥

जिससे उन भगवान् के साक्षात् दर्शन करने से भी मेरे चित्त में पहिले सदृश सन्तोष नहीं होता था, और मैं उस लोक के स्वभाविक प्रभाव से डरता था, कि कभी मैं लीनताको प्राप्त नहीं होजाऊँ ॥ ४७ ॥

जब कि मैं यह बिचार कर रहा था, कि मैं अब व्रजभूमि में जाकर अपने मनवांछित फल प्राप्ति के लिये साधन करूँगा, तब अकस्मात् मेरे कान में अद्भूत गीत वाद्य की ध्वनि सुनाई पड़ी। यह सुनकर मैं प्रसन्न होकर चारों ओर देखने लगा। तब मैंने बैल पर चढ़े हुए, सर्व बिलक्षण किसी एक पुरुष के दर्शन किये, जोकि ऊर्ध्वलोक से बहाँ आ रहे थे ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

जिनका श्रीदिव्य मङ्गल विग्रह कर्पूर की तरह सुन्दर गौर वर्ण का था, जिनके तीन नेत्र थे, जो नग्न थे, जिनके मस्तक पर अर्धचन्द्र सुशोभित था, जिन्होंने अपने अङ्ग में भस्म लगा रक्खी थी, जो सुन्दर अस्थि की माला पहने हुए थे, जिन के अङ्क में वह श्रीपार्वती जी बड़े बड़े दिव्य वस्त्र आभूषणों को पहने हुए विराजमान थी, जिन पर

आत्मानुरूपैः परिवारसञ्चयैः
संसेव्यमानं रुचिराकृतीहितैः ॥५१

परमं विस्मयं प्राप्तो हर्षञ्चैतदचिन्तयं ।
को न्वयं पारिवाराढ्यो भाति मुक्तिपदोपरि ॥५२

जगद्विलक्षणैश्वर्यो मुक्तवर्गाधिकोऽपि सन् ।
लक्ष्यतेति सदाचारो महाविषयवानिव ॥५३

परानन्दभराक्रान्तचेतास्तद्दर्शनादहम् ।
नमन् सपरिवारं तं कृपयालोकितोऽमुना ॥५४

हर्षवेगादुपव्रज्य श्रीमन्नन्दीश्वराह्वयं ।
अपृच्छं तद्गणाध्यक्षं तद्वृत्तान्तं विशेषतः ॥५५

स सहासमवोचन्मां गोपालोपासनापर ! ।
गोपबाल ! न जानीषे श्रीशिवं जगदीश्वरं ॥५६

भुक्तेर्मुक्तेश्च दातायं भगवद्भक्तिवर्द्धनः ।
मुक्तानामपि संपूज्यो वैष्णवानांच वल्लभः ॥५७

शिवकृष्णापृथग्दृष्टिभक्तिलभ्यात् स्वलोकतः ।
स्वानुरूपात् कुवेरस्य सख्युर्भक्तिवशीकृतः ॥५८

कैलासाद्रिमलं कर्त्तुं पार्व्वत्या प्रिययाऽनया ।
समं परिमितैर्याति प्रियैः परिवृतैर्वृतः ॥५६

श्रीगोपकुमार उवाच ।
तदाकर्ण्य प्रहृष्टोऽहमैच्छं तस्मात्महेश्वरात् ।
प्रसादं कमपि प्राप्तुमात्मनो हृदयंगमम् ॥६०

दिव्य छत्रचारमादि हो रहे थे, जिनकी उनके सदृश वह सेवक सेवा कर रहे थे, जिनकी आकृति तथा चेष्टा मनोहर थीं ॥ ५० ॥ ५१ ॥

यह देखकर मुझ को बड़ा विस्मय तथा आनन्द हुआ। और मैं यह चिन्ता करने लगा कि यह कौन है ? जोकि अपने परिबार सहित मुक्ति पद से भी ऊपर सुशोभित हैं ॥ ५२ ॥

जिनका ईश्वरत्व इस जगत् से विलक्षण तथा मुक्ति पद से अधिक है। जो सदाचारी होते भी, महाविषयियों की तरह प्रतीत होते हैं ॥ ५३ ॥

मैं उनके दर्शन करके बड़ा आनन्दित हुआ। मैंने उनको परिवार सहित प्रणाम् किया। तब वह कृपा से मेरी ओर देखने लगे ॥ ५४ ॥

तब मैं बड़े हर्ष से श्रीनन्दीश्वर नामक उनके गणों के अध्यक्ष के पास गया, और उनसे सब वृत्तान्त विशेषरूप से पूछा ॥ ५५ ॥

तब वह हँसते हुये यह कहने लगे। "हे गोपकुमार तुम केवल श्रीगोपालजी की उपासना में ही रत हो। क्या तुम यह नहीं जानते, कि यह श्रीजगदीश्वर श्रीशिवजी महाराज हैं ? यह भुक्ति तथा मुक्ति के देने वाले हैं, यह भगवद्-भक्ति को बढ़ाने वाले हैं। यह मुक्तों के भी पूजनीय तथा वैष्णवों के प्यारे हैं"। ५६ ॥ ५७ ॥

"यह श्रीशिवजी अपने सखा कुवेर की भक्ति से वशीभूत होकर. अपने स्वरूप के अनुरूप अपने इस शिवलोक से जिसको वह मनुष्य प्राप्त करते हैं. जिनकी श्रीशिव तथा श्रीकृष्ण में अभेद भाव से भक्ति होती है, आकर कैलाश पर्वत को सुशोभित करने के लिये अपनी प्रिया श्रीपार्वती जी तथा अन्य अपने प्यारे थोड़े से परिबार को साथ लेकर जा रहे हैं" ॥ ५८ ॥ ५६ ॥

श्रीगोपकुमार बोले ।

यह सुनकर मैं बड़ा आनन्दित हुआ। मेरी-यह इच्छा हुई कि मैं इन महेश्वर से ऐसी कृपा लाभकरूँ, जिससे मेरा हृदय प्रसन्न होजाये ॥६०॥

ज्ञात्वा भगवता तेन दृष्ट्यादिष्टस्य नन्दिनः ।
उपदेशेन शुद्धेन स्वयं मे स्फुरदञ्जसा ॥६१॥

श्रीमन्मदनगोपालान्निज-प्राणेष्टदैवतात् ।
अभिन्नः श्रीमहेशोऽयमुत तद्भाववर्द्धनः ॥६२॥

सुखं तद्गण-मध्येऽहं प्रविष्टः प्रीणितोऽखिलैः ।
शैवैः श्रीनन्दिनोऽश्रौषं वृत्तमेतद्विलक्षणं ॥६३॥

सदैकरूपो भगवान् शिवोऽयं
वसन् स्व-लोके प्रकटः सदैव ।
विलोक्यते तत्र निवासतुष्टै-
स्तदेकनिष्ठैः सततं निजेष्टैः ॥६४॥

स्वाभिन्नभगवद्भक्तिलाम्पट्यं ग्राहयन्निव ।
सदा रमयति स्वीयान् नृत्यगीतादिकौतुकैः ॥६५
भगवन्तं सहस्रास्यं शेषमूर्त्तिं निज-प्रियं ।
नित्यमर्च्चयति प्रेम्णा दासवज्जगदीश्वरः ॥६६॥

ज्ञात्वेमं शिवलोकस्य विशेषं सर्व्वतोऽधिकं ।
प्रमोदं परमं प्राप्तोऽप्यपूर्णं हृदलक्षयं ॥६७॥

तन्निदानमनासाद्य सद्योऽज्ञाशिषमामृशन् ।
श्रीमद्गुरुप्रसादाप्तवस्तुसेवा-प्रभावतः ॥६८॥

श्रीमन्मदनगोपालदेव-पादसरोजयोः ।
लीलाद्यनुभवाभावो मामयं बाधते किल॥६९॥

अबोधयं मनोऽनेन महेशेनैव सा खलु ।

यह जान कर उन शिवजी ने अपने नेत्र से अपने गण श्रेष्ठ, नन्दीश्वर को संकेत किया, जिसने स्वयं शुद्ध भाव से मुझको उपदेश किया, जिसको सुन कर अनायास ही, मैंने उनके तत्व को जान लिया, कि यह श्री शिवजी, मेरे श्री मदनगोपाल निज इष्ट देवता से, अभिन्न होकर भी उनके प्रति प्रेम को बढ़ाने वाले हैं। तब मैं प्रसन्न होकर उनके गणों के मध्य में पहुँचा, जिन्हों ने मुझको बड़ा आनन्दित किया। फिर श्री नन्दीश्वर से यह विलक्षण वृत्तान्त सुना ॥ ६१-६२-६३ ॥

कि यह शिवजी सदा एक रूप से अपने उस लोक में जो इस मुक्ति लोक के ऊपर है, प्रकट स्वरूप से निवास करते हैं। वहाँ इनके एक निष्ठ प्रिय भक्त इनके सदा दर्शन करते रहते हैं ॥६४॥

श्री शिवजी अपने भक्तों को नृत्यगीत कीर्तन आदि से रमण कराते रहते हैं। इस अनुष्ठान को यह मानो अपने से अभिन्न भगवान् की भक्ति को ग्रहण कराने के लिये ही करते हैं। यह स्वयं जगदीश्वर होते हुये भी, अपने प्यारे श्री शेष भगवान् को, जिनके हजारों फन हैं, दास की तरह नित्य प्रेम से पूजा करते हैं ॥६५-६६॥

यद्यपि उस शिवलोक को, और लोकों से श्रेष्ट जान कर, मुझको बड़ा आनन्द हुआ। तो भी मेरा हृदय कुछ असन्तुष्ट सा ही रहा ॥६७॥

पहले पहल असन्तोष का कारण मैं विचार करके भी नहीं जान सका। परन्तु श्री गुरुदेव की कृपा से तथा उस मन्त्र की सेवा के प्रभाव से शीघ्र ही मैंने उसका रहस्य समझ लिया। वह यह है कि मैंने अभी तक श्री मदन गोपाल देव के चरणारविन्दों की लीला आदि का अनुभव नहीं किया है, इसलिये मुझको दुख हो रहा है ॥ ६८-६९ ॥

तब मैंने, अपने मन को इस प्रकार समझाया, कि यह शिवजी सर्व समर्थ हैं, इसलिये यह श्री

लीलाविशेष-वैचित्री कृता मूर्त्तिविशेषतः ॥७०॥

तथाऽप्यस्वस्थमालक्ष्य स्वचित्तमिदमब्रुवं ।
यद्यस्मिन्नानुभूयेत सा तद्रूपादि-माधुरी ॥७१॥

तथापि दीर्घवाञ्छा तेऽनुग्रहादस्य सेत्स्यति ।
अचिरादिति मन्यस्व स्वप्रसाद-विशेषतः ॥७२॥

एवं तुष्टमनास्तस्य तत्र केनापि हेतुना ।
विश्रान्तस्य महेशस्य पार्श्वेऽतिष्ठं क्षणं सुखं॥७३

तत्रैव भगवन् ! दूरे केषामपि महात्मनां ।
सङ्गीत-ध्वनिरत्यन्तमधुरः कश्चिदुद्गतः ॥७४॥

तं श्रुत्वा परमानन्द-सिन्धौ मग्नो महेश्वरः ।
महाप्रेमविकारात्तः प्रवृत्तो नर्त्तितुं स्वयं ॥७५॥

पतिव्रतोत्तमा सा तु देवी नन्द्यादिभिः सह ।
प्रभुमुत्साहयामास वाद्य-संकीर्त्तनादिभिः ॥७६॥

सद्य एवागतांस्तत्राद्रक्षं चारुचतुर्भुजान् ।
श्रीमत्कैशोरसौन्दर्य्यमाधुर्य्यविभवाचितान् ॥७७

भूषाभूषणगात्रांशुच्छटाच्छादितशैवकान् ।
निजेश्वरमहाकीर्त्ति-गानानन्द-रसाप्लुतान् ॥७८॥

अनिर्व्वाच्यतमाश्चेतोहारिसर्व्वपरिच्छदान् ।
सङ्गतान् पूर्व्वदृष्टैस्तैश्चतुर्भिः सनकादिभिः॥७९॥

कृष्ण के स्वरूप को धारण करके तुझको उनकी, सब लीलाएँ अनुभव कराएँगे ॥७०॥

ऐसा समझाने पर भी मेरा मन स्वस्थ नहीं हुआ। तब मैंने अपने मनसे फिर यह कहा "अरे मन ! यद्यपि तू इनमें उस प्रकार की लीला माधुरियों का अनुभव नहीं करता है, तो भी तू यह समझ, कि इनकी कृपा से तेरी चिरकालीन अभिलाषाएें जल्दी ही पूर्ण होजाएेंगी" इस प्रकार के विचार से मैंने अपने मनको संतोष दिलाया। किसी कारण से वह शिवजी वहाँ ठहर रहे थे, इसलिये मैं भी कुछ काल तक उनके समीप सुख पूर्वक ठहरा रहा ॥७१-७२-७३॥

हे ब्राह्मण ! उस समय कुछ दूर पर, कई एक महात्माओं की गाने बजाने की अत्यन्त मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी, जिसको सुन कर वह शिवजी आनन्द सिन्धु में डूब गये। उस समय उनके देह पर प्रेम के सात्विक विकार उत्पन्न हो गये, और वह स्वयं नृत्य करने लगे ॥७४-७५॥

वह देवी श्री पार्वतीजी जोकि सब पतिव्रताओं में उत्तमा हैं, श्री नन्दीश्वर आदि गणों को साथ लेकर, वाद्य गीत संकीर्तन आदि से अपने प्रभु श्रीशिवजी को उत्साहित करने लगीं ॥७६

तब जल्दी ही आये हुये मैंने उन महात्माओं के दर्शन किये, जो चतुर्भुज स्वरूप थे, जिनकी किशोर अवस्था थी, जो अपनी सुन्दरता तथा माधुरी से सुशोभित हो रहे थे, जो सुन्दर सुन्दर वस्त्र आभूषण पहने हुये थे, जिन के अंग तथा भूषणों की छटा ने शिवजी के गणों की कान्ति को आच्छादित कर दिया था. और जो अपने प्रभु, श्री भगवान् की महा कीर्ति को गाते हुए आनन्द रस में निमग्न हो रहे थे ॥७७-७८॥

जिनके स्वरूपों का वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकते हैं, जिनका सब ठाट बाट मनको हरण करने वाला था, उनके साथ वह सनकादिक चारों भाई थे, जिनके मैंने पहले (तपलोक में) दर्शन किये थे ॥ ७९ ॥

तद्दर्शनस्वभावोत्थप्रहर्षाहृष्टमानसः ।

नाज्ञाशिषं किमप्यन्तर्वहिश्चान्यन्निज-प्रियं ॥८०॥

क्षणात् स्वस्थोऽप्यहो ! तेषां
दासत्वमपि चेतसा ।
नाशकं याचितुं भीत्या
लज्जया च सुदुर्घटं ॥८१॥

एषा हि लालसा नूनं कृपणं मामवाधत ।
सम्भाषेरन्निमे किं मां शिवस्य कृपया सकृत्॥८२

कुत्रत्याः कतमे वैते
कृपापाङ्गेन पान्तु मां ।
यानालिङ्गय भृशं रुद्रः
प्रेममूर्च्छामयं व्रजेत् ॥८३॥

इत्यादिमन्मनो-वृत्तं ज्ञा । देव्योमयेरितः ।
शिवचित्तानुवर्त्तिन्या गणेशोऽकथयच्छनैः॥८४॥

श्रीगणेश उवाच ।

एते वैकुण्ठनाथस्य श्रीकृष्णस्य महाप्रभोः ।
पार्षदाः प्राप्तसारूप्या वैकुण्ठादागताः किल॥८५

पश्येमेऽप्यपरे यान्ति ब्रह्मणोऽधिकृतेऽल्पके ।
ब्रह्माण्डे चतुरास्यस्य तथामी दूरतः परे ॥८६॥

अमी चाष्टमुखस्यैतद्द्विगुणे यान्ति वेगतः ।
अमी तु षोड़शास्यस्य ब्रह्माण्डे द्विगुणे ततः॥८७

इत्येवं कोटिकोटीनां ब्रह्मणां महतां क्रमात् ।
कोटिकोटिमुखाब्जानां तादृग्ब्रह्माण्डकोटिषु ॥८८

उनके दर्शन के स्वाभाविक प्रभाव से मेरा मन आकृष्ट होकर बड़ा आनन्दित हुआ, उस समय मैं भीतर बाहर उन से अतिरिक्त अपनी प्यारी और किसी वस्तु को नहीं समझता था ॥८०॥

कुछ काल बाद स्वस्थ होकर मैं अपनी अयोग्यता के कारण भय और लज्जा से यह विचार करने लगा " मैं इन पार्षदों के दास भाव को मन द्वारा भी चाहने के योग्य नहीं हूँ । क्योंकि यह भाव मेरे लिये अत्यन्त दुर्लभ है" ॥८१॥

तब यह लालसा मुझ कृपण को वाधा देने लगी, "क्या शिवजी की कृपा से, यह पार्षद एक बार भी मुझ से सम्भाषण करेंगे ?" ॥८२॥

" यह कहाँ से आये हैं ? कौन हैं ? क्या मुझ को यह अपनी कृपा दृष्टि से निहाल करेंगे ? क्यों कि यदि इनका दृष्टिपात मुझ पर नहीं हुआ, तो मेरे प्राण निकल जायेंगे । इन्हीं का गाढ़ आलिङ्गन करके श्री शिवजी भी प्रेम मूर्छा को प्राप्त होगये हैं" ॥८३॥

इसके पश्चात् श्री देवी पार्वती जी ने, जो कि शिवजी के चित्त की अनुवर्ती हैं, मेरे मन की बात को जान कर, मेरे पास श्री गणेश जी को भेजा, जो कि इस प्रकार शनैः शनैः कहने लगे ॥८४॥

श्रीगणेशजी बोले ।

यह श्री वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण भगवान् के पार्षद हैं, इन्होंने सारूप्य मुक्ति प्राप्त की है, और यह वैकुण्ठ से आ रहे हैं ॥८५॥

देखो ! वह जो पार्षद दिखाई देते हैं, वह चतुर्मुख ब्रह्मा के अधिककृत छोटे ब्रह्माण्ड में जा रहे हैं । वह जो दूर हैं वह अष्ट मुख ब्रह्मा के इस से द्विगुण बड़े ब्रह्माण्ड में तीव्रता से जा रहे हैं, और यह सोलह मुख के ब्रह्मा के ब्रह्माण्ड में जा रहे हैं, जिसका परिमाण उस ब्रह्माण्ड से द्विगुण है । इसी प्रकार क्रम से कोटि कोटि मुख वाले बड़े-बड़े ब्रह्मा हैं और उनके उपयोगी बड़े-बड़े ब्रह्माण्ड हैं, उन सब ब्रह्माण्डों में उनके अनुरूप ठाट बाट से यह पार्षद अपनी इच्छा से जा

गच्छतो लीलया तत्तदनुरूपपरिच्छदान् ।
गणेशोऽदर्शयत्तान्मां वहुशो दृङ्मनोहरान् ॥८६

एते हि मृत्युकालेऽपि जिह्वाग्रं श्रोत्रवर्त्मवा ।
कथञ्चित् सकृदाप्तेन नामाभासेन च प्रभोः॥६०

भक्तान् कृत्स्नभयात् पान्तस्तन्वन्तो भक्तिमुज्वलां
सर्व्वत्र विचरन्त्यात्मेच्छया भक्त्येकवल्लभाः॥६१

भक्तावतारास्तस्यैते चत्वारो नैष्ठिकोत्तमाः ।
परिभ्रमन्ति लोकानां हितार्थं पार्षदा इव ॥६२॥
वसन्ति च तपोलोके प्रभुं नारायणं विना ।
अनाथानामिव क्षेमं वहन्तस्तन्निवासिनां ॥६३॥

गत्वा सम्प्रति वैकुण्ठे सर्व्वाकर्षकसद्गुणं ।
भगवन्तं तमालोक्य मोक्षानन्दविड़म्बिना॥६४॥

निर्भरानन्दपूरेण संयोज्यात्मानमागताः ।
पिवन्तो भक्तसङ्गत्या हरेर्भक्ति-महारसं ॥६५॥

नित्यापरिच्छिन्नमहासुखान्त्य-
काष्ठावतस्तादृशवैभवस्य ।
साक्षाद्रमानाथ-पदारविन्द-
क्रीड़ाभराजस्रविभूषितस्य ॥६६॥
तत्प्रेमभक्तैः सुलभस्य वक्तुं
वैकुण्ठलोकस्य परं किमीशे ।
अद्वैतदुर्व्वासनया मुमुक्षा-
विद्धात्मनां ह्यपि दुर्लभस्य॥६७॥
यद्यस्य मत्पितुः सम्यक् करुणा स्यात्तदा त्वया ।

रहे हैं। इस प्रकार श्री गणेश जी ने मझको बहुत से पार्षदों के दर्शन कराए, जो कि मेरे नेत्रों को तथा मन को हरण करते थे। यह सब अपनी इच्छा से जहाँ तहाँ विचर रहे थे। जो कोई पुरुष मरते समय अपने जिह्वा के अग्र भाग से तथा अपने कानों से एक बार भी भगवान् के नाम के आभास को किसी प्रकार से भी ग्रहण करता है, उन भक्तों को यह पार्षद गण सब प्रकार के भय से रक्षा करके उज्वल भक्ति को प्रदान करते हैं, क्योंकि भक्ति ही इन को एक मात्र प्रिय है ॥ ८६ ॥ ॥८७ ८८-८९-६०-६१॥

यह जो चार नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, यह भगवान् के भक्तावतार हैं। यह लोकों के कल्याण के लिये इन पार्षदों की तरह भ्रमण कर रहे हैं ॥६२॥

तप लोक के प्रभु श्रीमन् नारायण के वहाँ न रहने से उस लोक वासी अनाथ की तरह हैं, उनको आनन्द प्रदान करने के लिये यह चारों भाई उस तपलोक में रहते हैं ॥६३॥

अब इन्होंने वैकुण्ठ में जाकर उन भगवान् के दर्शन किये हैं, जोकि अपने सद्गुणों से सब को अपनी ओर खीच लते हैं। इससे पूर्ण आनन्दित होकर इन्हों ने मोक्ष आनन्द को भी एक विडम्बना ही समझा है। अब यह भक्तों के संग से, भगवान् की भक्ति रूपा महा रस को पान करने के लिये, यहाँ आये हैं ॥६४-६५॥

उस वैकुण्ठलोक की क्या प्रशंसा करें ? जहाँ नित्य असीम महा सुख और उनके अनुरूह पराकाष्ठा के वैभव विद्यमान हैं। जो साक्षात् श्री लक्ष्मीनाथ के चरणारबिन्दों की विविध प्रकार की बिहार स्थलियों से विभूषित है। जो उनके प्रेम द्वारा श्रेष्ठ भक्तों को सुलभ है और जो उन मुमुक्षुओं को मन से भी दुर्लभ है जिनकी आत्माएँ अद्वैत ब्रह्म की दुर्वासना से दूषित हैं ॥ ६६-६७ ॥

जब मेरे पिता श्री शिवजी की, सम्यक् प्रकार से तुम्हारे ऊपर कृपा होगी, तब तुम उनकी

श्रोष्यते महिमा तस्य गत्वा चानुभविष्यते॥९८॥

श्रीगोपकुमार उवाच।

ब्रह्मंस्तत्प्राप्तये जातमहालालसया भृशं।
अहं चिन्तार्णवापारभङ्ग-रङ्गे प्रनर्त्तितः॥९९॥

विचारजाततः स्वस्य सम्भाव्य तदयोग्यतां।
प्ररुदन् शोकवेगेन मोहं प्राप्याऽपतं क्षणात् १००

महादयालुनानेन परदुःखासहिष्णुना।
वैष्णवैकप्रियेणाहमुत्थाप्याश्वास्य भाषितः॥१०१

श्री महादेव उवाच।

हे श्रीवैष्णव! पार्व्वत्या सहाहमपि कामये।
तस्मिन् वैकुण्ठलोके तु सदा वासं भवानिव १०२

सोऽतीव दुर्लभो लोकः प्रार्थ्यो मुक्तैरपि ध्रुवं।
साध्यो ब्रह्मसुतानां हि ब्रह्मणश्च ममापि सः १०३

निष्कामेषु विशुद्धेषु स्वधर्म्मेषु हि यः पुमान्।
परां निष्ठां गतस्तस्मिन् या कृपा श्रीहरेर्भवेत् १०४
तस्याः शतगुणा चेत् स्याद् ब्रह्मत्वं लभते तदा।
तस्याः शतगुणायाश्च सत्यां मद्भावमृच्छति१०५
श्रीमद्भगवतस्तस्य मयि यावाननुग्रहः।
तस्माच्छतगुणोत्ताने जाते वैकुण्ठमेति तं॥१०६

अथापि गोवर्द्धनगोपपुत्र-
स्तमर्हसि त्वं मथुरेशभक्तः।

महिमा को सुन सकोगे तथा वहाँ जाकर अनुभव कर सकोगे॥९८॥

श्री गोपकुमार बोले।

हे ब्राह्मण! तब मेरी वहाँ जाने की बड़ी लालसा हुई और मैं चिन्ता रूपी अपार समुद्र की लहरों में पड़कर नृत्य करने लगा॥९९॥

बहुत विचार करके भी मैंने, अपने आपको वहाँ जाने के अयोग्य ही निश्चय किया। उस दुख से, मैं रोता हुआ क्षण भर में मूर्छित होकर गिर पड़ा। तब वह श्री शिवजी महाराज, जो कि बड़े दयालु हैं, जो दूसरे के दुख को सहन नहीं कर सकते हैं, और जिन के एक मात्र वैष्णव ही प्रिय हैं, जल्दी से मुझको उठा कर, आश्वासन करके कहने लगे॥१००-१०१॥

श्री महादेवजी बोले।

हे श्री वैष्णव गोपकुमार! जैसे आप उस वकुण्ठ लोक में रहने की इच्छा करते हो, इसी प्रकार मैं भी पार्वती के सहित सदा वहाँ निवास करने की अभिलाषा करता हूँ॥१०२॥

तुम निश्चय जानो वह लोक अति दुर्लभ है। मुक्त पुरुष भी उसके लिये प्रार्थना करते हैं। वह लोक ब्रह्माजी के पुत्र भृगु आदि, श्री ब्रह्माजी, तथा मुझको प्रार्थनीय है॥१०३॥

जो पुरुष निष्काम भाव से अपने वर्ण आश्रम धर्मों को शुद्धता से पालन करते हुये, उनमें बड़ी निष्ठा रखते हैं, उन पर जो भगवान् की कृपा है, उस कृपा से सौगुणी अधिक कृपा जिन पर होती है वह लोग ब्रह्मा बनते हैं और उनकी कृपा से सौगुणी अधिक कृपा जिन पर होती है वह मेरे भाव को प्राप्त होते हैं और मुझ पर जो भगवान् की कृपा है उस से सौगुणी अधिक कृपा जिन पर होती है वह वैकुण्ठ को प्राप्त होते हैं॥१०४॥ ॥१०५-१०६॥

हे गोपकुमार! आप उस वैकुण्ठ में जाने के योग्य हो, क्योंकि आप गोवर्धन निवासी गोप के पुत्र हो मथुराधीश श्रीकृष्ण के भक्त हो, और

तदेकभक्तिप्रियविप्रशिष्य-
स्तदीयतन्मन्त्रपरोऽनुरक्तः ॥१०७॥

उनके परम भक्त उस ब्राह्मण के शिष्य हो, जिन के दिये हुये मन्त्र का आप निरन्तर जप करते रहते हो और श्री गोपालजी में आपकी अत्यन्त आसक्ति है ॥ १०७ ॥

चतुर्विधेषु मोक्षेषु
सायुज्यस्य पदं त्विदं ।
प्राप्यं यतीनामद्वैत-
भावना भावितात्मनां ॥१०८॥

चार प्रकार के मोक्षों में, यह स्थान जहाँ कि हम सब उपस्थित हैं, सायुज्य मुक्ति का है। यह स्थान उन सन्यासियों की प्राप्ति के योग्य है, जो अद्वैत भावना में अपनी आत्माओं को भावित करते हैं ॥१०८॥

महासंसारदुःखाग्निज्वालासंशुष्कचेतसां ।
असारग्राहिणामन्तःसारासाराविवेकिनां ॥१०९॥
मयैव कृष्णस्यादेशात् पातितानां भ्रमार्णवे ।
निज-पादाम्बुज-प्रेमभक्तिसंगोपकस्य हि ॥ ११०

जिन पुरुषों के चित्त इस संसार के दुख रूपी अग्नि की ज्वाला से सूख गये हैं, जिनके अन्तःकरण सार तथा असार वस्तु के विवेचन करने में असमर्थ हैं और जो केवल असार वस्तु को ही ग्रहण करते हैं, उन जीवों के लिये, श्रीकृष्ण ने अपने चरणारविन्दों की प्रेम भक्ति को गोपन करने के लिये, मुझको आदेश दिया है, जिस से मैंने, उनको भ्रम रूपी समुद्र में डाल दिया है। ॥ १०९-११०॥

भगवद्भजनानन्दरसैकापेक्षकैर्जनैः ।
उपेक्षितमिदं विद्धि पदं विघ्नसमं त्यज ॥१११॥

तुम यह निश्चय जानो, जो पुरुष केवल भगवद्भजनानन्द के ही रसिक हैं, उन्होंने इस मुक्ति पद की उपेक्षा की है। इसलिये तुम भी इसको एक विघ्न समझ कर त्यागदो ॥१११॥

द्वारकावासिविप्रेण
कृष्णभक्तिरसार्थिना ।
इतो नीताः सुतास्तत्र
स चातुर्य्यविशेषतः ॥११२॥

द्वारका वासी ब्राह्मण ने, जो कि केवल श्रीकृष्ण की भक्ति रस को ही चाहता था, इस लोक से अपने लड़कों को विशेष चातुरी से लौटा लिया था। (यहाँ उस ब्राह्मण से तात्पर्य है, जिस के पुत्रों को भीमा पुरुष इस मुक्ति लोक ले आये थे) ॥ ११२ ॥

अत्रापि भगवन्तं यद्दृष्टवानसि तादृशं ।
सद्गुरोः कृपया कृष्णदिदृक्षाभरकारितं ॥११३॥

यहाँ भी जो आपको भगवान् का दर्शन हो रहा है, यह एक तो तुम्हारे श्रेष्ठ गुरु की कृपा ही का फल है दूसरे श्रीकृष्ण के दर्शन की जो आप की अत्यन्त अभिलाषा है, उससे यह कार्य सम्पन्न हुआ है ॥ ११३ ॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तच्छङ्करप्रसादेन परानन्दभरं गतः ।

श्रीगोपकुमार बोले ।

मैं उन शिवजी महाराज की कृपा से, बड़ा आनन्दित हुआ। हे ब्राह्मण! मेरी उनसे और

किञ्चिदिच्छन्नपि ब्रह्मन्नाशकं वदितुं ह्रिया ११४

कुछ पूछने की इच्छा थी, परन्तु संकोच से नहीं पूछ सका ॥११४॥

भगवत्पार्षदाः श्रुत्वा तां तां वाचमुमापतेः ।
प्रणम्य सादरं प्रीत्या तमूचुर्विनयान्विताः॥११५

इसके पश्चात् भगवत् पार्षदों ने श्री महादेवजी की सब बातें सुन कर, उनको आदर से प्रणाम किया और वह नम्र भाव से प्रीति पूर्वक इस प्रकार कहने लगे ॥११५॥

श्रीभगवत्पार्षदा ऊचुः ।

श्री भगवान् के पार्षदों ने कहा ।

तेन वैकुण्ठनाथेन समं कोऽपि न विद्यते ।
भगवन् ! भवतोऽभेदो गौर्य्याश्च रमया सह ११६

तल्लोके भवतो वासो देव्याश्च किल युज्यते ।
ख्यातःप्रियतमस्तस्यावतारश्च भवान् महान् ११७

हे भगवन् ! यद्यपि उन श्री वैकुण्ठनाथ के समान अन्य कोई भी नहीं हैं। तो भी आपका श्री भगवान् से और श्री पार्वती जी का श्रीलक्ष्मी जी से अभेद है। आपका तथा श्री पार्वतीजी का वहाँ निवास करने का अधिकार है। क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है, कि आप उन वैकुण्ठनाथ के सखा तथा श्रेष्ठ अवतार हैं ॥११६-११७॥

तथापि यदिदं किञ्चिद्भाषितं भवताधुना ।
स्वभावो भगवत्प्रेष्ठतमतौपयिको ह्ययं ॥११८॥

अब जो आपने अपनी दीनता का भाषण दिया है, यह भगवान् के अत्यन्त प्यारों का स्वभाविक धर्म है ॥११८॥

तद्भक्तिरसकल्लोलग्राहको वैष्णवेडितः ।
अतः सर्व्वावतारेभ्यो भवतो महिमाधिकः॥११९

क्योंकि आप भगवद्भक्ति रस का प्रचार करने वाले हैं, इसलिये सब अवतारों से आपकी महिमा अधिक है। इसी हेतु से वैष्णव लोग आपकी स्तुति करते हैं ॥११९॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

श्री गोपकुमार बोले ।

निजस्तुत्या तया तस्मिन्
ह्रिया तूष्णीं स्थिते प्रभौ ।
भगवत्पार्षदास्तेमा-
माश्लिष्योचुः सुहृद्वराः ॥१२०॥

अपनी स्तुति को सुनकर, जब श्री शिवजी महाराज संकोच से मौन होगये, तब श्रेष्ठ सुहृद् भगवद् पार्षदों ने मुझको आलिङ्गन करके इस प्रकार कहा ॥१२०॥

श्रीभगवत्पार्षदा ऊचुः ।

श्री भगवद् पार्षद बोले ।

अस्मदीश्वरसन्मन्त्रोपासकोमापतिप्रिय ! ।
गोपनन्दन ! भक्तेषु भवन्तं गणयेम हि ॥१२१

हे गोपकुमार ! आप हमारे प्रभु के श्रेष्ठ मन्त्र की उपासना करने वाले हो, और श्रीशिबजी के प्रिय हो, इसलिये आपकी गणना हम भक्तों में ही करते हैं ॥१२१॥

गौडे गङ्गा-तटे जातो माथुरब्राह्मणोत्तमः ।
जयन्तनामा कृष्णस्यावतारस्ते महान् गुरुः १२२

गौड़ देश में गंगा तट पर जिनका जन्म हुआ है, जो श्री मथुरा में निवास करते हैं, और जिन का नाम जयन्त है, वह श्रीकृष्ण के अवतार स्वरूप आपके श्रेष्ठ गुरु हैं ॥१२२॥

सत्यं प्रतीहि वयमत्र भवन्निमित्त-
मेवागताः शृणु हितं निजकृत्यमेतत् ।
वैकुण्ठमिच्छसि यदि प्रविहाय सर्व्वं
सप्रेमभक्तिमनुतिष्ठ नवप्रकारां ॥१२३॥

तज्ज्ञापकञ्च भज भागवतादिशास्त्रं
लीलाकथा भागवतः शृणु तत्र नित्यं ।
ता एव कर्णविवरं प्रणयात् प्रविष्टाः
सद्य पदं भगवतः प्रभवन्ति दातुं ॥१२४॥

तेषां नवप्रकाराणामेकेनैव सुसिद्धयति ।
सर्व्वसाधनवर्य्येण वैकुण्ठः साध्यसत्तमः ॥१२५

महत्तमतया श्रूयमाणा अपि परेऽखिलाः ।
फलव्राताविचारेण तुच्छा महदनादृताः ॥१२६

तथापि तद्रसज्ञैः सा भक्तिर्नवविधाञ्जसा ।
सम्पाद्यते विचित्रैतद्रसमाधुर्य्यलब्धये ॥१२७॥

तेषां कस्मिंश्चिदेकस्मिन् श्रद्धयानुष्ठिते सति ।
स्वयमाविर्भवेत् प्रेमा श्रीमत्कृष्णपदाब्जयोः १२८

तथापि कार्य्या प्रेम्णैव परिहाराय हृद्रुजः ।
फलान्तरेषु कामस्य वैकुण्ठाप्तिविरोधिनः ॥१२९

यद्यप्येतादृशी भक्तिर्यत्र यत्रोपपद्यते ।
तत्तत्स्थानं हि वैकुण्ठस्तत्र तत्रैव स प्रभुः ॥१३०

तथापि सर्व्वदा साक्षादन्यत्र भगवांस्तथा ।
न दृश्येतेति वैकुण्ठोऽवश्यं भक्तैरपेक्ष्यते ॥१३१

हे गोपकुमार ! आप यह बात सत्य समझें, कि हम यहाँ आपके निमित्त से ही आये हैं। अब आप अपना हित तथा निज कृत्य सुनियें। यदि आपकी वैकुण्ठ प्राप्त करने की इच्छा है, तो आप सब परित्याग करके, नवधा प्रेम भक्ति का अनुष्ठान करें ॥१२३॥

उन भक्तियों को जानने के लिये श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों का सेवन करें और उनमें भगवान् की लीला कथा को नित्य सुनें जब आप उस कथा को प्रेम पूर्वक सुनोगे तब वह आपको जल्दी ही भगवद् पद की प्राप्ति करा देगी ॥१२४॥

उस नवधा भक्ति के जो अन्य सब साधनों से श्रेष्ठ है, किसी एक अंग के अनुष्ठान करने से सर्वोत्तम फल श्रीवैकुण्ठ की प्राप्ति हो सकती है। अन्य मोक्षादि पुरुषार्थ भी श्रेष्ठ सुनने में आते हैं, परन्तु फलों का बिचार करने से वह सब तुच्छ हो जाते हैं। क्योंकि तत्ववेत्ताओं ने उनका आदर नहीं किया है ॥१२५ १२६॥

यद्यपि नवधा भक्ति के एक अंग से ही वैकुण्ठ प्राप्ति हो सकती है, तो भी भक्ति रसिक, विचित्र-विचित्र प्रकार की भक्ति रस माधुरी को अनायास आस्वादन करने के लिये, नौ प्रकार की भक्तियों का अनुष्ठान करते हैं ॥१२७॥

यद्यपि उनमें किसी एक भक्ति के श्रद्धा युक्त अनुष्ठान करने से, श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में प्रेम स्वयमेव प्रादुर्भाव हो जाता है ॥१२८॥

तो भी वह भक्ति प्रेम से ही करनी चाहिये, जिससे कि और फलों में कामना रूपी हृद रोग, जो कि वैकुण्ठ प्राप्ति का विरोधी है, दूर हो जाए ॥ १२९ ॥

इस प्रकार की भक्ति जहाँ जहाँ अनुष्ठान की जाती है, वह स्थान वैकुण्ठ ही है, क्योंकि वहाँ ही भगवान् बिराजते हैं ॥१३०॥

तो भी वहाँ (जहाँ भक्ति अनुष्ठान की जाती है) सर्वदा भगवान् के साक्षात् दर्शन नहीं होते हैं, इसलिये भक्तों को वैकुण्ठकी अवश्य अपेक्षा है१३१

सर्व्वप्रकारिका भक्ति-

स्तादृशी च सदान्यतः ।

न सम्पद्येत निर्व्विघ्ना

तन्निष्ठैर्वहुभिः सह ॥१३२॥

क्योंकि वैकुण्ठ को छोड़ कर और किसी स्थान पर यह, सब प्रकार की भक्तियाँ इस प्रकार के बहुत से भक्ति रसिकों को साथ लेकर, निर्विघ्नता से अनुष्ठान नहीं की जा सकती हैं ॥ १३२ ॥

निजेन्द्रियमनःकाय-

चेष्टारूपां न विद्धि तां ।

नित्यसत्यघनानन्द-

रूपा सा हि गुणातिगा ॥१३३॥

(अब भगवद् पार्षद पूर्व प्रसङ्ग श्लोक १२३ में जो उन्होंने यह वर्णन किया था, कि नवधा भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिये। इसी विषय को स्पष्ट करने के लिये वर्णन करते हैं:- क्योंकि अनुष्ठान इन्द्रियों द्वारा किया जाता है, इस लिये भक्ति भी इन्द्रियों का व्यापार ही रहा। इस शंका को दूर करने के लिये, अब भगवद् पार्षद भक्ति का स्वरूप निर्देश करते हैं:—) उस भक्ति को अपनी इन्द्रियों, मन तथा काय की चेष्टा रूपा नहीं समझना चाहिये, बल्कि वह भक्ति सत, रज, तम इन तीनों गुणों से अतीत, सच्चिदानन्द स्वरूपा तथा नित्य है ॥१३३॥

निर्गुणे सच्चिदानन्दा-

त्मनि कृष्णप्रसादतः ।

स्फुरन्ती विलसत्यात्म-

भक्तानां वहुधा मुदे ॥१३४॥

(अब यह शंका होती है कि यदि वह भक्ति इन्द्रियों आदि की चेष्टा स्वरूपा नहीं है तो जीव इसको किस तरह लाभ कर सकता है? इसके उत्तर में वर्णन करते हैं:—) कि यह भक्ति केवल श्रीकृष्ण की कृपा से ही तीन गुणों से अतीत, सच्चिदानन्द स्वरूप, शुद्ध जीव में प्रकाश होती है। और वह अपने भक्तों को आनन्द प्रदान करने के लिये श्रवण, कीर्तन, आदि बहुत प्रकार से प्रकट होती है ॥१३४।

विशुद्धे तु विवेकेन

सत्यात्मनि हरेः पदं ।

गतेऽप्यप्राकृतं भक्ति-

विधयो विलसन्ति हि॥१३५॥

(श्लोक १३३-१३४ में भक्ति के अप्राकृतिक स्वरूप को साधारण रीति से वर्णन किया है, अब उसी को विशेष रूप से वर्णन करते हैं:—) आत्मा इन्द्रियों से पृथक् है, इन्द्रियों की वृत्तियाँ इन्द्रियों में ही रहती हैं, आत्मा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। भक्ति का आत्मा में ही विविध प्रकार से प्रकाश होता है और जब वह जीव अप्राकृत धाम वैकुण्ठ में जाता है तब भी उसकी आत्मा में इस भक्ति का विविध प्रकार से विलास होता रहता है ॥१३५॥

अन्यथेतरकर्म्माणी-

वैतेऽपि स्युर्न सङ्गताः ।

कायेन्द्रियात्मचेष्टातो

ज्ञानेनात्मनि शोधिते ॥१३६॥

अन्येभ्य इव कर्म्मभ्यो

भगवद्भक्तिकर्म्मतः ।

विविक्तःसन् कथं यातु

वैकुण्ठं मुक्तिमर्हति ॥१३७॥

इस से यह सिद्ध हुआ, कि भक्ति इन्द्रियों की वृत्ति नहीं है, बल्कि वह भक्ति स्वयं उस आत्मा में ही प्रकाश होती है, जो काय, इन्द्रिय, मन से अतीत है। यदि यह कहें कि जैसे अन्य अन्य कर्म इन्द्रियों की वृत्तिताँ हैं, उसी प्रकार श्रवणादि भक्ति भी इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं; तो इस में यह दोष आता है, कि फिर भक्ति का प्रकाश आत्मा में नही होगा। तब यह प्रश्न है कि भक्ति का प्रकाश आत्मा में नहीं होने से क्या हानि है? उसका उत्तर यह है:- कि जब भगवद्भक्त इन्द्रियों के व्यापार रूपी कर्मों को त्यागकर, वैकुण्ठ में जाते हैं, यदि भक्ति को इन्द्रियों की वृत्ति स्वीकार करें, तब उस भक्ति का भी परित्याग करना होगा, परन्तु भक्ति को परित्याग करने से वैकुण्ठ प्राप्ति नहीं हो सकती है, बल्कि उसका मोक्ष होता है, इसलिये भक्ति इन्द्रियों की वृत्ति नहीं है ॥ १३६-१३७ ॥

न ह्यन्यकर्म्मवद्भक्ति-

रपि कर्म्मेति मन्यतां ।

वहिर्दृष्ट्यैव जल्प्येत

भक्तदेहादिवत् क्वचित् ॥१३८॥

साधारण कर्म काण्ड की तरह भगवद्भक्ति को कर्म नहीं समझना चाहिये। जहाँ कहीं भक्ति को कर्म कहा गया है वह केवल वहिर्दृष्टि से ही कहा गया है। जैसे कि प्राकृत पञ्चभौतिक तथा अप्राकृत सच्चिदानन्द स्वरूप दोनों प्रकार के स्वरूपों को सामान्य से देह ही कहते हैं ॥१३८॥

भक्तानां सच्चिदानन्द-

रूपेष्वङ्गेन्द्रियात्मसु ।

घटते स्वानुरूपेषु

वैकुण्ठेऽन्यत्र च स्वतः ॥१३९॥

यदि यह कहें, कि यदि कर्मकाण्ड की तरह भक्ति में भी श्रवण कीर्तन आदि इन्द्रियों के व्यापार हैं, तो यह भक्ति अप्राकृत तथा स्वयं प्रकाश किस तरह हो सकतीहै? इसका उत्तर यह है: कि वैकुण्ठ तथा और स्थानों में रहने वाले भक्तों की तत् तत् इन्द्रियां प्राकृत नहीं हैं, बल्कि वह सच्चिदानन्द स्वरूपा है, इसलिये उनमें स्वतः सिद्ध भक्ति का सञ्चार होता है ॥१३९॥

वयमत्र प्रमाणं स्मो-

ऽनिशं वैकुण्ठपार्षदाः ।

तन्वन्तो वहुधा भक्ति-

मस्पृष्टाः प्राकृतैर्गुणैः॥१४०॥

इस विषय में हम वैकुण्ठ के पार्षद प्रमाण स्वरूप हैं, जो कि इस प्रकृति के गुणों को छूते भी नहीं हैं, तो भी निरन्तर इस भक्ति का बहुत प्रकार से आस्वादन करते हैं ॥१४०॥

नवीनसेवकानान्तु प्रीत्या सम्यक् प्रवृत्तये ।
निजेन्द्रियादिव्यापारतयैव प्रतिभाति सा ॥१४१

यद्यपि यह भक्ति इन्द्रिया के व्यापार रूपा नहीं है, तो भी नवीन भक्तों के उत्साह को बढ़ाने के लिये उनकी इन्द्रियों के व्यापार सरीखी प्रतीत होती है ॥ १४१ ॥

महद्भिर्भक्तिनिष्ठैश्च न स्वाधीनेति मन्यते ।
महाप्रसादरूपेयं प्रभोरित्यनुभूयते ॥१४२॥

इस भक्ति को, भक्ति निष्ठ बड़े-बड़े महात्मा अपने अधीन नहीं मानते हैं, बल्कि इसको भगवान् की बड़ी कृपा स्वरूप ही अनुभव करते हैं॥१४२

त्वरा चेद्विद्यते श्रीमद्वैकुण्ठालोकने तव ।
सर्व्वाभीष्टप्रदश्रेष्ठां तां श्रीब्रजभुवं ब्रज ॥१४३॥

हे गोपकुमार ! यदि आपकी श्रीवैकुण्ठ जल्दी दर्शन करने की अभिलाषा है, तो आप शीघ्र ही उस श्रेष्ठ ब्रजभूमि में जाएँ जहाँ कि तुम्हारी सब प्रकार की अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाएँगी ॥१४३॥

परं श्रीमत्पदाम्भोजसदासङ्गत्यपेक्षया ।
नामसंकीर्त्तनप्रायां विशुद्धां भक्तिमाचर ॥१४४
तयाशु तादृशी प्रेमसम्पदुत्पादयिष्यते ।
यया सुखं ते भविता वैकुण्ठे कृष्णदर्शनं ॥१४५

आप एक मात्र भगवद् चरणारविन्द प्राप्ति के लिये उस विशुद्ध भक्ति का आचरण करें, जिसमें प्रायः नाम संकीर्तन अधिक है। इससे आपको उस प्रकार की प्रेम भक्ति जल्दी ही प्राप्त होगी, जिसके प्रभाव से आप वैकुण्ठ में जाकर, श्रीकृष्ण के सुख पूर्वक दर्शन करेंगे ॥१४४-१४५॥

प्रेम्णोऽन्तरङ्गं किल साधनोत्तमं
मन्येत कैश्चित् स्मरणं न कीर्त्तनं ।
एकेन्द्रिये वाचि विचेतने सुखं
भक्तिः स्फुरत्याशु हि कीर्त्तनात्मिका १४६

कोई कोई (महात्मा) प्रेम प्राप्ति का अन्तरङ्ग उत्तम साधन कीर्तन को नहीं मान कर स्मरण को ही मानते हैं। क्योंकि कीर्तन स्वरूपा भक्ति एक मात्र अचेतन जिह्वा इन्द्रिय से जल्दी ही सिद्ध हो जाती है, और यह थोड़े प्रयास से सिद्ध होती है, इस लिये इसका फल स्वरूप सुख भी थोड़ा ही बतलाते हैं ॥१४६॥

भक्तिः प्रकृष्टा स्मरणात्मिकास्मिन्
सर्व्वेन्द्रियाणामधिपे विलोले ।
घोरे वलिष्ठे मनसि प्रयासै-
र्नीते वशं भाति विशोधिते या ॥१४७॥

मानसिक भक्ति उस मन से सिद्ध होती है, जो कि सब इन्द्रियों का राजा, अति चञ्चल, प्रकांड तथा वलिष्ट है। उस मनको बड़े-बड़े प्रयासों से वश करने से जब यह शुद्ध हो जाता है, तब उस भक्ति का प्रकाश होता है, इस लिये (वह महात्मा) स्मरण भक्ति को श्रेष्ठ कहते हैं ॥१४७॥

मन्यामहे कीर्त्तनमेव सत्तमं
लोलात्मकैकस्वहृदि स्फुरत्स्मृतेः ।
वाचि स्वयुक्ते मनसि श्रुतौ तथा
दीव्यत् परानप्युपकुर्व्वदात्म्यवत् ॥१४८॥

परन्तु हमारा तो यह मत है, कि कीर्तन भक्ति ही स्मरण से श्रेष्ठ है, क्योंकि स्मरण भक्ति एक मात्र चञ्चल मन में ही प्रकाशित होती है और कीर्तन भक्ति जिह्वा, कान तथा मनमें प्रकाश होते हुये भी, अपने आस-पास रहने वाले दूसरे जीवों को भी अपनी तरह सुख प्रदान करती है ॥१४८॥

वाह्यान्तराशेषहृषीकचालकं
वागिन्द्रियं स्याद्यदि संयतं सदा ।
चित्तं स्थिरं सद्भगवत्स्मृतौ तदा
सम्यक् प्रवर्त्तेत ततः स्मृतिः फलं ॥१४९॥

एवं प्रभोर्ध्यानरतैर्मतं चे-
द्बुद्ध्येयदशं तत्र विवेचनीयं ।
ध्यानं परिस्फुर्त्तिविशेषनिष्ठा-
सम्बन्धमात्रं मनसा स्मृतिर्हि ॥१५०॥

चेद्ध्यानवेगात् खलु चित्तवृत्ता-
वन्तर्भवन्तीन्द्रियवृत्तयस्ताः ।
संकीर्त्तनस्पर्शनदर्शनाद्या
ध्यानं तदा कीर्त्तनतोऽस्तु वर्य्यं ॥१५१॥

प्रीतिर्यतो यस्य सुखञ्च येन
सम्यग्भवेत्तद्रसिकस्य तस्य ।
तत्साधनं श्रेष्ठतमं सुसेव्यं
सद्भिर्मतं प्रत्युत साध्यरूपम् ॥१५२॥

संकीर्त्तनाद्ध्यानसुखं विवर्द्धते
ध्यानाच्च संकीर्त्तनमाधुरीसुखम् ।
अन्योन्यसम्वर्द्धकतानुभूयते
ऽस्माभिस्तयोस्तद्द्वयमेकमेव तत् ॥१५३॥

ध्यानञ्च संकीर्त्तनवत् सुखप्रदं
यद्वस्तुनोऽभीष्टतरस्य कस्यचित् ।
चित्तेऽनुभूत्यापि यथेच्छमुद्भवे-
च्छान्तिस्तदेकाप्तिविषक्तचेतसां ॥१५४॥

यथा ज्वररुजार्त्तानां शीतलामृतपाथसः ।

कोई कोई ध्यान निष्ठ भक्तों का यह मत है :—
जिह्वा ही सब वाह्य तथा तथा अन्तरंग इन्द्रियों को चञ्चल कराने वाली । इसलिये यदि इसका कीर्त्तन अथवा मौन से, संयम किया जाय. तो चित स्थिर होकर उसमें भगवद् चरण रविन्दों की स्मृति अच्छी प्रकार से होती है, इसलिये कीर्त्तन का फल स्मरण ही है। इसमें भी यह समझना चाहिये कि ध्यान और स्मृति पृथक् पृथक् दो निष्ठा हैं । ध्यान का तात्पर्य तो आपके समस्त स्वरूप की एक साथ स्फूर्ति होना है और स्मृति केवल आपके रूप, गुण, माधुर्य आदि में किसी एक अंग की यादगारी को कहते हैं ॥ १४९ । १५० ॥

यदि ध्यान के प्रभाव से समस्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्तमुर्ख होकर मन की वृति में ही प्रकाश हो जायें, अर्थात् ध्यान अवस्था में श्रवण कीर्तन दर्शन आदि मन में वाहर की तरह प्रकाश होने लगे, तो इस प्रकार का ध्यान वाह्य कीर्तन आदि की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥१५१॥

जिस रसिक की जिस साधन में सम्यक् प्रीति है, और जिससे उसको पूर्ण रूप से सुख प्राप्त होता है उसके लिये वही साधन सर्व श्रेष्ठ है । इसलिये उसका ही अनुष्ठान करना चाहिये। श्रेष्ठ महात्माओं का यह मत है, कि उसके लिये वह साधन फल रूपी ही है ॥ १५२ ॥

कीर्तन से ध्यान का सुख बढ़ता है और ध्यान से कीर्तन का सुख बढ़ता है । इसलिये दोनों एक दूसरे की वृद्धि करने वाले हैं। इसी कारण से हम तो यह अनुभव करते हैं कि ये दोनों एक ही हैं । किसी किसी स्थान पर ध्यान भी कीर्तन की तरह सुख प्रदान करने वाला होता है । क्योंकि जिसकी जिस वस्तु में अत्यन्त आसक्ति होती है, उसका ध्यान करने से चित्त में शान्ति प्राप्त होती है । जैसे कि ज्वर से पीडित रोगी को केवल मन मात्र से ही अमृत सरीखा शीतल जल पान करने से उसकी

मनः पानादपि त्रुटेयत्तृड्वैकुल्यं सुखं भवेत्॥१५५

पिपासा नष्ट हो कर उसको सुख प्राप्त होता है॥ १५३। १५४। १५५॥

तत्तत्संकीर्त्तनेनापि तथा स्याद्यदि शक्यते।
सतामथ विविक्तेऽपि लज्जा स्यात्स्वैरकीर्त्तने।१५६

यदि अपनी अभिष्ट बस्तु का कीर्तन होसके, तो ध्यान की तरह इससे भी सुख प्राप्त हो सकता है। परन्तु रहस्य लीला होने से, सज्जन पुरुषों को भी उन लीलाओं का कीर्तन निर्जन स्थान पर करने से भी लज्जा प्रतीत होती है॥१५६

एकाकित्वेन तु ध्यानं विविक्ते खलु सिद्ध्यति।
संकीर्त्तनं विविक्तेऽपि वहूनां सङ्गतोऽपि च॥१५७

ध्यान तो केवल निर्जन स्थान पर अकेले ही करने से सिद्ध होता है। परन्तु कीर्तन निर्जन स्थान पर अकेले रह कर अथवा बहुतों के संग से भी सफलता को प्राप्त हो सकता है॥ १५७॥

कृष्णस्य नानाविधकीर्त्तनेषु
तन्नामसंकीर्त्तनमेव मुख्यम्।
तत्प्रेमसम्पज्जनने स्वयं द्राक्-
शक्तं ततः श्रेष्ठतमं मतं तत्॥१५८॥

यद्यपि श्रीकृष्ण के नाना प्रकार के कीर्तन हैं, तो भी उनमें प्रभु के नामों का कीर्तन करना ही मुख्य है। क्योंकि नाम कीर्तन में प्रेम सम्पत्ति जल्दी ही प्रकट कराने की सामर्थ्य है, इसलिये हमारे मत में कीर्तन ही सर्व श्रेष्ठ है॥ १५८॥

श्रीकृष्णनामामृतमात्महृद्यं
प्रेम्णा समास्वादनभङ्गिपूर्व्वम्।
यत् सेव्यते जिह्विकयाऽविरामं
तस्याऽतुलं जल्पतु च को महत्वं॥१५९

जो कोई अपनी रुचि अनुसार श्रीकृष्ण के अमृत सरीखे नामों का विविध प्रकार से आस्वादन करता हुआ प्रेम से जिह्वा द्वारा, निरन्तर कीर्तन करता है, उसकी अतुल महिमा है, उसको कोई भी वर्णन नहीं कर सकता है॥१५९॥

सर्व्वेषां भगवन्नाम्नां समानो महिमापि चेत्।
तथापि स्वप्रियेनाशु स्वार्थसिद्धिः सुखं भवेत्१६०

यद्यपि सब भगवद्नामों की महिमा बराबर है, तो भी अपने प्रिय उपास्य देव के नाम से जल्दी ही अभिष्ठ सिद्धी प्राप्त होकर सुख लाभ होता है॥ १६०॥

विचित्ररुचिलोकानां क्रमात् सर्व्वेषु नामसु।
प्रियतासम्भवात्तानि सर्व्वाणि स्युः प्रियाणि हि
॥१६१॥

[अब यह प्रश्न होता है कि भगवद् नामों में क्या कोई अप्रिय नाम भी है? उसका समाधान करते हुये कहते हैं:-] क्योंकि संसार में भिन्न भिन्न रुचि वाले पुरुष हैं, उनकी भिन्न भिन्न नामों अर्थात् श्रीराम, नरसिंह, वराह आदि में रुचि है, इसलिये उपासकों के भेद से प्रत्येक नाम में किसी न किसी की रुचि है, इसलिये भगवान् के सब ही नाम प्रिय हैं॥ १६१॥

एकस्मिन्निन्द्रिये प्रादुर्भूतं नामामृतं रसैः।
आप्लावयति सर्व्वाणीन्द्रियाणि मधुरैर्निजैः॥१६२

जबकि एकमात्र वाग् इन्द्रिय में नाम रूपी अमृत प्रकट होता है तो वह अपने मधुर रस से और सब इन्द्रियोंको भी प्लावित कर देता है॥१६२॥

मुख्यो वागिन्द्रिये तस्योदयः स्वपरहर्षदः ।

तत्प्रभोर्ध्यानतोऽपि स्यान्नामसंकीर्त्तनं वरं ॥१६३

नामसंकीर्त्तनं प्रोक्तं कृष्णस्य प्रेमसम्पदि ।

वलिष्ठं साधनं श्रेष्ठं परमाकर्षमन्त्रवत् ॥१६४॥

तदेव मन्यते भक्तेः फलं तद्रसिकैर्जनैः ।

भगवत्प्रेमसम्पत्तौ सदैवाव्यभिचारतः ॥१६५॥

सल्लक्षणं प्रेमभरस्य कृष्णे

कैश्चिद्रसज्ञै रुत कथ्यते तत् ।

प्रेम्णो भरेणैव निजेष्टनाम-

संकीर्त्तनं हि स्फुरति स्फुटार्त्या॥१६६॥

नाम्नान्तु संकीर्त्तनमार्त्तिभारा-

न्मेघं विना प्रावृषि चातकानां ।

रात्रौ वियोगात् कुररीरथाङ्गी-

वर्गस्य चाक्रोशनवत् प्रतीहि ॥१६७॥

विचित्रलीलारससागरस्य

प्रभोर्विचित्रात् स्फुरितात् प्रसादात् ।

विचित्रसंकीर्त्तनमाधुरी सा

न तु स्वयत्नादिति साधु सिद्ध्येत् १६८

इच्छावशात् पापमुपासकानां

क्षीयेत भोगोन्मुखमप्यमुष्मात् ।

प्रारब्धमात्रं भवतीतरेषां

कर्म्मावशिष्टं तदवश्यभोग्यं ॥१६९॥

महाशया ये हरिनामसेवकाः

सुगोप्यतद्भक्तिमहानिधेः स्वयं ।

इसलिये वाग् इन्द्रिय अर्थात् जिह्वा में नाम का प्रकट होना मुख्य है, क्योंकि यह नाम उच्चारण करने वाले तथा श्रवण करने वाले इन दोनों को हर्षित करता है इसी कारण से भगवान् के ध्यान से, उनका नाम संकीर्तन श्रेष्ठ है ॥१६३॥

श्रीकृष्ण की प्रेम रूप सम्पत्ति प्राप्ति के लिये नाम संकीर्तन ही बलवान तथा श्रेष्ठ साधन कहा जाता है, जो कि आकर्षण मन्त्र सरीखे श्रीकृष्ण को साधक की ओर खैंच लाता है ॥१६४॥

श्री नाम संकीर्तन के रसिक संकीर्तन को भक्ति के फल स्वरूप ही मानते हैं, क्योंकि भगवत् प्रेम सम्पत्ति प्रदान कराने में यह सर्वदा अमोघ है॥१६५

कोई-कोई रसिक जन यह कहते हैं, कि श्री कृष्ण के प्रेम पात्र होने का नाम संकीर्तन ही चिन्ह है, क्योंकि बड़ी उत्कण्ठा से अपने प्रभु का नाम प्रेम से ही लिया जा सकता है ॥१६६॥

जैसे कि वर्षा ऋतु में पपीहा, मेघों को नहीं देख कर आर्त स्वर से पीयू पीयू की रट लगाता रहता है, तथा रात्रि में चकवी अपने पति के वियोग से चिल्लाती रहती है, इसी प्रकार प्रभु में प्रेम होने से और उनका साक्षात्कार नहीं होने से, भक्त आर्त्त होकर, उनके नाम को बार-बार संकीर्तन करते हैं ॥१६७॥

भगवान् विचित्र लीलाओं के रस सागर स्वरूप हैं। इसलिये उनकी कृपा भी विविध प्रकार की है। उन नाना प्रकारकी कृपाओं से ही विविध प्रकार की कीर्तन माधुरी निष्पन्न होती है। भगवत् कीर्तन केवल अपने यत्न से भली प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है ॥१६८॥

भगवद् उपासकों के अपनी इच्छा से, नाम संकीर्तन करने से प्रारब्ध पाप भी नष्ट होजाते हैं। परन्तु दूसरों के, जो भगवद् उपासक नहीं हैं, और कभी-कभी कीर्तन करते हैं उनके इस कीर्तन के प्रभाव से केवल संचित पाप ही नष्ट होते हैं प्रारब्ध के पाप अवश्य भोगने पड़ते हैं ॥१६९॥

जो महात्मा भगवान् के नाम संकीर्तन परायण हैं। वह भक्ति रूपी महानिधि को छिपाने के

प्रकाशभीत्या व्यवहारभङ्गिभिः
स्वदोषदुःखान्यनुदर्शयन्ति ते ॥१७०॥

लिये, और इस भय से कभी यह प्रकाशन हो जाय, अपने व्यवहार तथा इंगितो से अपने दोष तथा दुखों को ही प्रकाश करते रहते हैं ॥१७०॥

तन्नामसंकीर्त्तनमात्रतोऽखिला-
भक्ता हरेः स्युर्हतदुःखदूषणाः।
केचित्तथापि प्रभुवत् कृपाकुला
लोकान् सदाचारमिमं प्रशासति ॥१७१
दुःसङ्गदोषं भरतादयो यथा
दुर्द्यूतदोषश्च युधिष्ठिरादयः।
ब्रह्मस्वभीतिश्च नृगादयोऽमलाः
प्रादर्शयन् स्वव्यवहारतो जनान् ॥१७२

यद्यपि भगवद् नाम संकीर्तन मात्र से ही समस्त भक्तों के दुख तथा दूषण नष्ट हो जाते हैं। तो भी कोई-कोई महात्मा जो कि भगवान् की तरह कृपालु हैं पुरुषों को सदाचार सिखाने के लिये अपने दुख तथा दूषणों को अपने से अलग नहीं करते हैं। बल्कि अपनी इच्छा से उनको रहने देते हैं। जैसे कि श्री भरत राजा ने पवित्र होने से भी दुस्संग दोष को अलग नहीं किया। इसी प्रकार श्री युधिष्ठिर महाराज आदि ने जो कि सर्वदा शुद्ध थे, तो भी द्यूत दोष को अपने साथ लगाए रक्खा, और राजा नृग आदि ने पवित्र होने से भी अपने व्यवहार से ब्राह्मण के द्रव्य को हरण करने के पाप से भय दिखलाया ॥१७१-१७२॥

भक्तिप्रभावेण विचारजातैः
सञ्जायमानेन सदेदृशैस्त्वं।
विघ्नातिविघ्नान् किल जेष्यसीह
सर्व्वत्र ते हन्त ! वयं सहायाः ॥१७३

हे गोपकुमार ! इस प्रकार के विचारों से जो तुम्हारी भक्ति भगवद् चरणारविन्द में होगी, उस से सर्वदा आप बड़े से बड़े विघ्नों को दूर कर सकोगे। हम लोग भी सब जगह आपके सहायक रहेंगे ॥ १७३ ॥

श्रीकृष्णचन्द्रस्य महानुकम्पा-
स्माभिः स्थिरा त्वय्यवधारितास्ति।
लीना न साक्षाद्भगवद्दिदृक्षा
त्वत्तस्तपोलोकनिवासिवाक्यैः ॥१७४॥

हम लोगों ने यह निश्चय किया है, कि श्रीकृष्ण की आपके प्रति बड़ी कृपा है। क्योंकि तपलोक निवासी श्री पिप्पलायनादि योगीन्द्रों के वाक्यों से भी, आपकी श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन करने की अभिलाषा नष्ट नहीं हुई ॥१७४॥

रूपं सत्यं खलु भगवतः सच्चिदानन्दसान्द्रं
योग्यैर्ग्राह्यं भवति करणैः सच्चिदानन्दरूपं।
मांसाक्षिभ्यां तदपि घटते तस्य कारुण्यशक्त्या।
सद्यो लब्ध्या तदुचितगतेर्दर्शनं स्वेहया वा १७५

यद्यपि यह बात सत्य है कि भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप का ग्रहण उनके अनुरूप सच्चिदानन्द इन्द्रियों द्वारा ही हो सकता है, तो भी भगवान् की कृपा शक्ति से प्राकृतिक चक्षु आदि इन्द्रियों से भी उनके स्वरूप का ग्रहण हो सकता है ॥ १७५॥

तद्दर्शने ज्ञानदृशैव जाय-
मानेऽपि पश्याम्यहमेष दृग्भ्यां।

यद्यपि किसी २ के मत में भगवान् के दर्शन ज्ञानदृष्टि से होते हैं. तो भी जब कि, हम लोग उनके दर्शन नेत्रों से करते हैं, तब हम को बड़ा आनन्द होता है, और हमारे मनमें श्रीकृष्ण की

मानो भवेत् कृष्ण-कृपा-प्रभाव-
विज्ञापको हर्षविशेष-वृद्धयौ॥१७६॥

कृपा के प्रभाव को जनाने वाला यह अभिमान होता है, कि हम उस भगवान् के जो कि अधोक्षज हैं, अपने नेत्रों द्वारा दर्शन कर रहे हैं ॥१७६॥

प्रभोः कृपापूरबलेन भक्तेः
प्रभावतो वा खलु दर्शनं स्यात्।
अतः परिच्छिन्नदृशापि सिद्धये-
न्निरन्तरं तन्मनसेव सम्यक् ॥१७७॥

[कोई-कोई यह कहते हैं, कि भगवान् का स्वरूप अपरिच्छिन्न होने से, परिच्छिन्न नेत्रों द्वारा सम्यग् प्रकार से उनके दर्शन नहीं हो सकते हैं। उसका उत्तर यह है:—] भगवान् के दर्शन उनकी कृपा के बल से, अथवा भक्ति के प्रभाव से ही हो सकते हैं, इसलिये नेत्र परिच्छिन्न होने से भी मन की तरह, उनको भी सम्यग् प्रकार से निरन्तर दर्शन हो सकते हैं ॥१७७॥

न चेत् कथञ्चिन्न मनस्यपि स्यात्
स्वयं प्रभस्येक्षणमीश्वरस्य।
घनं सुखं सञ्जनयेत् कथञ्चि-
दुपासितः सान्द्रसुखात्मकोऽसौ॥१७८॥

यदि भगवद् कृपा तथा भक्ति का अभाव है, तो मन से भी किसी प्रकार उनके दर्शन नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वह भगवान् स्वयं स्वप्रकाश, स्वतन्त्र तथा सबके नियन्ता हैं। वह भगवान् सच्चिदानन्द घन सुख स्वरूप हैं, इसलिये उनकी उपासना जिस प्रकार से भी की जाय, वह पूर्ण सुख को ही प्राप्त कराती है ॥१७

दृग्भ्यां प्रभोर्दर्शनतो हि सर्व्वत-
स्तत्तत्प्रसादावलिलब्धिरीक्ष्यते।
सर्व्वाधिकं सान्द्रसुखञ्च जायते
साध्यन्तदेव श्रवणादिभक्तितः ॥१७९॥

[कोई-कोई यह कहते हैं कि समाधि में ही भगवान् के दर्शन करके पूर्ण सुख की प्राप्ति होती है.] परन्तु हम यह कहते हैं कि यह सर्वत्र दिखाई पड़ता है, कि भगवान् के दर्शन साक्षात् नेत्रों द्वारा करने के पश्चात् ही भगवान् की विविध प्रकार की कृपा होती है, उनको समाधि सुख से भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है, और श्रवण आदि भक्ति का फल भी दर्शन ही है ॥१७९॥

सर्व्वेषां साधनानां तत्साक्षात्कारो हि सत्फलं।
तदैवामूलतो माया नश्येत् प्रेमापि वर्द्धते ॥१८०

सब साधनों का श्रेष्ठ फल भगवान् का साक्षात् दर्शन करना ही है। जिसके प्रभाव से माया जड़ से नष्ट हो जाती है और प्रेम बढ़ जाता है ॥१८०॥

कायाधवादेर्हृदि पश्यतोऽपि
प्रभुं सदाक्ष्णा किल तद्दिदृक्षा।
तत्र प्रमाणं हि तथावलोकना-
दनन्तरं भावविशेषलाभः ॥१८१॥

यद्यपि प्रह्लाद आदि सर्वदा हृदय में दर्शन करते थे तो भी उनकी नेत्रों से दर्शन करने की अभिलाषा रहती थी। इस में प्रमाण यह है:—कि प्रह्लादजी का समुद्र के किनारे पर भगवान् के साक्षात् दर्शन होने के पश्चात् ही, प्रेम अधिक बढ़ा था ॥१८१॥

कृष्णस्य साक्षादपि जायते यत्

केषाश्चिदक्षिद्वयमीलनादि ।

ध्यानं न तत् किन्तु मुदां भरेण

कम्पादिवत् प्रेम-विकार एषः ॥१८२॥

कोई-कोई यह कहते हैं, कि भगवान् के समीप में भी किसी-किसी भक्त के नेत्र बन्द हो जाते हैं, इसलिये यह ध्यान ही है। उसका उत्तर यह है:— कि यह ध्यान नहीं है, बल्कि आनन्द के भार से नेत्र बन्द होजाते हैं। यह तो एक प्रकार का अष्ट सात्विक कम्पादि की तरह प्रेम का ही विकार है ॥ १८२ ॥

ध्यानं परोक्षे युज्येत न तु साक्षान्महाप्रभोः ।

अपरोक्षे परोक्षेऽपि युक्तं संकीर्त्तनं सदा ॥१८३

ध्यान केवल भगवान् के परोक्ष में ही होता है, उनके साक्षात् विद्यमान होने से, नहीं हो सकता है। परन्तु, संकीर्तन उनके परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनों अवस्थाओं में हो सकता है ॥१८३॥

श्रीमन्नाम प्रभोस्तस्य श्रीमूर्त्तेरप्यतिप्रियं ।

जगद्धितं सुखोपास्यं सरसं तत् समं न हि॥१८४

श्री नाम भगवान् को अपने श्री दिव्यमङ्गल विग्रह से भी अधिक प्रिय है, क्योंकि उससे ही समस्त जगत का हित होता है, उसकी सहज ही उपासना हो सकती है और इसके बराबर सरस भी और कोई वस्तु नहीं है ॥१८४॥

तन्मानयञ्छिवस्याज्ञामितो निःसर सत्वरं ।

कृष्णप्रियतमां श्रीमन्मथुरां त्वां नमाम तां॥१८५

इसलिये आप शिवजी महाराज की आज्ञा का पालन करते हुये, यहां से जल्दी ही उस श्रीमथुरा पुरी को चले जाएं, जोकि श्रीकृष्ण को बड़ी प्यारी है, जिसको हम लोग भी नमस्कार करते हैं ॥१८५॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

निपीय हृत्कर्णरसायनं तत्

प्रमोदभारेण भृतो नमंस्तान् ।

शिवौ च सद्यो ब्रजभूमिमेतां

तैः प्रापितोऽहं वत! मुग्धबुद्धिः ॥१८६॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! जब कि मैंने उन वैकुण्ठ पार्षदों के सकाश से उस उपदेश को सुना, जोकि हृदय तथा कानों को आनन्द देने वाला था, तब मैं बड़ा आनन्दित हुआ। मैंने उन पार्षदों को तथा श्री पार्वतीजी के सहित श्री शिवजी को प्रणाम किया, जिन्होंने कि जल्दी ही मुझको इस ब्रजभूमि में पहुँचा दिया। मैं किस तरह से यहां आया, यह मुझको मालूम भी नहीं हुआ ॥१८६॥

इति श्रीवृहद्भागवतामृते श्रीगोलोक-
माहात्म्यखण्डे भजननामा
तृतीयोऽध्यायः ।

इस श्रीवृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के
श्री गोलोक माहात्म्य नामक खण्ड में
"भजन" नामक तीसरा अध्यायः
समाप्त हुआ ॥

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः *

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय-खण्डम् ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीगोपकुमार उवाच ।

एकाकिनात्र भ्रमता मयाऽस्या

भूमेः श्रियं कुत्रचिदप्यदृष्टां ।

संपश्यता संवसता वनान्तः

सर्व्वं विमोहादिव विस्मृतं तत् ॥१॥

श्रीगोपकुमार बोले । हे ब्राह्मण ! जब कि मैं इस वृन्दाबन में अकेला इधर-उधर घूमने लगा, तो मैंने इस भूमि की यह शोभा देखी जोकि समस्त ब्रह्माण्ड के भीतर बाहर कहीं भी नहीं देखी थी। तब मैं इस बन में बसने लगा। इस भूमि ने मुझको इतना मोह लिया, कि मैं श्री वैकुण्ठ आदि जाने की समस्त बातों को भूल सा गया ॥१॥

श्रीमन्मधुपुरीं क्रीड़ाभ्रमणक्रमतो गतः ।

तत्र माथुरविप्रेभ्योऽश्रौषं भागवतादिकं ॥२॥

इस प्रकार खेलते-खेलते, मैं मथुरापुरी पहुँचा, वहाँ श्री माथुर ब्राह्मणों से श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों को श्रवण किया ॥२॥

भक्तिं नवविधां सम्यक् ज्ञात्वेदं वनमागतः ।

अपश्यं सहसैवात्र श्रीमद्गुरुवरं निजं ॥३॥

पूर्व्ववद्राजमानोऽसौ दृष्ट्वा मां प्रणतं मुदा ।

साशीर्व्वादं समालिङ्ग्य सर्व्वज्ञोऽकृपयत्तरां ॥४॥

जिससे मुझको नवधा भक्ति का भली प्रकार से ज्ञान होगया। फिर मैं पुनः इसी बन में आ गया। जहाँ कि मैंने, अकस्मात् अपने श्री गुरुदेव जी के दर्शन किये। जिनके अंगों का चमत्कार पूर्ववत् था। ज्योंही मैंने, उनको प्रणाम किया त्योंही उन सर्वज्ञ ने, आनन्द से मेरा आलिङ्गन करके मुझको आशीर्वाद दिया और मुझ पर बड़ी कृपा की ॥३-४॥

तस्य प्रसादमासाद्य महागूढप्रकाशकं ।

अन्वतिष्ठं यथादिष्टं भक्तियोगमनारतं ॥५॥

जिस कृपाके प्रभाव से मनुष्य गूढ़ से गूढ़ तत्व को जान सकता है। मैं उनकी आज्ञा के अनुसार भक्ति योग का निरन्तर अनुष्ठान करने लगा ॥५॥

सञ्जातेनाचिरात् प्रेमपूरेण विवशोऽभवं ।

न कर्त्तुमशकं किञ्चित् परं तं समकीर्त्तयं ॥६॥

जिसके प्रभाव से मैं जल्दी ही प्रेम से परिपूर्ण होकर, विवश होगया। उस समय, मैं श्रीकृष्ण कीर्तन के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं कर सकता था। मैंने केवल उन्हीं के नामों की रट इस प्रकार लगा दी थी.-॥६॥

श्रीकृष्ण ! गोपाल ! हरे ! मुकुन्द !
गोविन्द ! हे नन्दकिशोर ! कृष्ण ! ।
हा श्रीयशोदातनय ! प्रसीद
श्रीवल्लवीजीवन ! राधिकेश !! ७ ॥

एवं सगानं बहुधाह्वयंस्तं
क्षणं प्रनृत्यन् क्षणमुद्रुदंश्च ।
उन्मत्तवत् काममितस्ततोऽहं
भ्रमामि देहादिकमस्मरन् स्वं ॥८॥

एकदा तं निजप्राणनाथं पश्यन्निवाग्रतः ।
धर्त्तुं धावन् गतो मोहं न्यपतं प्रेम-विह्वलः॥९॥

तावत्तैः पार्षदैरेत्य वैकुण्ठं नेतुमात्मनः ।
यानमारोपितः सद्यो व्युत्थायाचालयं दृशौ॥१०॥

सर्व्वमन्यादृशं दृष्ट्वा विस्मितः स्वस्थतां गतः ।
पार्श्वेऽश्यं पुरा दृष्टांस्तानेवात्मप्रियङ्करान् ॥११॥

महातेजस्विनां तेजो मुष्णतोऽनुपमं वरम् ।
विमानं योग्यमारूढाननिरूप्यं सुरूपवत् ॥१२॥

सम्भ्रमात् प्रणमन्तं मामाश्लिष्याश्वासयन्मुहुः ।
ऐच्छन् स्वसदृशं रूपं दातुं युक्तिशतेन ते॥१३॥

तदस्वीकृत्य तु स्वीयं गोवर्द्धनभवं वपुः ।
तेषां प्रभावतस्तादृग्गुणरूपाद्यलम्भयम् ॥१४॥

परमानन्दयुक्तेन दुर्व्वितर्क्येण वर्त्मना ।

श्रीकृष्ण ! गोपाल ! हरे ! मुकन्द !
गोविन्द ! हे नन्द किशोर ! कृष्ण !
हा श्रीयशोदातनय ! प्रसीद,
श्रीवल्लवीजीवन ! राधिकेश ! ॥ ७ ॥

इस प्रकार के नामों से मैं श्रीकृष्ण को बार बार पुकारता हुआ, कभी तो नाचने, कभी रोने, और कभी उन्मत्त की तरह इधर उधर घूमता हुआ अपनी देह की सुधि को भूल जाता था ॥८॥

एक दिन मुझको अपने प्राणनाथ श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन करने का भान हुआ। ज्यों ही उनको पकड़ने के लिये मैं भागा, त्यों ही प्रेम से मूर्छित होकर गिर पड़ा ॥ ९ ॥

उस समय वैकुण्ठ के पार्षदों ने वहाँ आकर मुझको वैकुण्ठ ले जाने के लिये अपने विमान पर चढ़ा लिया, तब मैं सचेत होकर इधर उधर देखने लगा, तो मुझको सब वस्तुऐं नई सरीखी दिखाई पड़ीं। जिससे मैं एक क्षण के लिये तो चकित सा हो गया, परन्तु कुछ देरबाद मैं स्वस्थ हुआ, तो क्या देखता हूँ, कि वही मेरे हितैषी श्रीवैकुण्ठ के पार्षद, जोकि मैंने पहले मुक्तिलोक में देखे थे, मेरे समीप उपस्थित हैं, जिनके श्री अङ्गों की शोभा की कान्ति से श्रीसूर्यनारायण का तेज भी फीका प्रतीत होता है। वह अपने स्वरूप के अनुरूप बहुत ही सुन्दर विमान में आरूढ़ हैं, जिनको देख कर नेत्र चकाचौंध हो जाते हैं ॥ १० । ११ । १२ ॥

ज्यों ही कि मैंने, उनको सम्भ्रम से प्रणाम किया, त्यों ही उन्होंने मुझको आलिङ्गन कर के बहुत प्रकार से आश्वासन दिया और मुझको सैंकड़ों बार बहुत युक्तियों द्वारा यह कहा कि हम आपको अपने सरीखा चतुर्भुज स्वरूप प्रदान करना चाहते हैं। जिसको मैंने स्वीकार नहीं किया। परन्तु उनके प्रभाव से मेरे गोवर्धन जन्मी इस देह में ही पार्षदों के समान रूप गुण आदि प्रकट हो गये ॥ १३ । १४ ॥

तब मैंने यह देखा, कि मैं उन पार्षदों के साथ

जगद्विलक्षणेनाहं वैकुण्ठं तैः सह व्रजन् ॥१५॥

तेषु लोकेष्वलोकेष्वावरणेष्वपि सर्व्वतः ।

दृष्टिपातेऽपि लज्जेयं पूज्ये तदधिकारिभिः ॥१६॥

लोकपालादिभिश्चोद्र्ध्वमुखैः साञ्जलिमस्तकैः ।

वेगादुत्क्षिप्यमाणाभिः पुष्पलाजादिवृष्टिभिः ॥१७

तैस्तूयमानो जयशब्दपूर्व्वकं

प्रणम्यमानश्च पदे पदे चलन् ।

तुच्छं पुरो मुक्तिपदञ्च लोचय-

न्नूद्र्ध्वं ततः श्रीशिवलोकमव्रजं ॥१८

सोमं शिवं तत्र मुदा प्रणम्य

तेनादरप्रेमसदुक्तिजालैः ।

आनन्दितो वाक्यमनोदुराप-

माहात्म्यमालं तमगां विकुण्ठं ॥१६

पार्षदैरिदमुक्तोऽहं त्वं तिष्ठेह क्षणं बहिः ।

विज्ञाप्य प्रभुमस्माभिः पुरीं यावत् प्रवेक्ष्यसे ॥२०

अत्रादृष्टाश्रुताश्चर्य्यसमुद्रोर्म्मिपरस्परां ।

भगवद्भक्तिदीप्ताभ्यां नेत्राभ्यां गणय स्थिरः ॥२१

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तेषु चान्तः प्रविष्टेषु द्वारप्रान्ते बहिःस्थितः ।

परमानन्द तथा जगद्विलक्षण मार्ग से श्रीवैकुण्ठ जा रहा हूँ, जिसकी महिमा दुर्वितर्क्य है ॥ १५ ॥

उस समय मार्ग चलते हुए मैं १४ लोकों, अलोकों, तथा अष्ट आवरणोंमेंसे होता हुआ जारहा था, क्यों कि यह सब लोक नश्वर थे; इसलिये मुझको इनकी ओर आँख उठाकर देखने में भी लज्जा आती थी। मैं जहाँ कहीं जाता था तत् तत् अधिकारी, इन्द्रादिक लोक पाल ऊपर की ओर मुख करके, हाथों को जोड़ कर अपने अपने मस्तकों पर रखकर, अपनी अञ्जलियों में से पुष्प तथा खील आदि की वृष्टि करते हुये मेरी पूजा करते थे। और जय जय शब्दों से बारबार अभिवादन करते हुये मेरी स्तुति करते थे। इस प्रकार प्रपञ्च के सब लोकों को अतिक्रम करके मैंने अपने सामने उस मुक्ति पद को देखा, जिसको भक्त तुच्छ समझ कर ग्रहण नहीं करते हैं, उससे पार होकर और ऊपर चढ़ कर, मैं श्रीशिवलोक पहुँचा ॥ १६ । १७ । १८ ॥

वहाँ जाकर मैंने श्री पार्वती के सहित श्रीशिव जी महाराज को आनन्द से प्रणाम किया, जिन्होंने आदर तथा प्रेमसे अपने उपदेशों से मुझको प्रसन्न किया। इसके पश्चात् मैं उस वैकुण्ठ में पहुँचा, जिसकी विविध प्रकार की महिमा मनवाणी से अगोचर है ॥ १६ ॥

तब वहाँ पार्षदों ने मुझको इस प्रकार से कहा "आप क्षण काल के लिये द्वार पर ही ठहरिए, जब तक हम आपको पुरी में प्रवेश कराने के लिये अपने प्रभु से आज्ञा ले आते हैं। आप शान्तचित्त होकर अपने भक्ति युक्त नेत्रों से (पार्षदों की) अद्भुत महिमा का अनुभव कीजिए, जोकि आज पर्यन्त न तो आपने कभी सुनी है न ही देखी है२०।२१

श्री गोपकुमार बोले।

तब वह पार्षद तो अन्तःपुर में चलेगये और मैं दरवाजे के बाहिर एक ओर स्थित रह कर यह देखने लगा, कि कोई एक दूसरी जगह से आकर पुरी में प्रवेश कर रहे हैं, जोकि इस प्रकार के

अपश्यमेकमायान्तं प्रविशन्तञ्च तां पुरीं ॥२२॥

ब्रह्माण्डशतभूत्याढ्यसद्यानारूढमद्भुतैः।

गीतादिभिर्मुदाविष्टं कान्त्याद्यैः सदृशं प्रभोः॥२३

तं मत्वा श्रीहरिं नाथ पाहीति मुहुरालपन्।

नमन् कर्णौ पिधायाहं संज्ञयानेन वारितः॥२४॥

दासोऽस्मि दासदासोऽस्मी
त्युक्त्वा तस्मिन् गतेऽन्तरम्।
अन्यः कोऽप्यागतोऽमुष्मा-
न्महीयान् वैभवादिभिः ॥ २५ ॥

तं दृष्ट्वा सर्व्वथामंसि जगदीशमहं पुरीं।

प्रविशन्तं निजामेत्य गत्वा कुत्रापि लीलया॥२६

सम्भ्रमैः प्रणमन्तं मां पूर्व्ववत् स्तुतिपूर्व्वकं।

दृष्ट्वा सोऽपि तथैवोक्त्वा सस्नेहं प्राविशत्पुरीं॥२७

केऽप्येकशो द्वन्द्वशोऽन्ये युगपद्बहुशोऽपरे।

पूर्व्वपूर्व्वाधिकश्रीकाः प्रविशन्ति पुरीं प्रभोः॥२८

तांश्चपश्यन् पुरेवाहं मज्जन् सम्भ्रमसागरे।

नमन् स्तुवन् निवार्य्ये तैः स्निग्धवागमृतैस्तथा॥२९

तेषु स्वसेवासामग्रीं गृहीत्वा केऽपि कामपि।

धावन्ति पुरतः केचिन्मत्ता भक्तिसुधारसैः॥३०॥

अद्भुत विमानों में बैठे हुये हैं, जिनकी विभूतियाँ सैकड़ों ब्रह्माण्डों की विभूतियों से अधिक हैं, जो गीत वाद्य आदि से आनन्दित हो रहे हैं, और जिनकी कान्ति आदि से ऐसा प्रतीत होता है, मानों साक्षात् यह प्रभु ही हैं ॥ २२ । २३ ॥

मैंने, उनके दर्शन करके, उनको साक्षात् भगवान् ही समझा, और बार बार यह कह कर प्रणाम किया "हे नाथ ! रक्षा कीजिए" तब उन्होंने अपने कानों को बन्द करके इङ्गित से मुझको ऐसा कहने से रोक दिया और वह यह कहने लगे, "मैं तो उनका दास ही नहीं, बल्कि दासोंका दास हूँ।" इस प्रकार कहकर वह अन्तःपुर में चले गये। इसके पश्चात् दूसरे पधारे जिनकी महिमा तथा ठाट बाट इनसे भी अधिक था ॥ २४ । २५ ॥

उनको देख कर मैंने यह समझा, कि यही निश्चय जगदीश्वर हैं और यह अपनी इच्छा से कहीं दूसरी जगह गये थे। अब लौट कर अपनी पुरी में प्रवेश कर रहे हैं ॥ २६ ॥

जब कि सम्भ्रम से, मैंने उनको स्तुति पूर्वक प्रणाम किया, तब उन्होंने भी पहले की तरह स्नेह से मुझको समझाया। इसके अनन्तर वह भी पुरी में चले गये ॥ २७ ॥

इसी प्रकार मैंने बहुतों के दर्शन किये। कोई कोई तो अकेले जा रहे थे। कोई कोई दो दो मिल कर, कोई कोई बहुतों को साथ लेकर, पुरी में प्रवेश कर रहे थे। जिनकी विभूतियाँ तथा ठाटबाट एक दूसरे से अधिक से अधिक थीं ॥ २८ ॥

इनको देख कर मैं पहले की तरह सम्भ्रम रूपी सागर में डूब गया, और उनकी स्तुति प्रणाम करने लगा। तब उन्होंने भी अमृत सरीखे वचनों से मुझको रोक दिया ॥ २९ ॥

उनमें से कोई कोई सेवा सामग्री अर्थात् छत्र चमर आदि को लेकर, कोइ कोई भक्ति रूपी अमृत से मत्त होकर जल्दी से भगवान् के समीप जा रहे थे ॥ ३० ॥

एवमात्मात्मसेवासु व्यग्रान्तःकरणेन्द्रियाः ।
विचित्रभजनानन्दविनोदभरभूषिताः ॥३१॥

इस प्रकार इन लोगों का, अपनी-अपनी सेवा में अन्तःकरण तथा इन्द्रियाँ लगी हुई थीं, जोकि विविध प्रकार के सेवा आनन्द से भूषित थीं ॥३१॥

भूषाभूषणसर्व्वाङ्गा निजप्रभुवरोचिताः ।
प्रणमन्तस्तुवन्तश्च कुर्व्वाणाश्चित्रमीहितं ॥३२॥

जिनके अंग प्रति अंग भगवान् के सदृश होने से, भूषणों को भी भूषित करने वाले थे। वह लोग अपने प्रभु को प्रणाम तथा स्तुति कर रहे थे, और विविध प्रकार के गीत आदि से उनकी सेवा में लगे हुये थे ॥३२॥

वितन्वनो महालीलाकौतुकं चक्रवर्त्तिवत् ।
लक्ष्मीपतेर्भगवतश्चरणाब्जदिदृक्षवः ॥३३॥

चक्रवर्ती राजा की तरह जो अपनी विविध प्रकार की विभूतियों का विस्तार कर रहे थे। वह श्री लक्ष्मीनाथ भगवान् के चरणारविन्दों के दर्शन करने में उत्कण्ठित हो रहे थे ॥३३॥

केचित् सपरिवारास्ते केचिच्च सपरिच्छदाः ।
केचिद्बहिर्धृतस्वीयपरिवारपरिच्छदाः ॥३४॥

इन में से कोई-कोई तो अपने कुटुम्ब सहित जा रहे थे और कोई-कोई छत्र चमर आदि सब विभूतियों को साथ लेकर पधार रहे थे। और कोई-कोई अपने परिवार तथा विभूतियों को बाहर छोड़ कर भीतर प्रवेश कर रहे थे ॥३४॥

स्वस्मिन्नेव विलाप्यैके कृत्स्नं परिकरं निजं ।
अकिञ्चना इवैकाकि तया ध्यानरसाप्लुताः ॥३५

कोई-कोई अपने समस्त परिवार तथा विभूतियों को अपने में ही लीन करके, अकेले अकिञ्चन की तरह ध्यान आविष्ट होकर जा रहे थे ॥३५॥

केचिद्विचित्ररूपाणि धृत्वा धृत्वा मुहुर्मुहुः ।
विचित्रभूषणाकारविहाराढ्या मनोहराः ॥३६॥

कोई-कोई अनेक प्रकार के विचित्र विचित्र मनोहर रूप, बार-बार धारण करते हुए और विचित्र प्रकार के भूषण आदि से भूषित होकर जा रहे थे ॥३६॥

केचिन्नरा वानराश्च
देवा दैत्यास्तथार्षयः ।
परे वर्णाश्रमाचार-
दीक्षालक्षणधारिणः ॥३७॥

किसी किसी का मनुष्यों के सदृश, किसी का वानरों जैसा, किसी का देवताओं सरीखा, किसी का दैत्यों जैसा, और किसी का ऋषियों की तरह आकार था। किसी-किसी के चिन्हों से वर्णाश्रमी, किसी-किसी के चिन्हों से दीक्षित की तरह वह लोग प्रतीत होते थे ॥३७॥

इन्द्रचन्द्रादिसदृशास्त्रिनेत्राश्चतुराननाः ।
चतुर्भुजाः सहस्रास्याः केचिदष्टभुजास्तथा ॥३८॥

उनमें से किसी-किसी के इन्द्र चन्द्रादि लक्षण थे। कोई तीन नेत्र का था और कोई चार मुँह का था, किसी-किसी के चार भुजा थीं किसी-किसी के आठ थीं किसी के हज़ारों मुख थे॥३८॥

एतत् परमवैचित्री-
हेतुं वक्ष्यामि तेऽग्रतः ।

इनकी विविध प्रकार की आकृतियाँ तथा वेष भूषण थे। इन सब बातों के कारण आगे चल कर

कृष्णभक्तिरसास्वाद-

वतां किं स्यान्न सुन्दरं ॥३९॥

मैं विस्तार पूर्वक आपसे कहूँगा। क्योंकि यह सब लोग श्रीकृष्ण के भक्ति रूपी रस में पगे हुए थे, इसलिये जिस किसी भी आकृति, वेष, भूषण आदि को यह धारण किये हुये थे, सब ही सुन्दर थे ॥ ३९ ॥

सर्व्वप्रपञ्चातीतानां तेषां वैकुण्ठवासिनां ।
तस्य वैकुण्ठलोकस्य तस्य तन्नायकस्य च ॥४०॥
तानि माहात्म्यजातानि प्रपञ्चान्तर्गतैः किल ।
दृष्टान्तैर्नोपयुज्यन्ते न शक्यन्ते च भाषितुं ॥४१॥

यह वैकुण्ठ वासी इस प्रपञ्च से अतीत है; इसलिये इनके, वैकुण्ठलोक तथा श्रीवैकुण्ठनाथ की, अपार महिमा को कौन वर्णन कर सकता है? और इस प्रपञ्च के पदार्थों के दृष्टान्तों से उनकी उपमा कैसे दी जासकती है? ॥४०-४१॥

तथापि भवतो ब्रह्मन्! प्रपञ्चान्तर्गतस्य हि ।
प्रपञ्चपरिवारान्तर्दृष्टिगर्भितचेतसः ॥४२॥
तद्दृष्टान्तकुलेनैव तत्तत् स्यात् वोधितं सुखं ।
तथेत्युच्येत यत् किञ्चित् तदागः क्षमतां हरिः४३

हे ब्राह्मण! क्योंकि आप इस प्रपञ्च के अन्तर्गत ही हैं और आपकी दृष्टि तथा मन इन संसारिक पदार्थों में ही है। इसलिये आपको इस जगत के दृष्टान्तों से ही समझाने में सुविधा होगी, इस हेतु से मैं, आपको संसारिक दृष्टान्तों से समझाने का प्रयत्न करता हूँ। इसमें जो कुछ अपराध होगा उसको श्री हरि क्षमा करेंगे ॥४२-४३॥

तत्रत्यानाञ्च सर्व्वेषां तेषां साम्यं परस्परं ।
तारतम्यञ्च लक्ष्येत न विरोधस्तथापि च॥४४॥

यद्यपि वहाँ रहने वालों में कुछ परस्पर तारतम्य सा प्रतीत होता है, तो भी महिमा अंश में वह सब लोग समान हैं, और उनमें किसी प्रकार का विरोध अंश नही है ॥४४॥

न मात्सर्य्यादयो दोषाः सन्ति कस्यापि तेषु हि ।
गुणाः स्वाभाविका भान्ति नित्याःसत्याः सहस्रशः
॥४५॥

उन में किसी के भी मत्सरता आदि दोष नहीं हैं। बल्कि उनमें स्वाभाविक नित्य तथा सत्य हज़ारों गुणों की राशियाँ हैं ॥४५॥

प्रपञ्चान्तर्गता भोगपरा विषयिणो यथा ।
वहिर्दृष्ट्या तथेक्ष्यन्ते ते हि मुक्तार्च्चिताङ्घ्रयः॥४६

यद्यपि वह वैकुण्ठ निवासी वहिर्दृष्टि से संसारिक, भोगी पुरुषों के सदृश विषय आसक्त प्रतीत होते है, तो भी उनके चरणारविन्दों को मुक्त पुरुष पूजते हैं ॥४६॥

ते निर्व्विकारताप्रान्तसीमां प्राप्ताश्च तन्वते ।
विकाराल्लीलया चित्रान् प्रभुलीलानुसारिणः॥४७

यद्यपि वहाँ रहने वाले निर्विकारता की चरम सीमा को प्राप्त कर चुके हैं, तो भी अपने प्रभु की लीला समाधान करने के लिये, अपनी इच्छा से वह विविध प्रकार के स्वरूप धारण कर लेते हैं॥४७

अतस्तेऽन्योन्यमेकत्वं गता अपि पृथग्विधाः ।
तत्स्थानं स विमानौघस्तत्रत्यं सर्व्वमीदृशं॥४८॥

इस लिये तत्वांश से वह सब एक होकर भी पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ते हैं और इसी प्रकार से उनके तत् तत् स्थान, विमान तथा वहाँ के अन्य अन्य पदार्थ हैं ॥४८॥

कदाचित् स्वर्णरत्नादिमयं तत्तत् प्रतीयते ।
कदाचिच्च घनीभूतचन्द्रज्योत्स्नेव कक्खटी ॥४६॥

कथञ्चित्तत्प्रभावेण विज्ञातं स्यान्न चान्यथा ।
ग्रहीतुं किल तद्रूपं मनसापि न शक्यते ॥५०॥

न कश्चित् प्रभवेद्बोद्धुं सम्यक् स्वानुभवं विना ।
एतन्मात्रं हि शक्येत निरूपयितुमञ्जसा ॥५१॥

तेषु वै दृश्यमानेषु तद्ब्रह्मानुभवे सुखम् ।
गच्छत् सुतुच्छतां सद्यो ह्रियेव विरमेत् स्वयं॥५२॥

स्वारामाः पूर्णकामा ये सर्व्वापेक्षाविवर्जिताः ।
ज्ञातं प्राप्तं निजं कृत्स्नं त्यक्त्वा वैष्णवसङ्गतः ५३

सारासारविचाराप्त्या भक्ति-मार्गं विशन्ति यत् ।
तद्धेतुस्तत्र यातेनानुभूतो दार्ढ्यतो मया ॥५४॥

गच्छदागच्छतोऽहं तान् पश्यन्निदमचिन्तयम् ।
ईदृशाः सेवका यस्य स प्रभुर्नाम कीदृशः ॥५५॥

इत्थं हर्षप्रहर्षेणोत्तिष्ठन्नुपविशन् भृशम् ।
गोपुरे वर्त्तमानोऽहं तैर्जवेनैत्य पार्षदैः ॥५६॥

अन्तःप्रवेश्यमानो यत् दृष्टवानद्भूताद्भूतम् ।
वक्तुं तद्द्विपरार्द्धेन सहस्रास्योऽपि न क्षमः॥५७

कभी कभी यह सब पदार्थ स्वर्ण तथा रत्नादि से बने हुये, और कभी कभी चन्द्रमा की घनी भूत ज्योति की तरह प्रतीत होते हैं। वहाँ का कुछ तत्व तथा स्वरूप केवल श्रीवैकुण्ठ नाथ की कृपा से ही जाना जा सकता है और कोई उपाय नहीं है। क्योंकि उनके स्वरूपों का मन से भी ग्रहण नहीं हो सकता है ॥ ४६ । ५० ॥

अपने स्वयं अनुभव के अतिरिक्त, उस वैकुण्ठ के वैभव आदि का ज्ञान, भली प्रकार से गुरु मुख से सुनने से भी नहीं हो सकता है। केवल इतना ही कह सकते हैं कि श्री वैकुण्ठ तथा वैकुण्ठ सम्बन्धी पदार्थों के दर्शन करने से ब्रह्मानन्द सुख भी, उसी क्षण में तुच्छ हो कर स्वयं मानों लज्जा से अन्तर्धान हो जाता है ॥५१ ५२॥

आत्माराम, पूर्णकाम तथा जिसकी सब अभिलाषाएं निवृत्त हो गई हैं, वह लोग भी ब्रह्म सुख का अनुभव कर के, तथा उस सुखको प्राप्त होकर भी, वैष्णवों के संग से सार असार जान कर क्यों ब्रह्म सुखको त्याग कर भक्तिमार्ग में प्रवेश करते हैं? मैंने इस बात को कारण स्वयं वैकुण्ठ में जाकर ही भली प्रकार अनुभव किया है। ५३ । ५४ ॥

जब मैंने आते जाते हुए उन वैकुण्ठ निवासियों के दर्शन किये। तब मैं, अपने मनमें यह बिचार करने लगा। जब कि उनके सेवक लोग ही इस प्रकार के वैभव शाली हैं, तो मालूम नहीं इनके प्रभु किस प्रकार ऐश्वर्य सम्पन्न होंगे ॥ ५५ ॥

इस प्रकार जब मैं आनन्द से कभी बैठता था, कभी उठता था, तब उन पार्षदों ने, जोकि मुझको दरवाजे से बाहर बिठला गये थे, वहाँ आकर मुझको उस पुरी में प्रवेश कराया। वहाँ जो मैंने, अद्भुत वैभव आदि का दर्शन किया, उसको मैं तो क्या बल्कि श्रीशेष भगवान् भी अपने सहस्र मुख से यदि श्रीब्रह्मा जी की आयु पर्यन्त कहते रहें तो भी पार नहीं पा सकते हैं ॥ ५६ । ५७ ॥

द्वारे द्वारे द्वारपालास्तादृशा एव मां गतम् ।
प्रवेशयन्ति विज्ञाप्य विज्ञाप्यैव निजाधिपं ॥५८॥

प्रतिद्वारान्तरे गत्वा गत्वा तत् प्रतिहारिभिः ।
प्रणम्यमानो यो यो ही तत्प्रदेशाधिकारवान् ॥५९

दृश्यते स स मन्येत जगदीशो मया किल ।
पूर्व्ववत् सम्भ्रमावेशात् नम्यते स्तूयते मुहुः ॥६०

अथ तैः पार्षदैः स्निग्धैरसाधारणलक्षणम् ।
प्रभोर्विज्ञापितोऽहश्च शिक्षितं स्तवनादिकं ॥६१

महामहाचित्रविचित्रगेह-
द्वारप्रदेशानतिगम्य वेगात् ।
श्रीमन्महल्लप्रवरस्य मध्ये-
प्रासादवर्गैः परिषेविताङ्घ्रिं ॥६२॥
प्रासादमेकं विविधैर्महत्ता-
पूरैर्विशिष्टं परसीमयातैः ।
प्राप्तोऽहमादित्यसुधांशुकोटि-
कान्ति मनोलौचन-वृत्तिचोरम् ॥६३
तदन्तरे रत्नवरावलीलसत्-
सुवर्णसिंहासनराजमूर्द्धनि ।
सुजातकान्तामलहंसतूलिको-
परि प्रसन्नाकृशचन्द्रसुन्दरं ॥६४॥
मृदूपधानं निजवामकक्ष-
कफोणिनाक्रम्य सुखोपविष्टम् ।
वैकुन्ठनाथं भगवन्तमारा-
दपश्यमग्रे नवयौवनेशम् ॥६५॥
सौन्दर्य्यमाधुर्य्यमयाङ्ग-कान्त्या
नूत्नाम्बुद-श्रीहरया स्फुरन्त्या ।

उस वैकुण्ठ का हर एक द्वार, उन पार्षदों सरीखे द्वारपालों से सुरक्षित था, वह लोग जब मुझको एक द्वार से दूसरे द्वार को ले जाते थे, तब उन द्वार पालों के अधिपतियों की आज्ञा लेकर मुझको भीतर प्रवेश कराते थे ॥ ५८ ॥

मैं जब एक द्वार से दूसरे द्वार को जाता था, तब मैं उन द्वारपालों के अधिपतियों को प्रणाम कर के यह विचार करता था, कि यही जगदीश्वर हैं और पहले की तरह सम्भ्रम से जब मैं उनको बार-बार स्तुति प्रणाम करता था, तब वह दयालु पार्षद जोकि मेरे साथ जा रहे थे, मुझसे प्रभु के असाधारण लक्षण बर्णन करते थे और उनकी स्तुति करने की रीति, मुझको सिखलाते थे ॥ ५९ । ६० । ६१ ॥

मैं इस प्रकार बड़े-बड़े चित्र विचित्र द्वारों को अतिक्रमण करता हुआ, जल्दी ही उस पुरी के मध्य विभाग में पहुँचा, जिसके बीच में एक सुन्दर महल है, जिसको सुन्दर-सुन्दर महलों ने चारों ओर से घेर रक्खा है। उस मध्यस्थ महल की विवध प्रकार की महिमा को, कोई भी वर्णन नहीं कर सकता है। जिसकी कान्ति करोड़ों सूर्य तथा चन्द्रमाओं के समान है और जिसकी सुन्दरता मन तथा नेत्रों को हरलेती है। उस महल के बीच में एक सुन्दर सुवर्ण का सिंहासन है, जोकि विविध प्रकार के श्रेष्ठ रत्नों से जटित है। उस सिंहासन पर सुन्दर निर्मल हँस के सदृश श्वेत तथा कोमल एक गद्दी, बिछी हुई है, जिस पर कोमल सुफैद एक मसनद है, जिसको देख कर मानों पूर्णिमा का निर्मल चन्द्रमा भी लज्जा को प्राप्त हो जाता है। वहाँ श्रीवैकुण्ठ नाथ भगवान जिनकी नव यौवन अवस्था है, अपने बायें हाथ की कोहनी को उस मसनद पर रख कर, आनन्द से विराजमान हैं ॥ ६२ । ६३ । ६४ । ६५ ॥

जिनके अङ्गोंकी सुन्दरता तथा मधुरिमा नवीन मेघ की कान्ति को तिरस्कार करने वाली है, जो विविध प्रकार के रत्न खचित स्वर्णके अलङ्कारों

रत्नाचितस्वर्णविभूषितस्र-
ग्वस्त्रानुलेपादिविभूषयन्तम् ॥६६॥
कङ्कणाङ्गदविभूषणायत-
स्थूलवृत्तविलसच्चतुर्भुजम् ।
पीतपट्टवसनद्वयाश्रितं
चारुकुण्डल-कपोलमण्डलम् ॥६७॥
कौस्तुभाभरणपीनवक्षसं
कम्बुकण्ठ-धृतमौक्तिकावलिं ।
सस्मितामृतमुखेन्दुमद्भुत-
प्रेक्षणोल्लसितलोचनाम्बुजम् ॥६८॥
कृपाभरोद्यद्भ्रवल्लिनर्त्तनं
स्व-वामपार्श्वे स्थितयात्म-योग्यया ।
निवेद्यमानं रमया सविभ्रमं
प्रगृह्य ताम्बूलमदन्तमुत्तमम् ॥६६॥
तद्रागकान्ताधरविम्बकान्ति-
सम्भिन्नकुन्दामलदन्तपङ्क्तयोः ।
दीप्तिप्रकाशोज्वलहासरासं
नर्म्मोक्तिभङ्गीहृतभक्तचित्तं ॥७०॥
करे पतद्ग्राहभृता धरण्या
कटाक्ष-भङ्ग्या मुहुरर्च्यमानम् ।
सुदर्शनाद्यैर्वरमूर्त्तिमद्भिः
शिरस्थचिह्नैः परिषेव्यमाणम् ॥ ७१ ॥
चामरव्यजनपादुकादिक-
श्रीपरिच्छदगणोल्लसत्करैः ।
सेवकैः स्व-सदृशैरवस्थितै-
रावृतं परिचरद्भिरादरात् ॥७२॥
भक्तयानतैः शेषसुपर्णविष्वक्-
सेनादिभिः पार्षदवर्ग-मुख्यैः ।

को धारण किये हुये हैं, जो उत्तम-उत्तम वस्त्र माला तथा चन्दन आदि से विभूषित है, जिनके गोल तथा भरे हुये वह चार भुजदण्ड हैं जो कङ्कण तथा वाजूवन्दों से सुशोभित हैं. जो दो रेशमी पीताम्बरों को धारण किये हुये हैं, जिन्होंने उन सुन्दर कुण्डलों को पहन रक्खा है, जिनकी झांईं कपोलों पर पड़ती है, जिनके विशाल वक्ष-स्थल में कौस्तुभ मणि शोभा दे रही है, जिनकी ग्रीवा शंख के सदृश है, जिसमें मोतियों की माला धारण कर रक्खी है जो मन्द मन्द हास इसप्रकार से कर रहे हैं, मानों उनके मुख चन्द्र से अमृत स्राव हो रहा है,और जिनके नेत्र खिले हुयेकमलों के सदृश हैं ॥ ६६ । ६७ । ६८ ॥

जिनकी भौंहएँ भक्तों पर कृपा करने के लिये मानों नृत्य कर रही हैं, और जिनके वाम भाग में उनके अनुरूप श्री लक्ष्मी जी विराजमान हैं, जोकि बहुत सुन्दर ढङ्ग से उनको ताम्बूल दे रही हैं, जिसको वह आनन्द पूर्वक पा रहे हैं ॥ ६६ ॥

ताम्बूल चर्वण से, उनके अधरों की स्वभाविक कान्ति और देदीप्यमान हो रही है, वह कान्ति कुन्द सरीखी निर्मल दन्त पंक्तियों की उज्वलता से मिलकर उनकी हास्य शोभा को और बढ़ा रही है । और जिनका हास्य परिहास्य भक्तों के चित्तों को हरण कर रहा है ॥ ७० ॥

श्रीभूदेवी अपने हस्त कमलोंमें पीकदानी लेकर बारम्बार अपनी कटाक्ष भंगियों से मानो उनका अर्चन कर रही हैं। जिनकी सेवामें श्रीसुदर्शन आदि मूर्तिमान स्वरूपों से अपने अपने चिन्हों को अपने मस्तकों पर धारण करके उपस्थित हैं. ७१

उनके सेवक गण, जिनके स्वरूप उनहीं के सदृश हैं चमर, पंखा, खड़ांऊ आदि तथा अन्य सेवा के उपयोगी सामग्रियों को लेकर, वहुत ठाट बाट से, उनको चारों ओर से घेर कर, उनकी बहुत आदर से सेवा समाधान कर रहे हैं ॥ ७२ ॥

जिनकी शेष, गरुड़, तथा श्रीविश्वकसेन आदि श्रेष्ठ पार्षद गण, भक्ति से नम्र होकर, हाथ जोड़ कर, उन हाथों को अपने मस्तकों पर लगा कर,

कृत्वाञ्जलिं मूद्‌र्ध्न्यवतिष्ठमानै

रग्रे विचित्रोक्तिभिरीड्यमानं ॥७३॥

श्रीनारदस्याद्भुतनृत्यवीणा-

गीतादिभङ्गीमयचातुरीभिः ।

ताभ्यां प्रियाभ्यां कमला-धराभ्यां

सार्द्धं कदाचित् विहसन्तमुच्चैः ॥७४॥

स्व-भक्त-वर्गस्य तदेकचेतसः

कदाचिदानन्दविशेषवृद्धये ।

प्रसार्य्य पादाम्बुजयुग्ममात्मनः

समर्पणेनैव लसन्तमद्भुतं ॥७५॥

तद्दर्शनानन्द-भरेण तेषां

विस्मृत्य शिक्षां बत ! पार्षदानां ।

गोपाल ! हे जीवितमित्यभीक्ष्णं-

क्रोशन्नधावं परिरम्भणाय ॥७६॥

पृष्ठे स्थितैर्विज्ञवरैर्धृतस्तै-

र्दीनो महाकाकु-कुलं प्रकुर्व्वन् ।

प्रेमातिरेकेण विनिर्जितोऽहं

सम्प्राप्य मोहं न्यपतं तदग्रे ॥७७॥

उत्थाप्य तैरेव बलाच्चिरेण

संज्ञां प्रणीतोऽश्रु-निपात-विघ्नं ।

सम्मार्ज्जनेनाभिभवन् कराभ्यां

नेत्रे प्रयत्नादुदमीलयं द्वे ॥७८॥

तावद्दयालु-प्रवरेण तेन

स्नेहेन गम्भीरमृदुस्वरेण ।

स्वस्थो भवागच्छ जवेन वत्से-

त्याद्युच्यमानं श्रुतवान् वचोऽहं॥७९॥

हर्षस्य काष्ठां परमां ततो गतो

नृत्यन्महोन्माद-गृहीतवन्मुहुः ।

अश्यन्नमीभिः परमप्रयासतः

सम्प्रापितः स्थैर्य्यमथ प्रबोधितः ॥८०॥

उनके सामने उपस्थित होकर, विविध प्रकार की उक्तियों से उनकी स्तुति कर रहे हैं। श्रीनारदजी उनके सामने अपने अद्भुत नृत्य तथा वीणा से विविध प्रकार के गान वाद्य कर रहे हैं, जिनको देख कर, वह अपनी प्रिया श्री देवी तथा भूदेवी सहित कभी कभी उच्च स्वर से हंस जाते हैं, कभी-कभी वह श्रीवैकुण्ठनाथ अपने उन भक्तों को विशेष आनन्द प्रदान करने के लिये, जिनका चित्त केवल उनमें ही है, अपने युगल चरणारविन्दों को. सेवा के लिये फैला कर, अद्भुत सुख तथा शोभा का विस्तार करते हैं ॥७३-७४-७५॥

इस प्रकार जब मैंने उन भगवान के दर्शन किये, तो उनके दर्शनों के आनन्द से, मैं वह शिक्षा भूल गया, जो मुझको उन पार्षदों ने दी थी। फिर प्रेमातुर होकर मैं बार-बार यह कहने लगा, "हे गोपाल! हे गोपाल! हे मेरे जीवन प्राण!" इस प्रकार उच्च स्वर से कहता हुआ, उनको आलिङ्गन करने के लिये मैं उनकी ओर दौड़ा। तब उन श्रेष्ठ पार्षदों ने मुझको पीछे से पकड़ लिया। तब मैं दीनता से बहुत प्रलाप करने लगा। और प्रेमावेश से मूर्छित होकर उनके सामने गिर पड़ा। तब उन पार्षदों ने मुझको बल पूर्वक उठा कर, बहुत देर बाद सचेत कराया। मैंने, उन भगवान् के दर्शनों के विघ्न स्वरूप अपने नेत्रों के आँसुओं को, अपने हाथोंसे पोंछकर, यत्न से अपने दोनों नेत्रों को खोला ॥७६-७७-७८॥

तब उन दयालुओं के मुकट मणि भगवान् ने, बड़े स्नेह से, अपनी गम्भीर तथा कोमल वाणी से यह कहा, "हे वत्स! तुम स्वस्थ होकर जल्दी से मेरे पास आओ" जब मैंने प्रभु को इस प्रकार कहते हुये सुना, तब मेरे आनन्द का आर-पार नहीं रहा और मैं उन्मत्त की तरह बार-बार नाचता हुआ, गिर पड़ा। तब उन पार्षदों ने मुझको बड़े यत्न से समझा कर धीरज धराया ॥ ७९-८०॥

श्रीभगवानुवाच ।

स्वागतं स्वागतं वत्स! दिष्ट्या दिष्ट्या भवान् मया

सङ्गतोऽत्र त्वदीक्षायां चिरमुत्कण्ठितेन हि ॥८१॥

बहूनि गमितान्यङ्ग ! जन्मानि भवता सखे ! ।

कथञ्चिदपि मय्याभिमुख्यं किञ्चिदकारि न॥८२॥

अस्मिन्नस्मिन्निहेहै भवे भावी मदुन्मुखः ।

इत्याशया तवात्यन्तं नर्त्तितोऽस्मि सदाज्ञवत् ८३

छलञ्च न लभे किञ्चिद् येनाद्यं परिपालयन् ।

निबन्धं स्वकृतं भ्रातरानयाम्यात्मनः पदं ॥८४॥

तत्ते मय्यकृपां वीक्ष्य व्यग्रोऽनुग्रहकातरः ।

अनादिं सेतुमुल्लङ्घ्य त्वज्जन्मेदमकारयं ॥८५॥

श्रीमद्गोवर्द्धने तस्मिन् निजप्रियतमास्पदे ।

स्वयमेवाभवं तात ! जयन्ताख्यः स ते गुरुः ८६

कामं दीर्घतमं मेऽद्य चिरात्त्वं समपूरयः ।

स्वस्य मेऽपि सुखं पुष्णन्नत्रैव निवस स्थिरः॥८७

श्रीगोपकुमार उवाच ।

एतच्छ्रीभगवद्वाक्यमहापीयूषपानतः ।

मत्तोऽहं नाशकंस्तोतुं कर्त्तुं ज्ञातुञ्च किञ्चन॥८८

अग्रे स्थिता तस्य तु वेणुवादका

गोपार्भवेशाः कतिचिन्मया समाः ।

आश्वास्य विश्वास्य च वेणुवादने

प्रावर्त्तयन् स्निग्धतरा विकृष्य मां ॥८९

श्री भगवान् बोले ।

हे वत्स ! भले आये ! भले आये ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुम्हारे देखने के लिये चिरकाल से उत्कंठित हो रहा था, आज ही तुम्हारा मिलन हुआ है ॥ ८१ ॥

हे सखे ! तुम्हारे बहुत जन्म बीत गये, तुम किसी जन्म में, कभी भी मेरे सम्मुख नहीं हुये॥८२

तुम्हारे जन्म-जन्म प्रति, मैं इस आशा से अज्ञ की तरह नाचने लगता था, कि इस जन्म में तुम, मेरे अवश्य सम्मुख होगे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। हे भाई गोपकुमार ! न ही मुझको कोई ऐसा बहाना मिला, जिससे मैं अपनी मर्यादा का पालन करता हुआ तुमको यहाँ ले आता। जब मैंने यह समझा कि तुम मेरे सम्मुख नहीं होगे, तब मैं कृपा करने के लिये उत्कण्ठित हुआ, और अपने अनादि काल की मर्यादा को तोड़ कर तुम्हारा यह जन्म उस श्री गोवर्धन में कराया जो कि मुझको अत्यन्त प्रिय है। हे वत्स ! तुम्हारे ही लिये मैंने "जयन्त" नामक गुरु स्वरूप से अवतार धारण किया है। हे गोपकुमार मेरी बहुत काल से जो अभिलाषा थी उसको आज तुमने पूर्ण किया है, इसलिये अब यहाँ स्थिर भाव से रह कर तुम भी सुख अनुभव करो और मुझको भी कराओ।॥८३-८४ ८५ ८६-८७॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! इस प्रकार मैं भगवान् के अमृत सरीखे बचनों को सुन कर, मत्त होगया। उस समय मुझको किसी प्रकार का ज्ञान नहीं था। इसलिये न तो मैं उनकी स्तुति कर सकता था, न ही और कुछ कार्य कर सकता था।८८॥

तब अन्य वेणु बजाने वालों ने जो कि भगवान् के सामने स्थित थे, और जिनके मेरे समान गोप बालकों सरीखे वेश भूषण थे, मुझको प्रेम से खेंच कर अपनी मण्डली में मिला लिया, और अनेक प्रकार से मेरा आश्वासन करके मुझको विश्वास कराकर, अपने साथ वेणु बजाने में सम्मिलित कर लिया ॥८९॥

एतां स्व-वंशीं बहुधा निनादयन्
गोवर्द्धनाद्रिप्रभवां महाप्रियां ।
श्रीमाधवं तं समतोषयं महा-
वैदग्ध्यसिन्धुं सगणं कृपानिधिं ॥९०॥
यथाकालं ततः सर्व्वे निःसरन्तो महाश्रियः ।
आज्ञया निर्गमानिच्छुं युक्त्या मां वहिरानयन् ॥९१॥
तत्रापरस्येव महाविभूती-
रुपस्थितास्ताः परिहृत्य दूरे ।
स्वयं सतीरात्मनि चाप्रकाश्य
गोपार्भरूपो न्यवसं पुरेव ॥९२॥
सच्चिदानन्दरूपास्ताः सर्व्वास्तत्र विभूतयः ।
स्वाधीना हि यथाकामं भवेयुः सम्प्रकाशिताः ९३
इत्थन्तु वैभवाभावे वैभवं वैभवेऽपि च ।
अकिञ्चनत्वं घटते वैकुण्ठे तत्स्वभावतः ॥९४॥
तथापि पूर्व्वाभ्यासस्य वलेन महता प्रभोः ।
भजनं खलु मन्येऽहं दीनवृत्त्या सदा सुखं ॥९५॥
तदा हृदीदं परिनिश्चितं मया
ध्रुवं स्वकीयाखिलजन्मकर्म्मणां ।
फलस्य लभ्यस्य किलाधुना परा
सीमा समाप्ता भगवत्कृपाभरात् ॥९६॥
अहो ! सुखं कीदृगिदं दुरूह-
महोपदं कीदृगिदं महिष्ठं ।
अहो ! महाश्चर्य्यतरः प्रभुश्च
कीदृक् तथाश्चर्य्यतरा कृपास्य ॥९७॥
अथ प्रभोश्चामरवीजनात्मिकां
समीपसेवां कृपयाधिलम्भितः ।
निजां च वंशीं रणयन् समाप्नुवं
तदीक्षणानन्दभरं निरन्तरं ॥९८॥

हे ब्राह्मण ! तब मैंने इस वंशी को, जो कि श्री गोवर्धन की पैदा हुई है और जो मेरी बड़ी प्यारी है, इस प्रकार से बजाया, जिससे वह कृपासिन्धु भगवान् वैदग्ध शिरोमणि होते हुये भी, अपने पार्षदों तथा लक्ष्मीजी सहित बड़े प्रसन्न हुये। इसके पश्चात् जब पार्षदों का बाहर जाने का समय हुआ, तब यह श्री लक्ष्मीजी की आज्ञा से सब बाहर चले गये। उस समय यद्यपि मेरी बाहर आने की इच्छा नहीं थी, तो भी बहुत युक्तियों द्वारा समझा कर, मुझ को भी बाहर लाया गया ॥ ९०-९१ ॥

तब उस वैकुण्ठ की बड़ी बड़ी विभूतियाँ अन्य अन्य पार्षदों की तरह मेरे सामने आकर उपस्थित हुईं, जिनको मैंने दूर से ही त्याग दिया। यद्यपि मुझमें भी उन विभूतियों के प्रकाश करने की शक्ति थी, तो भी मैंने ऐसा नहीं किया। मैं पहले सदृश गोप बालक स्वरूप से ही उस पुरी में रहने लगा ॥९२॥

वहाँ की सब विभूतियाँ सच्चिदानन्द स्वरूपा हैं। जिनका प्रकाश वहाँ के पार्षदों की इच्छा के आधीन है। इसलिये उन वैकुण्ठ निवासियों को वहाँ के प्रभाव से, सब वैभव प्राप्त होकर भी नहीं के बराबर हैं, और नहीं प्राप्त होकर भी प्राप्त के बराबर हैं ॥९३-९४॥

तो भी पहले अभ्यास के कारण, मैं दीन वृत्ति से रह कर ही भगवान् के भजन करने में सुख मानता था ॥९५॥

उस समय मैंने अपने मन में यह निश्चय किया, कि मुझको अखिल जन्मों के कर्मों का बड़े से बड़ा फल प्रभु की कृपा से अभी मिला है ॥९६॥

अहो ! बड़ा आश्चर्य है। इस प्रकार का दुर्लभ सुख, श्रेष्ठ स्थान, अद्भुत चमत्कारी प्रभु, कहीं भी नहीं है, और न ही इनकी कृपा के सदृश और कहीं इस प्रकार की कृपा है ॥९७॥

इसके पश्चात् मुझको उनकी कृपा से चमर डुलाने की समीप की सेवा प्राप्त हुई। मैं अपनी

पूर्व्वाभ्यासवशेनानुकीर्त्तयामि कदाप्यहं ।
बहुधोच्चैरये कृष्ण ! गोपालेति मुहुर्मुहुः॥६६॥
गोकुलाचरितश्चास्य महामाहात्म्यदर्शकं ।
परमस्तोत्ररूपेण साक्षाद्गायामि सर्व्वदा ॥१००॥
तत्रत्यैर्वहिरागत्य तैर्हसद्भिरहं मुहुः ।
स्नेहार्द्रहृदयैरुक्तः शिक्षयद्भिरिव स्फुटं ॥१०१॥

श्रीवैकुण्ठवासिन ऊचुः ।

मैवं सम्बोधयेशेशं मा च संकीर्त्तयेस्तथा ।
उपश्लोकय माहात्म्यमनन्तं त्वद्भुताद्भुतं ॥१०१॥
संहारायैव दुष्टानां शिष्टानां पालयनाय च ।
कंसं वञ्चयतीनेन गोपत्वं मायया कृतं ॥१०३॥
मायया वर्णनश्चास्य न भक्तैर्वहु मन्यते ।
भक्त्यारम्भे हि तद्युक्तं तेन न स्तूयते प्रभुः१०४
तेष्वेव केचिदवदन्
दुर्व्बोधाचरितस्य हि ।
लीलैका सापि तत्तस्या
न दोषः कीर्त्तने मतः ॥१०५॥
कैश्चिन्महद्भिस्तान् सर्व्वान् निवार्य्योक्तमिदं रुषा
आः ! किमेवं निगद्येत भवद्भिरबुधैरिव ॥१०६॥
कृष्णस्य भक्तवात्सल्याद् यस्य कस्यापि कर्म्मणः
संकीर्त्तनं महानेव गुणः श्रीप्रभुतोषणः ॥१०७॥

वंशी को बजाता हुआ, उनके दर्शनों के आनन्द को निरन्तर अनुभव करने लगा। पहले अभ्यास के बल से, मैं बार-बार उच्च स्वर से "हे कृष्ण ! हे गोपाल !" इत्वादि नामों का कीर्तन करता हुआ सर्वदा बड़ी महिमा वाले गोकुल सम्बन्धी चरित्रों को उत्तम-उत्तम स्तोत्रों के रूप से प्रभु के सामने गायन करता था ॥६८-६६-१००॥

तब वहाँ के रहने वाले बाहर आकर मुझ से परिहास करते हुये, स्नेह से शिक्षा देते हुये, स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहते थे ॥१०१॥

श्रीवैकुण्ठवासी बोले ।

हे गोपकुमार ! हमारे प्रभु साक्षात् ब्रह्मा तथा श्री शिवजी के भी ईश हैं। इनको इस प्रकार के सम्बोधनों से मत पुकारा करो, और न ही इस प्रकार की कीर्तन करो। बल्कि बड़ी-बड़ी महिमा युक्त अद्भुत-अद्भुत स्तोत्रों से इनकी स्तुति किया करो। इन्हों ने तो केवल दुष्टों का संहार करने के लिये कंस आदि की वञ्चना करने के लिये ही अपनी माया से गोप रूप धारण किया था। भगवान् की मायिक लीलाओं को भक्त लोग श्रेष्ठ नहीं मानते हैं। इसलिये इनसे प्रभु की स्तुति नहीं करनी चाहिये ॥१०२-१०३-१०४॥

क्योंकि इनका अनुसरण करना भक्ति की प्रथम कोटि है। उन पार्षदों में कोई-कोई इस प्रकार कहने लगे "भगवान् के चरित्रों का रहस्य कोई नहीं जान सकता है, यह भी एक प्रकार की भगवान् की लीलाएँ ही हैं, इसलिये हमारे मत में, इनका कीर्तन करने में कोई दोष नहीं है" ॥ १०५॥

उन पार्षदों में से कोई-कोई श्रेष्ठ पार्षद क्रोधित होकर, उन सब को निवारण करते हुये, इस प्रकार कहने लगे, "अहो ! आप लोग मूर्खों की तरह यह क्या कहते हो। भक्त वत्सल श्रीकृष्ण की जितनी लीलायें हैं, सब हितकारी हैं। उनके कीर्तन करने से भगवान् को अत्यन्त सन्तोष होता है ॥१०६-१०७॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तेषामेतादृशैर्वाक्यैरादौ लज्जा ममाजनि ।
पश्चात्तोषस्तथाप्यन्तर्मनोऽतृप्यन्न सर्व्वतः॥१०८॥

निजेष्टदैवतश्रीमद्गोपालचरणाब्जयोः ।
तादृग्रूपविनोदादेरनालोकाच्च दीनवत् ॥१०६॥

तत्रैव सर्व्वज्ञशिरोमणिं प्रभुं
वैकुण्ठनाथं किल नन्दनन्दनं ।
लक्ष्मीं धराश्चाकलयामि राधिकां
चन्द्रावलीश्चास्य गणान् व्रजार्भकान् ॥११०

तथाप्यस्यां व्रजक्ष्मायां प्रभुं सपरिवारकं ।
विहरन्तं तथा नेक्षे खिद्यते स्मेति मन्मनः॥१११

कदापि तत्रोपवनेषु लीलया
तथा लसन्तं निचितेषु गो-गणैः ।
पश्याम्यमुं कर्ह्यपि पूर्व्ववत् स्थितं
निजासने स्व-प्रभुवच्च सर्व्वथा ॥११२

तथापि तस्मिन् परमेशबुद्धे-
र्वैकुण्ठलोकागमन-स्मृतेश्च ।
सञ्जायमानादरगौरवेण
तत्प्रेम-हान्या स्व-मनो न तृप्येत्॥११३

गोपालदेवात् करुणाविशेषं
ध्याने यमालिङ्गनचुम्बनादिं ।
प्राप्तोऽस्मि तं हन्त ! समक्षमस्मा-
दीप्सन् विदूये तदसिद्धितोऽत्र ॥११४॥

कदाचिदीशो निभृतं प्रयाति
कुतोऽपि कैश्चित् सममन्तरीणैः ।
तदाखिलानां खलु तत्र शोको
भवेदभावात् प्रभु-दर्शनस्य ॥११५॥

श्री गोपकुमार बोले ।

इस प्रकार के बचन सुन कर; पहले तो मुझ को लज्जा आई, परन्तु फिर सन्तोष हुआ। तो भी मेरे अन्तःकरण को सम्यक् शान्ति प्राप्त नहीं हुई। मुझको अपने इष्टदेव श्री मदनगोपाल सरीखे रूप, एवं बिहार आदि का भी दर्शन नहीं हुआ, इसलिये मैं वहाँ भी दीन होकर ही रहने लगा ॥ १०८-१०६ ॥

तब वह सर्वज्ञ शिरोमणि, श्रीवैकुण्ठनाथ भगवान् श्रीनन्दनन्दन स्वरूप से श्री लक्ष्मीजी श्री राधिका स्वरूप से, श्री भूदेवी श्रीचन्द्रावलि स्वरूप से, तथा और और सब पार्षद ग्वालबाल स्वरूपों से मुझको दिखाई पड़े ॥११०॥

यद्यपि श्री वैकुण्ठ में, मुझको इस प्रकार के दर्शन हुये, तो भी मेरे मन में यह खेद बना रहा, कि मैंने अपने प्रभु नन्दनन्दन के परिवार सहित बिहार करते हुये, इस ब्रज भूमि में दर्शन नहीं किये ॥ १११ ॥

उस वैकुण्ठ के उपबनों में, कभी-कभी तो मैं उन वैकुण्ठनाथ को गऊओं के साथ बिहार करते हुये दर्शन करता था, कभी-कभी पहले की तरह सिंहासन पर श्रीकृष्ण स्वरूप से विराजमान हुए देखा था ॥११२॥

तो भी उन भगवान् में, एक तो मेरी ईश्वर बुद्धि थी, दूसरे मुझको यह स्मरण था, कि मैं वैकुण्ठ में आया हूँ, इस लिये आदर तथा गौरव के कारण, मेरा प्रेम संकुचित हो गया, और मेरे मन को शान्ति प्राप्त नहीं हुई ॥११३॥

मैं, ध्यान अवस्था में, जिस प्रकार अपने प्रभु श्री गोपालदेव से आलिङ्गन चुम्बन आदि कृपा विशेष का अनुभव करता था, उसी प्रकार की साक्षात् कृपा पाने के लिये, वहाँ श्री वैकुण्ठ में भी, मेरी अभिलाषा हुई। परन्तु बड़े खेद की बात है, कि वह मेरी इच्छा पूर्ण न हो सकी। कभी-कभी वह भगवान् अपने अन्तरङ्ग पार्षदों को साथ लेकर, कहीं अलक्षित भाव से चले जाते थे, तब

मया सम्पृच्छ्यमानं तद्वृत्तं वररहस्यवत् ।
संगोपयन्न कश्चिन्मे समुद्घाटयति स्फुटं ॥११६॥

तस्मिन्नेव क्षणे तत्रोदिते श्रीजगदीश्वरे ।
दृश्यमाने स सन्तापो नश्येद्धर्षाब्धिरेधते ॥११७

यावत्तावच्च वैकल्यं मनसोऽस्तु स्वभावजं ।
तल्लोक-महिमोद्रेकात् क्षीयतेऽर्काद्यथा तमः ॥११८

उनके दर्शनों के अभाव से वहाँ रहने वाले, सब शोक ग्रस्त हो जाते थे। मैंने इस रहस्य को वहाँ रहने वालों से पूछा। उन्होंने इस विषय को स्पष्ट वर्णन नहीं किया बल्कि गुप्त ही रखा। एक क्षण के पश्चात् ही, श्री भगवान् पुनः वहाँ प्रकट हुये, तब उन के दर्शनों से सब दुख दूर हो गया। और वह लोग पहले की तरह आनन्द समुद्र में निमग्न हो गये। मेरे मन का स्वभाविक दुख भी उस लोक के प्रभाव से इस प्रकार दूर हो गया, जैसे सूर्यनारायण उदय होने से अन्धेरा नष्ट हो जाता है ॥११४-११५-११६-११७-११८॥

यदा कदाचिन्निज-लभ्यवस्तुनो
ऽनाप्त्येत्र हृत् सीदति पूर्व्वपूर्व्ववत् ।
तदा तदीयापरिपूर्णतारुजां
निदानमाज्ञाय निरस्यते स्वयं ॥११६॥

जब कभी अपनी लभ्य वस्तु को प्राप्त न होने से, पहले की तरह मेरे हृदय में दुःख होता था। तब मैं उस दुख का कारण पूर्ण रूप से जान कर अपने मन को समझा कर, शान्त कर लेता था ॥ ११६ ॥

एतादृशात् प्राप्यतमं न किञ्चि-
द्वैकुण्ठवासात् किल विद्यतेऽन्यत् ।
सन्देहमीषत्त्वमपीह कर्त्तुं
नार्हस्यतोऽन्यः किमु पृच्छतां तत्॥१२०

मैं अपने मन को यह समझाता था, कि "रे मन इस वैकुण्ठ के बास से अधिक सुन्दर, और कोई प्राप्ति स्थान नहीं है। इस विषय में तुम को सन्देह करना उचित नहीं है। इससे अधिक तुम और क्या चाहते हो" ? ॥१२०॥

तस्मादरे चञ्चलचित्त ! बुद्धया-
द्यापि स्वभावं त्यज दूरतोऽत्र ।
अस्मात् परं नास्ति परं फलं तत्
शान्तिं परां युक्ति-शतेन गच्छ१२१

"इस लिये अरे ! चञ्चल चित्त ! अपनी बुद्धि से बिचार करके अपने इस स्वभाव को छोड़ दे, तू सैकड़ों युक्तियों द्वारा यह निश्चय कर ले, कि इस वैकुण्ठ से अधिक न तो कहीं शान्ति है और न ही इस से बढ़कर और कोई प्राप्य फल है ॥ १२१ ॥

तद्बोधयन्नेव विलोकयाम्यहं
स्वं सच्चिदानन्दमयं तथा प्रभोः ।
वैकुण्ठलोके भजनात् परं सुखं
सान्द्रं सदैवानुभवन्तमद्भुतं ॥१२२॥

इस प्रकार की युक्तियों से मैंने अपने मनको बहुत समझाया। उसी समय मैंने अपनी देह को सच्चिदानन्द मय देखा, और यह अनुभव किया, कि वहाँ श्री वैकुण्ठ में श्री वैकुण्ठनाथ की सेवा करके, परम अद्भुत सुख प्राप्त होता है ॥१२२॥

एवं कदाचिदुद्विग्नः कदाचिद्धर्षवानहं ।
वैकुण्ठे निवसन् दृष्टो नारदेनैकदा रहः ॥१२३॥

इस प्रकार वहाँ वैकुण्ठ में रह कर कभी तो मेरा चित्त उद्विग्न, कभी प्रसन्न रहता था। तब एक दिन निर्जन स्थान पर, श्रीनारदजी ने दर्शन दिये ॥ १२३ ॥

दयालु-चूड़ामणिना प्रभोर्महा-
प्रियेण तद्भक्ति-रसाब्धिनामुना।
शुभाशिषानन्द्य-करेण भाषितः
संस्पृश्य वीणासुहृदा शिरस्यहं ॥१२४॥

वह दयालु चूड़ामणि, तथा प्रभु के अत्यन्त प्यारे श्री नारदजी, जोकि सर्वदा भक्ति रस सागर में निमग्न रहते हैं, मुझको अपने शुभ आशीर्वादों से आनन्दित करके, और अपने वीणा युक्त हस्त कमल को मेरे मस्तक पर रख कर इस प्रकार कहने लगे ॥१२४॥

श्रीभगवन्नारद उवाच।

भो! गोपनन्दन! श्रीमद्वैकुण्ठेशानुकम्पित!।
मुखम्लान्यादिना किञ्चिच्छोचन् दीन इवेक्ष्यसे ॥१२५॥

श्री भगवान् नारदजी बोले।

हे गोपकुमार! आप पर श्रीवैकुण्ठनाथ भगवान् की बड़ी कृपा है। परन्तु आपके मुख पर कुछ उदासी है। इसलिये आप कुछ सोचते हुये से दिखाई देते हैं ॥१२५॥

शोकदुःखावकाशोऽत्र कतमः स्यान्निगद्यतां।
परं कौतूहलं मेऽत्र यन्न दृष्टः स कस्यचित् ॥१२६

आप ही बताइये, यहाँ शोक दुख का अवकाश कहाँ है! मैंने इस प्रकार का दुखी, यहाँ और किसी को नहीं देखा। इस लिये मुझे यह बड़ा आश्चर्य है, कि आप इतने दुखी क्यों हैं ॥१२६॥

श्रीगोपकुमार उवाच।

परमाप्तं सुहृच्छ्रेष्ठं तं प्राप्य स्वगुरूपमं।
हार्दं तद्वृत्तमात्मीयं कार्त्स्नेनाकथयं तदा १२७
श्रुत्वा तदखिलं किञ्चिन्निश्वस्य परितो दृशौ।
सञ्चार्य्याकृष्य मां पार्श्वेऽब्रवीत् सकरुणं शनैः १२८

श्री गोपकुमार बोले।

हे ब्राह्मण! तब मैंने, उन परम प्रिय, सुहृद् श्रेष्ठ, अपने गुरु के सदृश, श्री नारदजी को पाकर अपने हृदय का समस्त वृत्तान्त उनसे कह सुनाया, जिसको सुन कर उन्होंने एक लम्बी श्वांस ली, फिर चारों ओर देख कर मुझको अपने पास खेंच कर, वह करुणा से धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगे ॥१२७-१२८॥

श्रीनारद उवाच।

इतः परतरं प्राप्यं किञ्चिन्नास्तीति यत्त्वया।
मन्यते युक्तिसन्तत्या तत् सत्यं खलु नान्यथा १२९
यच्च स्वीयेष्टदेवस्य विनोदं ध्यानसङ्गतं।
साक्षादत्रानुभवितुं तथैवेच्छसि सर्व्वथा ॥१३०
तस्यापि सोऽत्यन्तसुखप्रदायक-
श्चेतोहरः प्रीतिविशेषगोचरः।
गोप्योत्तमस्तद्व्रजलोकवन्महा-
प्रेमैकलभ्योऽसुलभो हि मादृशां ॥१३१

श्री नारदजी बोले।

हे गोपकुमार! जो आपने अपनी युक्तियों द्वारा यह निश्चय किया है, कि इस वैकुण्ठ को छोड़ कर और कोई श्रेष्ठ प्राप्य स्थान नहीं है, यह बात ठीक है। परन्तु जैसे तुम अपने इष्ट देवता को, उनकी विविध प्रकार की लीलाओं के सहित ध्यान में अनुभव करते हो, इसी प्रकार इस वैकुण्ठ में भी जो तुम्हारी साक्षात् अनुभव करने की इच्छा है। वह लीलाएँ श्रीभगवान् को भी अत्यन्त सुख प्रद हैं, उनके मन को हरण करने वाली हैं। वह केवल प्रीति विशेष से ही गोचर हो सकती हैं। जितनी गोपनीय वस्तुएँ हैं, उन सब में वह अधिक गूढ़ है। जोकि केवल व्रजवासियों के सदृश

स वै विनोदः सकलोपरिष्टा-

ल्लोके क्वचिद्भाति विलोभयन् स्वान् ।

सम्पाद्य भक्तिं जगदीश-बुद्धचा

वैकुण्ठमेत्यात्र कथं त्वयेच्यः ॥१३२॥

भगवत्परमैश्वर्य्यप्रान्तसीमा-प्रकाशने ।

वैकुण्ठेऽस्मिन् महागोप्यः प्रकटः सम्भवेत् कथं ॥१३३॥

शोकं सर्व्वं विहायेमं श्रीमद्वैकुण्ठ-नायकं ।

निजेष्टदेवबुद्धयैव वीक्षस्व भज मा भिदां॥१३४

ततोऽत्रापि सुखं तत्तदनन्तं परमं महत् ।

वर्द्धमानं सदा स्वीयमनःपूरकमाप्स्यसि ॥१३५॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

ततः कानपि सिद्धान्तान् स्व-प्रज्ञा-गोचरानपि ।

ऐच्छं तदाननाच्छ्रोतुं श्रोत्रेण प्रेरितो हठात्१३६

शक्नोमि च न तान् प्रष्टुममुं गौरवलज्जया ।

अभिप्रेयाय सर्व्वज्ञ-वरो भागवतोत्तमः॥१३७॥

मदीयकर्णयोः स्वीयजिह्वायाश्च सुखाय सः ।

व्यञ्जयामास संक्षेपात् सर्व्वांस्तान् मद्धृदि स्थितान् ॥१३८॥

श्रीनारद उवाच ।

पशु-पक्षि-गणान् वृक्ष-लता-गुल्म-तृणादिकान् ।

अत्र दृष्टान् न मन्यस्व पार्थिवांस्तामसानिव१३९

प्रेम से ही प्राप्त हो सकती हैं। मेरे जैसों के लिये भी यह लीलाएँ सुलभ नहीं हैं। वह लीलाएँ तो श्री गोलोक धाम में, जोकि और सब लोकों के ऊपर है, अपने भक्तों के मनको आकर्षण करती हुई, वहाँ होती रहती हैं। आप तो जगदीश बुद्धि से भक्ति करके, इस वैकुण्ठ में आये हो। इसलिये आपको यहाँ वह कैसे अनुभव हो सकती हैं? ॥१२९-१३०-१३१-१३२॥

यहाँ तो भगवान् की चरम सीमा प्राप्त ईश्वरत्व लीला ही है, इस लिये आप उन परम गोप्य लीलाओं को, यहाँ कैसे अनुभव कर सकते हैं? ॥ १३३ ॥

इस लिये आप सब प्रकार के दुःखों को छोड़ कर इन श्री वैकुण्ठनाथ को, अपने इष्ट देवता बुद्धि से ही देखो। इनका अभेद बुद्धि से भजन करो। तब आपको यहाँ भी बड़ा सुख अनुभव होने लगेगा और आपका मन अपना अभिष्ट पदार्थ प्राप्त कर सकेगा ॥१३४-१३५॥

श्रीगोपकुमार बोले।

इसके पश्चात् हठात् श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्रेरित होकर, उन सिद्धान्तों को, जोकि मेरी बुद्धि ने निश्चय कर रक्खे थे, और उन से भी अधिक विषय को, श्रीनारदजी के मुख से श्रवण करने के लिये मैं बड़ा लालायित हुआ। परन्तु मैं गौरव तथा लज्जा से, उनसे पूछ नहीं सका। किन्तु श्री नारदजी ने जो कि सब भक्तों के मुकुट मणि हैं, और बड़े सर्वज्ञ हैं, मेरे अभिप्राय को जान लिया, वह मेरे कानों तथा अपनी जिह्वा को कृतार्थ करने के लिये संक्षेप से मेरे हृदय के सब छिपे हुये भावों को इस प्रकार वर्णन करने लगे ॥१३६-१३७-१३८॥

श्रीनारदजी बोले।

हे गोपकुमार! यहाँ के पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म तथा तृण आदिक जो कुछ आप देख रहे हैं, यह सब पृथ्वी लोक की तरह तामस योनि नहीं हैं। बल्कि यह सब भगवान् के पार्षद हैं। और

एते हि सच्चिदानन्दरूपाः श्रीकृष्णपार्षदाः ।
विचित्रसेवानन्दाय तत्तद्रूपाणि बिभ्रति॥१४०

यद्वर्णवद् यदाकारं रूपं भगवतोऽस्य ये ।
निजप्रियतमत्वेन भावयन्तोऽभजन्निमम् ॥१४१

तादृशं तेऽस्य सारूप्यं
प्राप्ता नानाकृत्तिश्रियः ।
मनुष्या मुनयो देवा
ऋषयो मत्स्यकच्छपाः ॥१४२

वराहा नरसिंहाश्च वामनाश्च त्रिलोचनाः ।
चतुर्मुखाः सहस्राक्षाः महापुरुषविग्रहाः ॥१४३

सहस्रवक्त्राः सूर्य्येन्दुवायुवह्न्यादिरूपिणः ।
चतुर्भुजादिरूपाश्च तत्तद्वेशादिरूपिणः ॥१४४

रसेन येन येनान्ते वेशाकारादिना तथा ।
सेवित्वा कृष्णपादाब्जे यो यो वैकुण्ठमागतः
॥ १४५ ॥

तस्य तस्याखिलं तत्तच्छ्रीमद्भगवतः प्रियं ।
तस्मै तस्मै प्ररोचेत तस्मात्तत्तद्रसादिकं ॥१४६

ते च सर्व्वत्र वैकुण्ठे श्रीनारायणमीश्वरं ।
तत्तद्वर्णादियुक्तात्मदेवरूपं विचक्षते ॥१४७

पूर्व्ववद्भजनानन्दं प्राप्नुवन्ति नवं नवं ।
सर्व्वदाप्यपरिच्छिन्नं वैकुण्ठेऽत्र विशेषतः ॥१४८

इनके स्वरूप सच्चिदानन्द ही हैं। इन्होंने तो केवल अपनी सेवाओं से भगवान् को आनन्द प्रादान करने के लिये, विविध प्रकार के स्वरूप धारण कर रखे हैं ॥१३९-१४०॥

जिन जिन भक्तोंने, इस वैकुण्ठ के जिस जिस वर्ण तथा आकृति वाले स्वरूपों का अपने इष्ट देव स्वरूप से भावना करते हुये, भजन किया है, उनके सदृश ही उन भक्तों को उसी प्रकार का रूप तथा आकृति प्राप्त हुई हैं। जिन्होंने भगवान् के मनुष्य स्वरूप की आराधना की है, उनको मनुष्य, जिन्होंने मुनि स्वरूप की की हैं, उनको मुनि, जिन्होंने देव स्वरूप की की हैं, उनको देव, जिन्होंने ऋषि स्वरूप की की है, उनको ऋषि-स्वरूप, इसी प्रकार जिन्होंने मत्स्य, कच्छप, बराह, नृसिंह, वामन त्रिलोचन, चतुर्मुख सहस्राक्ष, महापुरुष, सहस्रमुख, चतुर्भुज, सूर्य, इन्दु, वायु, अग्नि आदि रूपों की जिन जिन भक्तों ने भगवद्बुद्धि से उपासना की है, उन उनको उनकी उपासना के अनुरूप देह, प्राप्त हुये हैं ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

जिस जिस भक्तने, अपनी अन्तिम देह से जिस जिस भाव तथा आकृति से भगवान् के चरणारविन्दोंकी सेवाकी है उनको उसी प्रकारके भाव तथा आकृतिवाला देह वैकुण्ठ में प्राप्त हुआ है। क्योंकि वह भाव तथा आकृतियाँ भगवान् को अत्यन्त प्यारी हैं, इसलिये उन भावों तथा आकृतियों को ग्रहण करना भक्तों को भी अभीष्ट है ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

वह सब भक्त श्री वैकुण्ठ में, श्रीवैकुण्ठनाथ के ही अपने अपने भावो के अनुरूप अपने उपास्य स्वरूप से सर्वत्र दर्शन करते हैं ॥ १४७ ॥

जो भक्त अपनी अन्तिम देह के समय जिस प्रकार के असीम भजनान्द को नये नये प्रकार से अनुभव करते थे, उसी प्रकार यहाँ वैकुण्ठ में आकर वह विशेष रूप से निरन्तर अनुभव करते हैं। जो कोई भक्त अपने प्रभुकी असाधारण लक्षण

ये त्वसाधरणैः सर्व्वैः पूर्व्वैरात्ममनोरमैः ।
परिवारादिभिर्युक्तं निजमिष्टतरं प्रभुं ॥१४६
सम्पश्यन्तो यथापूर्व्वं सदैवेच्छन्ति सेवितुं ।
तेऽत्यन्ततत्तन्निष्ठान्त्यकाष्ठावन्तो महाशयाः
॥ १५० ॥
ते वास्यैव प्रदेशेषु तादृशेषु पुरादिषु ।
तथैव तादृशं नाथं भजन्तस्तनुते सुखं ॥१५१

ये चैकतररूपस्य प्रीतिनिष्ठा भवन्ति न ।
अविशेषग्रहास्तस्य यत्किञ्चिद्रूपसेवकाः ॥१५२
ये च लक्ष्मीपतेरष्टाक्षरादिमनु—तत्पराः ।
ते हि सर्व्वे स्वदेहान्ते वैकुण्ठमिममाश्रिताः॥१५३
यथाकामं सुखं प्रापुः पूर्व्वतोऽप्यधिकं सुखं ।
तेषां स्व-स्वरसानैक्यात्तारतम्येऽपि तुल्यता ॥
॥ १५४ ॥

यथा धरालम्बन-रत्नभूता
नारायणोऽसौ स नरोऽथ दत्तः ।
श्रीजामदग्न्यः कपिलादयोऽपि
ये कौतुकाच्च प्रतिमा-सरूपाः ॥१५५
ये स्वर्गलोकादिषु विष्णुयज्ञे—
श्वरादयोऽमी भवतैव दृष्टाः ।
मत्स्योऽथ कूर्म्मश्च महावराहः
श्रीमन्नृसिंहो ननु वामनश्च ॥ ५६
अन्येऽवताराश्च तथैव तेषां
प्रत्येकमीहाभिदया प्रभेदाः ।
ते सच्चिदानन्दघना हि सर्व्वे
नानात्वभाजोऽपि सदैकरूपाः ॥१५७
नानात्वमेषाञ्च कदापि मायिकं
न जीवनानात्वमिव प्रतीयतां ।

विशिष्ट, उनके परिकर सहित, जैसा कि वह पहिले उनके दर्शन करता था, और जिस प्रकार से उनकी सेवा करता था उसी प्रकार से वैकुण्ठ में भी सदा उनके दर्शन करते हुए उनकी सेवा करने की इच्छा करता है, इस भावनायुक्त वह एक-निष्ठ महानुभाव उस वैकुण्ठ के किसी एक प्रदेश में उसी प्रकार की पुरी आदि में प्राप्त होकर पहले सदृश अपने प्रभुकी सेवा करते हुये सुख प्राप्त करता है ॥ १४८ ॥ १४६ ॥ ॥ १५० ॥ १५१ ॥

जिन भक्तों की भगवान् के एक स्वरूप में प्रीति तथा निष्ठा नहीं है। वह साधरण भक्त अपनी इच्छा से (राम, कृष्ण तथा नृसिंह आदि स्वरूपों में से) चाहे जिस स्वरूप की वैकुण्ठ में सेवा करते हैं ॥ १५२ ॥

जो भक्त श्रीलक्ष्मीपति भगवान् की अष्टाक्षर आदि मन्त्रों से सेवा करते हैं, वह सब अपने अपने देहों को त्यागकर, इसी वैकुण्ठ को प्राप्त होते हैं ॥ १५३ ॥

वह लोग यहाँ आकर पहिले से भी अधिक सुखका स्वच्छन्द अनुभव करते हैं। यद्यपि उनके अपने अपने भावों के अनुरूप, रसमें तारतम्यता है, तो भी उनको अपने अपने रसों के अनुसार पूर्ण सुख प्राप्त होता है १५४ ॥

इस पृथ्वी मण्डल के भूषणस्वरूप श्रीनारायण, श्रीदत्तात्रय, परशुराम, श्रीकपिलदेव, तथा लीला से अर्चास्वरूप श्रीजगन्नाथ आदि हैं, और स्वर्ग आदि लोकों मे श्रीविष्णु भगवान्, यज्ञेश्वर भगवान् आदि स्वरूप हैं, जिनके आपने भी दर्शन किये हैं। जो मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन-भगवान् तथा और इसी प्रकार के जो अवतार हैं यद्यपि उन सब के नाम तथा लीलाओं में परस्पर भेद है। तो भी पृथक् २ स्वरूप होते हुए भी तत्वांश में यह सब एक सच्चिदानन्द घन स्वरूप हैं ॥ १५५ ॥ ॥ १५६ ॥ १५७ ॥

जिस प्रकार एक जीववादी जीवों के परस्पर भेदों को माया से स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार

तच्चिद्विलासात्मकशक्तिदर्शितं

नानाविधोपासक-चित्रभावजं॥१५८॥

भगवान् के पृथक् पृथक् स्वरूपों का भेद माया से नहीं समझना चाहिये, बल्कि यह भेद भगवान् के पृथक् पृथक् उपासकों के चित्र विचित्र भावों के अनुरूप प्रभुकी सच्चिदानन्द शक्ति द्वारा किया गया है ॥ १५८ ॥

अतो न विम्ब-प्रतिविम्ब-भेदतो

विचित्रता सा सलिले रवेरिव ।

किन्त्वेष खस्थोऽद्वय एव सर्व्वतः

स्व-स्व-प्रदेशे वहुधेक्ष्यते यथा ॥१५९॥

यह भेद, बिम्ब प्रति बिम्ब भी नहीं है। अर्थात् जैसे कि सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है, उस प्रकार से नहीं समझना चाहिये। बल्कि आकाश स्थित एक सूर्य नारायण को जैसे पृथक्-पृथक् देशों में रह कर सब अलग-अलग दर्शन करते हैं, उसी प्रकार श्री भगवान् के स्वरूप अभेद होकर भी उपासकों को अपने-अपने भावों के अनुरूप पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं ॥१५९॥

यथैव च पृथग्ज्ञानं सुखञ्च पृथगेव हि ।

तथापि ब्रह्म-तादात्म्ये तयोरैक्यं सुसिद्ध्यति१६०

यद्यपि ज्ञान और आनन्द दो पृथक्-२ पदार्थ हैं। तो भी ब्रह्म स्वरूप में इन दोनों की एकता ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार भगवान् के स्वरूप अलग २ होने से भी तत्त्वांश में सब एक ही हैं॥१६०

एवं विचित्रदेशेषु स्वप्नादावप्यनेकधा ।

दृश्यमानस्य कृष्णस्य पार्षदानां पदस्य च॥१६१

एकत्वमप्यनेकत्वं सत्यत्वञ्च सुसङ्गतं ।

एकस्मिंस्तोषिते रूपे सर्व्वं तत्तस्य तुष्यति ॥१६२

एको वैकुण्ठनाथोऽयं श्रीकृष्णस्तत्र तत्र हि ।

तत्तत्सेवक-हर्षाय तत्तद्रूपादिना वसेत् ॥१६३॥

यद्यपि भक्त लोग भगवान्, उनके पार्षद, तथा उनके धाम का पृथक्-पृथक् देशों में तथा स्वप्नादि में बहुत प्रकार के पृथक् पृथक् स्वरूप से दर्शन करते हैं, तो भी इन तीन पदार्थों का एकत्व तथा बहुत्व दोनों सत्य हैं। भगवान का कोई एक स्वरूप प्रसन्न होने से उनके सब स्वरूप प्रसन्न हो जाते हैं। क्योंकि श्री वैकुण्ठनाथ श्रीकृष्ण भगवान् ही अपने पृथक्-पृथक् उपासकों को सुख देने के लिये, अपने पृथक्-पृथक् स्वरूप से भिन्न-भिन्न स्थानों में विराजमान हैं ॥१६१-१६२-१६३॥

एतच्च वृन्दाविपिनेऽघहन्तु-

र्हृत्वार्भ-वत्साननुभूतमस्ति ।

श्रीब्रह्मणा द्वारवतीपुरे च

प्रासादवर्गेषु मया भ्रमित्वा ॥१६४॥

अघासुर के वध के समय, श्री वृन्दावन में, जब श्री ब्रह्माजी ने ग्वालवाल बछड़ों को हरण किया था, उस समय उन्होंने यह भली प्रकार से अनुभव किया था, कि भगवान् के स्वरूप एक होकर भी बहुत हैं और बहुत होकर भी एक हैं। एक तथा बहु दोनों ही सत्य हैं। मैंने भी इस सिद्धान्त को श्री द्वारिकाजी में सब महलों में इधर-उधर घूम कर अच्छी तरह से जान लिया था ॥ १६४ ॥

दुर्व्वितर्क्या हि सा शक्तिरद्भुता पारमेश्वरी ।
किन्त्वस्यैकान्तभक्तेषु गूढं किञ्चिन्न तिष्ठति १६५

यद्यपि यह भेद तथा अभेद प्रतिपादन करने वाली, भगवान् की शक्ति तर्क से अगोचर है, तो भी भगवान् के ऐकान्तिक भक्त इसको भी जान लेते हैं ॥ १६५ ॥

पत्नी-सहस्रैर्युगपत् प्रणीतं
द्रव्यं स भुङ्क्ते भगवान् यदैकः ।
पश्यन्ति तान्यत्र यथा प्रतिस्व-
मादौ ममादत्त तदेव मेऽत्ति ॥१६६॥

भगवान् की हजारों पत्नियाँ उनको एक साथ ही, पृथक्-पृथक् भोजन की सामग्रियाँ अर्पण करती हैं। यद्यपि वह भगवान् एक ही स्वरूप से उन सबको पाते हैं, तो भी वह सब पटरानियाँ पृथक्-पृथक् यह देखती हैं, कि उन्होंने मेरी सामग्री ही सबसे पहले स्वीकार की है ॥१६६॥

क्वचित्केष्वपि जीवेषु तत्तच्छक्ति-प्रवेशतः ।
तस्यावेशावतारा ये तेऽपि तद्वन्मता बुधैः॥१६७

कभी-कभी किसी-किसी जीव में भगवान् की विशेष शक्ति प्रवेश करती है। तब पण्डित लोग उस जीव को भगवान् का आवेश अवतार कहते हैं। वह भी भगवान् के सदृश है ॥१६७॥

यादृशो भगवान् कृष्णो महालक्ष्मीरपीदृशी ।
तस्य नित्यप्रिया सान्द्रसच्चिदानन्दविग्रहा॥१६८

जिस प्रकार भगवान् का स्वरूप है, उसी प्रकार श्री महालक्ष्मी जी का भी है, क्योंकि वह उनकी नित्य प्रिया हैं, और उनका स्वरूप भी सच्चिदानन्द है ॥१६८॥

सा सदा भगवद्वक्षःस्थले वसति तत्परा ।
तस्या एवावतारास्ताः कृष्णस्यैवापरा हि याः१६९

वह लक्ष्मीजी तत्परायण होकर सदा भगवान् के वक्षस्थल में निवास करती हैं। जैसे श्रीकृष्ण के और सब अवतार हैं। उसी प्रकार इन श्रीमहालक्ष्मी जी की और सब लक्ष्मियाँ अवतार स्वरूपा हैं ॥ १६९ ॥

या महासिद्धिवत्तासु सर्व्वसम्पदधीश्वरी ।
मुमुक्षु-मुक्त-भक्तानामुपेक्ष्या सैव भूतिदा ॥१७०॥

इन लक्ष्मियों में से जो लक्ष्मी अणिमा आदि महासिद्धियें, तथा सर्व सम्पत्तियों की अधीश्वरी हैं, तथा जो विविध प्रकार की विभूतियों को देने वाली हैं, उस लक्ष्मी को ही मुमुक्षु, मुक्त तथा भक्त लोग त्याग देते हैं ॥१७०॥

यस्या एव विलोलायाः प्रायः सर्व्वत्र कथ्यते ।
नवानामपि भक्तानां भगवत्प्रियताधिका ॥१७१

इस चञ्चल लक्ष्मी से भगवान् को अपने नवीन भक्त भी, अधिक प्रिय हैं। ऐसा पुराणादि में सब स्थानों पर वर्णन है ॥१७१॥

एवं धरण्यपि ज्ञेयाः पराश्च भगवत्प्रियाः ।
तथैव भगवच्छक्तिरपि सा ज्ञायतां त्वया ॥१७२

इसी प्रकार श्री भूदेवीजी को, प्रभु की अन्य प्रेयसीगणों को, तथा उनकी शक्ति स्वरूपा योग माया को, भगवान् से पृथक् नहीं समझना चाहिये ॥ १७२ ॥

महाविभूतिशब्देन योगशब्देन च क्वचित् ।
योगमायादिशब्देन या क्वचिच्च निगद्यते ॥१७३

या सान्द्रसच्चिदानन्दविलासाद्युदयात्मिका ।
नित्या सत्याप्यनाद्यन्ता, याऽनिर्व्वाच्या स्वरूपतः ॥१७४॥

भगवद्भजनानन्दवैचित्री-जननी हि सा ।
नानाविधो भगवतो विशेषो व्यज्यते यया ॥१७५

तथैव लक्ष्म्या भक्तानां भक्तेर्लोकस्य कर्म्मणां ।
सा सा विशेष-वैचित्री सदा सम्पद्यते यतः ॥१७६

सा च तस्याश्च सा चेष्टा ज्ञेया तच्छुद्धसेवकैः ।
अतर्क्या शुष्कदुस्तर्कज्ञानसम्भिन्नमानसैः ॥१७७

सा परापरयोः शक्त्योः परा शक्तिर्निगद्यते ।
प्रभोः स्वभाविकी सा हि ख्याता प्रकृतिरित्यपि ॥१७८॥

अंशाः बहुविधास्तस्या लक्ष्यन्ते कार्य्य-भेदतः ।
तस्या एव प्रतिच्छायारूपा माया गुणात्मिका ॥१७९॥

मिथ्याप्रपञ्च-जननी मिथ्याभ्रान्तितमोमयी ।
अतोऽनिरूप्याऽनित्याद्या जीव-संसारकारिणी ॥१८०॥

अष्टमावरणस्याधिष्ठात्री मूर्त्तिमती हि या ।
कार्य्याकारविकारस्याप्राप्त्या प्रकृतिरुच्यते ॥१८१

भगवान् की योग माया शक्ति को, कहीं तो महाविभूति शब्द से, कहीं योग शब्द से, कहीं योगमाया आदि शब्दों से वर्णन किया गया है ॥१७३

ये शक्ति सच्चिदानन्द स्वरूपा है, इसका आदि तथा अन्त नहीं है, इसलिये यह नित्य तथा अनिर्वचनीय है ॥१७४॥

यह विविध प्रकार के भजनानन्द को देने वाली है, तथा यह शक्ति भगवान् के सब अवतारों की आकृति, वेष, भूषण, लीला आदि का समाधान करती है ॥१७५॥

यही योगमाया श्री लक्ष्मीजी के विविध स्वरूपों को, शेष, गरुड़, आदि भक्तों के स्वरूपों को श्रवण कीर्तन आदि भक्ति को, श्री वैकुण्ठ आदि धामों को, तथा प्रभु की लीलाओं को त्रिविध प्रकार से समाधान करती हैं ॥१७६॥

इस शक्ति को, तथा इसकी चेष्टा को भगवान् के शुद्ध भक्त ही जान सकते हैं। यह शुष्कतार्किक तथा ज्ञानियों से अगोचर है ॥१७७॥

भगवान् की परा तथा अपरा दो शक्तियाँ हैं, इन में से योगमाया परा शक्ति है। यह प्रभु की स्वभाविकी शक्ति है इसलिये किसी-किसी स्थान पर इसको प्रकृति भी कहा गया है ॥१७८॥

भिन्न-भिन्न कार्यों के समाधान करने के लिये इस परा शक्ति ने विविध प्रकार के रूप धारण कर रक्खे हैं। अपरा शक्ति जिसको त्रिगुणात्मिक माया भी कहते हैं, परा शक्ति की छाया स्वरूपा है। यही त्रिगुणात्मिका माया ही इस मिथ्या जगत को रचती है। यही सब जीवों को मिथ्या भ्रम में डाल कर संसार रूपी समुद्र में फँसा देती है। यह माया अनादि काल से जीवों के साथ लगी हुई है, यह केवल स्वरूप ज्ञान होने से ही नष्ट होती है। इसके स्वरूप वर्णनातीत हैं ॥१७९ १८०॥

यह (अपरा) माया मूर्तिमान स्वरूप से अष्टावरणों में, वहाँ की अधिष्ठात्री देवी होकर विराजती है। इस माया के स्वरूप में कार्य, रूप विकार नहीं हैं। इस लिये इसको भी प्रकृति कहते हैं ॥१८१

यस्यास्त्वतिक्रमेणैव मुक्तिर्भक्तिश्च सिद्ध्यति ।
उत्पादितं यया विश्वमैन्द्रजालिकवन्मृषा ॥१८२॥

शक्त्या सम्पादितं यत्तु स्थिरं सत्यश्च दृश्यते ।
कर्द्दमप्रभृतीनां तत्तपोयोगादिजं यथा ॥१८३॥

निःशेषसत्कर्म्मफलैकदातु-
योगीश्वरैरर्च्च्यपदाम्बुजस्य ।
कृष्णस्य शक्त्या जनितं तया य-
न्नित्यश्च सत्यश्च परं हि तद्वत् ॥१८४॥

एवं भगवता तेन श्रीकृष्णेनावतारिणा ।
न भिद्यन्तेऽवतारास्ते नित्याःसत्याश्च तादृशाः१८५

एकः स कृष्णो निखिलावतार-
समष्टिरूपो विविधैर्महत्त्वैः ।
तैस्तैर्निजैः सर्व्वविलक्षणैर्हि
जयत्यनन्तैर्भगशब्दवाच्यैः॥१८६॥

नारायणादप्यवतारभावे
संव्यज्यमानैर्मधुरैर्मनोज्ञैः ।
तत्प्रेमभक्त्यार्द्रहृदेकवेद्यै-
र्माहात्म्य-वर्गैर्विविधैर्विशिष्टैः॥१८७॥

तेषामप्यवताराणां सेवकैः परमं महत् ।
लभ्यते सुखमात्मात्मप्रियसेवा-रसानुगं ॥१८८॥

उपासनानुसारेण दत्ते हि भगवान् फलं ।
न तत्रापरितोषः स्यात् कस्यचित् साध्यलाभतः
॥१८९॥

विचित्रलीलाविभवस्य तस्य
समुद्रकोटीगहनाशयस्य ।

इसी अपरा माया के अतिक्रमण करने से ही मुक्ति तथा भक्ति सिद्ध होती है। इस मिथ्या जगत को इसी माया ने इन्द्रजाल की तरह रच रक्खो है ॥ १८२ ॥

जबकि तप आदि शक्तियों द्वारा किये हुये कार्य भी सत्य तथा चिरकालीन होते हैं, जैसे कर्दम आदि के रचे हुये विमान आदि, फिर जो सब कर्मों के फलों को देने वाले हैं, जिनके चरण कमलों की योगेश्वरादि भी पूजा करते हैं, उन श्रीकृष्ण की योग माया (पराशक्ति) द्वारा किये हुये कार्य नित्य तथा सत्य हों, इस में क्या आश्चर्य है ॥१८३-१८४॥

उक्त सिद्धान्त से यह सिद्ध हुआ श्रीकृष्ण भगवान् अवतारी हैं, इस लिये उनसे जितने भी अवतार प्रकट हुए हैं, वह सब उनसे पृथक् नहीं हैं, बल्कि उनके समान ही नित्य तथा सत्य हैं ॥१८५

एक श्रीकृष्ण ही सब अवतारों के समष्टि स्वरूप हैं वह सर्व विलक्षण विविध प्रकार की महिमाओं, तथा असीम षडैश्वर्य सम्पन्न सर्वोत्कृष्ट स्वरूप से, विराजमान हैं ॥१८६॥

श्रीकृष्ण ने अपने अवतार समय में विविध प्रकार की मधुर तथा मनोहर लीलाएँ करके जो अपनी महिमा प्रकट की थी, इनको एक मात्र प्रेम भरे हुये उनके भक्तों के हृदय ही अनुभव करते हैं। उन महिमाओं से श्रीकृष्ण श्रीनारायण से भी विशिष्ट हैं ॥१८७॥

सब अवतारों के उपासक गण, अपने-अपने प्रिय स्वरूपों की सेवा, तथा रस के अनुरूप परम सुख लाभ करते हैं। भगवान् उनकी उपासना के अनुरूप सब को फल देते हैं और उपासक लोग अपने-अपने साधनों के अनुरूप फल प्राप्त करके सन्तुष्ट होते हैं ॥१८८-१८९॥

श्रीकृष्ण की वह लीलाएँ जो पृथक्-पृथक् भक्तों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार रसास्वादन कराती हैं। उन लीलाओं का विविध

विचित्रतत्तद्रुचिदानलीला-
विभूतिमुत्तर्कयितुं प्रभुः कः ॥१६०

सिद्धयेत्तथाप्यत्र कृपा-महिष्ठता
यत्तारतम्येऽपि निज-स्वभावतः ।
स्पर्द्धाद्यवृत्तैर्निखिलैर्यथारुचि
प्राप्येत सेवा-सुखमन्त्यसीमगं ॥१६१॥

न सच्चिदानन्दघनात्मनां हि
स्वल्पेऽपि सौख्ये वहुसौख्यबुद्धिः ।
सांसारिकाणामिव नापि तुच्छ-
सुखानुभूतिर्यतिनामिव स्यात् ॥१६२॥

तारतम्यन्तु कल्प्येत
स्व-स्व-सेवानुसारतः ।
तत्तद्रससजातीय-
सुखवैचित्र्यपेक्षया ॥१६३॥

वैकुण्ठवासिनो ह्येते केचिद्वै नित्यपार्षदाः ।
परे कृष्णस्य कृपया साधयित्वेममागताः॥१६४॥

भजनानन्द-साम्येऽपि भेदः कश्चित् प्रकल्पते ।
वाह्यान्तरीणभावेन दूरपार्श्वस्थतादिना ॥१६५॥

यद्यप्येषां हि नित्यत्वात् साम्यं भगवता भवेत् ।
सेव्यसेवकताप्यास्ते नित्या सत्या स्वभावतः॥१६६

प्रकार का वैभव, उनका अभिप्राय करोड़ों समुद्रों के समान गम्भीर है। इसलिये वह सब लीलाएँ तर्क से अगोचर तथा वर्णनातीत हैं ॥१६०॥

तो भी उन लीलाओं से श्रीकृष्ण की बड़ी महिमा ही सिद्ध होती है। क्योंकि यद्यपि परस्पर उपासना में तारम्य प्रतीत होता है। तो भी पृथक्-पृथक् भक्त भक्ति के स्वभाव से स्पर्धा आदि रहित होकर, अपनी रुचि के अनुसार प्रभु की सेवा करके असीम सुख को लाभ करते हैं ॥१६१॥

अब यदि यह कहें कि उन भक्तों को संसारिक जीवों की तरह थोड़ा ही सुख होता है, परन्तु वह अधिक मान लेते हैं. यह बात नहीं है। क्यो कि जब कि उन भक्तों के सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, तब वह थोड़ा सुख को अधिक नहीं मान सकते हैं। और न ही उनके सुखों की सन्यासियों के मोक्ष आदि सुखों, से तुलना की जा सकती है, जो कि उनके सुखों के सामने एक तुच्छ सुख हैं ॥१६२॥

(जो भक्त अपने अपने भावों के अनुसार दास, सख्य, आदि रसों के अनुरूप भजन करते हैं) उनके पृथक्-पृथक् सुखों के अनुभवों में यद्यपि तारतम्य प्रतीत होता है, तो भी जिस-जिस भाव से जो-जो सेवा करते हैं, उन सब को असीम सुख की प्राप्ति होती है ॥१६३॥

हे गोपकुमार ! इन वैकुण्ठ वासियों में कोई कोई तो नित्य पार्षद हैं, और कोई-कोई श्रीकृष्ण की कृपा से साधन करके यहाँ आकर, पार्षद हुए हैं ॥ १६४ ॥

इन दोनों में यद्यपि सेवा सुख बराबर है। तो भी कुछ भेद की कल्पना की जाती है। वह यह है कि कोई तो भगवान् की अन्तरङ्ग सेवा, कोई वाह्य सेवा में लग हुए हैं। केवल निकट तथा दूर का तारतम्य है ॥१६५॥

यद्यपि भगवान् तथा नित्य पार्षदों की साम्यता है, तो भी उनका स्वभाव सिद्ध, यह भाव भी नित्य तथा सत्य है, कि भगवान् स्वामी हैं और वह पार्षद उनके सेवक हैं ॥१६६॥

सच्चिदानन्दसान्द्रत्वाच्चैषां भगवता सह ।
साम्येऽपि भजनानन्दमाधुर्य्याकर्षविद्यया ॥१९७
कयाचिदनयातर्क्यनानामधुरिमार्णवे ।
तस्मिन् श्रीकृष्ण-पादाब्जे घटते दासता सदा१९८

यद्यपि भगवान् तथा उनके पार्षद सच्चिदानन्द अंश में बराबर हैं। तो भी श्री भगवान् के चरणारविन्दों की सेवा सुख स्वरूप एक मधुर अनिर्वचनीय आकर्षण विद्या है, जो कि उन पार्षदों को अपनी ओर खेंच कर, श्रीकृष्ण के उन चरणारविन्दों में जोकि विविध प्रकार की माधुरीके समुद्र हैं, दास भाव को प्राप्त करा देती है ॥१९७-१९८॥

तैः सच्चिदानन्दघनैरशेषैः
श्रीकृष्णदेवस्य यथावतारैः ।
स्याातोऽवतारित्वमृतेऽपि साम्ये
तैस्तैर्महत्त्वैर्मधुरैर्विशेषः ॥१९९॥

श्रीकृष्ण सब अवतारों के अवतारी हैं, यह बात छोड़ कर जैसे कि सच्चिदानन्द अंश में श्री कृष्ण तथा और-और अवतारों की समता होते हुये भी, महिमा तथा माधुरी अंश में श्रीकृष्ण की और अवतारों से विशेषता है। इसी प्रकार भगवान् तथा उनके पार्षद भी सच्चिदानन्द अंश में बराबर हैं, और विचित्र लीला आदि तथा महिमा अंश में भगवान् की विशेषता है ॥१९९॥

वदन्ति केचिद्भगवान् हि कृष्णः
सुसच्चिदानन्दघनैकमूर्त्तिः ।
स यत् परं ब्रह्म परे तु सर्व्वे
तत्पार्षदा ब्रह्ममया विमुक्ताः ॥२००
भक्त्यानन्दविशेषाय लीलाविग्रहधारिणः ।
तथा भगवतः शक्त्या चिद्विलासस्वरूपया ॥२०१

किसी-किसी का यह मत है, कि भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, जिनका श्रीदिव्यमङ्गल विग्रह सच्चिदानन्द घन है। उनके सब पार्षद, विमुक्त तथा ब्रह्म स्वरूप होते हुये भी, उन्होंने भक्ति के आनन्द का अनुभव करने के लिये, भगवान् की चित्त शक्ति द्वारा अपनी इच्छा से स्वरूप धारण कर रक्खे हैं ॥२००-२०१॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।
पृष्टं मयेदं भगवन् ! धरातले
तिष्ठन्ति याः श्रीप्रतिमा महाप्रभोः ।
ताः सच्चिदानन्दघनास्त्वया मता
नीलाद्रि-नाथः पुरुषोत्तमो यथा ॥२०२

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! तब मैंने श्री नारदजी से यह पूछा हे भगवन् ! इस भूमण्डल पर जितनी भगवान् की श्री मूर्तियाँ तत् तत् स्थानों में विराजमान हैं, आपके मत में यह सब श्री जगन्नाथजी की तरह सच्चिदानन्द घन स्वरूप हैं ॥२०२॥

एकोऽपि भगवान् सान्द्रसच्चिदानन्दविग्रहः ।
कृपया तत्र तत्रास्ते तत्तद्रूपेण लीलया ॥२०३॥

यह सब सच्चिदानन्द स्वरूप तथा एक होते हुये भी, कृपा करके पृथक्-पृथक् अर्चा स्वरूपों से तत् तत् स्थानों पर अपनी इच्छा से विराजमान हैं ॥ २०३ ॥

तत्सर्व्व-नैरपेक्ष्येण को दोषः स्यात्तदर्चणे ।
कथञ्चित्क्रियमाणेऽपि महालाभोऽपि बुद्ध्यते२०४

इस लिये, सब साधनों को छोड़ कर यदि किसी प्रकार से भी इन अर्चा विग्रह स्वरूपों का पूजन किया जाए तो क्या इसमें कोई दोष है ? मुझको तो बड़ा लाभ ही प्रतीत होता है यदि यह

ततः कथं पुराणेभ्यः

श्रूयन्ते तत्तदुक्तयः ।

अप्रमाणञ्च ता न स्यु-

र्महन्मुख-विनिःसृताः ॥२०५॥

तत् श्रुत्वोक्तं प्रभोः पूजामार्गादिगुरुणामुना ।

उत्थाय परमानन्दान्मामाश्लिष्येदमुत्तरं ॥२०६॥

श्रीनारद उवाच ।

प्रतिमा या मयोद्दिष्टाः साक्षाद्भगवता समाः ।

तासामर्च्चन-माहात्म्यं तावदास्तां सुदूरतः ॥२०७

आद्यामाधुनिकीं वार्च्चां स्व-धर्म्माद्यनपेक्षया ।

साक्षाच्छ्रीभगवद्बुद्धया भजतां कृत्रिमामपि२०८

न पातित्यादिदोषः स्याद्गुण एव महान् मतः।

सैवोत्तमा मता भक्तिःफलं या परमं महत् ॥२०९

सिद्धिः स्याद्भगवद्दृष्ट्या तृण-सम्माननादपि ।

सकृदुच्चारणान्नामाभासस्य श्रवणात्तथा ॥२१०॥

कुतस्तत्स्मारके तस्याधिष्ठाने मन्त्रसंस्कृते ।

सर्व्वभक्तिपदे पूज्यमाने दोषादितर्कणं ॥२११॥

कदापि कृष्ण-प्रतिमार्चनावतां

न सम्भवेत् कृष्णपरेष्वनादरः ।

मत ठीक है, तो फिर किसी किसी पुराण में श्री अर्चा विग्रह के पूजन के विषय में इस प्रकार का वर्णन क्यों किया गया है ? "कि जीवों का अनादर करके जो कोई प्रभु की श्री मूर्ति का पूजन करता है, उसका पूजन राख में आहुति की तरह व्यर्थ ही है"। ऐसी उक्तियाँ बड़े-बड़े महान् पुरुषों के मुखारविन्दों से निकली हुई हैं। इस लिये इन को भी व्यर्थ नहीं कह सकते हैं ॥२०४-२०५॥

यह सुन कर, श्री नारदजी ने, जोकि भगवान् की पूजा मार्ग के आदि गुरु हैं, उठ कर बड़े आनन्द से मुझको आलिङ्गन करके, इस प्रकार उत्तर दिया ॥२०६॥

श्रीनारदजी बोले ।

जिन अर्चा स्वरूपों का मैंने पहले वर्णन किया था, वह तो साक्षात् भगवान् के बराबर ही हैं। उनके पूजन की महिमा तो दूर रही, जो श्रीभगवान् की श्री मूर्ति पहले तथा अब प्रकट हुई हुई हैं, अथवा निर्माण की हुई हैं, इन सबके साक्षात् भगवद्बुद्धि से अपने वर्ण आश्रम धर्मों को त्याग कर भी पूजन करने से वर्ण आश्रम धर्म त्याग जनित दोष आदि नहीं होकर, उसका अच्छा ही परिणाम होता है, यह सज्जनों का मत है। इस अर्चन आत्मिक भक्ति को ही उत्तम भक्ति कहते हैं और यही श्रेष्ठ फल स्वरूपा है। भगवत् अर्चा स्वरूप के पूजन की महिमा तो दूर रही, यदि एक तृण को भी भगवद् बुद्धि से सन्मान करें, एक बार भी भगवत् नाम आभास को उच्चारण करें, अथवा श्रवण करें, तो इनसे भी अभिष्ट सिद्धि प्राप्त हो सकती है। फिर बताइये उन श्रीमूर्तियों के पूजन करने में क्या दोष है ? जो कि वैदिक मन्त्रों द्वारा संस्कार की गई हैं, जो सब भक्तियों के आश्रय स्वरूपा हैं, जो साक्षात् भगवान् के स्मारक चिन्ह हैं, तथा उनके अधिष्ठान स्वरूपा हैं ॥२०७-२०८-२०९-२१०-२११॥

जो भक्त भगवान् के श्री अर्चा विग्रह की पूजा करते हैं, उनसे भगवद्भक्तों के प्रति कभी भी अनादर होना सम्भव नहीं है। यदि पूजा में

घटेत चेत् क्वापि तद्विषक्तितो
गृणन्ति नागस्तदमी स्तुवन्त्यथ ॥२१२

ये तु तत्प्रतिमां नूत्नामधिष्ठानं हरेरिति ।
भेददृष्ट्याथ शैल्यादिबुद्ध्या सम्पूजयन्ति हि२१३

न मानयन्ति तद्भक्तान् सर्व्वभूतावमानिनः ।
पूजा-गर्व्वेण वेदाज्ञामतिक्रामन्ति च प्रभोः २१४

त एव सर्व्वभक्तेभ्यो न्यूनास्ते मन्दबुद्धयः ।
पूजा-फलं न विदन्ति त एव हि यथोदितं॥२१५

यद्यप्यशेषसत्कर्म्मफलतोऽधिकमुत्तमं ।
तेषामपि फलत्येव तत्पूजा-फलमात्मना ॥२१६॥

तथापि भगवद्भक्ति-योग्यं न जायते फलं ।
इति साधुवरैस्तत्तत्तत्र तत्र विनिन्द्यते ॥२१७॥

तानि तानि पुराणादि-वचनान्यखिलान्यपि ।
तत्तद्विषयकान्येव मन्यस्व न तु सर्व्वतः ॥२१८॥

तेऽपि नूनं न तां पूजां त्यजेयुर्यदि सर्व्वथा ।
तदा तन्निष्ठया चित्ते शोधिते गुणदर्शिनां ॥२१६

कृपया कृष्ण-भक्तानां प्रक्षीणाशेषदूषणाः ।
कालेन कियता तेऽपि भवन्ति परमोत्तमाः २२०

यथा सकामभक्ता हि भुक्त्वा तत् कामितं फलं ।
काले भक्ति-प्रभावेण योग्यं विन्दन्ति तत्फलं२२१

यथा च तत्र तत्कालं भक्तेर्योग्यं न सत्फलं ।

आसक्त होने के कारण, ऐसा कभी हो भी जाय, तो भी वह भक्त उसको अपराध न समझ कर, उनकी प्रशंसा ही करते हैं ॥२१२॥

(अब श्लोक २०५ का उत्तर देते हुये कहते हैंः-) जो कोई इस बुद्धि से भगवान् की श्री मूर्ति की पूजा करते हैं कि, यह नूतन निर्माण की हुई है, यह शिला आदि स्वरूप है और इस मूर्ति का भगवान् से भेद है। तथा जो उनके भक्तों का सन्मान नहीं करते हैं, सब जीवों का अनादर करते हैं, जो अपनी पूजा के गर्व से भगवद् आज्ञा स्वरूप वेद को नहीं मानते हैं। वह सब भक्तों में मन्द बुद्धि तथा कनिष्ठ हैं। इसी प्रकार के पुरुष ही पूजा के यथार्थ फल को लाभ नहीं कर सकते हैं। यद्यपि इस प्रकार से की गई हुई पूजा के प्रभाव से भी, उन भक्तों को स्वतः सिद्ध और कर्म काण्ड के फल की अपेक्षा अधिक तथा उत्तम फल होता है। तो भी वह फल भगवद्भक्ति के अनुरूप नहीं है। इस लिये उनकी सज्जन पुरुष जहाँ तहाँ निन्दा करते हैं॥२१३-२१४-२१५-२१६-२१७

इसी प्रकार की पूजा की ही जहाँ तहाँ समस्त पुराणों में निन्दा की गई है। सब प्रकार की पूजाओं की निन्दा में तात्पर्य नहीं है ॥२१८॥

इस प्रकार के कनिष्ठ भक्त भी, यदि इस प्रकार की भी, पूजा को निरन्तर करते रहेंगे, तो भी उस पूजा के प्रभाव से उनके चित्त शुद्ध होजाएँगे। केवल गुण ग्राही भगवद्भक्तों की कृपा से उनके अवशिष्ट दोष भी जल्दी दूर होकर, कुछ काल के बाद, वह कनिष्ट भक्त भी उत्तमता को प्राप्त हो जाएँगे ॥२१६-२२०॥

जैसे सकामी भक्त यद्यपि प्रारम्भ में भक्ति के अनुरूप फल प्राप्त नहीं करते हैं, बल्कि अपनी कामनाओं के अनुरूप फल भोगते हैं। तो भी भक्ति के प्रभाव से कालान्तर में यथार्थ फल प्राप्त कर लेते हैं ॥२२१॥

तथा जैसे सकामी भक्तों को, भक्ति की सकाम अवस्था में यथार्थ फल प्राप्त नहीं होते हैं, इस

सञ्जातमिति तच्छुद्ध-

भक्तिमद्भिर्विनिन्द्यते ॥२२२॥

ते हि भक्तेः फलं मूलं भगवच्चरणाब्जयोः ।

सदा सन्दर्शनक्रीड़ानन्दलाभादि मन्वते॥२२३॥

नापि तत्र सहन्ते ते विलम्बं लव-मात्रकं ।

भगवानपि तान् हातुं मनागपि न शक्नुयात् २२४

अतोऽन्यान्यतितुच्छानि सर्व्वकामफलानि हि ।

मुक्तिश्च सुलभान्यस्मात्तद्भक्तिर्न तु तादृशी २२५

तत्प्रसादेन भक्तानामधीनो भगवान् भवेत् ।

इति स्वातन्त्र्य-हान्येव न तां दद्यान्महेश्वरः २२६

मन्ये महाप्रेष्ठजनानुवश्यता

न दुःख-दोषौ विदधीत कौचन ।

किन्तु प्रमोदं निज-भक्तवत्सल-

त्वादीन्महाकीर्त्तिगुणांस्तनोति सा २२७

विशेषतो नागरशेखरस्य

स्वारामतादिस्वगुणापवादैः ।

अपेक्षणीया परमप्रिया सा

काष्ठा परा श्रीभगवत्त्वसीम्नः ॥२२८॥

सप्रेमभक्तेः परिपाकतः स्यात्

काचिन्महाभावविशेषसम्पत् ।

लिये शुद्धभक्ति करने वाले उनकी निन्दा करते हैं। इसी प्रकार उन कनिष्ठ भक्तों की जिनकी भेद बुद्धि है, पुराणादि में निन्दा की गई है॥२२२॥

परन्तु उत्तम भक्त तो भक्ति का श्रेष्ठ फल, भगवान् के चरणारविन्दों का, तथा उनके बिहार आदि का, सदा दर्शन करके, आनन्द प्राप्ति को ही मानते हैं। वह भक्त उनके दर्शन आदि में, लव मात्र का भी बिलम्ब सहन नहीं करते हैं, और भगवान् भी क्षण काल के लिये उनको नहीं छोड़ते हैं ॥२२३-२२४॥

इस लिये उन भक्तों के लिये अन्य अन्य काम्य फल तथा मुक्ति तुच्छ हैं। यद्यपि यह सब सुलभता से प्राप्त हो सकते हैं तो भी (प्रेम) भक्ति इस प्रकार सुलभ नहीं है। उस भक्ति की कृपा से भगवान् भी अधीन हो जाते हैं। किसी-किसी का यह मत है, कि क्योंकि वह भगवान् महेश्वर हैं, इस भक्ति के आधीन होने से उनकी स्वतन्त्रता में हानि पहुँचती है इस लिये वह इस भक्ति को नहीं देते हैं ॥२२५-२२६॥

परन्तु हमारा तो यह सिद्धान्त है। कि जो भगवान्, भक्ति से अपने प्रिय भक्तों के आधीन हो जाते हैं, इसमें भगवान् के लिये कोई दोष तथा दुख नहीं है। क्योंकि वह भगवान् भक्त वत्सल हैं, इस लिये उनको ऐसा करने में बड़ा आनन्द होता है और वह इस प्रकार के गुणों से अपनी बड़ी कीर्ति का विस्तार करते हैं ॥२२७॥

अपने भक्तों के अधीन होना, नागरशिरोमणि श्रीकृष्ण के विशेष आनन्द तथा भक्तवत्सल्यादि गुणों को बढ़ाता है यह अधीन होना ही भगवत्ता की चरम सीमा है। श्रीकृष्ण अपने आत्माराम, पूर्ण काम, महायोगेश्वर आदि गुणों को भी परित्याग करके, इस पराधीनता को स्वीकार करते हैं ॥२२८।

वह प्रेम भक्ति जब कि परिपक्व अवस्था को प्राप्त होती है। तब उसमें श्रेष्ठ भाव रूपी विशेष सम्पत्तियाँ अर्थात् अष्ट सात्विक आदि प्रकट होते

सा वै नरीनर्त्ति महाप्रहर्ष-
साम्राज्य-मूर्द्धोपरि तत्त्वदृष्ट्या ॥२२६॥
स्वभावतोऽथापि महार्त्तिशोक-
सन्ताप-चिह्नानि वहिस्तनोति ।
वाह्यापि सा प्रेष्ठतमस्य सोढुं
दशा न शक्येत कदापि तेन॥२३०
लोका वहिर्दृष्टिपरास्तु भावं
तं भ्रामकं प्रेम-भवं विलोक्य ।
भक्तावकामा विहसन्ति भक्तां-
स्ततप्रेमभक्तिं भगवान्न दत्ते॥२३१
सप्रेमका भक्तिरतीव दुर्ल्लभा
स्वर्गादिभोगः सुलभोऽभवश्च सः ।
चिन्तामणिः सर्व्वजनैर्न लभ्यते
लभ्येत काचादि कदापि हाटकं॥२३२
कदाचिदेव कस्मैचित्तदेकार्थस्पृहावते ।
तां दद्याद्भगवान् भक्तिं लोकवाह्याय धीमते २३३
शक्यं न तद्भावविशेषतत्त्वं
निर्वक्तुमस्माभिरथो न योग्यं ।
भक्तिप्रवृत्त्यर्थपरैः प्रभोः स-
च्छास्त्रैरिवाङ्गेषु विरुद्धवत् स्यात्॥२३४

लगते हैं। उस अवस्था का, यदि तत्व दृष्टि से विचार किया जाय, तो वह सुख, और सब सुखों पर चूड़ामणि स्वरूप होकर बिराजता है ॥२२६॥

यद्यपि इस श्रेष्ठ भाव के स्वाभाविक बहिर चिन्ह महादुख, शोक तथा सन्ताप आदि प्रतीत होते हैं और भीतरमें एक अनिर्वचनीय आनन्द का सञ्चार होता है। तो भी श्रीकृष्ण बाहर के चिन्हों को अपने प्रेष्ठ पर देख कर सहन नहीं कर सकते हैं ॥ २३० ॥

(दूसरे श्रीकृष्ण यह समझ कर) कि संसार के बहिर दृष्टि वाले पुरुष, भक्तों पर शोक, मोह, आदि चिन्ह देख कर, भ्रम में पड़ जायेंगे, वह भक्ति करना नहीं चाहेंगे तथा प्रेमी भक्तों को देख कर हँसेंगे इस लिये भी वह सर्वलोक हितैषी प्रभु प्रेम भक्ति को प्रदान नहीं करते हैं ॥२३१॥

जैसा कि स्वर्ण तथा काँच आदि सब को प्राप्त हो सकते हैं परन्तु चिन्तामणि प्राप्त होना अति-दुर्लभ है, इसी प्रकार स्वर्ग आदि भोग तथा मुक्ति सुलभ हैं, परन्तु वह प्रेम भक्ति अति दुर्लभ है ॥ २३२ ॥

जिन बुद्धिमान पुरुषों की, एक मात्र प्रेम भक्ति में ही अभिलाषा है, और जो किसी संसारिक पदार्थ की इच्छा नहीं करते हैं, भगवान् उन्हीं भक्तों को कभी-कभी इस प्रकार की भक्ति प्रदान करते हैं ॥२३३॥

उस प्रेम भक्ति के यथार्थ तत्व को हम लोग भी वर्णन नहीं कर सकते हैं। यदि तटस्थ लक्षण से कुछ वर्णन भी करें, तो भी उसमें विरोध आता है। क्यों कि हम लोग, प्रभु के सत् शास्त्रों की तरह, भक्ति के प्रवर्त्तक हैं। और उस भक्ति के बहिर चिन्ह से संताप, दुख आदि प्रतीत होते हैं। इसलिये इस प्रकार की भक्ति के प्रचार करने से, मूर्ख लोग यथार्थ भक्ति के स्वरूप को न समझ कर, इसके वाह्य चिन्हों को ही भक्ति मानकर, इस मार्ग में प्रवेश करने से संकुचित हो जायेंगे ॥ २३४ ॥

तद्भावोत्कर्षमाधुर्य्यं विदुस्तद्रसवेदिनः ।

तत्रत्यस्त्वमपि ज्ञास्यस्यचिरात्तत्प्रसादतः ॥२३५

उस भाव के उत्कर्ष तथा माधुरी को उस रस के जानने वाले ही जानते हैं। आप भी वहाँ के परिकर हैं, इसलिये श्रीकृष्ण की कृपा से आप भी जल्दी ही इसके रहस्य को जान जाओगे ॥२३५॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

एवं निजेष्टदेवश्रीगोपाल-चरणाब्जयोः ।

नितरां दर्शनोत्कण्ठा तद्वाचा मे व्यवर्द्धत॥२३६

ताद्दग्भावविशेषाशा-वात्याप्यजनि तत्क्षणात् ।

ताभ्यां शोकार्णवे क्षिप्तं मामालक्ष्याह सान्त्वयन् ॥२३७॥

श्रीगोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! उन श्री नारदजी के इस प्रकार वर्णन करने से, मेरी अपने इष्टदेव श्रीगोपालजी के चरणारविन्दों के दर्शन करने की तथा उसी प्रकार की प्रेम भक्ति के भाव विशेष प्राप्तकरने की उत्कण्ठा अधिक बढ़ गई। उसी क्षण मैं, यह समझ कर कि मेरे लिये यह दोनों आशाएँ दुर्लभ हैं मैं शोक रूपी समुद्र में डूब गया। तब श्री नारदजी, मुझको शान्त्वना देते हुये, यह कहने लगे ॥ २३६-२३७ ॥

श्रीनारद उवाच ।

यद्यप्येतन्महागोप्यं युज्यते नात्र जल्पितुं ।

तथापि तव कातर्य्य-भरैर्मुखरितो ब्रुवे ॥२३८॥

श्री नारदजी बोले ।

यद्यपि यह महा गोप्य रहस्य, यहाँ प्रकाश नहीं करना चाहिये, तो भी आपको अत्यन्त कातर देख कर, मैं वाचाल होकर कहता हूँ ॥२३८॥

इतोऽदूरेऽयोध्या विलसति पुरी श्रीरघुपते-

स्ततो दूरे श्रीमन्मधुरमधुपुर्य्यैव सद्दशी ।

पुरी द्वारावत्युल्लसति दयिता श्रीयदुपते-

स्तमेवास्यां गत्वा-निज-दयितदेवं भज दृशा२३९

यहाँ से थोड़ी ही दूर, श्री अयोध्यापुरी है, जहाँ कि श्री रघुनाथ जी विराजते हैं। वहाँ से बहुत दूर श्री द्वारिकापुरी है, जो कि मथुरा की तरह परम सुन्दर है, वह श्री यदुपति भगवान्, श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्यारी है। वहाँ जाकर आप अपने इष्ट देव का साक्षात् दर्शन करें ॥२३९॥

प्रागयोध्याभिगमने सदुपायमिमं शृणु ।

श्रीरामचन्द्र-पादाब्जसेवैकरसिकैर्म्मतं ॥२४०॥

पहले अयोध्या जाने के लिये, मैं उन श्रेष्ठ सिद्धान्तों को आप से कहता हूँ, जो श्री रघुनाथ जी के चरणारविन्दों की सेवा करने वाले रसिक महात्माओं का है। उनको आप सावधानी से सुनें ॥ २४० ॥

साक्षाद्भगवतस्तस्य श्रीकृष्णस्यावतारिणः ।

उपासना-विशेषेण सर्व्वं यद्यपि लभ्यते ॥२४१॥

तथापि रघुवीरस्य श्रीमत्पादसरोजयोः ।

तयो रसविशेषस्य लाभायोपदिशाम्यहं ॥२४२॥

यद्यपि सब अवतारों के अवतारी स्वरूप साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना से सब कुछ प्राप्त हो सकता है, तो भी श्रीरघुनाथजी के चरणारविन्दों के रस विशेष को लाभ करने के लिये मैं यह उपदेश करता हूँ ॥२४१-२४२॥

"सीती-पते ! श्रीरघुनाथ ! लक्ष्मण-
ज्येष्ठ ! प्रभो ! श्रीहनुमत्प्रियेश्वर !" ।

वेद शास्त्र में जो श्री रघुनाथजी के प्रसिद्ध रूप, गुण वैभव आदि वर्णन हैं आप उनको

इत्यादिकं कीर्त्तय वेदशास्त्रतः
ख्यातं स्मरंस्तद्गुणरूपवैभवं ॥२४३॥

स्मरण करते हुए, इस प्रकार कीर्तन करें:—"हे सीतापते! श्री रघुनाथ! लक्ष्मण जेष्ठ! प्रभो! श्री हनुमत् प्रियेश्वर" ॥२४३॥

येन प्रकारेण निजेष्टदेवो
लभ्येत तस्यानुसृतिं कृतित्वं।
यत्रास्य गन्धोऽपि भवेत् क्रियेत
प्रीतिः परा तत्र तदेकनिष्ठैः॥२४४॥

हे गोपकुमार! यदि आप यह कहें, कि मैं तो श्री गोपाल जी का ऐकान्तिक भक्त हूँ, मैं श्री रघुनाथ जी की प्रेम युक्त भक्ति कैसे कर सकता हूँ? तो उसका उत्तर यह है:—कि बुद्धिमान पुरुष को जिस प्रकार से अपने इष्ट देव की प्राप्ति हो सके, उसका ही अनुष्ठान करना चाहिये। जहाँ कहीं अपने इष्ट देव सम्बन्ध की गन्ध भी हो, वहाँ परम ऐकान्तिक भक्त को भी, बड़ा प्रेम करना चाहिये ॥ २४४ ॥

श्रीराम-पादाब्जयुगेऽवलोकिते
शाम्येन्न चेत् सा तव दर्शनोत्कता।
तेनैव कारुण्य-भरार्द्रचेतसा-
प्रहेष्यते द्वारवतीं सुखं भवान् ॥२४५॥

श्री रघुनाथ जी के युगल चरणारविन्दों के दर्शन करने से भी, जब कि आपकी अपने इष्ट देव के दर्शन की उत्कण्ठा निवृत नहीं होगी, तब वह श्री रघुनाथजी ही जिनका हृदय करुणा से आर्द्र हुआ रहता है, प्रसन्न होकर आपको, बिना ही किसी परिश्रम के श्री द्वारिकापुरी में भेज देंगे ॥ २४५ ॥

संकीर्त्तनं तस्य यथोदितं प्रभोः
कुर्व्वन् गतस्तत्र निज-प्रियेश्वरं।
श्रीकृष्णचन्द्रं यदुभिर्वृतं चिरं-
दिदृक्षितं द्रक्ष्यसि तं मनोहरं॥२४६॥

शास्त्र के विधान से, अपने प्रभु का नाम संकीर्तन करते हुये, वहाँ जाकर आप अपने मनोहर प्राणेश्वर उन श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन करोगे, जो कि और और यदुवंशियों से आवृत हैं और जिनके दर्शन के लिये आप चिरकाल से व्याकुल हो रहे हैं ॥ २४६ ॥

वैकुण्ठस्यैव देशास्ते कोशला-द्वारकादयः।
तत्तत्र गमनायाज्ञा तद्भर्त्तुर्न ह्यपेक्ष्यतां ॥२४७॥

श्री अयोध्या तथा श्री द्वारिका वैकुण्ठ के ही देश विशेष हैं, इस लिये यहाँ जाने के लिये श्री वैकुण्ठनाथ की आज्ञा लेने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २४८ ॥

तस्याज्ञयागतोऽत्राहं सर्व्व-हृद्वृत्तिदर्शिनः।
मन्मुखेनैव तस्याज्ञा सम्पन्नेत्यनुमन्यतां॥२४८॥

उन श्री वैकुण्ठनाथ की आज्ञा से ही, मैं यहाँ आया हूँ, जो कि सब के हृदय की बात जानने वाले हैं। आप यह समझें, कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ यह सब उनका आदेश ही है ॥२४८॥

एकं महाभक्तमनुग्रहीतुं
स्वयं कुतश्चिद्भगवान् गतोऽयं।

वह भगवान किसी बड़े भक्त पर कृपा करने के लिये इस समय कहीं बाहर गये हुये हैं। क्यों

सोढुं विलम्बं न हि शक्ष्यसि त्वं
तन्निर्गमे तेऽवसरो वरोऽयं ॥२४९॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

श्रुत्वा तन्नितरां हृष्टो मुहुः श्रीनारदं नमन् ।
तस्याशीर्व्वादमादाय शिक्षाश्चानुस्मरन्नयां॥२५०

दूरादेव गतोऽद्राक्षं वानरांस्तानितस्ततः ।
प्लवमानान् महालोलान् रामरामेति वादिनः २५१

तैः सहाग्रे गतो वंशीमाकर्षद्भिः करान्मम ।
नरानपश्यं वैकुण्ठपार्षदेभ्योऽपि सुन्दरान् ॥२५२

तैरेवार्य्यवराचारैर्मन्नत्याद्यसहिष्णुभिः ।
पुरीं प्रवेशितो बाह्यं प्राक् प्रकोष्ठमगामहं॥२५३॥

सुग्रीवाङ्गदजाम्बवत्प्रभृतिभिस्तत्रोपविष्टं सुखं
श्रीमन्तं मधुरैर्नरैश्च भरतं शत्रुघ्नयुक्तं पुरः ।
दृष्ट्वाहं रघुनाथमेव नितरां मत्वा स्तुवंस्तत्स्तवैः
कर्णौ तेन पिधाय दास्यपरया वाचा निषिद्धो मुहुः
॥२५४॥

भीतस्तदग्रेऽञ्जलिमानवस्थितो
निःसृत्य वेगेन हनूमता बलात् ।
प्रवेशितोऽन्तःपुरमद्भुताद्भुतं
व्यलोकयं तं नृवराकृतिं प्रभुं ॥२५५

कि आप उनके आने तक के बिलम्ब को सहन नहीं कर सकेंगे, इसलिये आपका यहाँ से, अभी चला जाना ही ठीक है ॥२४९॥

श्री गोपकुमार बोले ।

तब मैं श्री नारदजी के इस प्रकार बचन सुन कर, बड़ा प्रसन्न हुआ । बार-बार प्रणाम करके, उनके शुभ आशीर्वादों को ग्रहण करके उनकी शिक्षा अनुसार मैं वहाँ से चल पड़ा ॥२५०॥

कुछ दूर जाकर मैं श्री अयोध्यापुरी की सीमा में पहुँचा । वहाँ मैंने इधर उधर बहुत से बन्दरों को देखा, जो राम नाम कीर्तन करते हुये चञ्चलता से कूद रहे थे ॥२५१॥

उन बन्दरों ने, मेरे हाथ से बंशी को छीन लिया । जब मैं उनके साथ २ आगे को चला, तब मैंने उन मनुष्यों के दर्शन किये, जो कि वैकुण्ठ के पार्षदों से भी अधिक सुन्दर थे ॥२५२॥

उन मनुष्यों का बर्ताव बड़े श्रेष्ठ मनुष्यों सरीखा था । जब कि मैं उनको प्रणाम करता था, तब वह लोग बड़े संकोच में आकर, मुझको ऐसा करने से रोकते थे । इस प्रकार मैंने उनके साथ पुरी में प्रवेश किया । जब मैं पहले दरवाजे पर पहुँचा, तब मैंने श्री सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बुवान आदि तथा सुन्दर-सुन्दर मनुष्यों से आवृत श्री भरत शत्रुघ्न जी का दर्शन किया, जोकि आनन्द पूर्वक बैठे हुये थे । मैंने उनके दर्शन करके उन्हीं को श्री रघुनाथ जी समझा । जबकि मैं उनकी स्तुति करने लगा, तब उन्होंने अपने कानों को बन्द कर लिया और यह कह कर, कि हम लोग तो उनके दास हैं. मुझको स्तुति करने से रोक दिया ॥ २५३-२५४॥

जब कि मैं अपराध के भय से हाथ जोड़ कर उनके सामने उपस्थित हुआ, तब श्री हनुमानजी दौड़ कर वहाँ आये और उन्होंने मुझको बलपूर्वक अन्तःपुर में प्रवेश कराया । तब मैंने मनुष्य आकृति भगवान् श्री रामचन्द्रजी के दर्शन किये, जिनकी शोभा बड़ी अद्भुत से भी अद्भुत है, जो

सोढुं विलम्बं न हि शक्ष्यसि त्वं
तन्निर्गमे तेऽवसरो वरोऽयं ॥२४६॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

श्रुत्वा तन्नितरां हृष्टो मुहुः श्रीनारदं नमन् ।
तस्याशीर्व्वादमादाय शिक्षाश्चानुस्मरन्नयां॥२५०
दूरादेव गतोऽद्राक्षं वानरांस्तानितस्ततः ।
प्लवमानान् महालोलान् रामरामेति वादिनः २५१
तैः सहाग्रे गतो वंशीमाकर्षद्भिः करान्मम ।
नरानपश्यं वैकुण्ठपार्षदेभ्योऽपि सुन्दरान् ॥२५२
तैरेवार्य्यवराचारैर्मन्नत्याद्यसहिष्णुभिः ।
पुरीं प्रवेशितो बाह्यं प्राक् प्रकोष्ठमगामहं॥२५३॥
सुग्रीवाङ्गदजाम्बवत्प्रभृतिभिस्तत्रोपविष्टं सुखं
श्रीमन्तं मधुरैर्नरैश्च भरतं शत्रुघ्नयुक्तं पुरः ।
दृष्ट्वाहं रघुनाथमेव नितरां मत्वा स्तुवंस्तरस्तवैः
कर्णौ तेन पिधाय दास्यपरया वाचा निषिद्धो मुहुः
॥२५४॥

भीतस्तदग्रेऽञ्जलिमानवस्थितो
निःसृत्य वेगेन हनूमता बलात् ।
प्रवेशितोऽन्तःपुरमद्भुताद्भुतं
व्यलोकयं तं नृवराकृतिं प्रभुं ॥२५५

कि आप उनके आने तक के बिलम्ब को सहन नहीं कर सकेंगे, इसलिये आपका यहाँ से, अभी चला जाना ही ठीक है ॥२४६॥

श्री गोपकुमार बोले ।

तब मैं श्री नारदजी के इस प्रकार बचन सुन कर, बड़ा प्रसन्न हुआ। बार-बार प्रणाम करके, उनके शुभ आशीर्बादों को ग्रहण करके उनकी शिक्षा अनुसार मैं वहाँ से चल पड़ा ॥२५०॥

कुछ दूर जाकर मैं श्री अयोध्यापुरी की सीमा में पहुँचा। वहाँ मैंने इधर उधर बहुत से बन्दरों को देखा, जो राम नाम कीर्तन करते हुये चञ्चलता से कूद रहे थे ॥२५१॥

उन बन्दरों ने, मेरे हाथ से बंशी को छीन लिया। जब मैं उनके साथ २ आगे को चला, तब मैंने उन मनुष्यों के दर्शन किये, जो कि वैकुण्ठ के पार्षदों से भी अधिक सुन्दर थे ॥२५२॥

उन मनुष्यों का बर्ताव बड़े श्रेष्ठ मनुष्यों सरीखा था। जब कि मैं उनको प्रणाम करता था, तब वह लोग बड़े संकोच में आकर, मुझको ऐसा करने से रोकते थे। इस प्रकार मैंने उनके साथ पुरी में प्रवेश किया। जब मैं पहले दरवाजे पर पहुँचा, तब मैंने श्री सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बुवान आदि तथा सुन्दर-सुन्दर मनुष्यों से आवृत श्री भरत शत्रुघ्न जी का दर्शन किया, जोकि आनन्द पूर्वक बैठे हुये थे। मैंने उनके दर्शन करके, उन्हीं को श्री रघुनाथ जी समझा। जबकि मैं उनकी स्तुति करने लगा, तब उन्होंने अपने कानों को बन्द कर लिया और यह कह कर, कि हम लोग तो उनके दास हैं, मुझको स्तुति करने से रोक दिया ॥ २५३-२५४॥

जब कि मैं अपराध के भय से हाथ जोड़ कर उनके सामने उपस्थित हुआ, तब श्री हनुमानजी दौड़ कर वहाँ आये और उन्होंने मुझको बलपूर्वक अन्तःपुर में प्रवेश कराया। तब मैंने मनुष्य आकृति भगवान् श्री रामचन्द्रजी के दर्शन किये, जिनकी शोभा बड़ी अद्भुत से भी अद्भुत है, जो

प्रासादमुख्येऽखिलमाधुरीमये
साम्राज्यसिंहासनमास्थितं सुखं।
हृष्टं महापूरुषलक्षणान्वितं
नारायणेनोपमितं कथञ्चन ॥२५६॥
ततोऽपि कैश्चिन्मधुरैर्विशेषै-
र्मनोरमं चापविलासिपाणिं।
सप्रश्रयह्रीरमितावलोकं
राजेन्द्रलीलं श्रितधर्म्मवार्त्तं ॥२५७॥

अत्यन्त सुन्दर महल के मध्य में चक्रवर्ती सम्राटों जैसे उच्च मनोहर सिंहासन पर आनन्द से विराजमान हैं, जो महापुरुषों सरीखे सब लक्षणों से भूषित तथा बड़े प्रसन्न चित्त हैं, जिनकी समता की उपमा कुछ श्रीमन्नारायण से दी जा सकती है। किसी-किसी मधुर गुण में जिनका श्रीनारायण से भी उत्कर्ष है। जिनके गुण मनको रमाने वाले हैं तथा जिनके हस्त कमलों में धनुषवाण है। जिनके नेत्र कमल विनय तथा लज्जा से झुके हुये हैं। जिनकी लीलाएँ राज राजेश्वरों सरीखी हैं। तथा जो श्रेष्ठ धर्मों की चर्चा कर रहे हैं ॥२५५॥ ॥ २५६-२५७ ॥

तद्दर्शनानन्द-भरेण मोहितो
दण्डप्रणामार्थमिवापतं पुरः।
ततश्च तेनार्थवरेण वञ्चितो
व्युत्थापितस्तत्कृपया व्यलोकयं॥२५८॥

ज्यों ही मैंने उनके दर्शन किये, त्योंही मैं उनके दर्शनानन्द से मूर्छित होकर दण्डवत् प्रणाम करने की तरह उनके आगे गिर पड़ा। उस समय मैं उनके दर्शनों से वंचित होगया तब मानो उनकी कृपा ने ही मुझको उठाया। सावधान होकर, फिर मैं उकके दर्शन करने लगा ॥२५८॥

मां तत्र हित्वा निजसेवयाहृतः
प्लुत्यैकया श्रीहनुमान् गतोऽन्तिकं।
सीतानुरूपा रमते प्रिया प्रभोः
सव्येऽस्य पार्श्वेऽनुजलक्ष्मणोऽन्यतः २५९

श्री हनुमानजी मुझको वहाँ छोड़ कर, अपनी सेवा समाधान करने के लिये कूदते हुये प्रभु के समीप चले गये। श्री प्रभु के वाम भाग में उन्हीं के अनुरूप उनकी प्रिया श्री सीताजी विराज रही हैं और दक्षिण भाग में उनके छोटे भाई श्री लक्ष्मणजी हैं ॥२५९॥

कदापि शुभ्रैर्वरचामरैः प्रभुं
गायन् गुणान् वीजयति स्थितोऽग्रतः।
कदाप्युपश्लोकयति स्वनिर्म्मितै-
श्चित्रैस्तवैः श्रीहनुमान् कृताञ्जलिः २६०

श्री हनुमानजी कभी-कभी तो उनके गुण गाते हुये सुन्दर श्वेत चमर को उन पर डुलाते हैं। कभी वह उनके सामने उपस्थित होकर, हाथ जोड़ कर, स्वयं निर्मित चित्र-विचित्र श्लोकों से उनकी स्तुति करते हैं ॥२६०॥

श्वेतातपत्रञ्च बिभर्त्त्यसौ क्षणं
सम्वाहयेत्तस्य पादाम्बुजे क्षणं।
सेवा-प्रकारान् युगपद्बहून् क्षणं
तस्मिन्नवैयग्र्यमहो तनोति च॥२६१

किसी-किसी समय वह श्वेत छत्र को धारण करते हैं कभी उनके चरणारविन्दों को चाँपते हैं, किसी समय वह एकाग्र होकर एक ही काल में दो तीन सेवाओं को भी समाधान करते हैं ॥२६१॥

परमहर्षभराक्रमितो ह्यहं
जय जयेति वदन् प्रणमन्मुहुः।

आनन्द पूर्वक जय जय कार करता हुआ जब कि मैं उनको बार-बार प्रणाम करने लगा, तब उन प्रभु ने आर्द्र हृदय होकर अपने कोमल अमृत

मृदुलवागमृतैः परमाद्भुतै-
र्भगवतार्द्रहृदा परितर्पितः ॥२६२॥

श्रीभगवानुवाच ।

भो ! गोपनन्दन ! सुहृत्तम ! साधु साधु
स्नेहं विधाय भवता विजयः कृतोऽत्र ।
विश्रम्यतामलमलं बहुभिः प्रयासै-
रेतैर्न दुःखय चिरं निज-बान्धवं मां ॥२६३॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गौरवात् सम्भ्रमं त्यज ।
त्वदीयप्रेमरूपेण यन्त्रितोऽस्मि सदा सखे ! २६४

श्रीगोपकुमार उवाच ।

अथ तस्याज्ञयागत्योत्थापितोऽहं हनूमता ।
श्रीमत्पादाब्जपीठस्य नीतश्च निकटं हठात्॥२६५
तदाकर्षं मनस्येत-
दीर्घाशा फलिताधुना ।
वाञ्छातीतञ्च सम्पन्नं
फलं तत् कुत्र यान्यतः ॥२६६॥

गोपवालकवेशेन स्वकीयेनैव पूर्व्ववत् ।
कियन्तं न्यवसं कालं तत्रानन्द-भरार्दितः ॥२६७

अथ श्रीरघुसिंहस्य महाराजाधिराजतां ।
लीलां तदनुरूपाञ्च वीक्ष्ये धर्म्मानुसारिणीं॥२६८

न चेष्टदेवपादानां तत्तत्क्रीड़ानुसारिणीं ।
विहारमाधुरीं काञ्चिन्नापि तां तां कृपां लभे २६९

ततः शोकमिवामुत्राप्याप्नुवन् श्रीहनूमतः ।
श्रीरामचन्द्र-पादाब्जमहिम्नां श्रवणेन हि ॥२७०

सरीखे बचनों द्वारा मुझको सन्तुष्ट किया। फिर वह इस प्रकार कहने लगे ॥२६२॥

श्री भगवान् बोले ।

हे सुहृत् श्रेष्ठ गोपकुमार ! आप मेरे स्नेह से यहाँ पधारे, यह बड़ा मङ्गल हुआ। अब आप विश्राम कीजिये। इस प्रकार के बहुत दण्डवत् प्रणामों से मुझ को दुःख न दीजिये, मैं तो आप का चिरकालीन मित्र हूँ ॥२६३॥

हे सखे ! उठिये ! मुझ में गौरव बुद्धि से,आप न हड़ बड़ाएँ। आपका मङ्गल हो। आप के प्रेम से मैं सदा यन्त्रित हूँ ॥२६४॥

श्री गोपकुमार बोले ।

तब प्रभु की आज्ञा से, श्री हनुमानजी ने मुझ को उठाया और वह जल्दी ही मुझ को भगवान् की चरण चौकी के निकट ले गये ॥२६५॥

तब मैंने अपने मन में यह विचार किया कि अब मुझको वह फल मिला है, जिसकी मैं दीर्घ काल से अभिलाषा कर रहा था। यही नहीं बल्कि मुझको अपनी अभिलाषा से भी अधिक फल मिला है, जो कि आज पर्यन्त मुझको कहीं भी नहीं मिला था। अब मैं यहाँ से कहीं भी नहीं जाऊँगा ॥ २६६ ॥

मैंने अपने इसी गोप बालक वेश से, पहले की तरह कुछ काल तक, वहाँ आनन्द से निवास किया ॥ २६७ ॥

वहाँ मैंने श्री रघुनाथजी की, महाराजाधि-राजों के उचित लीलाओं को तथा उनके अनुरूप धर्म आचरणों को देखा ॥२६८॥

परन्तु अपने इष्ट देवता की तरह न तो विविध प्रकार की लीला माधुरी का दर्शन किया, न ही उनके सरीखा आलिङ्गन चुम्बन आदि रूप कृपा का अनुभव किया ॥२६९॥

तब वहाँ श्री अयोध्या में, श्री हनुमानजी ने मुझको शोकातुर की तरह देख कर, श्रीरामचन्द्र जी के चरणारविन्दों की महिमा सुनाई ॥२७०॥

साक्षादनुभवेनापि मनो-दुःखं निवारये ।
तस्मिन्निजेष्टदेवस्य सर्व्वमारोपयामि च ॥२७१॥

पूर्व्वाभ्यासवशेनेयं व्रजभूमिर्यदा बलात् ।
सा तल्लीलानुकम्पाशाप्याक्रमेद्धृदयं मम ॥२७२

तदा मन्त्रि-वरेणाहमालक्ष्य श्रीहनूमता ।
विचित्रयुक्तिचातुर्य्यैरक्षयेयाश्वास्य तत्र हि ॥२७३

अथ श्रीरामेण प्रखरकरुणाकोमलहृदा
जगच्चित्तज्ञेन प्रणयमृदुनाश्वास्य वचसा ।
व्रज द्वारावत्यां सुखमिति समादिश्य गमितः
समं तां भल्लूकावलिपरिवृढेनाहमचिरात् ॥२७४॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते उत्तरखण्डे
श्रीगोलोकमाहात्म्य-निरूपणे
वैकुण्ठनामा
चतुर्थोऽध्यायः ।

मैं उन महिमाओं को साक्षात् अनुभव करके, अपने मनके दुखों को दूर करता हुआ, उन श्री रघुनाथजी में ही, अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण की भावना करने लगा ॥२७१॥

परन्तु जब कभी पहले अभ्यास से मुझको इस व्रज भूमि की याद आती थी। तब श्रीकृष्ण की लीलाओं के अनुभव की आशा मेरे हृदय को आक्रमण करने लगती थी ॥२७२॥

तब श्री रघुनाथजी के श्रेष्ठ मन्त्री श्रीहनुमान जी, मुझको दुःखी देख कर, अपनी विचित्र युक्ति चातुरी से धीरज देते हुए, वहीं रोकते थे ॥२७३॥

परन्तु जब मुझको बिरह जन्य विशेष दुःख होने लगा, तब स्वयं श्री रघुनाथजी ने, जो कि समस्त जगत् के चित्तों की बातों को जानते हैं और जिनका हृदय बड़ी करुणा से कोमल रहता है, मेरा अपनी प्रेम युक्त मधुर-मधुर बाणियों से आश्वासन किया, और यह कहा कि "हे गोपकुमार! तुम आनन्द से द्वारिकापुरी में जाओ।" फिर उन्होंने मुझको जल्दी से, सेनापति श्री जाम्बुवान के साथ श्रीद्वारिका भेज दियो ॥२७४॥

इस श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के
श्री गोलोक माहात्म्य नामक द्वितीय
खण्ड में श्री "वैकुण्ठ" नामक
चौथा अध्यायः
समाप्त हुआ ॥

* श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः *

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय—खण्डम् ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

श्रीगोपकुमार उवाच ।

अथ तत्र गतो विप्रैः कियद्भिर्माथुरैः सह ।

यादवान् क्रीड़तोऽद्राक्षं सङ्घशः सकुमारकान् ॥१

पुरा क्वापि न दृष्टा या सर्व्वतो भ्रमता मया ।

मधुरिम्णां परा काष्ठा सा तेष्वेव विराजते ॥२॥

सर्व्वार्थो विस्मृतो हर्षान्मया तद्दर्शनोद्भवात् ।

तैस्त्वाकृष्य परिष्वक्तः सर्व्वज्ञ-प्रवरैरहं ॥३॥

गोवर्द्धनाद्रि-गोपाल-पुत्रबुद्ध्या प्रवेशितः ।

अन्तःपुरं करे धृत्वा स्नेहपूरार्द्रमानसैः ॥४॥

पश्यामि दूरात् सदसो महीयसो

मध्ये मणिस्वर्णमये वरासने ।

तूलीवरोपर्य्युपविश्य लीलया

विभ्राजमानो भगवान् स वर्त्तते॥५॥

वैकुण्ठनाथस्य विचित्रमाधुरी-

सारेण तेनास्त्यखिलेन सेवितः ।

केनापि केनाप्यधिकाधिकेन सो

ऽमुष्मादपि श्रीभरसञ्चयेन च ॥६॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! जब कि मैं द्वारकापुरी पहुँचा, तब मैंने यह देखा, कि यादव तथा उनके लड़के मण्डली बाँध-बाँध कर, बहुत से माथुर ब्राह्मणों के साथ खेल रहे हैं ॥१॥

उन यादवों में, मैंने जिस प्रकार की माधुर्य्य की पराकाष्ठा देखी, ऐसी मैंने सब लोकों में घूम कर कहीं भी आज पर्यन्त नहीं देखी ॥२॥

मैं उनके दर्शनानन्द से, अपने सब प्रकार के करने योग्य कर्म, दण्डवत् प्रणाम आदि को भूल गया। तब उन सर्वज्ञ श्रेष्ठ यादवों ने खैंच कर मेरा गाढ़ आलिङ्गन किया ॥३॥

वह मुझको गोवर्धन के गोप का पुत्र जान कर, स्नेह से आर्द्र चित्त हो गये, फिर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ कर, अन्तःपुर में प्रवेश कराया ॥४॥

मैंने दूर से भगवान् का इस प्रकार से दर्शन किया, कि वह एक बड़ी सभा के मध्य में मणियों से खचित उस स्वर्ण के श्रेष्ठ सिंहासन पर, जिस पर एक सुन्दर गद्दी बिछी हुई है, अपने गौरव के उपयुक्त ढंग से बिराजमान हैं। जो सुन्दर-सुन्दर मधुरिमाएँ श्री वैकुण्ठनाथ भगवान् के अंग प्रति अंग में झलक रही थीं, वह सब उनके श्री दिव्य मङ्गल विग्रह में आकर विराजमान हुई हैं। यही नहीं बल्कि किसी-किसी अंश में श्री वैकुण्ठनाथ की शोभा से भी उनकी रूप माधुरी अधिक है ॥५-६॥

कैशोरशोभाद्रितयौवनाञ्चितो
भक्तेष्वभिव्यञ्जितचारुदोर्युगः ।
माधुर्य्य-भङ्गीह्रियमाणसेवक-
स्वान्तो महाश्चर्य्यविनोदसागरः ॥७॥

श्वेतातपत्रं विततं विराजते
तस्योपरिष्टात् वरचामर-द्वयं ।
पार्श्वद्वये विभ्रमदग्रतोऽस्य च
श्रीपादुके हाटकपीठमस्तके ॥८॥

श्रीराजराजेश्वरतानुरूपा
परिच्छदाली परितो विभाति ।
निजानुरूपाः परिचारकाश्च
तथा महावैभवपङ्क्तयोऽपि॥९॥

स्व-स्वासने श्रीवसुदेव-रामा-
क्रूरादयो दक्षिणतो निविष्टाः ।
वामेऽस्य पार्श्वे गद-सात्यकी च
पुरो निधायाधिपमुग्रसेनं ॥१०॥

मन्त्री विकद्रुः कृ समं-
तत्रैव वृष्णि-प्रवरैः परैरपि ।
श्रीनारदो नर्म्म-सुगीत-वीणा-
वाद्यैरमुं क्रीड़ति हासयन् सः॥११॥

तिष्ठन् पुरः श्रीगरुड़ोऽस्ति तं स्तुवन्
पादाब्ज-सम्वाहनकृत्तथोद्धवः ।
रहस्यवार्त्ताभिरसौ प्रियाभिः
सन्तोषयन्नस्ति निजेश्वरं तं ॥१२॥

निरीक्ष्य दीर्घात्म-दिदृक्षितास्पदं
दूरेऽपतं प्रेम-भरेण मोहितः ।
स तूद्भटस्नेह-रसेन पूरितो
मन्नायनायोद्धवमादिदेश ॥१३॥

उनके श्रीअंगों की शोभा शेष किशोर होते हुये भी, उसमें नव यौवन की झलक आरही है, इससे वह शोभा और भी देदीप्यमान हो रही है। यद्यपि साधारणतया वह चतुर्भुज स्वरूप से ही विराजते हैं, तो भी अपने प्रिय भक्तों को सुख प्रदान करने के लिये, मनोहर द्विभुज रूप होजाते हैं। वह अद्भुत विहार के सागर स्वरूप हैं, इसलिये अपने सेवकों के मनों को अपनी रूप माधुरी से हरण करते हैं ॥ ७ ॥

उनके ऊपर एक विशाल श्वेत छत्र तना हुआ है, दोनों ओर सुन्दर चँवर दुलाए जा रहे हैं, और उनके सामने स्वर्ण की एक चरण चौकी पर सुन्दर खड़ाऊँ रखी हुई हैं ॥ ८ ॥

क्यों कि वह राज राजेश्वर हैं, इसलिये उनके स्वरूप के अनुरूप चारों ओर, और भी बहुत प्रकार के आयुध् भूषण आदि विराजमान हैं। उनके अनुरूप उनके सेवक गण तथा उनके वैभव अर्थात् रथ, अश्व, निधि, पारिजात, आदि ठाट वाट से उनकी सेवा में उपस्थित हैं। श्रीकृष्ण के दक्षिण ओर श्रीवसुदेव जी, दाऊजी, तथा अक्रूर आदि, और वांई ओर उनके छोटे भाई गद तथा सात्यकी यादव, अपने-अपने आसनों पर आनन्द से वैठे हुये हैं। उनके आगे राजा उग्रसेन विराजमान हैं ॥९-१०॥

उसी ओर मन्त्री विकद्रुः कृतवर्मा तथा अन्य यादव वैठे हुये हैं। श्रीनारदजी वीणा बजाते हुये अपने हास्य परिहास्य युक्त गीत वाद्य से श्रीकृष्ण को हँसा रहे हैं ॥ ११ ॥

श्री गरुड़ जी उनके सम्मुख उपस्थित होकर उनकी स्तुति कर रहे हैं। श्री उद्धव जी उनके चरणारबिन्दों को पलोटते हुये उनसे प्रेम युक्त रहस्य की वार्तालाप करके उनको प्रसन्न कर रहे हैं ॥ १२ ॥

जिनके दर्शन करने का मैं दीर्घकाल से इच्छुक था, ज्यूँ ही मैंने उनके दूरसे दर्शन किये त्योंही प्रेम से मोहित होकर गिर पड़ा। तब श्री कृष्ण ने अत्यन्त स्नेह से वशीभूत होकर मुझको अपने

मामुद्धवो गोपकुमारवेश-
मालक्ष्य हृष्टो द्रुतमागतोऽसौ ।
उत्थाप्य यत्नादथ चेतयित्वा
पाण्योर्गृहीत्वानयदस्य पार्श्वं ॥१४॥

निजान्तिके मन्नयनार्थमात्मनै-
वोत्थातुकामेन पुरोऽर्पितस्य ।
पादाम्बुजस्योपरि मच्छिरो बलात्
स्व-पाणिनाकृष्य बतोद्धवो न्यधात्॥१५॥

स प्राणनाथः स्व-कराम्बुजेन मे
स्पृशन् प्रतीकान् परिमार्ज्जयन्निव ।
वंशीं ममादाय कराद्विलोकयं-
स्तूष्णीं स्थितोऽश्रूणि सृजन्महार्त्तवत्॥१६॥

क्षणात्तव क्षेममनामयोऽसि किं
न तत्र कच्चित् प्रभवेदमङ्गलं ।
एवं वदन्नेव दशां स कामपि
व्रजन् कृतो मन्त्रि-वरेण धैर्य्यवान्॥१७॥

अग्रतो दर्शितास्तेन संकेतेन सभास्थिताः ।
यादवा वसुदेवाद्या नृपा देवास्तथर्षयः ॥१८॥

उन्मील्य पद्मनेत्रे तानालोक्याग्रे प्रयत्नतः ।
सोऽवष्टभ्येषदात्मानं पुरान्तर्गन्तुमुद्यतः ॥१९॥

चिरादभीष्टं निज-जीवितेशं
तथाभिलभ्य प्रमदाब्धिमग्नः ।
किमाचरानि प्रवदानि वा कि-
मिति स्म जानामि न किञ्चनाहं॥२०॥

ततो बहिर्निःसरतो यदूत्तमान्
सम्मान्य ताम्बूल-विलेपनादिभिः ।

निकट लाने के लिये श्रीउद्धवजी को आज्ञादी॥१३॥

श्री उद्धवजी मेरा गोप वेष देख कर बड़े प्रसन्न हुये। वह जल्दी से मेरे निकट आए। मुझको यत्न से उठाकर चेत कराया। फिर वह मुझको अपने दोनों हाथों से उठा कर भगवान् के निकट ले गये ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण ने उठ कर, मुझको अपने निकट लेने के लिये ज्यूंही अपना चरण आगे बढ़ाया, त्योंही उद्धवजी ने, मेरा मस्तक अपने हाथ से खेंच कर उनके चरणारविन्द पर रख दिया ॥१५॥

तब मेरे प्राणनाथ श्रीकृष्ण ने मुझको अपने हस्त कमलों से इस प्रकार छुआ, मानों वह मेरे अंगों का मार्जन कर रहे हैं। जब वह मेरी वंशी को मुझ से लेकर देखने लगे, उस समय बड़े आर्त्त की तरह, उनके नेत्र कमलों से प्रेम अश्रु बहने लगे और वह थोड़ी देर के लिये चुप होगये ॥१६॥

फिर उन्होंने मेरी क्षेम कुशल पूछी और यह कहने लगे, "वहाँ किसी प्रकार का अमङ्गल तो नहीं है।" ऐसा कहते कहते वह एक अपूर्व दशा को प्राप्त होगये। तब श्री मन्त्रिवर उद्धव जी ने उनको धीरज धराया और इङ्गित से यह दिखाया, "कि इस सभा में यादवगण, श्रीबसुदेवजी, राजा लोग, देवता गण तथा बहुत से ऋषि बैठे हुये हैं" ॥१७-१८॥

तब उन्होंने यत्न से अपने नेत्र कमल खोले और उन लोगों को अपने सामने बैठे हुये देख कर, अपनी आत्मा को धीरज बँधा कर, वह अन्तःपुर में जाने के लिये उद्यत हुये ॥१९॥

मैं अपने प्राणनाथ श्रीकृष्ण को पाकर जिनके दर्शनों के लिये मैं दीर्घ काल से तडफ रहा था, आनन्द समुद्र में निमग्न होगया। उस समय मैं यह नहीं जानता था, कि मेरे लिये क्या कर्त्तव्य और क्या वक्तव्य है ॥२०॥

तब श्रीकृष्ण ने बाहिर जाने वाले उन यादवों को तो ताम्बूल चन्दन आदि से सन्मानित किया, और मेरे अञ्जली बंधे हुये दोनों हाथों को अपने

विधृत्य मां दक्षिणपाणिनाञ्जलौ
रामोद्धवाभ्यामविशत् पुरान्तरं ॥२१॥

श्वश्रूं पुरस्कृत्य सरोहिणीकां
श्रीदेवकीं साष्टशतोत्तराणि ।
प्रभुं सहस्राण्यथ षोड़शाग्रे
ऽभ्ययुः सभृत्याः प्रमुदा महिष्यः॥२२॥

रुक्मिणी सत्यभामा सा देवी जाम्बवती तथा ।
कालिन्दी मित्रविन्दा च सत्या भद्रा च लक्षणा२३
अन्याश्च रोहिणीमुख्यास्तस्यैवोचिततां गताः ।
सर्व्वाः सर्व्वप्रकारेण तुल्यदासीगणार्च्चिताः ॥२४

ताभ्याममूभिश्च सलज्जमावृतः
कुमार-वर्गैरपि शोभितोऽविशत् ।
प्रासादमात्मीयमथासनोत्तमे
निह्नुत्य भावं निषसाद हृष्टवत् ॥२५॥

तं श्रीयशोदाखिलगोपसुन्दरी-
गोपार्भ-वर्गैरिव भूषितं त्वहं ।
पश्यन् समक्षं धृतवेणुमात्मनो
ध्येयं पुनर्हर्ष-भरेण मोहितः ॥२६॥

कृपा-भरव्यग्रमनाः ससम्भ्रमं
स्वयं समुत्थाय स नन्द-नन्दनः ।
कराम्बुज-स्पर्शवलेन मेऽकरोत्
प्रबोधमङ्गानि मुहुर्विमार्ज्जयन्॥२७॥

वृत्ते भोजनकालेऽपि भोक्तुमिच्छामकुर्व्वता ।
मातॄणामाग्रहेणैव कृत्यं माध्याह्निकं कृतं ॥२८॥

दक्षिण हाथ से पकड़ कर, वह श्री दाऊजी, तथा श्री उद्धवजी के साथ मुझको अन्तपुर में ले गये ॥ २१ ॥

वहाँ उनकी सोलह हज़ार एक सौ आठ रानियाँ अपनी २ दासियों को साथ लेकर तथा अपनी श्रीपूज्यपाद सासुओं श्री देवकीजी, रोहिणी को आगे करके आनन्द से आकर उनके समीप उपस्थित हुईं ॥ २२ ॥

श्री रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती, भद्रा तथा श्री लक्ष्मणाजी पटरानियाँ, तथा श्री रोहिणी आदि रानियाँ, जो कि रूप गुण आदि से कृष्ण के अनुरूप हैं, अपने समान अपनी-अपनी दासियों को साथ लेकर और अपनी श्री पूज्यपाद सासुओं श्री देवकीजी, रोहिणीजी को आगे करके, लज्जा से कुच्छ संकुचित हुई हुइयों ने श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर लिया। उसी समय उनके लड़के प्रद्युम्न, साम्ब, आदि भी आकर उपस्थित हुये। उन सबको साथ लेकर उन्होंने अपने महल में प्रवेश किया। फिर वह अपने भाव को छिपाते हुये सुन्दर सिंहासन पर प्रसन्न की तरह विराजमान हो गये ॥२३-२४-२५॥

फिर मैंने श्रीकृष्ण के परिवार सहित इस प्रकार दर्शन किये:—मानो श्री देवकीजी तो श्री यशोदा, श्री रुक्मिणी आदि महिषी, सब व्रज सुन्दरियाँ तथा उनके लड़के सब ग्वालवाल स्वरूप हैं, और उन्होंने मेरी वंशी को ले रखा है। इस प्रकार अपने ध्येय स्वरूप को देख कर मैं आनन्द से मूर्छित होगया ॥२६॥

तब उन नन्द नन्दन स्वरूप श्रीकृष्ण ने कृपा से व्यग्र होकर सम्भ्रम से मुझको उठाया और अपने हस्त कमलों से मेरे अंगों को बार-बार मार्जन करके मुझको चेत कराया ॥२७॥

श्रीकृष्ण को उस समय व्रज की याद आ रही थी, इस लिये भोजन काल प्राप्त होने से भी उनकी भोजन करने की इच्छा नहीं हुई। तब उनकी

दैवकी-नन्दनेनाथ तेन किञ्चित् स्व-पाणिना ।
भोजितोऽहं स्वयं पश्चाद्भुक्तं सन्तोषणाय मे ॥२६

मातात्रों के आग्रह से उन्होंने पहले तो अपना मध्यान्हिक कर्म समाप्त किया, फिर मुझ को अपने हाथों से पहले भोजन कराया, इसके पश्चात् मेरे सन्तोष के लिये उन्होंने स्वयं भोजन किया ॥ २८–२६ ॥

कुमार-मण्डली-मध्ये निवेश्य निजमग्रजं ।
परिवेशयता स्वेन पूर्व्ववद्बाल्यलीलया ॥३०॥

बीच में श्री दाऊजी को रखकर सब लड़कों को मण्डली बाँध कर बिठलाया गया फिर श्री कृष्ण ने अपने हाथों से पहली व्रज बाल लीला के अनुरूप परिवेशन किया ॥३०॥

महाप्रसादमुच्छिष्टं भुक्त्वा स्व-गृहमानयत् ।
भगवद्भावविज्ञोऽसावुद्धवो मां वलादिव ॥३१॥

तब श्री उद्धवजी ने प्रभु का उच्छिष्ट महाप्रसाद भोजन किया, फिर श्रीकृष्ण के अभिप्राय को समझ कर, वह मुझको बल पूर्वक अपने घर ले गये ॥ ३१ ॥

तदानीमेव यातोऽहं सम्यक् संज्ञां ततोऽखिलं ।
तत्रानुभूतं विमृशन् मुहुर्नृत्यन्नमंस्यदः ॥३२॥

इसके पश्चात् मुझको अच्छी प्रकार से चेत हुआ। वहाँ का सब अनुभव करके, मैं आनन्द से बार-बार नाचता हुआ, यह विचार करने लगा ॥ ३२ ॥

मनोरथानां परमं किलान्त-
महो ! गतोऽद्यैव यदिष्टदेवं ।
प्राप्तोऽपरोक्षं व्रजनागरं तं
हृद्ध्यायमानाखिलमाधुरीभिः ॥३३॥

अहो ! बड़े आनन्द की बात है ! आज मेरे समस्त मनोरथ पूरे हुये ! मैंने साक्षात् अपने इष्ट देव उन श्री व्रजनागर के दर्शन किये हैं, जो कि मेरे ध्यान के अनुरूप समस्त माधुरियों से परिपूर्ण हैं ३३ ॥

प्रस्थायोद्धवसङ्गत्या
स्व-प्रभुं तं विलोकयन् ।
नाशकं हर्षवैवश्यात्
किञ्चित् कर्त्तुं परं ततः ॥३४॥

जब जब श्री उद्धवजी के साथ जाकर मैं अपने प्रभु का दर्शन करता था, तब तब आनन्द से इस प्रकार परिपूर्ण हो जाता था, कि उस समय उनके दर्शन के अतिरिक्त और कोई कार्य मुझ से नहीं होता था ॥३४॥

विचित्रं तस्य कारुण्य-भरं सन्ततमाप्नुवन् ।
वसंस्तत्र महानन्द-पूराननुभवामि यान् ॥३५॥

मैं श्रीकृष्ण की विविध प्रकार की निरन्तर कृपा को अनुभव करके, वहाँ आनन्द पूर्वक रहने लगा ॥ ३५ ॥

तेषां निरूपणं कर्त्तुं वाचा चित्तेन वा जनः ।
ब्रह्मायुषापि कः शक्तो भगवद्भक्तिमानपि ॥३६॥

उस आनन्द को अपनी वाक् वाणी तथा चित्त से कोईभी वर्णन नहीं कर सकता है। औरों का तो कहना ही क्या है, यदि कोई भगवद् भक्त श्री ब्रह्माजी की आयुपर्यन्त वर्णन करें तो भी पार नहीं पा सकते हैं ॥३६॥

मोक्षे सुखं ननु महत्तममुच्यते य-
त्तत्कोटिकोटिगुणितं गदितं विकुण्ठे ।
युक्त्या कयाचिदधिकं किल कोशलायां
यद्द्वारकाभवमिदं तु कथं निरूप्यं ॥३७॥

मोक्ष के सुख को बहुत बड़ा सुख कहते हैं। उससे करोड़ों गुना अधिक श्री वैकुण्ठ का सुख है। उससे भी अधिक श्री अयोध्या का सुख है। द्वारिका के सुख को तो किसी प्रकार से निरूपण नहीं कर सकते हैं ॥३७॥

तत्रापि तच्चिरदिदृक्षितजीवितेश-
प्राप्त्या तदेकदयितस्य जनस्य यत् स्यात् ।
वृत्त्या कयास्तु वचसो मनसोऽपि वार्त्तं
तद्वै विदुस्तदुचितात्मनि तद्विदस्ते॥३८॥

उस श्री द्वारिका में अपने अभीष्ट प्रभु को प्राप्त हो कर, उनके एकान्त भक्त जो आनन्द अनुभव करते हैं, उसको मन तथा वाणी से कौन ग्रहण कर सकता है ? वह तो केवल वही लोग जानते हैं, जो उस आनन्द का अनुभव करते हैं ॥३८॥

एवं वसन्तं मां तत्र श्रीमद्यादवपुङ्गवाः ।
विश्वबाह्यान्तरानन्ददिदृक्षार्द्रहृदोऽब्रुवन् ॥३९॥

इस प्रकार जब मैं वहाँ रहने लगा, तब उन श्री यादवगणों ने जो कि बाहर भीतर से सबको अपने सदृश सुखी देखना चाहते हैं मुझ से इस प्रकार कहा ॥३९॥

श्रीयादवा ऊचुः ।

श्री यादवों ने कहा ।

वैकुण्ठतोऽप्युत्तमभूतिपूरिते
स्थाने त्वमेत्यात्र सखेऽस्मदन्वितः ।
यद्दन्य-वेशेन सुदीनवद्वसे-
र्मन्यामहे साधु न तत् कथञ्चन॥४०॥

हे सखे ! यह द्वारिकापुरी श्री वैकुण्ठ से भी अधिक ऐश्वर्य से परिपूर्ण है, इस लिये यहाँ आकर हम लोगों के समीप रह कर भी आप इस प्रकार के दीन वेष से रहते हैं, इसको हम ठीक नहीं समझते हैं ॥४०॥

चित्ते दुःखमिवास्माकमपि किञ्चिद्भवेदतः ।
स्वतः सिद्धं तमस्माकमिव वेशादिकं तनु ॥४१॥

इस से, हम लोगों के चित्तों में बड़ा दुख होता है, इस लिये आप हमारे सरीखे स्वतः सिद्ध प्राप्त वेश भूषण को धारण करें ॥४१॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

श्रीगोपकुमार बोले ।

तेषां तत्राग्रहेणापि
स्व-चित्तस्याच्युतस्य च ।
अलब्ध्वा स्व-रसं तेषु
नीचाकिञ्चनवत् स्थितः ॥४२॥

हे ब्राह्मण ! उनके ऐसे आग्रह करने पर भी, इस प्रकार के वेष भूषण धारण करने के लिये, न तो मेरे मन ने समर्थन किया और न हीं मुझको भगवान् ने इङ्गित दिया, इस लिये मैं दीन हीन की तरह उसी प्रकार अकिञ्चन स्वरूप से रहने लगा ॥४२॥

आसीनस्य सभा-मध्ये सेवितस्य महर्द्धिभिः ।
पार्श्वे भगवतोऽथाहं गन्तुं लज्जे बिभेमि च ॥४३

जब श्री कृष्ण सभा में, अपनी समस्त ऋद्धि सिद्धियों सहित विराजते थे, तब मुझको उनके समीप जाने में भी लज्जा तथा भय होता था ॥४३॥

चतुर्बाहुत्वमप्यस्य पश्येयं तत्र कर्हिचित् ।
न चक्रीडाविशेषं तं व्रजभूमिकृतं सदा ॥४४॥

वहाँ मैं कभी-कभी उनको चतुर्भुज स्वरूप से देखता था । व्रज भूमि सम्बन्धी लीलाएँ मुझको वहाँ हर समय दृष्टि गोचर नहीं होती थीं ॥४४॥

कदाचिदेष तत्रैव वर्त्तमानानदूरतः ।
पाण्डवानीक्षितुं गच्छेदेकाकी प्रियबान्धवान् ॥४५

कभी-कभी वह श्रीकृष्ण अपने बाँधव पाण्डवों को देखने के लिये, अकेले ही उस पुरी में चले जाते थे, जो कि श्री द्वारिका के निकट ही है ॥४५॥

इत्थं चिरन्तनाभीष्टासम्पूर्त्या मे व्यथेत हृत् ।
तादृग्रूपगुणस्यास्य दृष्ट्यैवाथापि शाम्यति ॥४६

इस लिये जब कि मेरी दीर्घ कालीन अभिलाषा पूर्ण नहीं होती थी, तब मेरे हृदय में दुःख होता था। परन्तु जब मैं उनकी रूप गुण माधुरी को पुनः निहारता था, तब मेरा चित्त शान्त हो जाता था ॥ ४६ ॥

तस्य वागमृतैस्तैस्तैः कृपाभिव्यञ्जनैरपि ।
भवेत् सुखविशेषो यो जिह्वा स्पृशतु तं कथं ॥४७

उनके अमृत सरीखे कृपा युक्त वचनों से जो मुझको सुख होता था, उसको मैं अपनी जिह्वा से वर्णन नहीं कर सकता हूँ ॥४७॥

एवमुद्धव-गेहे मे दिनानि कतिचिद्ययुः ।
यदि स्यात् कोऽपि शोकस्तं सम्वृणोम्यवहित्थया ॥४८॥

इस प्रकार श्री उद्धवजी के साथ रह कर मैंने कुछ दिन वहाँ बिताए। जब कभी मुझको दुख होता था, तब मैं उस को छिपा लेता था ॥४८॥

एकदा नारदं तत्रागतं वीक्ष्य प्रणम्य तं ।
हर्षेण विस्मयेनापि वेष्टितोऽवोचमीदृशं ॥४९॥

एक बार श्री नारदजी वहाँ आये, उनको देख कर मैंने प्रणाम किया, और हर्ष तथा विस्मय युक्त होकर, मैं उनसे यह कहने लगा ॥४९॥

मुनीन्द्रवेश ! प्रभु-पार्षदोत्तम !
स्वर्गादिलोकेषु भवन्तमीदृशं ।
वैकुण्ठलोकेऽत्र च हन्त ! सर्व्वतः
पश्याम्यहो ! कौतुकमावृणोति मां ॥५०

"हे नारदजी ! आप सब पार्षदों में उत्तम हो, और आप मुनियों के सदृश वेष धारण करते हो। मैंने इसी वेष से आपका स्वर्ग तथा वैकुण्ठादि सब लोकों में दर्शन किया है, इसका क्या कारण है, मुझको बड़ा आश्चर्य है" ॥५०॥

श्रीनारद उवाच ।

गोपवालक एवासि सत्यमद्यापि कौतुकी।
पूर्व्वमेव मयोद्दिष्टमेतदस्ति न किं त्वयि ॥५१॥

श्रीनारदजी बोले ।

हे गोपकुमार ! आप यहाँ आकर भी आश्चर्य युक्त हो रहे हैं। आप सच मुच ग्वारिया ही हैं। इस विषय को मैं पहले भी आप से कह चुका हूँ ॥ ५१ ॥

यथा हि भगवानेकः श्रीकृष्णो वहुमूर्त्तिभिः ।
वहुस्थानेषु वर्त्तेत तथा तत्सेवका वयं ॥५२॥

जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न मूर्तियों से विराजमान हैं, इसी प्रकार हम उनके सेवक भी उनकी सेवा में पृथक्-पृथक् स्वरूपों से रहते हैं ॥५२॥

श्रीसुपर्णादयः सर्व्वे
श्रीमद्धनुमदादयः ।
उद्धवोऽपि तथैवायं
तादृशा यादवादयः ॥५३॥

जिस प्रकार श्री गरुड़जी स्वर्ग तथा बैकुण्ठ आदि में, श्री हनुमानजी किं पुरुषवर्ष, तथा अयोध्या आदि सब स्थानों में विराजमान हैं, इसी प्रकार श्री उद्धवजी, हम, तथा श्रीयादवगण सब, लोकों में रहते हैं ॥५३॥

सर्व्वेऽपि नित्यं किल तस्य पार्षदाः
सेवापराः क्रीड़नकानुरूपाः ।
प्रत्येकमेते बहूरूपवन्तो
ऽप्यैक्यं भजामो भगवान् यथासौ॥५४॥

भगवान् के सब पार्षद नित्य हैं। हम सब उनकी लीला के अनुरूप स्वरूप धारण करके सेवा समाधान करते हैं। हमारा एक स्वरूप होते हुये भी, भगवान् की तरह हम विविध प्रकार के स्वरूप धारण करते हैं ॥५४॥

नानाविधास्तस्य परिच्छदा ये
नामानि लीलाः प्रियभूमयश्च ।
नित्यानि सत्यान्यखिलानि तद्व-
देकान्यनेकान्यपि तानि विद्धि॥५५

इसी प्रकार भगवान् के वेष, भूषण आदि, नाम, लीला, तथा धाम एक होते हुये भी विविध प्रकार के हैं। यह सब नित्य तथा सत्य हैं ॥५५॥

आश्चर्य्यमेतत्त्वमपीदृगेव सन्
पूर्व्व-स्वभावं तनुषेऽत्र लीलया ।
परं महाश्चर्य्यमिहापि लक्ष्यसे
ऽतृप्तार्त्तचेता इव सर्व्वदा मया॥५६

हे गोपकुमार! मुझको एक तो यह आश्चर्य है, कि यद्यपि यहाँ आपका स्वरूप सच्चिदानन्द है, तो भी आपने कौतुक से अपने पहले स्वभाव को नहीं छोड़ा है। उस से भी अधिक यह आश्चर्य है, कि यहाँ आकर भी आपको शान्ति प्राप्त नहीं हुई है। आप अब भी सदा आर्त्त की तरह प्रतीत होते हैं ॥ ५६ ॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

मया सपादग्रहमेष नत्वा
सदैन्यमुक्तो भगवंस्त्वमेव ।
जानासि तत् सर्व्वमितीदमाह
स्मित्वा निरीक्ष्याननमुद्धवस्य॥५७॥

श्री गोपकुमार बोले।

तब मैंने श्री नारजी के चरण पकड़ कर नमस्कार किया, और दीनता से यह कहा "हे भगवन्! आप मेरे मनको सब वृत्तान्त भली प्रकार जानते हैं।" तब श्री नारदजी मुस्कराते हुये, श्री उद्धवजी के मुख की ओर देख कर, यह कहने लगे ॥ ५७ ॥

श्रीनारद उवाच ।

उद्धवायमहो! गोप-पुत्रो गोवर्द्धनोद्भवः ।
मादृशां त्वादृशानाञ्च मृग्यन् वस्तु सुदुर्ल्लभं॥५८

श्री नारदजी बोले।

हे उद्धव! यह श्री गोवर्धन के एक गोप के पुत्र हैं। यह उनको ढूँढ़ रहे हैं, जिनकी प्राप्ति हमारे और आप जैसों के लिये भी अति दुर्लभ है ॥५८॥

इतस्ततो भ्रमन् व्यग्रः कदाचिदपि कुत्रचित् ।
नातिक्रामति चित्तान्तर्लग्नं तं शोकमार्त्तिदं॥५९॥

उनकी खोज में यह व्यग्र होकर, यहाँ वहाँ भ्रमण कर रहे हैं। जिनकी अप्राप्ति से इनके चित्त में दुख देने वाला बड़ा शोक हो रहा है, जिसको यह किसी स्थान पर भी जाकर अब तक शान्त नहीं कर सके हैं ॥५९॥

तदेनं बत! तत्रत्यलोकानुग्रहकातरः ।
भवानपि न पार्श्वस्थं प्रतिबोधयति क्षणं॥६०॥

इस लिये हे उद्धवजी! बड़े खेद की बात है। आप व्रजवासियों के हित करने वाले हैं और यह आपके पास रहते हैं, तोभी आपने इनको कभी नहीं समझाया? ॥६०॥

पदं दूरतरं तद्वै तत्सुखानुभवस्तथा ।
तत्साधनमपि प्रार्थ्यमस्माकमपि दुर्घटं ॥६१॥

जिस पद को यह चाहते हैं, वह पद, वहां का सुख अनुभव, तथा उस पद की प्राप्ति के साधन, बड़े दुर्लभ हैं। हम भी उस पद की केवल प्रार्थना ही करते रहते हैं, वस्तु तस्तु हमारे लिये भी वह दुर्घट है ॥ ६१ ॥

श्रीमदुद्धव उवाच ।

व्रजभूमावयं जातस्तस्यां गोपत्वमाचरत् ।
गोपालोपासनानिष्ठो विशिष्टोऽस्मन्महाशयः॥६२

श्रीउद्धवजी बोले

इन गोपकुमार ने श्री व्रजभूमि में गोप के घर जन्म लिया है। इनके आचरण गोपों सरीखे हैं। यह श्री गोपालजी की उपसना में एकनिष्ठ हैं। इसलिये यह महाशय हमसे श्रेष्ठ हैं ॥६२॥

सोत्साहमाह तं हर्षात्तच्छ्रुत्वाश्लिष्य नारदः ।
यथायं लभतेऽभीष्टं तथोपादिश सत्वरं ॥६३॥
अब्रवीदुद्धवो जात्या क्षत्रियोऽहं महामुने ! ।
उपदेशप्रदाने तन्नाधिकारी त्वयि स्थिते ॥६४॥

यह बात सुनकर श्रीनारदजी बड़े प्रसन्न हुये। उन्होंने उत्साह से श्री उद्धवजी का आलिङ्गन किया, और यह कहने लगे. "हे उद्धव ! जिस प्रकार से यह अपने अभिष्ठ देव को प्राप्त हो जाएँ, उसी प्रकार का उपदेश आपको इनके प्रति जल्दी ही करना चाहिए" यह बात सुन कर श्रीउद्धवजी बोले. "हे महामुनि श्री नारदजी मैं जाति से क्षत्रिय हूँ, इसलिये आपकी सन्निधि में मुझको उपदेश करने का अधिकार नहीं है ॥६३-६४॥

नारदो नितरामुच्चैर्विहस्यावददुद्धवं ।
न वैकुण्ठेऽप्यपेतास्मिन् क्षत्रियत्वमतिस्तव॥६५।
उद्धवः सम्मतिं प्राह किं ब्रूयां सा न मादृशां ।
अपेतेति किलास्माकं प्रभोरप्यपयाति न॥६६॥
यथा तत्र तथात्रापि सद्धर्म्मपरिपालनं ।
गार्हस्थ्यारिजयज्येष्ठविप्रसम्माननादिकं ॥६७॥

तब श्री नारदजी उच्चस्वर से हंस कर, उद्धव जी से कहने लगे "हे उद्धव जी ! यहाँ वैकुण्ठ में आकर भी आपका क्षत्रियत्व का अभिमान दूर नहीं हुआ" तब मुस्कराते हुए श्रीउद्धव जी बोले "मेरे जैसों का तो कहना ही क्या है, हमारे प्रभु श्रीकृष्ण का भी जाति अभिमान दूर नहीं हुआ है। जैसा कि वह प्रकट लीलामें सत धर्मों तथा गृहस्थ आचरणों का पालन करते थे, अपने से बड़ों तथा ब्राह्मणों का सन्मान करते थे, उसी प्रकार वह, यहाँ भी करते हैं" ॥६५-६६ ६७॥

तदुक्त्या नारदो हर्ष-भराक्रान्तमना हसन् ।
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य चाक्रोशन्निदमाह सुविस्मितः॥६८

यह सुन कर श्री नारदजी आनन्द से भरपूर होकर, हँसने लगे, फिर आश्चर्य युक्त होकर कूद कूद कर उच्चस्वर से इस प्रकार कहने लगे॥६८॥

श्रीनारद उवाच ।

अहो ! भगवतो लीला-माधुर्य्यमहिमाद्भुतः ।
तदेकनिष्ठागाम्भीर्य्यं सेवकानाञ्च तादृशं॥६९।

श्री नारदजी बोले।

अहो ! जैसे भगवान् की लीला माधुरी की महिमा अद्भुत है, इसी प्रकार उनके सेवकों की उनमें एक निष्ठता की गम्भीरता है। देखिए बड़े

अहो ! अलं कौतुकमेतदीक्षते
यथैष विक्रीड़ति मर्त्यलोकगः ।
तथैव वैकुण्ठपदोपरि स्थितो
निज-प्रियाणां परितोषहेतवे॥७०॥

आश्चर्य की बात है, कि भगवान जिस प्रकार मर्त्यलोकमें लीला करते हैं, उसी प्रकार अपने निज भक्तों को सन्तोष प्रदान करने के लिये उस श्री द्वारिका पुरी में भी करते हैं, जो कि श्री वैकुण्ठ से भी ऊपर स्थित है॥६६-७०॥

यल्लीलानुभवेनायं भ्रमः स्यान्मादृशामपि।
वैकुण्ठद्वारकायां किं मर्त्ये वर्त्तामहेऽथवा ॥७१॥

उन लीलाओं के अनुभव करने से मुझ जैसों को भी भ्रम हो जाता है। क्यों कि अब मैं श्री-वैकुण्ठ स्थित श्रीद्वारका में हूँ अथवा मर्त्यलोक स्थित् द्वारिका में हूँ, यह भली प्रकार से निश्चय नहीं कर सकता हूँ ॥७१॥

युक्तं तदेका प्रभु-पादपद्मयोः
सप्रेमभक्तिर्भवतामपेक्षिता ।
भक्तप्रियस्यास्य च भक्तकामित-
प्रपूरणं केवलमिष्टमुत्तमं ॥७२॥

हे उद्धवजी ! आप लोग भी एक मात्र श्रीकृष्ण चरणारविन्द की प्रेम भक्ति ही चाहते हैं। और क्योंकि श्रीकृष्ण भक्तप्रिय हैं, इसलिये उनको भी केवल भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करना ही एक मात्र अभीष्ट है। इसलिये यह दोनों ही उचित हैं ॥ ७२ ॥

वैकुण्ठवासोचितमीहितं न वो
नो मर्त्यलोकस्थितियोग्यमप्यतः ।
ऐश्वर्य्ययोग्यं न हि लोकवन्धुता
युक्तश्च तस्यापि भवेदपेक्षितं॥७३॥

आपलोग न तो वैकुण्ठ वास के उपयुक्त व्यवहार की चेष्टा करते हैं, और न ही मर्त्यलोक रहने के उपयुक्त व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी आप लोगों से न तो अपने ईश्वरत्व उपयोगी व्यवहारों की अपेक्षा करते हैं, और न ही मर्त्य लोक जैसा बरताव करते हैं ॥ ७३ ॥

सप्रेमभक्तेः परमानुकूलं
दैन्यं महापुष्टिकरं सदा वः ।
तस्यापि तत्प्रेमविभावनेऽलं
भोगाकुलग्राम्यविहार-जातं ॥७४॥

आपकी दीनता कि "मैं क्षत्रिय हूँ" यह प्रेम भक्ति के केवल अनुकूल ही नहीं है, वल्कि उसको सर्वदा बढ़ानेवाली है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की ग्रामियों जैसी, जो भोग विहार आदि में आसक्ति है, वह भी भक्तों के प्रेम को वढ़ाने वाली है ॥७४॥

प्रेमोद्रेकपरीपाक-महिमा केन वर्ण्यतां ।
यः कुर्य्यात् परमेशं तं सद्बन्धुमिव लौकिकं॥७५

प्रेम की उत्कन्ठा की परिपाक अवस्था की महिमा को कौन वर्णन कर सकता है ? जो कि साक्षात् परमेश्वर को भी अपने लौकिक सत् बन्धु सरीखा बना देती है ॥७५॥

अहो ! लौकिकसद्बन्धुभावश्च स्तौमि येन हि ।
गौरवादेर्विलोपेन कृष्णे सत्प्रेम तन्यते ॥७६॥

अहो ! मैं उस लौकिक सत् बन्धु भावकी स्तुति करता हूँ, जिसने श्रीकृष्ण विषय ईश्वरत्व भाव को हटा कर उनमें श्रेष्ठ प्रेम पैदा करा दिया है ॥ ७६ ॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

एवं वदन् प्रेम-भराभियन्त्रितो
विकार-जातं विविधं भजेन्मुनिः ।
तूष्णीमभूदार्त्तमथाह मां पुनः
सापेक्षमालक्ष्य निजोपदेशने ॥७७॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! इस प्रकार कहते हुये श्री नारदजी प्रेमातुर हो गये । उनके अंगों पर बिबिध प्रकार के सात्विक भाव दिखाई देने लगे । वह क्षणकाल के लिये तो मौन होगये । फिर मुझको आर्त तथा उनके उपदेश श्रवण करने के इच्छुक देख कर, इस प्रकार कहने लगे ॥ ७७ ॥

श्रीनारद उवाच ।

गोपालदेव-प्रिय ! गोप-नन्दन !
श्रीमानितो दूरतरो विराजते ।
गोलोकनामोपरि सर्व्वसीमगो
वैकुण्ठतो देशविशेष-शेखरः ॥७८॥

श्रीनारदजी बोले ।

हे गोपकुमार ! आप श्री गोपालदेव श्रीकृष्ण के अत्यन्त प्यारे हैं । वह श्री गोलोक बहुत दूर है । सब लोकों से ऊपर विराजमान है । वह गोलोक श्री वैकुण्ठ के देश विशेष अर्थात् श्री अयोध्या द्वारिका आदि के चूड़ामणि स्वरूप है ॥७८॥

स माथुरश्रीव्रजभूमिरूप-
स्तत्रैव देवी मथुरापुरी च ।
वृन्दावनादिव्रजभूमिमात्म-
सारं विना स्थातुमपारयन्ती ।।७९॥

वह गोलोक मथुरा ब्रजभूमि स्वरूप है । वहाँ भी वह मथुरापुरी है, जोकि अपनी सार स्वरूपा श्री बृन्दाबन आदि व्रजभूमि को छोड़ कर नहीं रह सकती है ॥७९॥

सा गोप्रधानदेशत्वात् सर्व्वा श्रीमथुरोच्यते ।
गोलोक इति गूढोऽपि विख्यातः स हि सर्व्वतः८०

वह मथुरा (गोलोक) गो प्रधान लोक है, इस लिये इसको गोलोक कहते हैं । यद्यपि यह रहस्य लीलास्थली है, तो भी संसार में गोलोक नाम से विख्यात है ॥८०॥

स च तद्व्रजलोकानां श्रीमत्प्रेमानुवर्त्तिना ।
कृष्णे शुद्धतरेणैव भावेनैकेन लभ्यते ॥८१॥

वह गोलोक धाम, केवल उन्हीं भक्तों को प्राप्त हो सकता है, जिनका प्रेम श्रीकृष्ण में व्रजवासियों के प्रेम के अनुगत होकर है ॥८१॥

तादृग्भगवति प्रेमा पारमैश्वर्य्यदृष्टितः ।
सदा सम्पद्यते नैव भयगौरवसम्भवात् ॥८२॥

जिन भक्तों की भगवान् में सर्वदा परमेश्वर दृष्टि रहती है उनको इस प्रकार का प्रेम नहीं प्राप्त हो सकता है । क्योंकि उनके ऐश्वर्य भाव में गौरव तथा भय रहता है ॥८२॥

केवलं लौकिकप्राणसुहृद्बुद्ध्या स सिद्ध्यति ।
लोकालोकोत्तरो योऽसावतिलोकोत्तरोऽपि यः॥८३

यह प्रेम तो केवल लौकिक प्राणवन्धु भाव भगवान् में रखने से ही सिद्ध होता है । यह प्रेम लोक सदृश होने से भी, न तो पृथ्वी पर, न अष्ट आवरणों में, ना ही श्रीवैकुण्ठादि लोकों में है॥८३॥

लोकानुगापि सान्योन्यं प्रियतातीतलौकिका ।
मधुरात्यद्भुतैश्वर्य्यलौकिकत्वविमिश्रिता ॥८४॥

श्रीकृष्ण तथा व्रज भक्तों का जो परस्पर का प्रेम है, यह लोक सदृश होते हुये भी अलौकिक है । क्यों कि यह प्रेम अद्भुत माधुर्य मय है जिसमें पूर्ण ईश्वरत्व तथा लौकिक भाव मिश्रित हैं ।

व्यवहारोऽस्य तेषाञ्च सोऽन्योन्यं प्रेमवर्द्धनः ।
वैकुण्ठे परमैश्वर्य्यपदे न किल सम्भवेत्॥८५॥

तादृशी साप्ययोध्येयं द्वारकापि ततोऽधिका ।
अतः स लोकः कृष्णेन दूरतः परिकल्पितः॥८६॥

सुखक्रीड़ाविशेषोऽसौ तत्रत्यानाञ्च तस्य च ।
माधुर्य्यान्त्यावधिं प्राप्तः सिद्धये तत्रोचितास्पदे ॥ ८७ ॥

अहो किल तदेवाहं मन्ये भगवतो हरेः ।
सुगोप्यभगवत्तायाः सर्ब्बसार-प्रकाशनं॥८८॥

वैकुण्ठोपरिवृत्तस्य जगदेकशिरोमणेः ।
महिमा सम्भवेदेव गोलोकस्याधिकाधिकः॥८९॥

मर्त्यलोकान्तरस्थस्य मथुरा-गोकुलस्य च ।
माहात्म्यं सर्व्वतः श्रेष्ठमाश्चर्य्यं केन वर्ण्यतां॥९०

शृणु कण्डूयते जिह्वा ममेयं चपला सखे ! ।
रत्नमुद्घाटयाम्यद्य हृन्मञ्जूषार्पितं चिरात्॥९१।

तत्तन्महाप्रेमविहारकामः
कस्मिन्नपि द्वापरकालशेषे ।
गोलोक-नाथो भगवान् स कृष्णः
कृत्स्नांशपूर्णोऽवतरत्यमुष्मिन् ॥९२॥

नानात्वमाप्तै रिव वर्त्तमानैः
सर्व्वैः स्वरूपैः सममद्वयः सन् ।
वैकुण्ठलोकादिकमाशु हित्वा
नित्यांश्च तत्रत्यपरिच्छदादीन् ॥९३॥

इसलिये श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों का परस्पर व्यवहार से दोनों ओर के प्रेम की वृद्धि होती है। क्योंकि श्रीवैकुण्ठ केवल परम ईश्वरत्व का स्थान है, इसलिये इस जाति का प्रेम वहां सम्भव नहीं है ॥ ८४–८५ ॥

इसी तरह श्री अयोध्या भी ऐश्वर्य स्थान है, और श्रीद्वारिका उनसे भी अधिक ईश्वरत्व लोक है, इसी कारण से श्रीकृष्ण ने उस गोलोकधाम को सबसे दूर तथा अलग रखा है ॥८६॥

उनके उपयुक्त उसी धाम में ही श्रीकृष्ण तथा उनके परिकर का पूर्ण रूप से सुखमय विहार, तथा उनकी माधुर्य की सीमा की अवधि प्रकट होती है। मैं तो यह मानता हूँ, कि भगवान की सब प्रकार की छुपी हुई भगवत्ताओं का सार उस गोलोक में ही प्रकट हुआ है ॥ ८७–८८ ॥

वह गोलोक वैकुण्ठ के ऊपर स्थित है। इसी हेतु से समस्त जगत् का शिरोभूषण है। इसलिये उसकी महिमा सबसे अधिक है ॥८९॥

इसी प्रकार मर्त्यलोक स्थित यह मथुरा तथा व्रजभूमि (माथुर गोलोक) भी वैकुण्ठ आदिसे श्रेष्ठ है। इसलिये इनकी अद्भुत महिमाओं को कौन वर्णन कर सकता है ॥९०॥

हे सखे गोपकुमार ! सुनिए, इस समय मेरी जिह्वा कहने के लिये चञ्चल हो रही है। मेरे हृदय रूपी सम्पुट में बहुत दिनों से रखे हुये रत्नों को आज मैं प्रकाश करता हूँ ॥९१॥

जब उन श्रीगोलोकनाथ श्री कृष्ण भगवान की अपने प्रेममय विविध प्रकार के बिहार करने की इच्छा होती है। तब वह किसी एक द्वापर के अन्त में अपने समस्त अंशावतारों को अपने में सायुज्य करके इस गोकुल में प्रकट होते हैं ॥९२॥

उस समय उनके विविध प्रकार के वह स्वरूप जो तत् तत् श्रीवैकुन्ठादि में विराजमान हैं उन सब को अपने स्वरूप में लीन करके, वह अवतार धारण करते हैं। इसीलिये उस समय में श्रीवैकुन्ठ-नाथ आदि भी अपने अपने धाम तथा नित्य

स्व-पारमैश्वर्य्यमपि प्रसक्तं
दूरादुपेत्य श्रियमप्यनन्यां ।
अस्मादृशोऽनन्यगतींश्च भृत्यान्
सर्व्वाननादृत्य स याति तत्र ॥९४॥

परिकर परिच्छद और अपने स्वाभाविक पारमैश्वर्य अनन्याश्रिता श्रीलक्ष्मीजी तथा मुझ सरीखे ऐकन्तिक भक्तों को भी त्याग करके उनमें मिल जाते हैं ॥ ९३–९४ ॥

अन्यैः सहान्यत्र न लभ्यते य-
ल्लब्धुं सुखं श्रीमथुरा-व्रजे तत् ।
तत्रत्यलोकैरुचितस्वभावैः
साकं यथेच्छं नितरां विहृत्य ॥९५॥

क्योंकि अन्य अन्य धामों में दूसरे दूसरे परिकरों के साथ विहार करके जो सुख उनको प्राप्त नहीं होता है। उसको वह इस व्रज के मनोहर स्वभाव वाले परिकरों के साथ अपनी स्वच्छन्द इच्छा से विहार करके लाभ करते हैं ॥९५॥

तदातनानां दृढभक्तिभाग्य-
विशेषभाजां जगतां हि साक्षात् ।
दृश्यो भवेन्न्यूनमनन्यकाल-
प्रादुष्कृतेनात्मकृपा-भरेण ॥९६॥

उस समय श्रेष्ठ प्रेम भक्तिरूप विशेष भाग्य वालों को ही उनका साक्षात् दर्शन उस पूर्ण कृपा से ही होता है, जो कृपा उस काल से व्यतिरिक्त वह अन्य किसी काल में किसी पर नहीं करते हैं॥९६

अतो वैकुण्ठनाथस्य वैकुण्ठेऽपि कदाचन ।
दर्शनं नैव लभ्येत भवताप्यन्वभावि तत् ॥९७॥

हे गोपकुमार! जब भगवान् मर्त्यलोक में जाकर अवतार धारण करते हैं, तब उन श्री वैकुण्ठनाथ के श्री वैकुण्ठ में, कभी-कभी दर्शन नहीं होते हैं। यह बात पहले आपने भी अनुभव की थी ॥ ९७ ॥

अतएवर्षयस्तत्र लोक-वृत्तान्ततत्पराः ।
वैकुण्ठनायकं केचित् सहस्रशिरसं परे ॥९८॥

नारायणं नरसखं केऽपि विष्णुश्च केचन ।
क्षीरोदशायिनं त्वन्ये केशवं मथुरापुरे ॥९९॥

अवतीर्णं वदन्त्यार्य्याः स्व-स्व-मत्यनुसारतः ।
निर्णीतेश्वरमाहात्म्यमाधुर्य्याद्यवलोचनात् ॥१००

जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं, जब श्री कृष्ण अवतार धारण करते हैं, तब और सब अवतार उनके स्वरूप में लीन हो जाते हैं। इसी लिये जब वह भूमण्डल पर मथुरा में अवतार लेते हैं, तब उनमें और-और अवतारों की अनेक प्रकार की ईश्वरत्व तथा माधुर्य आदि की महिमाओं को देख कर, ऋषि लोग अपने-अपने भावों तथा मतों के अनुसार कोई तो उनको, वैकुण्ठनाथ कोई सहस्र शीर्षा, कोई नरनारायण कोई क्षीरोद शायी विष्णु, कोई श्री केशव भगवान कहते हुये, अपने-अपने प्रभुओं के नामों से यह कहते हैं कि उन्होंने मथुरा में अवतार लिया है ॥९८-९९-१००॥

किन्तु स्वयं स एव श्रीगोलोकेशो निजं पदं ।
भूर्लोकस्थमपि क्रीड़ाविशेषैर्भूषयेत् सदा ॥१०१॥

परन्तु मेरा तो यह मत है, कि वह श्रीकृष्ण स्वयं गोलोक अधिपति ही हैं, जो कि उस भूमण्डल स्थित अपने निज धाम श्री वृन्दाबन को अपनी विविध प्रकार की लीलाओं से सदा विभूषित करते हैं ॥१०१॥

नात्र कोऽप्यस्ति भिन्नो यत्तत्रत्यजन-वल्लभः।
उद्धवस्त्वञ्च तत्रत्यस्तद्गोप्यं किञ्चिदुच्यते ॥१०२

काष्ठाममुत्रैव परां प्रभोर्गता
स्फुटा विभूतिर्विविधा कृपालुता।
सुरूपताशेषमहत्त्वमाधुरी-
विलासलक्ष्मीरपि भक्तवश्यता ॥१०३॥

व्रजः स नन्दस्य गुणैः स्वकीयै-
र्विलासभूरास महाविभूतेः।
यस्याः कटाक्षेण जगद्विभूति-
र्वैकुण्ठनाथस्य गृहेश्वरी या ॥१०४

यस्यैकवृक्षोऽपि निजेन केनचि-
द्द्रव्येन कामांस्तनुतेऽर्थिनोऽखिलान्।
तथापि तत्तन्न सदा प्रकाशये-
दैश्वर्य्यमीशः स्वविहारविघ्नतः ॥१०५॥

सद्वेष-मात्रेण हि बालघातिनीं
तां राक्षसीं मातृ-गतिं निनाय सः।
तद्बान्धवान् मुक्तिमघासुरादिकान्
साधुद्रुहस्तादृशलीलयानयत् ॥१०६॥

गोदानवीथीभिरुदूखलाङ्घ्रौ-
स्वस्योदरे बन्धनमाददेऽसौ।
प्रोत्साहनेन व्रज-योषितां त-
न्नृत्यादिकं ताश्च निदेशवर्त्तितां ॥१०७

यहाँ व्रज भाव का कोई विरोधी नहीं है, क्यों कि श्री उद्धवजी तो व्रजजन वल्लभ हैं, और आप भी इसी भाव के हैं, इस लिये आप से कुछ गोप्य नहीं है, इसी कारण से मैं कुछ निवेदन करता हूँ ॥१०२॥

वहाँ उस व्रज में ही श्रीकृष्ण की, बिविध प्रकार की विभूति, कृपालुता, सुन्दरता, महिमा, अनेक प्रकार की लीला माधुरी, शोभा तथा भक्त वश्यता की पराकाष्ठा प्रकट हुई है ॥१०३॥

यह नन्द व्रज अपने गुणों से उस श्रीमहा-लक्ष्मीजी की विहार भूमि है, जिसके कटाक्ष से इस संसार की सब विभूतियाँ हैं, और जो श्री वैकुण्ठनाथ भगवान् की गृहिणी हैं ॥१०४॥

यद्यपि इस व्रज भूमि के प्रत्येक वृक्ष में ही क्या, बल्कि उन वृक्षों के फल, फूल, पत्ते, आदि, सब द्रव्यों में अखिल कामनाओं के पूर्ण करने की सामर्थ्य है, तो भी वह वृक्ष आदि अपनी महि-माओं को सदा इस लिये प्रकाश नहीं करते हैं, कि ऐसा करने से हमारे प्रभु के स्वतन्त्र बिहार में विघ्न हो जायेगा ॥१०५॥

उन्होंने उस व्रज में इस प्रकार की दयालुता प्रकट की है, जिससे बालघातिनी राक्षसी पूतना को एक मात्र माता का वेष देख कर, केवल माता की गति ही प्रदान नहीं की, बल्कि उसके सम्बन्ध से और उसके कुटुम्बी, अघासुर, आदि जोकि साधुओं से द्रोह करते थे, उनको भी खेलते खेलते मुक्ति दे दी ॥१०६॥

जबकि माता श्री यशोदा ने उनको लोमना की रस्सियों से बाँधने का बड़ा प्रयत्न किया। तब उन्होंने अपने भक्त वश्यता गुण से उस बन्धन को स्वीकार किया और अपने उदर को ऊखल से बंधवा लिया। जब कि व्रज गोपिकाओं ने किसी वस्तु से प्रलोभित करके नृत्य करने के लिये उत्सा-हित किया, तब उनको आनन्द देने के लिये उनके कथनानुसार वह नृत्य करने लगे। और जब श्री नन्दराय ने उनको पादुका आदि लाने के लिये कहा, तब उन्होंने अपने भक्त वश्यता गुण को

रूपस्य तस्य महिमानमलं न कोऽपि
वक्तुं तथापि कथयामि यथात्म-शक्ति ।
तस्यापि विस्मयकरं यदुदीक्ष्य भावं
तं गो-द्विज-द्रुम-लता-तरवोऽप्यगच्छन् १०८

यत्तात ! तासामपि धैर्य्यमोषकं
या वै कुल-स्त्री-कुलपूजिताङ्घ्रयः ।
रूपेण शीलेन गुणेन कर्म्मणा
श्रैष्ठ्यं गता हन्त ! महाश्रियोऽपि याः१०९

यद्दर्शने पक्ष्मकृतं शपन्ति
विधिं सहस्राक्षमपि स्तुवन्ति ।
वाञ्छन्ति दृक्त्वं सकलेन्द्रियाणां
कां कां दशां वा न भजन्ति लोकाः११०

किं वर्ण्यतां व्रजभुवो महिमा स तस्या
यत्रैव तत् स भगवान् वितनोति रूपं ।
यत्तादृशप्रकृतिनाप्यमुना समेता-
नान्यत्रिका दधति भावमिमेऽपि तद्वत्१११

वयश्च तच्छैशवशोभयाश्रितं
सदा तथा यौवनलीलयादृतं ।
मनोज्ञकैशोरदशावलम्बितं
प्रतिक्षणं नूतननूतनं गुणैः॥११२॥

यद्यच्च पूर्वं कृतमस्ति केनचित्
स्वयञ्च तेनापि कथञ्चन क्वचित् ।
तत्तत् कृतं सुन्दरबाल्यचेष्टया
तत्र व्रजे यच्च पुरास दुष्करं ॥११३॥

प्रकट करने के लिये, उनकी सब आज्ञाओं का पालन किया ॥१०७॥

यद्यपि श्रीकृष्ण की रूप माधुरी की महिमा को सम्पूर्ण रूप से कोई भी वर्णन नहीं कर सकता है। तो भी यथा शक्ति मैं कुछ कहता हूँ, उनका रूप उनको भी विस्मय में डाल देता है। उस रूप को देख कर गौ, पक्षी, वृक्ष, लता आदि को भी सात्विक भाव अर्थात् पुलक आदि होजाते हैं॥१०८

हे गोपकुमार ! श्रीकृष्ण का रूप, उन श्री वृजनागरियों के धीरज को भी हरण कर लेता है, जिनके चरणारविन्दों की बड़ी-बड़ी कुलीन स्त्रियाँ पूजा करती हैं, और जो रूप, शील, गुण तथा कर्म आदि से महा लक्ष्मीजी से भी श्रेष्ठा हैं ॥१०९॥

वह वृज गोपी जब उनके दर्शन करती हैं, तब पलक लगाने वाले ब्रह्माजी को तो शाप देती हैं, और हजार नेत्र वाले इन्द्र की बड़ाई करती हैं, और यह चाहती हैं कि हमारी सब इन्द्रियाँ आँखें होजाएँ। मैं क्या बर्णन करूँ, वह व्रज के लोग उनके दर्शन करके किस-किस अबस्था को प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् सबको होजाते हैं ॥११०॥

जहाँ श्रीकृष्ण इस प्रकार के सुन्दर रूप को प्रकट करते हैं, उस व्रज भूमि की महिमा, मैं क्या बर्णन कर सकता हूँ। यह द्वारिका बासी तथा उनके अन्य धामों के परिकर जो और धामों में उनके साथ रहते हैं, वह भी इन ब्रजवासियों के भावों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं ॥१११॥

उनकी रूप माधुरी क्षण-क्षण में नई-नई प्रतीति होती है क्योंकि इसमें पौगंड अवस्था की सुकुमारता, चापल्यता, यौवन की वैदग्धता तथा किशोर अवस्था की मनोहर कान्ति आदि गुण मिश्रित हैं ॥११२॥

जो-जो लीलाएँ श्रीकृष्ण ने अपनी सुन्दर बाल चेष्टाओं से व्रज में की हैं, वह पहले उन्होंने कहीं भी नहीं कीं। वह लीलाएँ उनके लिये भी और स्थानों पर करनी दुष्कर हैं ॥११३॥

तत्तद्विनोदामृतसागरान्तरं
विभेत्यलं मे रसनावगाहितुं ।
सदैव तत्तन्मधुरप्रियापि यत्
कर्म्मण्यशक्ये न जनः प्रवर्त्तते॥११४

श्रीकृष्ण की लीला रूपी अमृत के सागर को पार करने के लिये मेरी वह जिह्वा भी डरती है, जो उस अमृत को निरन्तर पान करना चाहती है। यद्यपि हर एक अपनी प्रिय वस्तु को निरन्तर आस्वादन करना चाहता है, तो भी उसकी सामर्थ्य नहीं होने से वह उसको किस प्रकार आस्वादन कर सकता है ॥११४॥

पीतं सकृत् कर्ण-पुटेन तत्त-
ल्लीलामृतं कस्य हरेन्न चेतः ।
प्रवर्त्तितुं वाञ्छति तत्र तस्मा-
ल्लज्जां न रचेत् किल लोलता हि॥११५

उनकी लीला अमृत को, अपने कर्णों द्वारा पान करके, ऐसा कौन है जिसका चित्त हरण न हो जाए ? इसी लिये मेरी जिह्वा चञ्चलता से लज्जा को त्याग कर, उन लीलाओं के वर्णन करने में प्रवृत्त होती है ॥११५॥

त्रैमासिको यः शकटं बभञ्ज
स्थूलं शयानो मृदुना पदेन ।
स्तन्याय रोदित्युत यः प्रसूं द्वि-
वारौ मुखे दर्शयति स्म विश्वं ॥११६॥

जिस समय उनकी अवस्था तीनही महीने की थी, उन्होंने सोते-सोते अपने कोमल चरणों से बड़े भारी गाड़ा को तोड़ दिया था। जिस समय वह स्तन पान के लिये रो रहे थे, रोते-रोते उन्होंने अपने मुख में श्री यशोदाजी को दो बार, समस्त विश्व का दर्शन कराया था ॥११६॥

या सा तृणावर्त्त-वधेन लीला
तस्याथ या रिङ्गणभङ्गिकाभिः ।
त्वां पातु गोपी-गण-तोषणाय
कृता च या गोरस-मोषणेन ॥११७॥

तृणाबर्त बध लीला, रिंगन अर्थात् घुटरवन लीला तथा जिस लीला में गोपियों को सुख प्रदान करने के लिये उन्होंने माखन चोरा था, हे गोप-कुमार! यह सब लीलाएं आपकी रक्षा करें ॥११७

गोपी-गणाक्रोशनतो जनन्याः
साक्षाद्भयालोकन-चातुरी सा ।
मां पातु मृद्भक्षण-कौतुकं तत्
क्रीड़ा च मातुर्दधि-मन्थने सा॥११८॥
तद्रोदनं यद्दधि-भाण्ड-भञ्जनं
तच्छिक्यपात्रान्नवनीत-मोषणं ।
तन्मातुभीतिद्रवणं भयाकुला-
लोकेक्षणान्वश्च महाद्भुतं प्रभोः ॥११९॥

जब कभी ब्रज गोपिका उरहाने लेकर ब्रजेश्वरी श्री यशोदा के पास आती थीं, उनको सुन कर, भय भीत होकर, वह चातुरी से गोपिकाओं की ओर देखते थे, वह लीला, मृद् भक्षण लीला, तथा वह दधि मन्थन लीला जिसमें उन्होंने रई को पकड़ लिया था, यह सब लीलाएं मेरी रक्षा करें। यह श्रीकृष्ण की बड़ी अद्भुत् लीलायें हैं:— रोते-रोते दधि भाण्ड को फोड़ना, छींके पर रखे हुये पात्र में से माखन चुरा लेना, फिर यशोदा जी के भय से व्याकुल होकर चञ्चल नेत्रों से इधर उधर देखते हुए दौड़ना ॥११८-११९॥

आकर्षणं यत्तदुलूखलस्य
बद्धस्य पार्श्वेऽजठरे जनन्याः ।

यशोदाजी का उनको पकड़ कर ऊखल से बाँधना, उसको खैंच कर यमुलार्जुन वृक्षों का

चेतो हरेन्मेऽर्जुनभञ्जनं त-
त्तस्यां दशायाश्च वर-प्रदानं ॥१२०॥

तोड़ना, और उसी बंधन अवस्था में ही नलकूबर मणिग्रीव को बरदान देना, यह सब लीलायें मेरे चित्त को हरती हैं ॥१२०॥

वृन्दावने तर्णक-चारणेन
क्रीड़न्नहन् वत्स-वकौ तथा यः।
मां वेणुवाद्यादि-गुरुः स वन्य-
वेशोऽवताज्जन्तुरुतानुकारी ॥१२१॥

वृन्दाबन में बछड़ों को चराते हुये, खेलते-खेलते जिन्हों ने वत्सासुर तथा वकासुर का बध किया था, जो मुरली बजाने वालों के आदि गुरु हैं, और जो वनवेष अर्थात् गुञ्जा आदि से भूषित होकर श्री बृन्दवन के पशु पक्षी सरीखी बोलियों का अनुकरण करते हैं, वह श्रीकृष्ण मेरी रक्षा करें ॥ १२१ ॥

प्रातः सवत्सः सखिभिः प्रविष्टो
वृन्दावनं यानकरोद्विहारान्।
तत्तत्परामर्शमहाहि-वक्त्र-
प्रवेशनादीन् सरसान् भजे तान्॥१२२

प्रातःकाल ग्वालवाल तथा बछड़ों को साथ लेकर, उन्होंने वृन्दाबन में जाकर विविध प्रकार के बिहार करते हुये, परामर्श पूर्वक अघासुर के मुख में प्रवेश किया था। इस प्रकार की सरस लीलाओं को मैं भजता हूँ ॥१२२॥

सरस्तटे शाद्वलजेमने या
लीला समाकर्षति सा मनो मे।
तथा प्रभोस्तर्णक-मार्गणे या
दध्योदनग्रासविलासिपाणेः॥१२३॥

श्री यमुनाजी के तट पर जबकि वह सब ग्वालबालों के साथ भोजन कर रहे थे, तब श्री ब्रह्माजी बछड़ों को चुरा ले गये थे, और उनको ढूँढ़ने के लिये, वह अपने हाथ में दही भात का ग्रास लिये हुये इधर-उधर घूम रहे थे वह लीला मेरे मनको खैंच रही है ॥१२३॥

ब्रह्मापि यां वीक्ष्य विलास-माधुरीं
मुमोह तां वर्णयितुं नु कोऽर्हति।
क्व सात्मवत्सार्भकरूपधारिता
क्व मुग्धवत्तत् सखि-वत्स-मार्गणं॥१२४

जब कि श्री ब्रह्मा सरीखे भी उनकी लीला माधुरी को देख कर मोह को प्राप्त हो गये थे, तब बताइये, उन लीलाओं को कौन वर्णन कर सकता है ? क्योंकि कहाँ तो आपका ग्वालवाल तथा बछड़ों का रूप धारण करना, और कहाँ मुग्ध की तरह उनका अन्वेषण करना ॥१२४॥

तत्तद्विलासास्पदगोकुलस्य स
ब्रह्मैव माहात्म्यविशेषवित्तमः।
अस्तौत् तथा यो भगवन्तमादरा-
न्मूर्तो महाप्रेमरसो ब्रजस्य यः॥१२५॥

जहाँ कि उन्होंने विविध प्रकार की लीलायें की हैं, उस गोकुल की महिमा को श्री ब्रह्माजी ही जानते हैं। इस लिये उन्होंने उस ब्रज की तथा उन श्रीकृष्ण की, जो इस ब्रज के प्रेम रस की मूर्ति हैं, आदर से स्तुति की है ॥१२५॥

गोपालनेनाग्रज-माननेन
वृन्दावन-श्रीस्तवनेन चासौ।

गोचारण लीला, जिस लीला में उन्होंने श्री दाऊजी का सन्मान किया था, श्री वृन्दाबन की शोभा की स्तुति की थी, तथा भौरों के गान का

तेनालिगानाभिनयादिनापि
प्रभुर्व्यधाद्यां भजतां सुलीलां॥१२६

तालीवने याविरभूच्च लीला
या धेनुक-ज्ञाति-विमर्द्दने च।
सायं ब्रज-स्त्री-गणसङ्गमेऽपि
स्तोतुं न शक्नोम्यभिवादये तां॥१२७॥

यो वै विहारोऽजनि कालियस्य
ह्रदे यशोदा-तनयस्य तस्य।
तं स्मर्त्तुमीशो न भवामि शोक-
प्रहर्षवेगात् कथमालपानि॥१२८॥

क्व दुष्टचेष्टस्य खलस्य तस्य
दण्डस्तदा क्रोध-भरेण कार्य्यः।
क्व चोन्नते तत्फण-वर्गरङ्गे
नृत्योत्सवो हर्ष-भरेण तादृक्॥१२९॥

क्व निग्रहस्तादृगनुग्रहः क्व वा
शेषोऽपि यं वर्णयितुं न शक्नुयात्।
तन्नागपत्नी-निवहाय मे नमः
स्तुत्यर्च्चने योऽकृत कालियाय च॥१३०

तीरे ह्रदस्यास्य दवानलेन या
क्रीड़ाद्भुता मञ्जुवनेऽप्यतोऽधिका।
भाण्डीरसंक्रीड़नचातुरी च सा
ज्येष्ठस्य कीर्त्यै रचिता तनोतु शं॥१३१

मनोहरा प्रावृषि या हि लीला
महीरुहाङ्काश्रयणादिका सा।
जीयाद् व्रजस्त्रीस्मर-तापदात्री
शरद्वन-श्री-भरवर्द्धिता च॥१३२॥

अनुकरण किया था, इस प्रकार की सुन्दर लीलाओं को, आप भजिये॥१२६॥

उन्होंने ताल बन में जो लीला की थी, धेनुक तथा उसके बन्धु-बान्धवों का मर्दन किया था, फिर सायंकाल जब वह ब्रज में पधारे थे, उस समय जो उनका श्री व्रजसुन्दरियों से मिलन हुआ था, उन लीलाओं की स्तुति करने में, मैं असमर्थ हूँ, मैं तो केवल उनको नमस्कार ही करता हूँ॥१२७॥

कालीदह पर जो श्री यशोदानन्दन श्रीकृष्ण ने विहार किया था, वह लीला हर्ष तथा शोक मिश्रित है, इस लिये उस लीला को स्मरण करने में भी, मैं असमर्थ हूँ, बताओ फिर किस प्रकार से वर्णन करूँ॥१२८॥

कहाँ तो उस दुष्ट कालीय की चेष्टा, तथा उनका क्रोधातुर होकर उसको दण्ड देना, और कहाँ उस कालीय के ऊँचे-ऊँचे फणों पर उनका आनन्द से नृत्य करना॥१२९॥

कहाँ तो उस कालीय का निग्रह करना, और कहाँ उसके मस्तक पर अपने उन चरणारविन्दों की रज दान रूपी अनुग्रह करना, जिनकी महिमा को शेष जी भी वर्णन नहीं कर सकते हैं। उन नाग पत्नियों को मैं नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने कालिय की मुक्ति के लिये श्रीकृष्ण की पूजा तथा स्तुति की थी॥१३०॥

कालीदह पर जो उन्होंने दावानल का पान किया था, मुञ्जाटवी में जो उन्होंने इससे भी अधिक आश्चर्य जनक लीला की थी, और श्रीदाऊ जी की कीर्ति बढ़ाने के लिये जो उन्होंने भाण्डीर-बन में ग्वालबालों के साथ खेल किया था, यह सब लीलाएँ सब का मंगल करें॥१३१॥

वर्षा काल में जब कि उन्होंने वृक्षों की ओट में खड़े होकर लीलाएँ की थीं, तथा शरद ऋतु में श्री वृन्दाबन की सुन्दर शोभा देख कर, श्रीव्रज-गोपिका जिस प्रकार श्रीकृष्ण विषयिक काम से पीड़ित हुई थीं, उन सब लीलाओं की जय हो॥१३२

सा वन्यभूषा स च वेणुवाद्य-

माधुर्य्यपूरोऽखिलचित्तहारी ।

तद्गोप-योषिद्गण-मोहनञ्च

मया कदास्यानुभविष्यतेऽद्धा ॥ १३३

उनके सुन्दर वन वेष तथा वेणु माधुरी जिस से समस्त जगत के चित्त हरण हो गये थे, तथा ब्रज सुन्दरियाँ मोह को प्राप्त होगई थीं, उन लीलाओं के मुझको कब साक्षात् दर्शन होंगे ॥ १३३॥

काहो स कन्याम्बर-मोषणोत्सवः

सा नीप-मूर्द्धन्यधिरोहणत्वरा ।

नर्म्माणि तान्यञ्जलिवन्दनार्थनं

तत्स्वांसनीतांशुकदातृता च सा ॥१३४

वस्त्र हरण लीला में जब कि वह श्री व्रज गोपिकाओं के वस्त्र लेकर जल्दी से कदम्ब पर चढ़ गये थे, उनसे हाथ जुड़वाने के लिये जो उन्होंने हास्य परिहास्य किया था, तथा उनके वस्त्रों को अपने कन्धे पर रख कर जो उन्होंने वापिस दिये थे, इस प्रकार की लीलाओं को मैं कब अनुभव करूँगा ॥१३४॥

तां यज्वविप्रौदनयाचनाञ्च तत्-

पत्नी—गणाकर्षणमप्यमुष्य ।

तान् भूषणावस्थितिवाक्प्रसादा-

नीड़े तदन्नादनपाटवञ्च ॥१३५॥

मैं उस यज्ञ पत्नी उद्धार लीला की स्तुति करता हूँ, जिसमें उन्होंने याज्ञिक ब्राह्मणों से याचना की थी, तथा उनकी स्त्रियों के मनों को खैंच लिया था, फिर जब कि वह बन में उनके निकट गई थीं, उस समय वह भूषण आदि से सुसज्जित होकर खड़े हुये थे, और जो उन्होंने उनका अपनी वाक् चातुरी से स्वागत किया था, फिर उनके लाये हुए पदार्थों को ग्वालवालों के साथ भोजन किया था ॥१३५॥

गोवर्द्धनाद्रे रुचिरार्चनां तथा

स्व—वामहस्तेन महाद्रिधारणं ।

तद्गोपसन्तोषणमिन्द्रसान्त्वनं

वन्देऽस्य गोविन्दतयाभिषेचनं ॥१३६

जब उन्होंने गोवर्धन पर्वत का पूजन करके उसको आपने बायें हाथ से उठाया था, और इससे सब ग्वालबालों को सन्तोष प्रदान करके इन्द्र के मद को चूर्ण किया था। इसके पश्चात् जब उन्होंने इन्द्र को सान्त्वना दी थी, और सब देवताओं ने जब कि उनका गोविन्द अभिषेक किया था, मैं उन सब लीलाओं को नमस्कार करता हूँ ॥१३६।

ब्रजस्य वैकुण्ठपदानुदर्शनं

लोकाच्च नन्दानयनं प्रचेतसः ।

न वक्तुमर्हामि परान्तसीमगां

वक्ष्ये कथं तां भगवत्त्वमाधुरीं ॥१३७

जब उन्होंने ब्रजवासियों को वैकुण्ठ का दर्शन कराया था। जब श्री नन्दरायजी को वह वरुण लोक से वापिस लाये थे। उन लीलाओं की सीमाओं को भी मैं वर्णन करने में असमर्थ हूँ, फिर भगवत्ता की माधुरी को कैसे वर्णन करूँ ॥ १३७ ॥

वाच्यः किमेषां व्रजचेष्टितानां
यः सर्व्वतः श्रैष्ठ्य-भरो विचारैः ।
तदक्षराणां श्रवणे प्रवेशा-
दुदेति हि प्रेम-भरः प्रकृत्या ॥१३८

श्रीकृष्ण की उन व्रजलीलाओं को कौन वर्णन कर सकता है, जो कि विचार करके देखने से और सब अवतारों की लीलाओं से श्रेष्ठ हैं। जिन लीलाओं के शब्द श्रवण से ही स्वाभाविक प्रेम प्रकट होता है ॥१३८॥

कृष्णेहितानामखिलोत्तमं य-
स्तर्कैः प्रकर्षं तनुते स धन्यः ।
तेषां दराकर्णनमात्रतो यः
स्यात् प्रेमपूर्णस्तमहं नमामि ॥१३९

उनकी लीलाएँ, और अन्यअवतारों की लीलाओं से श्रेष्ठ हैं, इस विषय को युक्ति पूर्वक जो स्थापना करते हैं वह धन्य हैं। उन लीलाओं के थोड़े श्रवण मात्र से भी जिनके पूर्ण प्रेम प्रकट होता है, मैं उनको नमस्कार करता हूँ ॥१३९॥

अहो किलाशेषविलक्षणस्य
तदेकयोग्यस्य सदा कराब्जे ।
विक्रीड़तस्तत्प्रियवस्तुनोऽपि
स्प्रष्टुं महत्त्वं रसना किमीष्टे ॥१४०

अहो ! जैसे श्रीकृष्ण, और सब अवतारों से विलक्षण हैं, उन्हीं के अनुरूप उनकी वंशी है, जो कि सदा उनके हस्त कमल में अत्यन्त प्यारी वस्तु के सदृश खेलती रहती है। उसकी महिमा को मैं अपनी जिह्वा से, स्पर्श करने में भी असमर्थ हूँ ॥१४०॥

अथापि तत्प्रसादस्य प्रभावेणैव किञ्चन ।
यथाशक्ति तदाख्यामि भवत्ववहितो भवान्१४१

तो भी उनकी कृपा के प्रभाव से, मैं अपनी शक्ति अनुसार वंशी की महिमा को कुछ कहता हूँ, आप सावधान होकर सुनें ॥१४१॥

न श्रीमुखेनोपनिषन्मुखैः कृतं
यद्वेद-वाक्यैरपरैर्वचोऽमृतैः ।
तत्तस्य विम्वाधरयोगमात्रतः
सा दारवी मोहनवंशिकाकरोत्॥१४२

जो कार्य वह अपने मुखारविन्द से, उपनिषदों से, वेद वाक्यों से, और शास्त्र वचनों से नहीं कर सके, वह, मोहन करने वाली बांस की वंशी ने उनके अधर विम्ब के योग से समाधान किये ॥ १४२ ॥

विमानयानाः सुर-सिद्ध-संघाः
समं वधूभिः प्रणयादमुह्यन् ।
महेन्द्र-रुद्र-द्रुहिणादयस्तु
मुग्धा गता विस्मृततत्त्वतां ते॥१४३॥

उसकी ध्वनि सुनकर विमानों में, अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ बैठे हुये देवता तथा सिद्ध गण, प्रेम से मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। और इन्द्र, श्री शिवजी तथा श्री ब्रह्माजी आदि देवगण मोह को प्राप्त होकर ब्रह्म तत्व को भूल जाते हैं, अर्थात् उनको यह सन्देह हो जाता है कि जिस तत्व का तुम ध्यान कर रहे हो, यही ब्रह्म है, अथवा श्री मुरली नाद ही ब्रह्म है ॥१४३॥

समाधि-भङ्गोऽथ महामुनीनां
विकार-जातस्य च जन्म तेषु ।

उस ध्वनि को सुन कर महामुनियों की समाधि भंग हो जाती है, और उनके अंगों पर प्रेम के सात्विक विकार प्रकट हो जाते हैं। उन

तत्कालचक्र–भ्रमणानुवर्त्ति–
चन्द्रादिनित्याशुगतेर्विरोधः॥१४४॥

श्री चन्द्रमा आदि की गति भी स्थगित होजाती है, जोकि काल चक्र से निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥१४४॥

गोपाश्च कृष्णेऽर्पितदेहदैहिका–
त्मनो निजाचारविचारचञ्चलाः।
लोक–द्वयार्थेष्वनपेक्षितादृता
भार्य्यामपि स्वस्य नमन्ति तत्प्रियां१४५

उन श्री गोपों का बड़भाग मैं क्या वर्णन करूँ ? जिन्होंने अपने निज आचार विचार में उदासीन होकर, अपने देह तथा देह सम्बन्धी सब वस्तुओं को तथा अपनी आत्माओं को श्री कृष्ण चरणारविन्द में अर्पण कर दिया है। और जो इस लोक तथा परलोक की आशाओं को छोड़ कर, अपनी उन स्त्रियों को, जो कि श्रीकृष्ण की प्रिया हैं, नमस्कार करते हैं ॥१४५॥

तद्बालकाः सङ्गरता हि तस्य
च्छाया इवामुं क्षणमप्यदृष्ट्वा।
दूरे गतं कौतुकतः कदाचि-
दार्त्ता रमन्ते त्वरया स्पृशन्तः॥१४६॥

उन गोपों के बालक उनके साथ छाया सरीखे रहते हैं। जब श्रीकृष्ण बन शोभा देखने के लिये एक क्षण काल भी उनसे दूर चले जाते हैं, तब उनको नहीं देख कर वह अत्यन्त आर्त्त होते हैं, और जल्दी से भाग कर उनको छू कर सन्तुष्ट होते हैं ॥ १४६ ॥

राधाद्यास्ताः परमभगवत्यस्तु पत्यात्मजादीन्
लोकान् धर्म्मान् ह्रियमपि परित्यज्य भावं तमाप्ताः।
येनाजस्रं मधुरकटुकैर्व्याकुलास्तद्विकारैर्मुग्धाः
किञ्चित्तरु-गतिमिता नानुसन्धातु मीशाः॥१४७॥

उस मुरली की ध्वनि को सुन कर परम भगवती श्रीराधा आदि व्रज गोपिका (जो कि उनकी नित्य प्रेयसी हैं) जिन्होंने उनके लिये अपने पति, पुत्र यह लोक, धर्म, लज्जा आदि को छोड़ दिया है। तथा जो उनके इस प्रकार के भाव को प्राप्त हुई हैं, जिसके प्रभाव से वह सब संयोग तथा विरह के सुख दुखों से व्याकुल होकर, अपने आपको भूल कर स्थाणु के सदृश होजाती हैं॥१४७॥

आश्चर्यं वै शृणु पशुगणा बुद्धिहीनत्वमाप्ता
गावो वत्सा वृषवनमृगाः पक्षिणो वृक्षवासाः।
दूरे क्रीड़ारतजलखगाः स्थावरा ज्ञानशून्या
नद्यो मेघा अपि निजनिजं तत्यजुस्तं स्वभावं
॥१४८॥

उस मुरली नाद के और भी आश्चर्यों को सुनिये। जब कि उस ध्वनि को वह गौ, बछड़े, बिजार तथा मृग आदि पशु गण सुनते हैं, जो कि बुद्धि हीन हैं, तथा पक्षी जो वृक्षों में रहते हैं तथा दूर रहने वाले जल पक्षी, जलचर तथा वृक्ष, नदी, मेघ आदि जो ज्ञान शून्य हैं, वह भी उसके प्रभावसे अपने-अपने स्वभावों को छोड़ देते हैं॥१४८

चराः स्थिरत्वं चरतां स्थिरा गताः
सचेतना मोहमचेतना मतिं।

उस ध्वनि को सुनकर चलने वाले जीव तो स्थिरता को प्राप्त हो जाते हैं और स्थिर रहने वाले पाषाणादि पिघल कर चलने लगते हैं। अर्थात् चेतन तो जड़ हो जाते हैं और जड़ चेतन

निमज्जिताः प्रेमरसे महत्यहो !

विकार-जाताक्रमिताः सदाभवन् १४६

हो जाते हैं। उस बड़े प्रेम रस में निमग्न होकर इन सबके, विविध प्रकार सात्विक विकार प्रकट हो जाते हैं ॥१४६॥

रासो हि तस्य भगवत्त्वविशेषगोप्यः

सर्व्वस्व-सारपरिपाकमयो व्यनक्ति।

उत्कृष्टतामधुरिमापरसीमनिष्ठां

लक्ष्म्या मनोरथ-शतैरपि यो दुरापः ॥१५०

भगवान् की भगवत्ता का जो छिपा हुआ सब से ऊँचा सार है, उसी सार की परिपक्व अवस्था का नाम रास है। वह रास भगवान् की चरम सीमा महिमाओं की माधुरी को प्रकट करता है। श्री लक्ष्मीजी को वह रास सैकड़ों मनोरथ करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकता है ॥१५०॥

अहो ! वैदग्धी सा मधुर-मधुरा श्रीभगवतः

समाकर्षत्युच्चैर्जगति कृतिनः कस्य न मनः।

कुल-स्त्रीणां तासां वनभुवि तथाकर्षणमथो

तथा वाक्चातुर्य्यं सपदि रुदितं ताभिरपि यत्

॥१५१॥

अहो ! श्रीकृष्ण की वह चातुरी मधुर से भी मधुर है, जगत में ऐसा कौन है, जिसके मन को उसी चातुरी ने आकर्षित नहीं किया है। जिस चातुरी के प्रभाव से पहले तो उन पतिव्रता स्त्रियों को मुरली से खैंच कर बुला लिया, फिर अपनी वाक् चातुरी से उनको दुखित करके रुलाया ॥१५१

श्लाघेऽवहित्थाकृतितां हरेस्तां

तत्काकु-जाताद्यदि सा स्थिता स्यात्।

व्यक्तात्मभावः क्षणतः स रेमे

ता मोहयन् काम-कलावलीभिः ॥१५२

मैं तो श्रीकृष्ण के अपने भाव छिपाने की, तब ही प्रशंसा करता, जब कि श्री गोपिकाओं के दीन वाक्यों को सुन कर भी, वह भाव उनका बना ही रहता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। क्षण काल में ही वह बनावटी भाव जाता रहा। और वह अपने हृदङ्गम भाव से उन व्रज सुन्दरियों को मोहित करते हुये, विविध प्रकार के काम कलाओं से, उनके साथ बिहार करने लगे ॥१५२॥

अन्तर्द्धानं तस्य तद्विप्रलम्भ-

लीलादक्षस्यानिशं को न गायेत्।

यत्तास्तादृग्धैर्य्यगाम्भीर्य्यभाजोऽ-

नैषीत्तां तामुक्तिमीहां दशाश्च ॥१५३॥

बिरह लीला विदग्ध श्रीकृष्ण की अन्तर्धान, लीला को कौन नहीं गाता है, जिनके प्रभाव ने परम धैर्यवाली तथा गम्भीरता रखने वाली, व्रज सुन्दरियों को भी उन्मत्त बना कर, उनको वृक्ष आदियों से बात चीत करने पर बाधित कर दिया ॥ १५३ ॥

बिभेम्यस्माद्धन्त ! दुर्बोधलीलात्

क्व तत्तस्याः सारसौभाग्यदानं।

क्व सद्योऽन्तर्द्धानतो रोदनाब्धा-

वनाथाया यातनैकाकिनी या ॥१५४॥

बड़े दुख की बात है, मैं उन श्रीकृष्ण से डरता हूँ। जिनकी लीला दुर्बोध है। क्योंकि कहां तो श्री परम प्रिया श्री राधिकाजी को और सब गोपियों की अपेक्षा सौभाग्य प्राप्त कराना, और कहाँ जल्दी ही उनको छोड़ कर अन्तर्धान होकर उनको रुदन समुद्र में अनाथ के समान अकेली छोड़ कर दुःख देना ॥१५४॥

तासामार्त्या गीतवद्रोदनाद्यः
प्रादुर्भूयानन्द-पूरं व्यधत्त ।
यः प्रश्नानामुत्तरं तद्ददौ च
स्वस्यर्णित्वस्थापकं सोऽवतु त्वां॥१५५

जब कि वह सब आर्त्त होकर गाती हुई की तरह रोदन करने लगीं, तब उन्होंने प्रकट होकर उन सब को बड़ा आनन्द प्रदान किया। इसके पश्चात् व्रज गोपियों के प्रश्नोंके उत्तर देते हुये, जा उन्होंने अपने आपको ऋणी स्थापना किया था, वह भगवान् आपकी रक्षा करें ॥१५५॥

सा मण्डली-बन्धनचातुरी प्रभोः
सा नृत्यगीतादिकलासु दक्षता ।
सापूर्व्वशोभाधिकतापरम्परा
मुष्णाति चेतो मम विश्वमोहिनी ॥१५६

इसके पश्चात् रास में श्रीकृष्ण ने चातुरी से व्रज गोपिकाओं की मण्डली बाँध कर उनके साथ जो विदग्धता से नृत्य, गीत, आदि किये थे, उस समय जो उनकी शोभा हुई थी, वह पहले कभी नहीं हुई, वह विश्व मोहनी शोभा मेरे चित्त को चुराती है ॥ १५६ ॥

कृष्णाङ्घ्रिपद्म-मकरन्द-निपानलुब्धो
जानाति तद्रसलिहां परमं महत्त्वं ।
ब्रह्मैव गोकुलभुवामयमुद्धवोऽपि
गोपी-गणस्य यदिमौ लषतः स्म तत्तत्॥१५७

श्रीकृष्ण की सेवा रस को आस्वादन करने वाली उन व्रज सुन्दरियों की महिमा को तो वही जान सकते हैं, जो श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के मकरन्द के पान में आसक्त हैं। गोकुल में जन्म लेने वालों की महिमा को श्री ब्रह्माजी, तथा व्रज गोपिकाओं की महिमा को श्री उद्धवजी, भली प्रकार जानते हैं। इसी लिये श्री ब्रह्माजी ने वहाँ जन्म लेने के लिये तथा श्री उद्धवजी ने व्रज सुन्दरियों की चरण रेणु प्राप्ति के लिये प्रार्थना की है१५७

येषां हि यद्वस्तुनि भाति लोभ-
स्ते तद्वतां भाग्य-बलं विदन्ति ।
गोप्यो मुकुन्दाधर-पानलुब्धा
गायन्ति सौभाग्य-भरं मुरल्याः॥१५८॥

जिनको जिस वस्तु में लोभ होता है, वही लोग उस वस्तु वाले की भाग्य महिमा को जानते हैं। इसी लिये श्रीकृष्ण के अधर पान करने की इच्छा वाली श्री व्रज सुन्दरियाँ उस मुरली के भाग्य की सराहना करती हैं, जो कि उनका अधरामृत पीती है ॥१५८॥

तद्गोष्ठलोकेषु महाद्भुतास्या-
सक्तिः सदा प्रेम-भरेण तेषु ।
यया गतं ज्येष्ठसुतं स्तुवन्तं
विधिं नमन्तं न दिदृक्षतेऽपि ॥१५६

श्रीकृष्ण की व्रजवासियों में प्रेम से बड़ी आसक्ति निरन्तर रहती है। इस लिये श्री ब्रह्मा जी के बार-बार स्तुति तथा अभिवादन करने पर भी उन्होंने उसकी ओर देखने की भी इच्छा नहीं की ॥ १५६ ॥

तत्पादपद्मैकगतींश्च मादृशान्
सम्भाषितुं नोत्सहतेऽपि स क्षणं ।

वह गोष्ठ नागर श्रीकृष्ण हमारे जैसों से भी, जिनकी उनके चरणारविन्दों को छोड़ कर और कोई गति नहीं है एक क्षण भर के लिये भी

तैर्मोहितोऽसौ किल गोष्ठनागरो
वन्यैर्विचित्रौषधिमन्त्रवित्तमैः ॥१६०॥

तेषां सदासक्तिरपि क वाच्या
ये नन्दगोपस्य कुमारमेनं ।
प्रेम्णा विदन्तो वहु सेवमानाः
सदा महार्त्यैव नयन्ति कालं ॥१६१॥

कालातीता ज्ञानसम्पत्तिभाजा-
मस्माकं ये पूज्यपादाः समन्तात् ।
वैकुण्ठस्यानुत्तमानन्दपूर-
भाजामेषां यादवानामपीज्याः ॥१६२॥

कृष्णेन न ब्रजजनाः किल मोहितास्ते
तैः स व्यमोहि भगवानिति सत्यमेव ।
गत्वा मयैव स हि विस्मृतदेवकार्यो-
ऽनुस्मारितः किमपिकृत्यमहो ! कथञ्चित्॥१६३

कथं कथमपि प्राज्ञेनाक्रूरेण वलादिव ।
ब्रजान्मधुपुरीं नीतो यदूनां हितमिच्छता ॥१६४॥

स तान् ब्रजजनान् हातुं शक्नुयान्न कदाचन ।
अभीक्ष्णं याति तत्रैव वसति क्रीड़ति ध्रुवं ॥१६५

परं परमकौतुकी विरहजातभावोर्म्मितो
ब्रजस्य विविधेहितं निज-मनोरमं वीक्षितुं ।
निकुञ्जकुहरे यथा भवति नाम सोऽन्तर्हित-
स्तथा विविधलीलयापसरति छलात् कर्हिचित्
॥१६६॥

मन्येऽहमेवं परमप्रियेभ्य-
स्तेभ्यः प्रदेयस्य सुदुर्ल्लभस्य ।
द्रव्यस्य कस्यापि समर्पणार्हो
वदान्यमौलेर्व्यवहार एषः ॥१६७॥

सम्भाषण नहीं करना चाहते हैं। इसलिये मैं यह समझता हूँ, कि उन व्रजवासियों ने किसी मन्त्र तथा वन्य औषधियों से उनको मोहित कर लिया है ॥१६०॥

व्रजवासियों की आसक्ति का क्या वर्णन करें, जो श्रीकृष्ण को नन्दराय का पुत्र ही जानते हैं। प्रेम पूर्वक विविध प्रकार से उनकी सेवा करते हुये भी बड़ी आर्ति से काल को यापन करते हुए यह विचार करते हैं कि हम से उनकी कोई सेवा नहीं बनी ॥ १६१ ॥

वह व्रजवासी काल से अतीत हैं, हमारे जैसों के लिये, जो कि ज्ञान सम्पत्ति के भाजन स्वरूप हैं, तथा उन यादवों के लिये, जोकि वैकुण्ठ से भी उत्तम आनन्दों को भोगते हैं, बड़े पूज्यपाद हैं ॥ १६२ ॥

श्रीकृष्ण ने उन व्रजवासियों को नहीं मोहा, वास्तव में वह स्वयं उनसे मोहे गये, ब्रज में आकर जब वह देव कार्य को भूल गये थे, तब मैंने वहाँ जाकर कुछ आवश्यक कार्य उनको याद दिलाये थे ॥ १६३ ॥

फिर वह बुद्धिमान अक्रूर, यादवों का हित करने के लिये, ब्रज में जाकर बड़ी कठिनाई से, श्रीकृष्ण को मथुरापुरी ले गये थे ॥१६४॥

तो भी वह उन व्रजवासियों के त्याग करने में असमर्थ हैं अतः बार बार वहाँ जाकर रहते हैं तथा उनके साथ खेलते हैं ॥१६५॥

क्योंकि श्रीकृष्ण बड़े कौतुकी हैं, इस लिये व्रजवासियों के विरह में, जो भावों की लहरें उठती हैं, उन मनोहर चेष्टाओं को देखने के लिये, वे ऐसे अन्तर्धान होजाते हैं। जैसे व्रज में लीला करते हुये छल से एक निकुञ्ज से दूसरी निकुञ्ज में छिप जाते हैं ॥ १६६ ॥

मेरा मत तो यह है, श्रीकृष्ण सब दानियों में श्रेष्ठ हैं, उनका अपने प्यारों को विरह प्रदान करना एक प्रकार का अनुष्ठान है, जो कि दुर्लभ द्रव्य अर्थात् प्रेम समर्पण करने के लिये किया जाता है ॥१६७॥

यथा क्रीड़ति तद्भूमौ गोलोकेऽपि तथैव सः ।
अधऊर्द्ध्वतया भेदोऽनयोः कल्प्येत केवलं ॥१६८

श्रीकृष्ण जैसे इस व्रजभूमि में खेलते हैं, इसी प्रकार वह गोलोक में भी लीलाएँ करते हैं। इस लिये लीला अंश में कोई भेद नहीं है। केवल इतना ही अन्तर है कि यह लीलास्थल भूमण्डल पर है, और वह ऊर्ध्व लोक में है ॥१६८॥

किन्तु तद्व्रजभूमौ स न सर्व्वैर्दृश्यते सदा ।
तैः श्रीनन्दादिभिः सार्द्धमश्रान्तं विलसन्नपि१६९

यद्यपि व्रजभूमि में श्रीकृष्ण श्रीनन्दराय आदि के साथ निरन्तर लीलाएँ करते हैं तो भी वह लीला सर्व साधारण के लिये सर्वदा दृष्टि गोचर नहीं होती हैं ॥ १६९ ॥

श्रीसुपर्णादयो यद्वद्वैकुण्ठे नित्यपार्षदाः ।
गोलेके तु तथा तेऽपि नित्यप्रियतमा मताः१७०

जैसे वैकुण्ठ में भगवान् के गरुड आदि नित्य पार्षद हैं, इसी प्रकार श्री नन्दराय आदिक उनके नित्य परिकर उनके साथ गोलोक तथा व्रज में रहते हैं ॥ १७० ॥

ते हि स्व-प्राणनाथेन समं भगवता सदा ।
लोकयोरेकरूपेण विहरन्ति यदृच्छया ॥१७१॥

वे सब परिकर अपने प्राणनाथ श्रीकृष्ण के साथ व्रज तथा गोलोक में एक ही स्वरूप से सदा स्वच्छन्द विहार करते हैं ॥१७१॥

श्रीगोलोकं गन्तुमर्हन्त्युपायै-
यद्दृग्भिस्तं साधकास्तादृशैः स्युः ।
द्रष्टुं शक्ता मर्त्यलोकेऽपि तस्मि-
स्तादृक्क्रीड़ं सुप्रसन्नं प्रभुं तं॥१७२॥

साधकों के लिये जो गोलोक जाने के उपाय हैं, वही उपाय करने से इस भूमण्डल पर भी उनको आनन्द कन्द भगवान् के तथा उनकी लीलाओं के दर्शन हो सकते हैं ॥१७२॥

तात ! तादृशगोपालदेव-पादसरोजयोः ।
विनोदमाधुरीं तां तामुत्सुकोऽसीक्षितुं कथं॥१७३

सत्यं जानीहि रे ! भ्रातस्तत्प्राप्तिरतिदुर्घटा ।
तत्साधनश्च नितरामेष मे निश्चयः परः ॥१७४॥

हे तात गोपकुमार ! आप उन गोपालजी के चरणारविन्दों की लीला माधुरी के दर्शन करने के लिये क्यों इतने उत्सुक हो रहे हैं ? हे भाई ! आप यह सत्य जानें उनकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है, तथा उनकी प्राप्ति के साधन भी अत्यन्त कठिन हैं ॥ १७३-॥१७४ ॥

प्राणिनः प्रायशः शून्या हिताहितविवेचनैः ।
नरा वा कतिचित्तेषु सन्त्वाचारविचारिणः१७५

प्रायः साधारण जीव अपने हित तथा अहित को नहीं जानते हैं। परन्तु उनमें कोई-कोई ऐसा मनुष्य होता है जो आचार विचार को समझता है ॥ १७५ ॥

दृश्यन्तेऽथापि बहवस्तेऽर्थकामपरायणाः ।
स्वर्गसाधकधर्म्मेषु रतास्तु कतिचित् किल ॥१७६

उन मनुष्यों में भी बहुत से केवल अर्थ तथा काम ही परायण होते हैं। उनमें से कोई-कोई धर्म के लिये उपाय करता है। वह धर्म भी केवल स्वर्ग प्राप्ति के लिये ही होता है ॥१७६॥

तेषां कतिपये स्युर्व्वा रता निष्कामकर्म्मसु ।
तथाप्यरागिणस्तेषां केचिदेव मुमुक्षवः ॥१७७॥

उनमें से कोई-कोई निष्काम कर्म का अनुष्ठान करता है। और उनमें से कोई - कोई मुक्ति को चाहता है ॥१७७॥

तेषां परमहंसा ये मुक्ताः स्युः केचिदेव ते ।
केचिन्महाशयास्तेषु भगवद्भक्तितत्पराः ॥१७८॥

श्रीमन्मदनगोपाल-पादपद्मैकसौहृदे ।
रतात्मानो हि नितरां दुर्लभास्तेष्वऽपि ध्रुवं १७९

एवं तत्तत्साधनानां रीतिरप्यवगम्यतां ।
तज्ज्ञापकानां शास्त्राणां वचनानाञ्च तादृशी१८०

तत्रापि यो विशेषोऽन्यः केषाञ्चित् कोऽपि वर्त्तते।
लोकानां किल तस्याहमाख्याने नाधिकारवान्
॥१८१॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

इत्युक्त्वोद्धवमालिङ्ग्य सदैन्यं काकुवाद्भिः ।
ययाचे नारदस्तस्य किञ्चित्त्वं कथयेति सः॥१८२

जगौ प्रेमातुरः शीर्ष्णोद्धवो नीचैर्मुहुर्नमन् ।
वन्दे नन्दव्रज-स्त्रीणां पाद-रेणुमभीक्ष्णशः॥१८३

क्षणान्महार्त्तितो व्यग्रो गृहीत्वा यवसं रदैः ।
नारदस्य पदौ धृत्वा हरिदासोऽवदत् पुनः॥१८४

"आसामहो चरण-रेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनां ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्यां" ॥१८५

अथ प्रेम-परीपाकविकारैर्विविधैर्वृतः ।
सचमत्कारमुत्प्लुत्य सोऽगायत् पुनरुद्धवः ॥१८६

उन मुक्ति चाहने वालों में भी कोई-कोई परमहंस मुक्त होता है। उन मुक्तों में भी कोई-कोई ही महाशय भगवद्भक्ति तत्पर होता है ॥१७८॥

और उन भगवद्भक्तों में भी वह बड़भागी अत्यन्त दुर्लभ हैं, जो केवल श्री गोपालजी के चरणारविन्दों से ही प्रेम करते हैं ॥१७९॥

इसी प्रकार साधकों के तारतम्य के अनुसार साधन भी समझने चाहियें। तथा उनके जनाने वाले शास्त्रों के वचन भी इसी प्रकार जानने चाहियें ॥ १८० ॥

श्री गोपालजी के चरणारविन्दों के प्रेमी भक्तों में भी जो गोपी भाव से उनकी सेवा करते हैं, वह परम दुर्लभ हैं। उन भक्तों के तारतम्य कहने का मुझको अधिकार नहीं है ॥१८१॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! श्री नारदजी ने इस प्रकार कह कर श्री उद्धवजी का आलिङ्गन किया। फिर दैन्य वचनों से उनसे कहा, "आप भी कुछ कहिये"॥१८२

तब श्री उद्धवजी प्रेमातुर होकर, अपने मस्तक को बार-बार झुका कर, नमस्कार करते हुये इस प्रकार कहने लगे, "मैं नन्दरायजी के व्रज की गोपिकाओं के चरणारविन्दों की धूलि को बार-बार प्रणाम करता हूँ" फिर एक क्षण के पश्चात् वह हरिदास उद्धवजी बड़ी आर्ति से व्यग्र होकर अपने दांतों से तिनका पकड़ कर श्रीनारदजी के चरणों को छूकर इस प्रकार कहने लगे "मैं तो यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं वृन्दावन की वह गुल्म लता तथा औषधि होजाऊँ, जिन पर उन गोपियों की चरण रज पड़े, जो कि दुस्तर अपने बन्धुबान्धव तथा वेद मार्ग को छोड़ कर, श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में गई हैं, जिस पद को वेद की श्रुतियाँ भी अन्वेषण कर रही हैं ॥१८३-१८४-१८५॥

इसके पश्चात् श्री उद्धवजी के अंगों पर पूर्ण प्रेम के विविध विकार प्रकट होगये, फिर आश्चर्य युक्त होकर कूद-कूद कर यह कहने लगे "श्रीकृष्ण की जो कृपा उन व्रज गोपिकाओं पर रास उत्सव

"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणां" ॥१८७

में हुई है, जब कि उन्होंने उनके कंधों पर अपने भुज दण्डों को रख कर आनन्द प्राप्त किया था, इस प्रकार की कृपा उन श्रीलक्ष्मी जी पर भी नहीं हुई, जो कि स्वर्ण रेखा रूप से उनके वक्षस्थल में विराजमान हैं, और जो उनकी ऐकान्तिक प्रेयसी हैं, फिर बताइये और और देवांगनाओं पर जिनके मुखों से कमलों की सी सुगन्ध आ रही है, वह कृपा कैसे हो सकती है" ? ॥१८६-१८७॥

ततोऽतिविस्मयाविष्टो नारदो भगवान् पुनः ।
निरीक्ष्यमाणो मामार्त्तं ससम्भ्रममिदं जगौ १८८

इससे श्री नारदजी विस्मित् होकर और मुझ को आर्त देख कर सम्भ्रम से यह कहने लगे॥१८८॥

श्रीनारद उवाच ।

श्री नारदजी बोले ।

श्रेयस्तमो निखिलभागवत-व्रजेषु
यासां पदाम्बुज-रजो वहु वन्दमानः ।
यासां पदाब्ज-युगलैकरजोऽभिमर्श-
सौभाग्यभाक्तृणजनिमुत याचतेऽयं ॥१८९

श्री उद्धवजी समस्त भक्तों में श्रेष्ठ हैं, वह भी उन गोपियों की चरण रजकी बार बार वन्दना करते हुये यह प्रार्थना करते हैं "मुझको वह सौभाग्य कब प्राप्त होगा, जब कि मैं यहाँ का कोई एक तृण होकर इन गोपियों के चरण रज को प्राप्त करूँगा" ॥१८९॥

सौभाग्यगन्धं लभते न यासां
सा रुक्मिणी या हि हरिप्रियेति ।
ख्याताच्युताशास्तकुलीनकन्या-
धर्म्मैकनर्मोक्तिभिया मृतेव ॥१९०॥

श्री व्रजनागरियों के सौभाग्य की गन्ध भी वह श्री रुक्मिणीजी प्राप्त नहीं कर सकीं, जो कि जगत् विख्यात "हरि प्रिया" हैं। जिन्होंने श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये कुलीन कन्याओं के धर्मों को छोड़ दिया था, जिनका प्रेम इतना गाढ़ है, कि जो उनके एक परिहास वाक्य को सुन कर, मृतक की तरह होगई थीं ॥१९०॥

क्व स्वर्देव्य इव स्त्रीणां मध्ये श्रेष्ठतमा अपि ।
कालिन्दीसत्यभामाद्याः क्व चान्या रोहिणीमुखाः
॥१९१॥

जैसे कि साधारण स्त्रियों में स्वर्ग की देवांगनाएँ श्रेष्ठ हैं, इसी प्रकार श्रीकृष्ण की सोलह हज़ार रानियों में श्री सत्यभामा, कालिन्दी, आदि मुख्या हैं। जब श्री रुक्मिणीजी को भी यह सौभाग्य दुर्लभ है, फिर अन्य रानियों को वह किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ॥१९१॥

अहं वराकः को नु स्यां तासां माहात्म्यवर्णने ।
तथापि चपला जिह्वा मम धैर्य्यं न रक्षति १९२

मैं तो परम तुच्छ हूँ. उन गोपियों की महिमाओं को कैसे वर्णन कर सकता हूँ। मेरी चञ्चल जिह्वा ने मेरा धैर्य नष्ट कर दिया, इस लिये कहता हूँ ॥ १९२ ॥

भो ! गोपपुत्र ! व्रजनाथ-मित्र ! हे !
तत्प्रेमभक्त-प्रवरोऽयमुद्धवः ।

हे गोपकुमार ! आप व्रजनाथ के मित्र हैं। यह उद्धव श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्तों में सर्व श्रेष्ठ हैं

तत्सारकारुण्यविशेषभाग्यत-

स्तासां ब्रजे प्रेम-भरं तमैत्तत ॥१९३॥

तासां प्रसादातिशयस्य गोचर-

स्तत्सङ्गतो विस्मृतकृष्ण-सङ्गमः ।

निर्द्धारमेतं व्यवहारमीदृशं

कुर्व्वन् वदेद्यत्तदतीव सम्भवेत् ॥१९४

श्वफल्क-पुत्रो भगवत्पितृव्यः

स नीरसज्ञानविशुष्कचेताः ।

वृद्धो दयार्द्रान्तरताविहीनः

कंसस्य दौत्येऽभिरतो ब्रजे यन् ॥१९५

सश्चिन्तयन् कृष्ण-पदाम्बुज-द्वयं

तस्य प्रकर्षातिशयं न्यवर्णयन् ।

गोपीमहोत्कर्षभरानुवर्णनै-

स्तल्लोलितो धाष्र्ट्यमभावयन् हृदि॥१९६

"यदर्च्चितं ब्रह्म-भवादिभिः सुरैः

श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।

गोचारणायानुचरैश्चरद्वने

यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाचितं ॥१९७॥

अप्यङ्घ्रि-मूले पतितस्य मे विभुः

शिरस्यधास्यन्निज-हस्तपङ्कजं ।

दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा

प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणां ॥१९८

समर्हणं यत्र निधाय कौशिक-

स्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रतां ।

इन्होंने उनकी विशेष कृपा के प्रभाव से ब्रज में जाकर गोपियों के पूर्ण प्रेम का साक्षात् दर्शन किया था। गोपियों की विशेष कृपा को प्राप्त करके यह उनके संग से श्रीकृष्ण का संग भी भूल गये थे। इसी लिये श्री उद्धवजी ने जो ब्रजगोपियों के विषय में निर्धारित किया है, तथा जो कुछ कहा है वह सब ठीक है। क्योंकि जो स्वयं अनुभव करके कहते हैं, उस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता है ॥१९३-१९४॥

भगवान् के चाचा, श्वफलक पुत्र वृद्ध अक्रूर जिनका चित्त नीरस ज्ञान से सूखा हुआ है, और जिनके हृदय से दया विदा होगई है, जब कि वह कंस के दूत बन कर व्रज में गये थे, मार्ग में जब कि वह श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों का चिन्तन करने लगे थे, तब उन चरणों के उत्कर्ष को स्थापन करने के लिये उनको भी लज्जा छोड़कर व्रज सुन्दरियों का उत्कर्ष इस प्रकार वर्णन करना पड़ा था ॥१९५-१९६॥

"श्रीकृष्ण के जिन चरणारविन्दों को श्री ब्रह्मा जी, श्री शिवजी, बड़े-बड़े देवगण, श्रीलक्ष्मी जी, मुनि तथा भक्त गण पूजन करते हैं, उन्हीं चरणों से वह अपने ग्वालबालों को साथ लेकर वृन्दाबन में गौएँ चराते हैं। उन्हीं चरणों को श्रीव्रजसुन्दरियाँ जब अपनी गोदों में रख कर चांपती हैं, तब वह अपने वक्षोजों में लगे हुये केसर से उनको रञ्जित करती हैं। जब मैं उनके चरणारबिन्दों के निकट साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करूँगा, तब क्या वह अपने उस हस्त कमल को मेरे मस्तक पर रखेंगे! जिससे कि वह उन शरणागत मनुष्यों को अभय प्रदान करते हैं, जो कि संसार के दुख से घबराये हुये हैं, और जिनको काल रूपी सर्प निगलने को हो रहा है ॥१९७-१९८॥

जिस हस्त कमल में इन्द्र ने अपने सौ अश्वमेध यज्ञों का फल, तथा बलि राजा ने अपना सर्वस्व, त्रिलोकी का राज दान किया था, उसी सुगन्ध युक्त हस्त कमल से उन्होंने थकी

यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं
स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत्''॥१९९

पितामहोऽसौ कुरुपाण्डवानां
बृहद्व्रतो धर्म्मपरोऽपि भीष्मः।
व्रजाङ्गनोत्कर्षनिरूपणेन
तमन्तकाले भगवन्तमस्तौत् ॥२००

''ललितगतिविलासवल्गुहास-
प्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः
प्रकृतिमगन् किल यस्य गोप-वध्वः॥२०१

तास्तथैवाहुरन्योन्यं कौरवेन्द्रपुर-स्त्रियः।
पश्यन्तो भगवन्तं तं गच्छन्तं स्व-पुरं ततः॥२०२

नूनं व्रत-स्नान-हुतादिनेश्वरः
समर्च्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-
र्व्रज-स्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः''॥२०३

श्रीगोपकुमार उवाच।

एवं वदन् स भगवान् परिरब्धवान् मां
प्रेमाब्धिकम्पपुलकाश्रुतरङ्गमग्नः।
दष्ट्वा रदैस्तदनुवर्णनलोलजिह्वां
नृत्यन् विचित्रमगमद्विविधामवस्थाम् ॥२०४

हुई व्रज गोपियों के पसीनों को पोंछ कर उनका श्रम दूर किया था ॥१९९॥

कौरव पाण्डवों के पितामह, अपने धर्म में रत, नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री भीष्मजी भी अपने अन्तकाल में व्रजगोपिकाओं की महिमा निरूपण द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति इस प्रकार करते हैं:— "कि श्रीकृष्ण ने जब गोपिकाओं के साथ रास में विहार किया था, तब उन्होंने उनको अपने सुन्दर गीत, लीला, मनोहर हास्य, तथा प्रेम युक्त निरीक्षण से सम्मानित किया था, और जब वह अन्तर्धान होगये थे, तब गोपियाँ उन्मत्त होकर उनके समान लीलाओं का अनुकरण करने लगी थीं, जिससे उन गोपियों के स्वरूप भी सब अंशों में उनकी समानता को प्राप्त हो गये थे" ॥२००॥ ॥ २०१ ॥

जब कि श्री कृष्ण हस्तिनापुर से श्रीद्वारिकापुरी में जा रहे थे। उस समय हस्तिनापुर की स्त्रियों ने उनके दर्शन करके परस्पर इस प्रकार वार्तालाप की थी ॥ २०२ ॥

" हे सखी ! श्रीकृष्ण ने जिनका पाणि ग्रहण किया था, उन रुक्मिणी आदि पटरानियों ने पहले जन्म में व्रत, स्नान, तथा अग्निहोत्र आदि से भगवान् की निश्चय पूजा की है, जिसके प्रभाव से वह उनका बार-बार अधरामृत पान करती हैं। परन्तु उन व्रज नागरियों के प्रेम का क्या वर्णन करें ? जो कि इस अधरामृत के स्मरण मात्र से ही मूर्छित होजाती हैं ॥२०३॥

श्री गोपकुमार बोले।

इसके पश्चात्, उन श्रीनारद जी ने, जिनके अंगों पर प्रेम के विकार कम्प पुलक अश्रु आदि प्रकट हो रहे थे, इस प्रकार कह कर मेरा आलिङ्गन किया। फिर उन्होंने अपनी उस जिह्वा को अपने दांतों से काटा, जो कि गोपियों की महिमा वर्णन करने के लिये चञ्चल हो रही थीं। उस समय विविध प्रकार से नृत्य करते हुये वह एक अलौकिक अवस्था को प्राप्त होगये थे ॥२०४॥

क्षणात् स्वास्थ्यमिवासाद्य दृष्ट्वा मां दीनमानसं ।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा मुनीन्द्रः पुनराह सः ॥२०५॥

कुछ देर बाद जब वह स्वस्थ हुए, तब मुझ को दीन देख कर, अपने मधुर वचनों से सान्त्वना देते हुये, यह कहने लगे ॥२०५॥

श्रीनारद उवाच ।

श्री नारदजी बोले ।

इदन्तु वृत्तं सर्व्वत्र गोपनीयं सदा सतां ।
विशेषतो महैश्वर्य्यप्राकट्यभरभूमिषु ॥२०६॥

यह बात श्रेष्ठ लोगों को सर्वत्र छिपा कर रखनी चाहिये । विशेष करके उन स्थानों पर जहाँ कि पूर्ण ईश्वरत्व का प्रकाश हो रहा हो ॥२०६

अतस्तदानीं वैकुण्ठे न मया ते प्रकाशितं ।
परं त्वद्भावमाधुर्य्यलोलितोऽत्रावदं कियत्॥२०७

इसी लिये मैंने यह विषय आप से वैकुण्ठ में पहले प्रकाशित नहीं किया था, परन्तु आपकी भाव माधुरी से मैं चञ्चल होकर यहाँ कुछ वर्णन करता हूँ ॥ २०७ ॥

स्वस्योद्धवस्य तेऽप्येष कृत्वाहं शपथं ब्रुवे ।
दुःसाध्यं तत्पदं ह्यत्र तत्साधनमपि ध्रुवं ॥२०८॥

हे गोपकुमार ! मैं अपनी, श्री उद्धवजी की तथा आपकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ, आप यह निश्चय समझें कि यहाँ इस द्वारिकापुरी में रह कर उस धाम की प्राप्ति दुर्लभ है, तथा यहाँ उसकी प्राप्ति के साधन भी नहीं हो सकते हैं ॥२०८॥

किन्तूपदेशं हितमेकमेतं
मत्तः शृणु श्रीपुरुषोत्तमाख्यं ।
क्षेत्रं तदत्रापि विभात्यदूरे
पूर्व्वं त्वया यद्भुवि दृष्टमस्ति॥२०९

तस्मिन् सुभद्रा-बलराम-संयुत-
स्तं वै विनोदं पुरुषोत्तमो भजेत् ।
चक्रे स गोवर्द्धनवृन्दकाटवी-
कलिन्दजा-तीरभुवि स्वयं हि यं ॥२१०

मैं इस विषय में आपके हित का एक उपदेश करता हूँ, उसको आप सुनें । इस द्वारिकापुरी से थोड़ी दूर पर एक पुरुषोत्तम नामक क्षेत्र है, जिसके आपने भूमण्डल पर पहले दर्शन किये थे । वहाँ श्री जगन्नाथ जी, बलराम तथा सुभद्रा जी के सहित विराजमान हैं । वह उन लीलाओं को भी करते हैं, जो कि उन्होंने श्रीगोवर्धन तथा वृन्दाबन में श्री यमुनाजी के तट पर की थीं ॥ २०९–२१० ॥

सर्व्वावतारैकनिधानरूप-
स्तत्तच्चरित्राणि च सन्तनोति ।
यस्मै च रोचेत यदस्य रूपं
भक्ताय तस्मै खलु दर्शयेत्तत् ॥२११॥

उस पुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीकृष्ण जोकि सब अवतारों के कारण स्वरूप हैं, सब अवतारों की लीलाओं को करते रहते हैं । जिस भक्त की जिस स्वरूप के दर्शन करने की इच्छा होती है, उसको वह उसी रूप से दर्शन देते हैं ॥ २११ ॥

श्रीकृष्णदेवस्य सदा प्रियं तत्
क्षेत्रं यथा श्रीमथुरा तथैव ।
तत्पारमैश्वर्य्य-भरप्रकाश-
लोकानुसारि व्यवहाररम्यं ॥२१२॥

वह पुरुषोत्तम क्षेत्र, श्रीकृष्ण को मथुरा के समान सदा प्रिय है । वहाँ उनका परम ऐश्वर्य प्रकाश धाम के सदृश व्यवहार है ॥२१२॥

गतस्तत्र न सन्तृप्येस्तस्य दर्शनतोऽपि चेत् ।
सदा तत्रानुतिष्ठेस्त्वं निजेष्टप्राप्तिसाधनं ॥२१३॥

हे गोपकुमार ! आप उस क्षेत्र में जायें । यदि उनके दर्शन करके भी आप की तृप्ति न हो, तो आप उसी धाम में रह कर, अपने इष्ट प्राप्ति के साधन करें ॥२१३॥

तत्र श्रीवल्लवी-प्राणनाथ-पादसरोजयोः ।
प्रेमैव तद्व्रजप्रेमसजातीयं न चेतरत् ॥२१४॥

वह साधन श्री गोपीनाथ के चरणारविन्दों का प्रेम ही है अर्थात् व्रजवासियों का जो प्रेम श्री कृष्ण के प्रति है उस प्रेम के अनुगत होकर प्रेम करनाही है ॥ २१४ ॥

निदानन्तु परं प्रेम्णः श्रीकृष्णकरुणा-भरः ।
कस्याप्युदेत्यकस्माद्वा कस्यचित् साधनक्रमात्
॥२१५॥

यथोदारान्मिलत्यन्नं पक्वं वा पाकसाधनं ।
साधकस्योच्यते शास्त्रगत्यायं साधनक्रमः ॥२१६

उस-प्रेम प्राप्ति का मुख्य कारण तो श्रीकृष्ण की कृपा ही है । जोकि किसी-किसी पर तो अकस्मात् हो जाती है, और कोई–कोई उस कृपा को साधन द्वारा क्रम से लाभ करते हैं, जैसे कोई एक उदार दाता किसी को तो बना हुआ भोजन दान करता है, और किसी को बिना बना हुआ सीधा सामान ही देता है। साधक के लिये साधन क्रम शास्त्र अनुसार इस प्रकार है ॥ २१५-२१६ ॥

तत्तु लौकिकसद्बन्धुबुद्ध्या प्रेम भयादिजं ।
विघ्नं निरस्य तद्गोपगोपीदास्येच्छयार्जयेत्॥२१७

साधक को वह प्रेम इस प्रकार से उपार्जन करना चाहिये। श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, यह समझ कर साधक को जो उनसे भय लगता है, उस भय को दूर करने के लिये उनसे कोई लौकिक सत् बन्धु भाव, अर्थात् उनसे कोई एक नाता बाँधकर श्रीव्रजगोप तथा गोपियों के दास भाव प्राप्त करने की इच्छा से, श्रीकृष्ण में प्रेम करना चाहिये ॥२१७॥

तद्धि तत्तद्व्रजक्रीड़ाध्यानगानप्रधानया ।
भक्त्या सम्पद्यते प्रेष्ठ-नामसंकीर्त्तनोज्वलं ॥२१८

फिर नवधा भक्ति से अनुष्ठान करना चाहिये। उनमें भी श्रीकृष्ण की विविध प्रकार की व्रज-लीलाओं का ध्यान तथा गान प्रधान रखना चाहिये। इन दोनों में भी अपने प्यारे प्रभु का नाम संकीर्तन मुख्य है॥ २१८ ॥

तदेकरसलोकस्य सङ्गेऽभिव्यक्ततां स्वतः ।
प्रयास्यदपि तद्वस्तु गोपनीयं प्रयत्नतः ॥२१६॥

अपने रस के अनुकूल भक्तों का संग करना चाहिये। ऐसा करने से प्रेम स्वतः सिद्ध प्रकट हो जाता है, परन्तु उसको यत्न से छिपाना चाहिये ॥ २१६ ॥

तद्वै तस्य प्रियक्रीड़ावनभूमौ सदा रहः ।
निवसंस्तनुयादेवं सम्पद्येताचिराद्ध्रुवं ॥२२०॥

यह साधन उनकी प्रिय क्रीड़ा भूमि व्रज में ही निर्जन स्थान पर रह कर सदा अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा करने से निश्चय जल्दी ही प्रेम प्राप्त हो जाएगा है ॥२२०॥

तत्कर्म्मज्ञानयोगादिसाधनाद्दूरतः स्थितं ।
सर्व्वत्र नैरपेक्ष्येण भूषितं दैन्यमूलकं ॥२२१॥

इस साधन से कर्म, ज्ञान, योग आदि साधनों को दूर रखना चाहिये। क्योंकि इस साधन में उनकी कोई अपेक्षा नहीं है। इस साधन का तो एक मात्र दैन्य ही मूल है ॥२२१॥

येनासाधारणाशक्ताधमबुद्धिः सदात्मनि ।
सर्वोत्कर्षान्वितेऽपि स्याद्बुधैस्तद्दैन्यमिष्यते॥२२२
यया वाचेहया दैन्यं मत्या च स्थैर्य्यमेति तत् ।
तां यत्नेन भजेद्विद्वांस्तद्विरुद्धानि वर्जयेत्॥२२३
दैन्यन्तु परमं प्रेम्णः परीपाकेण जन्यते ।
तासां गोकुलनारीणामिव कृष्ण-वियोगतः॥२२४
परिपाकेण दैन्यस्य प्रेमाजस्रं वितन्यते ।
परस्परं तयोरित्थं कार्य्यकारणतेष्यते ॥२२५॥
भ्रातः ! प्रेम्णः स्वरूपं यत्तद्धि जानन्ति तद्विदः ।
यस्य चित्तार्द्रता-जातं बाह्यं कम्पादिलक्षणं २२६
दवानलार्चिर्यमुनामृतं भवे-
त्तथा तदप्यग्निशिखैव यद्वतां ।
विषञ्च पीयूषमहो सुधा विषं
मृतिः सुखं जीवनमार्तिवैभवं॥२२७॥
यतो विवेक्तुं न हि शक्यतेऽद्धा
भेदः स सम्भोग-वियोगयोर्यः ।
तथेदमानन्दभरात्मकं वा-
थवा महाशोकमयं हि वस्तु ॥२२८॥
भवन्ति सम्यग्युदयेन यस्य
सदा महोन्मत्तविचेष्टितानि ।
न यद्विना सञ्जनयेत् सुखं सा
नवप्रकारापि मुकुन्द-भक्तिः॥२२९॥
यथा हि शाको लवणं विनैव
क्षुधां विना भोग्य-चयो यथा च ।
विनार्थबोधादिव शास्त्र-पाठः
फलं विनारामगणो यथैव ॥२३०॥

दैन्य उसको कहते हैं:—सब से अधिक सर्व गुण सम्पन्न होते हुए भी जो अपने आपको अत्यन्त असमर्थ, अधम तथा निर्बुद्धि मानते हैं ॥२२२

साधक को वह काम तो यत्न पूर्वक करने चाहियें जिन कामों के कहने, चेष्टा करने, तथा विचार करने से यह दैन्य स्थिर रहे। और जिन कर्मों के करने से दैन्य नष्ट हो जाए, बुद्धिमान को ऐसे अनुष्ठान नहीं करने चाहियें ॥२२३॥

वास्तविक दैन्य तो प्रेम की परिपाक अवस्था में ही होता है, जैसे कि श्रीकृष्ण के वियोग से व्रज गोपिकाओं को हुआ था ॥ २२४ ॥

दैन्य की परिपाक अवस्था से भी निरन्तर प्रेम बढ़ता है, अर्थात् प्रेम और दैन्य यह दोनों एक दूसरे के कार्य तथा कारण हैं ॥२२५॥

हे भाई गोपकुमार ! प्रेम का स्वरूप तो केवल प्रेमी ही जानते हैं। इसके तटस्थ लक्षण यह हैं:— इससे चित्त आर्द्र हो जाता है, और कम्पादि विकार प्रकट होते हैं ॥२२६॥

तथा उस प्रेमी के लिये शीतल यमुना जल तो दावानल ज्वाला सरीखा, दावानल की ज्वाला शीतल जल सरीखी, विष अमृत की तरह और अमृत विष के समान, मृत्यु सुख के सदृश, तथा जीवन धारण करना, अत्यन्त दुखदाई प्रतीत होता है ॥ २२७ ॥

उस प्रेम से प्रेमी अपने प्रभु के संयोग तथा वियोग को भी साक्षात् स्वरूप से विवेचन नहीं कर सकता है, और न ही वह यह विचार कर सकता है कि यह प्रेम उसके लिये पूर्ण आनन्द मय है अथवा महा शोक मय ॥२२८॥

जब प्रेम सम्पत्तियाँ उदय होती हैं तब साधक की सब चेष्टाएं उन्मत्त सरीखी हो जाती हैं। बिना इस प्रकार के प्रेम के, भगवान् की नवधा भक्ति भी सुख प्राप्त नहीं करा सकती हैं। जैसे कि लवण बिना शाक, भूख बिना सुन्दर भोजन, अर्थ जाने बिना शास्त्र पाठ, तथा बिना फल के बगीचे सुख कर नहीं होते हैं ॥२२९-२३०॥

सामान्यतः किञ्चिदिदं मयोक्तं
वक्तुं विशेषेण न शक्यते तत् ।
प्रेमा तु कृष्णे व्रज-योषितां य-
स्तत्तत्त्वमाख्यातुमलं कथं स्यां ॥२३१

मैंने सामान्य रीति से साधारण भक्तों के प्रेम के कुछ लक्षण वर्णन किये हैं। जबकि विशेष रूप से मैं इनको भी नहीं कह सकता हूँ, तो फिर श्रीकृष्ण में जो व्रज नागरियों का प्रेम है, उसे मैं किस तरह वर्णन करने में समर्थ हूँ ॥२३१॥

कृष्णे गते मधुपुरीं बत ! वल्लवीनां
भावोऽभवत् सपदि यो लयवह्नितीव्रः ।
प्रेमास्य हेतुरुत तत्त्वमिदं हि तस्य
मा तद्विशेषमपरं बत!बोद्धुमिच्छ ॥२३२॥

तो भी तटस्थ रूप से कुछ कहता हूँ:—जब श्रीकृष्ण मथुरा जाने लगे थे, तब उनके विरह से श्री व्रजगोपिकाओं को प्रलय अग्नि की पीड़ा से भी अधिक कष्ट हुआ था। उस कष्टका कारण प्रेम ही है। बस, इतने ही में प्रेम का तत्व समझलो इस से अधिक जानने की इच्छा मत करो ॥२३२॥

सा राधिका भगवती क्वचिदीक्ष्यते चेत्
प्रेमा तदानुभवमृच्छति मूर्त्तिमान् सः ।
शक्येत चेद्वदितुमेष तया तदैव
श्रूयेत तत्त्वमिह चेद्भवति स्व-शक्तिः॥२३३

जब आपको श्रीकृष्ण प्रिया, श्रीराधिका जी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा, तब आप प्रेम को स्वयं ही समझ जाएंगे। श्रीराधिकाजी साक्षात् प्रेम की मूर्त्ति हैं, वह भी इस प्रेम को वर्णन नहीं कर सकती हैं। यदि वे बर्णन भी करें, तो भी इस विषय को सुनने वाला कोई नहीं है॥२३३

चेत् कृष्णचन्द्रस्य महावतार-
स्तादृग्निज-प्रेमवितानकारी ।
स्याद्वा कदाचिद्यदि राधिकायाः
प्रेमानुभूतिं तदुपैत्यथापि ॥२३४॥

इस प्रकार के प्रेम का विस्तार करने वाले श्रीकृष्ण अथवा श्री राधिका जी के यदि कोई महा अवतार प्रगट हों, तो उनके दर्शन से भी इस प्रेम का अनुभव हो सकता है ॥२३४॥

तद्गच्छ शीघ्रं तत् क्षेत्रं माथुरव्रजभूभव ! ।
निजार्थसिद्धये त्वं हि न मादृक् तद्दयालयः २३५

हे गोपकुमार ! अपने कार्य की सिद्धि के लिये, आप शीघ्र ही पुरुषोत्तम क्षेत्र पधारें। आप मेरे जैसे नहीं हैं, आप श्रीकृष्ण के कृपा पात्र हैं, क्यों कि आपका जन्म व्रज में हुआ है ॥२३५॥

श्रीमदुद्धव उवाच ।

श्रीउद्धवजी कहने लगे।

क्षेत्रं यथा तत् पुरुषोत्तमं प्रभोः
प्रियं तथैतत् पुरमप्यदो यथा ।
परेशतालौकिकतोचितेहितै-
र्विभूषितं तस्य तथेदमप्युतं ॥२३६॥

हे नारदजी ! आपने पुरुषोत्तम क्षेत्र की द्वारिका से अधिक प्रशंसा की है। परन्तु वह पुरी, तथा यह द्वारिकापुरी प्रभु को समान प्यारी है। आप यह सत्य समझें, जिस प्रकार श्रीकृष्ण की ईश्वरत्व तथा माधुर्य लीला श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में हैं इसी प्रकार यहां भी हैं ॥२३६॥

श्रीदेवकी-नन्दन एष नः प्रभु-
स्तद्रूपधारी पुरुषोत्तमे स्वयं ।
स्थैर्य्यं भजन् क्रीड़ति तन्निवासिनां
तत्प्रेमपूर्व्वार्द्रहृदां सदा मुदे ॥२३७॥

हमारे प्रभु स्वयं श्री देवकीनन्दन ही उस पुरुषोत्तम क्षेत्र में, जगन्नाथ स्वरूप से अचल भाव प्राप्त होकर विराजते हैं, जोकि वहाँ रहने वाले अपने प्रेमी भक्तों को आनन्द देने के लिये, सदा विहार करते हैं ॥२३७॥

यत्तत्र संसिद्ध्यति वस्त्विहापि
सम्पद्यते तत् किल नास्ति भेदः ।
किन्त्वस्य तत्र व्रजभूचरित्र-
दृष्टि-श्रुतिभ्यां भविता स शोकः ॥२३८

तस्मिन् जगन्नाथ-मुखाब्जदर्शना-
न्महाप्रसादावलि-लाभतःसदा ।
यात्रोत्सवौघानुभवादपि स्फुर-
त्युल्लास एवात्मनि नैव दीनता ॥२३९

तां विनोदेति न प्रेम-गोलोकप्रापकं हि यत् ।
न च तल्लोकलाभेन विनास्य स्वास्थ्यमुद्भवेत् २४०

पुनस्ततोऽसौ परदुःखकातरः
प्रहेष्यति श्रीपुरुषोत्तमस्त्विमं ।
स्वगोकुले श्रीमथुराविभूषणे
तदेष तत्रैव कथं न चाल्यते॥२४१॥

तत्रैवोत्पद्यते दैन्यं तत्प्रेमापि सदा सतां ।
तत्तच्छून्यमिवारण्यसरिद्गिर्यादि पश्यतां ॥२४२

सदा हाहारवाक्रान्तवदनानां तथा हृदि ।
महासन्तापदग्धानां स्व-प्रियं परिमृग्यतां॥२४३॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

मन्त्रिप्रवर-वाक्यं तत् स्व-हृद्यं न्यायवृंहितं ।
निशम्य नितरां प्रीतो भगवान्नारदोऽब्रवीत् २४४

श्रीनारद उवाच ।

सत्यमुद्धव ! तद्भूमिलोकेषु प्रीतिमानसि ।
यदस्याभिष्टसिद्ध्यर्थमात्थ मन्त्रमिमं हितं ॥२४५

जो वस्तु वहाँ प्राप्त हो सकती है, वह यहाँ भी हो सकती है। इस लिये इन दोनों लोकों में कोई भेद नहीं है। परन्तु वहाँ जाकर इन गोप-कुमारों को व्रज की लीला देख कर तथा सुन कर विशेष दुख ही होगा ॥२३८॥

तथा उस क्षेत्र में श्री जगन्नाथजी के मुखार-विन्द के दर्शन करने से, उत्तम-उत्तम महाप्रसाद पाने से, तथा सुन्दर यात्रा महोत्सवों के अनुभव करने से, इनके चित्त में अधिक उल्लास होगा, इस से दीनता नष्ट हो जायगी ॥२३९॥

उस दीनता के बिना वह प्रेम प्रकट नहीं होगा, जिससे श्री गोलोक प्राप्ति होती है, और जब तक गोलोक प्राप्ति नहीं होगी, तब तक इनको शान्ति नहीं मिलेगी ॥२४०॥

इस लिये हे नारदजी ! आप दूसरों के दुखों को सहन नहीं कर सकते हैं, तो भी आप इनको पुरुषोत्तम क्षेत्र में क्यों भेजते हैं ? आप इनको श्री मथुरा मण्डल के भूषण स्वरूप श्रीगोकुल में क्यों नहीं भेजते हैं ? ॥२४१॥

वहाँ रहने वाले भक्त जब कि श्रीवृन्दावन, श्रीयमुनाजी, तथा श्री गोवर्धन आदि पार्वतों को शून्य की तरह देखते हैं, तब उनके हृदय सन्ताप से दग्ध होजाते हैं, और वह अपने मुखों से "हा कृष्ण, हा कृष्ण" करते हुये, अपने प्यारे को ढूंढ़ते फिरते हैं, इससे दैन्य सञ्चार होकर उन भक्तों के अन्तःकरण में प्रेम प्रकट हो जाता है। ॥ २४२-२४३ ॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! भगवान् नारद, मन्त्री प्रवर उद्धव के न्याय युक्त उन वाक्यों को सुन कर, जो कि उनको स्वयं प्रिय थे, अत्यन्त आनन्दित होकर इस प्रकार कहने लगे ॥२४४॥

श्रीनारदजी ने कहा ।

हे उद्धव जी ! आप सत्य मुच व्रजवासियों में प्रीति करने वाले हैं, जिससे कि आपने इन गोप-कुमारों को, इनके अभीष्ट मनोरथों की जल्दी सिद्धि के लिये, यह हितकर मन्त्रणा दी है ॥२४५॥

तस्या ब्रजभुवो वेत्ति भवानेव महिष्ठतां ।
निजेष्टदैवतं कृष्णं त्यक्त्वा यत्रावसच्चिरं॥२४६॥

उस ब्रज भूमि की महिमा को आप ही भली प्रकार जानते हैं, अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण का चिर-काल तक विछोह सहन करके आपने वहाँ निवास किया है ॥२४६॥

श्रीगोपकुमार उवाच।

परितः पुनरालोक्य लक्षणानि शुभानि सः।
हृष्टो मामाह सर्व्वज्ञो नारदो वैष्णव-प्रियः॥२५७

श्रीगोपकुमार कहने लगे।

वह सर्वज्ञ तथा वैष्णव-प्रिय नारदजी, चारों ओर शुभ शकुन देख कर, आनन्दित होकर मुझ से फिर कहने लगे ॥२४७॥

श्रीनारद उवाच।

ब्रजवीर-प्रिय! श्रीमन्! स्वार्थं विद्धयाशु साधितं
एतच्चास्ति महाभाग! पुरैवानुमितं मया॥२४८॥

श्रीनारदजी बोले।

हे श्रीमान् गोपकुमार! आप श्रीकृष्ण के बड़े प्रिय हैं। आपके अभीष्ट मनोरथ जल्दी ही सिद्ध होंगे। हे महाभाग! यह बातें मैंने पहले ही जान ली थीं ॥ २४८ ॥

श्रीवैकुण्ठेऽतुलसुख-भरप्रान्तसीमास्पदेऽस्या-
योध्यापुर्यां तदधिकतरे द्वारकाख्ये पुरेऽस्मिन्।
आयातस्यापि तव वलते दुर्घटं चित्तदुःखं
स्वर्गादौ च प्रभुवर पदाब्जेक्षणेनाप्यबोधः॥२४९

तच्चामुष्य स्वदयितवरस्वामि-पादारविन्द-
द्वन्द्वे दृश्ये प्रणय-पटलीवर्द्धनायैव मन्ये।
अस्मिँल्लोके कथमितरथा सम्भवेद्दुःखहेतु-
स्तस्मिंस्तस्मिन्नपि मतिरदे तत्र तत्राज्ञता वा
॥२५०॥

यद्यपि श्रीवैकुण्ठ अतुल सुख का धाम है, तथा श्री अयोध्याजी उससे अधिक हैं, तथा इस द्वारिकापुरी में उस से भी अधिक आनन्द है, तो भी यहाँ आपके चित्त से दुख निवृत नहीं हुआ। तथा स्वर्ग आदि में भगवान् के चरणारविन्दों के दर्शन करने से अज्ञान दूर होजाता है, तो भी वहाँ आपका अज्ञान बना रहा। इस लिये मैं तो यह मानता हूँ कि यह बातें आपका प्रेम आपके स्वामी श्री गोपालजी के चरणारविन्दों में बढ़ाने के लिये ही हुई हैं। अन्यथा उन लोकों में इस प्रकार के दुख का हेतु और कोई प्रतीत नहीं होता है, और नहीं वहाँ इस प्रकार के अज्ञान का कोई कारण दिखाई देता है ॥२४९-२५०॥

यथा हृत्क्षोभराहित्यान्महाकौतुकतोऽपि ते।
वृत्तं भावविशेषेण तत्तल्लोकेऽच्युतेक्षणं॥२५१॥

बल्कि इस अज्ञान से यह मालूम हुआ कि जिन-जिन लोकों में आपने जाकर तत्-तत् स्थानीय भगवत् स्वरूपों का प्रेम से दर्शन किया, उनके दर्शनों से आपका चित्त चञ्चल नहीं हुआ, बलिक अन्य-अन्य लोकों के भगवद् स्वरूपों को देखने के लिये आपकी उत्कण्ठा बढ़ती गई।२५१॥

तद्गच्छतु भवान् शीघ्रं स्व-दीर्घाभीष्ट-सिद्धये।
माथुरीं ब्रजभूमिं तां धरा-श्रीकीर्त्तिवर्द्धिनीं॥२५२

इस लिये हे गोपकुमार! आप अपनी दीर्घ-कालीन अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करने के लिये जल्दी ही उस मथुरा मण्डल के अन्तर्गत ब्रजभूमि में जायें, जोकि इस पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ाने वाली है ॥ २५२ ॥

तत्रैव साधनं सत्यं साधु सम्पद्यतेऽचिरात् ।
वैकुण्ठोपरिविभ्राजच्छ्रीमद्गोलोकयापकं ॥२५३॥

वहाँ ही आपके सब साधन निर्विघ्नता से जल्दी ही फलित होंगे, जो कि साधक को जल्दी ही उस लोक में पहुँचा देते हैं, जो कि वैकुण्ठ से भी ऊपर है ॥२५३॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तस्य वाक्सुधया प्रीतस्तत्राहं गन्तुमुत्सुकः ।
अन्तर्भगवदाज्ञार्थी संलक्ष्योक्तो महात्मना ॥२५४

श्रीगोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! उन नारद जी के अमृत सरीखे वचनों को सुन कर मैं आनन्दित होकर वहाँ जाने के लिये उद्यत हुआ, तब महात्मा श्रीउद्धव जी मेरे मन की यह बात जान कर कि मैं वहाँ जाने के लिये भगवान् की आज्ञा लेना चाहता हूँ, इस प्रकार कहने लगे ॥२५४॥

श्रीमदुद्धव उवाच ।

तदैव यादवेन्द्राज्ञापेक्ष्या स्याद्यदि गम्यते ।
कुत्रापि भवतान्यत्र सा भूर्यस्य महाप्रिया ॥२५५

श्री उद्धवजी ने कहा ।

हे गोपकुमार ! भगवान् की आज्ञा लेने की तब ही आवश्यकता थी, जबकि आप किसी दूसरे धाम में जाते । वह व्रजभूमि तो इनको बड़ी प्रिय है ॥२५५

न साक्षात् सेवया तस्य या प्रीतिरिह जायते ।
तद्व्रजस्थानवासेन सा हि सम्पद्यते दृढ़ा ॥२५६

वह भगवान् अपनी साक्षात् सेवा से ऐसे प्रसन्न नहीं होते हैं, जैसे कि इस व्रजभूमि के वास करने से होते हैं ॥२५६॥

अतएवोषितं तस्यां व्रजभूमौ चिरं मया ।
तत्रत्यतत्प्रियप्राणि-वर्गस्याश्वासनच्छलात् ॥२५७

इस लिये मैंने उज व्रजभूमि में श्रीकृष्ण के प्रिय परिकरों को आश्वासन देने के बहाने से चिरकाल तक निवास किया था ॥२५७॥

मन्ये मदीश्वरो वेत्य काममेतं तवोत्कटं ।
तां नेष्यत्येप भूमिं त्वां स्वयं स्वस्य प्रियांप्रियं२५८

मैं तो यह मानता हूँ कि आपकी अत्यन्त उत्कण्ठा देखकर मेरे प्रभु ही आपको अपनी प्यारी व्रजभूमि में स्वयं ही पहुँचा देंगे, क्योंकि आप उनके बड़े प्यारे हैं ॥२५८॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तद्वागमृतपानेन परमानन्दपूरितः ।
गतो मोहमिवामुत्र क्षणं दृष्टी न्यमीलयं ॥२५६

श्रीगोपकुमार बोले ।

उनके अमृत सरीखे वचनों के पान करने से, मैं बड़ा आनन्दित हुआ । फिर वहाँ एक क्षण के लिये मुझको मूर्छा आगई, और मेरी दृष्टि बन्द होगई ॥ २५६ ॥

केनचिन्नीयमानोऽस्मि कुत्रापीति वितर्कयन् ।
दृशावुन्मील्य पश्यामि कुञ्जेऽस्मिन्नस्मि सङ्गतः
॥२६०॥

उस समय मुझको केवल ऐसा प्रतीत हुआ, कि मुझको कोई कहीं ले जा रहा है और ज्योंही मैंने आँखें खोलीं, त्योंही अपने आपको, इस निकुञ्ज में पाया ॥२६०॥

इति श्रीभागवतामृते गोलोकमाहात्म्य-
निरूपणखण्डे प्रेमनामा
पञ्चमोऽध्यायः ।

इस श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के श्रीगोलोक माहात्म्य नामक द्वितीय खण्ड में "प्रेम" नामक पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

॥ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः ॥

श्रीश्रीवृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय–खण्डम् ।

षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीगोपकुमार उवाच ।

तां नारदीशामनुसृत्य शिक्षां
श्रीकृष्ण-नामानि निज-प्रियाणि ।
संकीर्त्तयन् सुस्वरमत्र लीला-
स्तस्य प्रगायन्ननुचिन्तयंश्च ॥१॥

तदीयलीलास्थल-जातमेत-
द्विलोकयन् भाव-दशे गतो ये ।
तयोः स्व-चित्ते करणेन लज्जे
कथं परस्मिन् कथयान्यहं ते ॥२॥

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! इस वृन्दाबन में आकर मैं श्री नारद जी की शिक्षा के अनुसार अपने प्रिय श्री कृष्ण के नामों का, सुन्दर स्वर से कीर्तन, उनकी लीलाओं का गान तथा चिंतवन करने लगा। उस समय उनकी लीला स्थलियों को देख कर मेरे हृदय की जो दशा हुई, तथा उसमें जो भाव उत्पन्न हुआ, उसको स्मरण करने में भी मेरे चित्त में लज्जा आती है, फिर दूसरों से वह दशा किस प्रकार वर्णन करूँ ! ॥१-२॥

सदा महार्त्या करुणस्वरैरुद-
न्नयामि रात्रीर्दिवसांश्च कातरः ।
न वेद्मि यद्यत् सुचिरादनुष्ठितं
सुखाय वा तत्तदुतार्त्तिसिन्धवे ॥३॥

उस समय, बड़ा आर्त होकर करुणास्वर से रोते हुए मैं रात्रि दिन बिताने लगा। मैं यह नहीं जानता था, कि मैंने दीर्घ काल से जो अनुष्ठान किया है वह सुख प्राप्ति के लिये है, अथवा उसका फल दुख रूपी सागर में डूबना है ॥३॥

कथञ्चिदप्याकलयामि नैतत्
किमेष दावाग्निशिखान्तरेऽहं ।
वसामि किम्वा परमामृताच्छ-
सुशीतलश्रीयमुना-जलान्तः ॥४॥

उस समय, मैं यह निश्चय नहीं कर सकता था, कि अब मैं दावाग्नि की शिखा के मध्य बैठा हूँ, अथवा अमृत सरीखे शीतल यमुना जल में डूब रहा हूँ ॥४॥

कदाचिदेवं किल निश्चिनोम्यहं
शठस्य हस्ते पतितोऽस्मि कस्यचित् ।
सदा न्यमज्जं वहुदुःख-सागरे
सुखस्य गन्धोऽपि न मां स्पृशेत् क्वचित्॥५

कभी-कभी मैं इस प्रकार निश्चय करता था, कि मैं किसी धूर्त के हाथ पड़ गया, जिससे कि मैं बड़े दुःख के उस सागर में डूब रहा हूँ, जहाँ कि सुख की गन्ध का स्पर्श भी नहीं है ॥५॥

इत्थं वसन्निकुञ्जेऽस्मिन् वृन्दावनविभूषणे ।
एकदा रोदनाम्भोधौ निमग्नो मोहमव्रजं ॥६॥

इस परिस्थिति में वृन्दावन के भूषण स्वरूप इस निकुञ्ज में रहते-रहते एक बार श्रीकृष्ण के विच्छेद से व्याकुल होकर, मैं इस प्रकार विह्वल हुआ, मानो रोदन समुद्र में डूब कर मूर्छित हो रहा हूँ ॥६॥

दयालुचूड़ामणिनाऽमुनैव
स्वयं समागत्य कराम्बुजेन ।
वंशीरतेनामृतशीतलेन
मद्गात्रतोमार्ज्जयता रजांसि ॥७॥

उस समय वह दयालु चूड़ामणि मेरे निकट आये और अपने अमृत सरीखे उस शीतल हस्त कमल से, जिसमें उन्होंने वंशी ले रखी थी, मेरे अंगों में लगी हुई धूलि को झाड़ा ॥७॥

नीतोऽस्मि सञ्चाल्य मुहुः सलीलं
संज्ञां महाधूर्त्त-वरेण यत्नात् ।
नासाप्रविष्टैरपुरानुभूतै-
रापूर्य्य सौरभ्य-भरैः स्वकीयैः॥८॥

फिर उन महाधूर्त ने मुझको सचेत कराने के लिये खेल करते हुए की तरह यत्न पूर्वक मेरे अंगों को बार-बार हिलाया, ज्योंही उनके अंगों की सौरभ जिसका कि मैंने पहले कभी अनुभव नहीं किया था, मेरी नासिका में पहुँची त्योंही मैं सचेत अवस्था को प्राप्त हो गया ॥८॥

तदीयवक्त्राब्जमथावलोक्य
ससम्भ्रमं सत्त्वरमुत्थितोऽहं ।
अमुं विधर्त्तुं वरपीतवस्त्रो
समुद्यतो हर्ष-भराचितात्मा ॥९॥
स नागरेन्द्रोऽपससार पृष्ठतो
निनादयंस्तां मुरलीं स्व-लीलया ।
अभूच्च कुञ्जान्तरितः सपद्यसौ
मया न लब्धो वत ! धावताप्यलं ॥१०

तब उनके मुखारविन्द के दर्शन करके मैं सम्भ्रम से जल्दी उठा, और अत्यन्त आनन्दित होकर, ज्योंही मैंने उनके सुन्दर पीताम्बर को पकड़ने की चेष्टा की, त्योंही वह नागर चूड़ामणि लीला से मुरली बजाते हुये पीछे को हटने लगे और उसी क्षण वह एक कुञ्ज के भीतर जाकर छिप गये। मैंने भाग-भाग कर सब जगह ढूँढ़ा परन्तु उनका किसी जगह कुछ पता नहीं लगा। ॥ ९-१० ॥

अन्तर्हितं तं त्वविलोक्य मूर्च्छां
प्राप्तोऽपतं श्रीयमुना-प्रवाहे ।
एतस्य वेगेन समुह्यमानो
लब्ध्वेव संज्ञां व्यकिरं स्व-दृष्टी॥११॥
पश्याम्यतिक्रान्तमनोजवेन
यानेन केनापि महोर्द्धगेन ।
केनापि मार्गेण महाद्भुतेन
देशान्तरे कुत्रचिदागतोऽस्मि ॥१२

जब वह अन्तर्धान होगए, और मैं उनके दर्शन नहीं कर सका, तब मैं मूर्छित होकर श्री यमुनाजी के प्रवाह में गिर पड़ा। जब कि प्रवाह के बड़े वेग से मैं बहता हुआ जा रहा था, तब मुझको कुछ संज्ञा प्राप्त हुई, और मैंने अपने नेत्रों को खोल कर यह देखा, कि मैं मन से भी अधिक वेग वाले यान से, ऊपर की ओर कहीं, एक अलौकिक मार्ग से जा रहा हूँ। देखते-देखते ही मैं किसी एक लोक में पहुँचा ॥११-१२॥

चित्तं समाधाय मृशामि याव-
द्वैकुण्ठलोकं तमितोऽस्मि तावत् ।

जब चित्त को समाधान करके, ज्योंही मैं विचार करने लगा त्योंही मैंने अपने आपको वैकुण्ठ में देखा, तब मैं विस्मित होकर बड़ा

तं विस्मितो वीक्ष्य वहन् प्रहर्षं
पश्यन्नयोध्यादिकमत्यगां तत् ॥१३॥

आनन्दित हुआ। इसी प्रकार चलते-चलते मैंने श्री अयोध्या आदि लोकों का भी दर्शन किया ॥ १३ ॥

श्रीगोलोकं तं चिराशावलम्बं
प्राप्तो भान्तं सर्व्वलोकोपरिष्टात्।
आस्ते श्रीमन्माथुरे मण्डलेऽस्मिन्
यादृक् सर्व्वं तत्र वै तादृगेव ॥१४॥

अन्त में सब लोकों के ऊपर मैं उस गोलोक में पहुँचा, जहाँ जाने के लिये मैं चिरकाल से अभिलाषा कर रहा था इस मथुरा मण्डल में जिस प्रकार वृन्दावन गोवर्धन यमुना आदि हैं, इसी प्रकार वहाँ भी ये सब हैं ॥१४॥

तस्मिन् श्रीमथुरारूपे गत्वा मधुपुरीमहं।
अत्रत्यामिव तां दृष्ट्वा विस्मयं हर्षमप्यगां ॥१५॥

जबकि मैं उस मथुरापुरी में गया, जोकि भौम मथुरापुरी के सदृश है, तब उस पुरी को इसके समान देख कर, मैं बड़ा विस्मित तथा आनन्दित हुआ ॥ १५ ॥

तस्यामभ्रृणवं चेदं निगृह्य पितरं स्वयं।
देवकीं वसुदेवञ्च कंसो राज्यं करोति सः ॥१६॥

मैंने वहाँ जाकर यह सुना, कि कंस अपने पिता उग्रसेन तथा श्री देवकी वसुदेव को कारागार में डाल कर स्वयं राज्य कर रहा है ॥१६॥

तस्य प्रियसुरामित्रपरिवारस्य शङ्कया।
नोत्सहन्ते यथाकामं विहर्त्तुं यादवाः सुखं ॥१७

तथा वह यादव लोग उस कंस के मित्र, असुरों के डर से भयभीत होकर अपनी इच्छानुसार सुख पूर्वक विहार भी नहीं कर सकते हैं ॥ १७ ॥

तस्माद्बहुविधां बाधामपि विन्दन्ति तेऽनिशं।
कुत्राप्यपसृताः केचित् सन्ति केऽपि तमाश्रिताः
॥१८॥

वह यादव उस कंस से नाना प्रकार के क्लेशों को निरन्तर भोग रहे हैं इसी लिये उनमें से कोई-कोई तो उससे डर कर दूसरे-दूसरे देशों को भाग गए हैं, और कोई-कोई उनके आश्रित होकर वहीं रहने लगे हैं ॥१८॥

ततोऽहमपि भीतः सन् कृतविश्रान्तिमज्जनः।
निःसृत्य त्वरयागच्छं श्रीमद्वृन्दावनं ततः ॥१९

मैं भी यह सुन कर भय से वहाँ नहीं ठहरा बल्कि वहाँ विश्रान्त घाट पर स्नान करते ही, जल्दी से श्री वृन्दावन चला गया ॥१९॥

तस्मिन्नगम्येऽखिलदेवतानां
लोकेश्वराणामपि पार्षदानां।
एतस्य भूभारतवर्षकीया-
र्य्यावर्त्तदेशस्य निरूप्य रीतिं॥२०

यद्यपि उस गोलोक में कोई देवता, लोकपाल, तथा वैकुण्ठ पार्षद भी नहीं जा सकते हैं, तो भी मैंने वहाँ की सब रीति रिवाज इस भारत वर्ष के आर्यावर्त देश सरीखे देखीं ॥२०॥

दिव्यां दिनेशोद्गमनादिनैतां
भौमीं नृभाषाचरितादिनापि।
महाचमत्कारभरेण रुद्धो
न्यमज्जमानन्दरसाम्बुराशौ ॥२१॥

परन्तु इतना भेद है, कि वह गोलोक सूर्यनारायण के विशेष उद्गम से तो ऊर्ध्व लोक प्रतीत होता है। और वहाँ रहने वाले मनुष्यों की आकृति, उनके आचरण तथा उनकी भाषा से भूलोक सदृश दिखाई देती है। मैं महा आश्चर्य युक्त होकर आनन्द समुद्र में डूब गया ॥२१॥

क्षणादपश्यं भ्रमतो गोपानिव वने नरान् ।
पुष्पानि चिन्वतीर्वृद्धा गोपीरेशवतीस्तथा ॥२२॥

मैंने, थोड़ी देर बाद इधर उधर घूमते हुए उन मनुष्यों को गोपों सरीखे तथा फूल तोड़ती हुई उन वृद्धा स्त्रियों को गोपियों सदृश देखा॥२२॥

ते च सर्व्वे जनाः पूर्व्वदृष्टसर्व्वविलक्षणाः ।
केनापि हृतहृच्चित्तास्तद्भावव्याकुला इव ॥२३॥

वहाँ के रहने वाले सब बातों में और लोकों में उन रहने वालों से विलक्षण थे, जोकि इससे पहले मैंने कहीं देखे थे। वह लोग इस प्रकार प्रतीत होते थे मानो इनके हृदयों को किसी ने चुरा लिया है और उनके प्रेम से वह व्याकुल हो रहे हैं॥२३॥

तेषां दर्शनमात्रेण तादृशं भावमाप्नुवन् ।
यत्नाद्धैर्य्यमिवासृत्यापृच्छं तानिदमादरात् ॥२४

उनके दर्शन मात्र से ही मुझको भी उनके सदृश भाव प्राप्त हो गया। मैंने बहुत यत्न से कुछ धीरज बाँध कर, उनसे आदर पूर्वक यह पूछा ॥ २४ ॥

परमहंस-मनोरथदुर्लभैः
परमहर्ष-भरैः परिषेविताः ! ।
प्रणयभक्तजनैः कमलापतेः ।
परमयाच्यतदीयदयालयाः ! ॥२५॥

"आप लोग इस प्रकार के आनन्द को अनुभव कर रहे हो जोकि बड़े-बड़े परमहंसों के मनोरथों से भी दुर्लभ है। और आप में इस प्रकार की दया है, जिसके लिये श्रीवैकुण्ठ नाथ के प्रिय भक्त भी प्रार्थना करते हैं" ॥२५॥

परमदीनमिमं शरणागतं
करुणया वत ! पश्यत पश्यत ।
कथयतास्य नृपो विषयस्य को
गृहममुष्य कुतोऽस्य च वर्त्म किं ॥२६॥

"हे पथिक गण ! मैं अत्यन्त दीन हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, कृपा करके मेरी ओर देखिये। आप यह बताइये कि इस देश का कौन राजा है, उनका घर कहाँ है और वहाँ जाने के लिये कौन सा मार्ग है" ॥२६॥

भो ! भोः ! सकाकु पृच्छन्तं धन्याः ! कृपयतात्र मां ।
दत्त प्रत्युत्तरं किञ्चित् सङ्केतेनापि सुव्रताः ! ॥२७

अहो वत ! महार्त्तस्य शृणुतापि वचांसि मे ।
नूनं तस्यैव धूर्त्तस्य यूयं भावेन मोहिताः ॥२८॥

जब उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया, तब अनेक प्रकार के दीनता पूर्ण वाक्यों से मैं फिर पूछने लगा। "आप लोग धन्य हैं कृपा करके मेरे प्रश्नों का उत्तर दीजिए तब भी वह नहीं बोले, तो फिर मैं कहने लगा यदि आप लोगों ने मौन व्रत धारण कर रखा है, तो मुझ से संकेत द्वारा ही कुछ कहिए। अहो ! मैं समझ गया, मेरे बड़े आर्त्त बचनों को सुन कर भी आप उत्तर नहीं देते हो, इस से प्रतीत होता है आप लोग भी निश्चय उस धूर्त श्रीकृष्ण के भाव से मोहित हुए हुए हो" ॥ २७-२८ ॥

इत्थं मुहुः सकातर्य्यं सम्पृच्छंस्तानितस्ततः ।
दृश्यमानान् पुरो भूत्वा ब्रजस्थानान्यवाप्नुवं २९

इस प्रकार जहाँ तहाँ जिन-जिन लोगों को देखा मैंने उन से दीनता पूर्वक बार-बार इसी प्रकार के प्रश्न किए, परन्तु किसी ने भी कुछ उत्तर

परितश्चालयंश्चक्षुः पुरीमेकां विदूरतः ।
अद्राक्षं माधुरी-सारपरीपाकेन सेवितां ॥३०॥

तत्पार्श्वे चाभितोऽश्रौषं गोपीनां गीतमद्भुतं ।
दध्नां मथनघोषाढयं कान्तं भूषण-सिञ्जितैः ३१

प्रहर्षाकुलमात्मानं विष्टभ्य पुरतो व्रजन् ।
प्राप्नुवं "कृष्ण कृष्णे"ति सवैयग्रयं निरन्तरं ३२

कीर्त्तयन्तं रुदन्तश्च निविष्टं वृद्धमेकलं ।
तस्मात् प्रयत्नचातुर्य्यैरश्रौषं गद्‌गदाक्षरं ॥३३॥

गोपराजस्य नन्दस्य तच्छ्रीकृष्ण-पितुः पुरं ।
तच्छब्द-श्रुतिमात्रेण व्यमुह्यं हर्ष-वेगतः ॥३४॥

क्षणात्तेनैव वृद्धेन चेतितोऽहं दयालुना ।
धावन्नग्रेऽभिसृत्यास्या न्यषीदं गोपुरे पुरः ॥३५

अदृष्टमश्रुतं चान्यैरसम्भाव्यं व्यलोकयं ।
बहुप्रकारमाश्चर्य्यं लक्षशस्तत्र कोटिशः ॥३६॥

निश्चेतुं नाशकं किन्ते परमानन्दनिर्वृताः ।
किम्वा दुःख-भरग्रस्ता जनाः सर्व्वे द्विजोत्तम!३७

गोपिकानाञ्च यद्‌गीतं श्रूयते रोदनान्वितं ।
तत्तोषस्य शुचो वान्त्यकाष्ठयेति न बुद्धयते ॥३८

नहीं दिया। तब आगे चल कर मैं वहाँ पहुँचा जहाँ कि गौएँ रहती हैं ॥२९॥

जब मैंने अपने नेत्रों को चारों ओर घुमाया, तब कुछ दूर पर एक ऐसी पुरी को देखा, जो मानों सब प्रकार मधुरिमाओं के सार से बनी हुई है ॥ ३० ॥

उस पुरी के निकट चारों ओर थी गोपिकाएँ गीत गाती हुई, दधि मन्थन कर रही हैं। मैंने उनके अद्भुत गीतों को, जिनमें दधि मंथन का शब्द, तथा उनके भूषणों की ध्वनि मिश्रित थी, दूर से सुना ॥३१॥

यह सुन कर मेरी आत्मा आनन्द से अधीर होगई। मैं कुछ धीरज बाँधकर आगे चला, तब मैंने एक वृद्ध को देखा जो कि अत्यन्त उत्कण्ठा से निरन्तर "श्रीकृष्ण कृष्ण" इस प्रकार कीर्तन करते हुए प्रेम से रो रहे थे। उन से मैंने बड़े प्रयत्न से चतुरता पूर्वक कुछ प्रश्न किये। तब वह गद् गद् होकर इस प्रकार कहने लगे ॥३२-३३॥

"यह पुरी गोपराज श्रीनन्दराय की है, जोकि श्रीकृष्ण के पिता हैं" इन शब्दों को सुनते ही मैं आनन्द के वेग से मूर्छित होकर गिर पड़ा ॥३४॥

एक क्षण के अनन्तर ही उन दयालु वृद्ध ने मुझको सचेत कराया तब मैं भागता हुआ आगे बढ़ा और उस पुरी के दरवाज़े में जाकर बैठ गया ॥ ३५ ॥

वहाँ जाकर मैंने इस प्रकार के लाखों करोड़ों आश्चर्यों को देखा, जो कि मैंने पहले न तो कहीं देखे थे,न कहीं सुने थे। उस प्रकार के आश्चर्य अनुभव करने वालों को छोड़ कर यदि दूसरे किसी से कहे जाएँ तो भी वह नहीं समझ सकेंगे हे ब्राह्मण! मैं निश्चय नहीं कर सका कि वहाँ के सब रहने वाले किसी परमानन्द में डूबे हुये थे अथवा किसी पूर्ण दुख से दुखी थे ॥३६-३७॥

गोपिकाओं के गीत, रोदन शब्दों से मिश्रित थे उनको सुनकर भी मैं अपनी बुद्धि से निश्चय नहीं कर सका कि वह गीत अत्यन्त आनन्द से गाये जा रहे थे अथवा शोक से ॥३८॥

एदं तत् पश्यता मर्त्यलोकेऽस्मीत्येव मन्यते ।
यदा तु पूर्व्वपूर्व्वानुसन्धानं क्रियते बहु ॥३६

तदाखिलानां लोकानामलोकानामुपर्य्यपि ।
तथा लोकातिलोकानां वर्त्तेयेत्यवगम्यते ॥४०

उस लोक को देखकर मेरे मन में यह विचार आता था, कि मैं मर्त्य लोक में हूँ । परन्तु जब मैं पहिली बातों का अनुसंधान करता था, तब मुझ को यह निश्चय होता था, कि मैं सब लोकों अर्थात् चतुर्दश भुवन, अलोक, अष्ट आवर्ण तथा अतिलोक श्री वैकुण्ठादि से भी ऊपर हूँ ॥३६॥४०॥

अथ तत्रागतामेकां वृद्धां नत्वातिकाकुभिः ।
अपृच्छं विहरत्यद्य क्वासौ श्रीनन्दनन्दनः ॥४१

इसके पश्चात् मैंने, वहाँ आई हुई एक वृद्धाको प्रणाम करके दीन वाक्यों से यह पूछा "आज श्री नन्दनन्दन कहाँ विहार कर रहे हैं ॥४१॥

श्रीवृद्धोवाच ।

प्रातर्विहर्त्तुं गहनं प्रविष्टो—
गोभिर्वयस्यैश्च सहाग्रजेन ।
प्राणप्रदाता ब्रजवासिनां नः
सायं समायास्यति सोऽधुनैव ॥४२

श्री वृद्धा बोली ।

श्री नन्दनन्दन प्रातःकाल श्री दाऊ जी तथा अपने ग्वालवालों के सहित गौओं को साथ लेकर विहार करने के लिये बन में गये हुए हैं । वह हम सब ब्रजवासियों के प्राण प्रदाता, अभी सायंकाल को बन से यहाँ आयेंगे ॥४२॥

तिष्ठन्ति यस्मिन् ब्रजवासिनो जना
न्यस्तेक्षणा वर्त्मनि यामुनेऽखिलाः ।
एते नगा यस्य तदीक्षणोन्मुखाः
सन्त्युच्छदैरेष्यति नन्वनेन सः ॥४३

जो मार्ग श्रीयमुना जी की ओर से यहाँ आ-रहा है जहाँ पर सब ब्रजवासी टकटकी बाँधकर खड़े हुये हैं और जिनकी ओर इन वृक्षों ने भी अपने २ पत्तों को कर रक्खा है यह वृक्ष भी उनके दर्शन करने के लिये उत्कंठित हो रहे हैं निश्चय इसी रास्ते से वह श्री कृष्ण पधारेंगे ॥४३॥

श्रीगोपकुमार उवाच ।

परमामृत-धाराभिरभिषिक्त इवाभवम् ।
तया तं दर्शितं मार्गमेकदृष्ट्या व्यलोकयन् ॥४४

श्री गोपकुमार बोले ।

हे ब्राह्मण ! मैं यह बात सुनकर ऐसा प्रसन्न हुआ, मानों मैं परम अमृत की धारा से अभि-षिक्त हुआ । फिर मैं उनके बताये हुये मार्ग की ओर, एक दृष्टि से देखने लगा ॥४४॥

परमानन्द-भारेण स्तम्भितोरुः कथञ्चन ।
यत्नेनाग्रेऽभवन् दूरेऽशृणवं कमपि ध्वनिं ॥४५

उस समय परमानन्द के भार से मैं स्तम्भित होगया । बड़े यत्न से जब मैं कुछ आगे बढ़ा, तब मैंने दूर से आती हुई किसी एक ध्वनि को सुनी ॥४५॥

गवां हाम्बारावैः सुललिततरं मोहमुरली-
कलं लीलागीत-स्वरमधुररागेण कलितं ।
जगद्वैलक्षण्याचितविविधभङ्गीविलसितं
ब्रजस्थानां तेषां सपदि परमाकर्षवलितं ॥४६

वह श्री कृष्ण की मोहन मुरली का नाद था जिसमें गौओं का हम्बा-हम्बा शब्द, लीला गान, सप्त प्रकार के स्वर तथा छत्तीस राग रागनियों का रव मिला हुआ था, जो कि जगत विलक्षण मूर्छना आदि से सुशोभित था, और जिस शब्द ने उन ब्रजवासियों को तत्क्षण में ही आकर्षित कर लिया था ॥४६॥

यस्मात् सस्रुस्तरुविततितो दीर्घधारा रसानां
घोषस्थानामपि तनुभृतां नेत्रतोऽश्रु-प्रवाहाः ।
तन्मातृणामपि विवयसां क्षीरपूराः स्तनेभ्यः
कालिन्द्याश्च प्रचलपयसां ते न्यवर्त्तन्त वेगाः॥४७

उस ध्वनि के प्रभाव से वृक्षों तथा लताओं में से रस की धारा वहाँ रहने वाले व्रजवासियों के नेत्रों से प्रेम अश्रु तथा श्री यशोदा आदि वृद्धा गोपियों के स्तनों से दूध की धारा बहने लगी। उस समय श्री यमुनाजी का प्रबल प्रवाह भी रुक गया ॥४७॥

न जाने सा वंश्युद्गिरति गरलं वामृतरसं
न जाने तन्नादोऽप्यशनिपरुषो वाम्बुमृदुलः ।
न जाने चात्युष्णो ज्वलितदहनाद्वेन्दुशिशिरो
यतो जातोन्मादा मुमुहुरखिलास्ते व्रजजनाः॥४८

उस वंशी के नाद को सुनते ही सब व्रज के लोग उन्मत्त होकर मूर्छित हो गये। इस लिये मैं यह निश्चय नहीं कर सका कि वह मुरली हलाहल विष उगलती है या अमृत। वह ध्वनि वज्र के समान कठोर है, या जल सरीखी कोमल, वह सुलगती हुई अंगार से भी अधिक गरम है, या चन्द्रमा से भी ज्यादा शीतल ॥४८॥

अथानुपश्यामि गृहाद्विनिःसृता-
स्तदीयनीराजनवस्तुपाणयः ।
प्रयान्ति काश्चिद्व्रजयोषितोऽपराः
शिरोऽर्पितालङ्करणोपभोग्यकाः ॥४९॥

तब मैंने यह देखा कि व्रज नागरियाँ अपने अपने घरों से बाहर निकल कर, कोई तो उनकी आर्ती की सामग्री को अपने हस्त कमलों में लेकर जा रही हैं कोई उनके लिये अलङ्कार माला, चन्दन, तथा और और भोग्य सामग्रियों को अपने शिरों पर रख कर ले जा रही हैं ॥४९॥

किञ्चिच्च काश्चित्त्वनपेक्षमाणाः
सम्भ्रान्तिविघ्नाकलिताः स्खलन्त्यः ।
धावन्ति तस्यां दिशि यत्र धेनु-
हाम्वारवा वेणु-निनादमिश्राः ॥५०॥

कोई-कोई गोपी और किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रख कर सम्भ्रम रूपी विघ्नों से व्याकुल होकर गिरती पड़ती हुई उस दिशा की ओर दौड़ रही हैं। जहाँ से गौओं का हम्बा-हम्बा शब्द से मिश्रित मुरली ध्वनि आ रही है ॥५०॥

काश्चिद्विपर्य्यग्धृतभूषणा ययुः
काश्चिच्च नीवीकचबन्धनाकुलाः ।
अन्या गृहान्तस्तरुभावमाश्रिताः
काश्चिच्च भूमौ न्यपतन् विमोहिताः॥५१

कोई-कोई अपने वस्त्र भूषण उलटे धारण करके जा रही हैं। कोई-कोई अपनी नीवी तथा केश पाशों को बाँधने में व्याकुल हो रही हैं। कोई-कोई अपने घर में ही रह कर वृक्षों की तरह स्तम्भ भाव को प्राप्त होगई हैं, और कोई मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी हैं ॥५१॥

मोहं गताः काश्चन नीयमाना
धृत्वाश्रुलालार्द्रमुखाः सखीभिः ।
यान्तीतराः प्रेम-भराकुलास्तं
पश्यैतमित्यालिभिरुच्यमानाः ॥५२॥

कोई-कोई सखी उस मूर्छित सखी को जोकि प्रेम से व्याकुल हो रही है जिसके नेत्रों से अश्रु तथा मुख से राल निकल रही है, अपने हाथों से पकड़ कर ले जाती हुई यह कह रही हैं "अपने प्राणेश्वर श्रीकृष्ण को देखिये" ॥५२।

तदीयनामेहितगानतत्परा
विचित्रवेशाम्बरकान्तिभूषिताः ।

यह सब व्रज सुन्दरियाँ श्रीकृष्ण के नाम तथा उनकी लीलाओं को गाती हुई श्री यमुना तट पर

रमातिसौभाग्यमदप्रहारिका
जवेन कृष्णा-तटमाश्रयन्त ताः ॥५३॥

वेग से जाकर खड़ी हुई हैं। यह चित्र विचित्र वस्त्र भूषण तथा अंगों की कान्ति से भूषित हैं इनका सौभाग्य श्री लक्ष्मी जी के सौभाग्य मद को भी चूर्ण करने वाला है ॥५३॥

ततोऽहमपि केनाप्याकृष्यमाण इवाग्रतः।
धावन्तीभिः समन्ताभिर्धावन्नभ्यसरं रयात् ॥५४॥

तब मैं भी उनके साथ दौड़ता हुआ जल्दी से वहाँ पहुँचा। मुझको उस समय ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मुझको आगे से कोई खींच रहा है ॥५४॥

अथापश्यन् दूरान्मधुरमुरलीराजितकरो
जवान्मिःसृत्यासौ सखिपशुगणाद्धावनपरः।
अये ! श्रीदामंस्त्वन्कुलकमलभास्वानयमितः
स्वरूपः प्राप्तो मे सुहृदिति वदन्नेति ललितं ॥५५

इसके पश्चात् ज्योंही उन श्रीकृष्ण ने मुझको दूर से देखा, जिनके हस्त कमल में मनोहर मुरली सुशोभित थी त्योंही वह अपनी सखा मण्डली तथा गौओं को छोड़ कर, वेग से दौड़ते हुये तथा बड़े ढंग से यह कहते हुये मेरे निकट आये "हे श्रीदामा ! देख यह स्वरूप नामक सखा जो कि यहाँ अब आया है यह तुम्हारे कुल रूपी कमल को सूर्य स्वरूप है, और मेरा अत्यन्त प्यारा है॥५५

आरण्यवेशो विचलत्कदम्ब-
मालावतंसाम्बरबार्हमौलिः।
सौरभ्यसम्वासितदिक्तटान्तो
लीलास्मितश्रीविकसन्मुखाब्जः ॥५६॥

हे ब्राह्मण ! उस समय श्रीकृष्ण की शोभा इस प्रकार थी उन्होंने वन वेष धारण कर रक्खा था उनके गले में कदम्ब के पुष्पों की माला चलने के वेग से हिल रही थी, उन्होंने सुन्दर पीताम्बर, कानों में कुण्डल तथा मस्तक पर मोर मुकुट धारण कर रखा था उनके अङ्गों की सुगन्ध से सब दिशाएँ सुगन्धित हो रही थीं और स्वाभाविक हास्य से उनके मुखारविन्द की अत्यन्त शोभा हो रही थी ॥५६॥

कृपावलोकोल्लसदीक्षणाम्बुजो
विचित्रसौन्दर्य्य-भरैकभूषणः।
गो-धूलिकालङ्कृतचञ्चलालक-
श्रेण्यावृतिव्यग्रकराम्बुजाङ्गुलिः ॥५७॥

उनके नेत्र कमल कृपा भरी दृष्टि से प्रफुल्लित हो रहे थे वह विविध प्रकार के सुन्दर अलंकार धारण किये हुए थे, वह अपनी उन चञ्चल अलकावली को जो गो रज से धूसर हो रही थी अपने हस्त कमल की अंगुली से बार-बार सम्भालने में व्यग्र थे ॥५७॥

धरातल-श्री-भरदानहेतुना
भूमिस्पृशोर्नृत्यविलासगामिनोः।
सुजातयोः श्रीपदपद्मयोर्जवा-
दुच्चालनोल्लास-भरैर्मनोहरः ॥५८॥

उनके चरणारविन्द मानों पृथ्वी की शोभा को बढ़ाने के लिये ही उसको स्पर्श कर रहे थे उनकी गति विलास इस प्रकार की थी मानों वह नृत्य कर रहे हैं। चरण कमलों को जल्दी से उठा उठा कर रखने से उनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ५८ ॥

कैशोरमाधुर्य्य-भरोल्लसच्छ्री-
गात्राभ्रकान्त्युज्ज्वलिताखिलाशः ।
तत्रत्यनित्यप्रियलोक-चित्त-
ग्राह्याद्भुतानेकमहत्त्वसिन्धुः ॥५६॥

उनकी शोभा कैशोर माधुरी से वृद्धि को प्राप्त हो रही थी, और उससे उनके अंग की मेघ सरीखी कांति देदीप्य होकर सब दिशाओं में फैल रही थी। वह अद्भुत अनेक महिमाओं के सिंधु स्वरूप हैं जिन महिमाओं को उस गोलोक में रहने वाले उन परिकरों के चित्त ही ग्रहण कर सकते हैं ॥ ५६ ॥

स्वदीनलोकप्रियतानियन्त्रितो
बलादथोत्प्लुत्य समीपमागतः ।
तदीक्षणप्रेमविमोहितं हि मां
गले गृहीत्वा सहसापतद्भुवि ॥ ६० ॥

वह श्रीकृष्ण मुझ दीन के प्रेम से आधीन होकर बलपूर्वक कूद कर मेरे निकट आये। मैं भी उनके दर्शन करके प्रेम से मूर्छित हो गया। तब वह भी मुझको आलिङ्गन करके अचेत होकर सहसा भूमि पर गिर पड़े ॥ ६० ॥

क्षणेन संज्ञामहमेत्य तस्माद्
विमोच्य यत्नादहमुत्थितः सन् ।
पश्यामि भूमौ पतितो विमुह्य
वर्त्मार्द्रयन्नस्ति रजोमयं सः ॥६१॥

क्षण काल के बाद जब मुझको संज्ञा प्राप्त हुई तब मैं यत्न से अपने आपको उनसे छुड़ा कर उठा तो मैं क्या देखता हूँ कि वह श्रीकृष्ण मूर्छित होकर भूमि पर पड़े हुए हैं. और वह अपने प्रेम अश्रुओं से रास्ते की रज को भिगो रहे हैं ॥ ६१ ॥

गोप्यः समेत्याहुरहो ! बतायं
कोऽत्रागतो वा किमिदं चकार ।
एतां दशां नोऽसुगतिं निनाय
हा हा ! हताः स्मो व्रजवासिलोकाः ॥६२॥

तब गोपियाँ वहाँ इकट्ठी होकर, यह कहने लगीं "अहो ! बड़े खेद की बात है, यह कौन है ? कहाँ से आया है ? और इसने यह क्या किया ? इसने ही हमारे प्राणनाथ की ऐसी गति की है। हा हा इससे हम सब व्रजवासी भी मर गए ॥६२॥

कंसस्य मायाविवरस्य भृत्यः
कश्चिद्भविष्यत्ययमत्र नूनं ।
एवं विलापं विविधं चरन्त्य-
स्तमुद्रुदत्यः परिवव्रुरार्त्ताः ॥ ६३ ॥

यह मायावी कंस का निश्चय कोई एक भृत्य होगा ऐसे विविध प्रकार विलापों से रुदन करती हुई उन व्रजनागरियों ने, आर्त्त होकर श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर लिया ॥ ६३ ॥

अथास्य पृष्ठतो वेगाद्गोप-सङ्घाः समागताः ।
दृष्ट्वा तादृगवस्थं तं रुरुदुः करुणस्वरैः ॥६४॥

उसके पश्चात् पीछे से भाग कर, और ग्वाल बाल भी वहाँ आ पहुँचे और उनको इस अवस्था में देख कर वह सब करुण स्वर से रोने लगे ॥६४॥

तमाक्रन्द-ध्वनिं घोरं दूराच्छ्रुत्वा व्रजस्थिताः ।
वृद्धा नन्दादयो गोपा यशोदा पुत्रवत्सला॥६५॥
जरत्योऽन्यास्तथा दास्यः सर्व्वे तत्र समागताः ।
धावन्तः प्रस्खलत्पादा मुग्धा हा हेति वादिनः॥६६

तब उस भयंकर रोदन शब्द को दूर से सुन कर व्रजमें रहने वाले श्रीनन्दरायजी आदि वृद्धवृद्ध गोप, पुत्रवत्सला श्री यशोदा उनकी अवस्था, की गोपियाँ, तथा उनकी दासियाँ, हा हा करती हुई मुग्ध होकर गिरती पड़ती दौड़ती हुई वहाँ पहुँचीं ॥ ६५ । ६६ ॥

ततो गावो वृषा वत्सा: कृष्णसारादयो मृगा: ।
आगतास्तां दशां तस्य दृष्ट्वा रोदनकातरा:॥६७॥

अश्रुधाराभिर्धौतास्या नदन्त: स्नेहतो मृदु ।
आगत्यागत्य जिघ्रन्तो लिहन्त्येतं मुहुर्मुहु:॥६८॥

फिर गौएँ सांड, बछड़े. तथा काले मृग आदि भी वहाँ आ पहुँचे । श्री कृष्ण की यह दशा देख कर वह सब कातर होकर रोने लगे । वह अपनी अश्रुधाराओं से अपने मुखों को धोकर स्नेह से धीरे धीरे रम्भाने लगे । वह बार बार श्रीकृष्ण के निकट आकर उनको सूँघते थे, तथा उनके अंगों को अपनी जिह्वाओंसे चाटते थे ॥ ६७ ६८ ॥

खगास्तस्योपरिष्टाच्च भ्रमन्तो व्योम्नि दु:खिता: ।
रुदन्त इव कुर्व्वन्ति कोलाहलमनेकश: ॥६९॥

स्थावराश्चान्तरुत्तप्ता: सद्य: शुष्का इवाभवन् ।
बहुनोक्तेन किं सर्वे मृता इव चराचरा: ॥७०॥

पक्षी भी बड़े दुखित होकर आकाश में उनके ऊपर इधर उधर घूमते हुए बड़ा कोलाहल मचा रहे थे । ऐसा प्रतीत होता था मानो यह रो रहे हैं । स्थावर वृक्ष आदि अपने अन्तर के अनुताप से एक दम सब सूखे की तरह हो गये थे । अधिक क्या कहें, उस समय वहाँ के सब स्थावर जंगम मृतक सरीखे हो गये थे ॥ ६९ । ७० ॥

अहं महाशोकसमुद्रमग्न:
स्वकृत्यमूढ: परमार्त्तिमाप्त: ।
निधाय तत्पादयुगं स्वमस्ते
रुदन् प्रवृत्तो बहुधा विलापे ॥७१॥

मैं भी बड़े शोक रूपी सागर में डूब गया, किं कर्तव्य विमूढ़ होकर बड़े दुखको प्राप्त हुआ । तब अपने मस्तक पर उनके युगल चरणारविन्दों को रख कर मैं बहुत प्रकार से विलाप करता हुआ रोने लगा ॥ ७१ ॥

विदूरवर्त्ती बलभद्रदेवो-
ऽनुजोपमाकल्पवयोऽभिराम: ।
नीलाम्बरालङ्कृतगौरकान्ति-
स्तत: समायात् सभयंसवेगं ॥७२॥

वह श्रीबलदेव जी भी जो किसी कारण से दूर रह गये थे, जिनका वेष भूषण श्रीकृष्ण के समान सुन्दर था, जिन्होंने नीलाम्बर धारण कर रखा था और जो अपने अङ्ग की गौर कान्ति से सुशोभित थे, भयभीत होकर वेग से दौड़ते हुये वहाँ आ पहुँचे ॥ ७२ ॥

विशारदेन्द्र: परितो विलोक्य
रुदन् क्षणाद्धैर्य्यमिवावलम्ब्य ।
मदीयदोर्भ्यामनुजस्य कण्ठं
संग्राहयामास निजप्रयत्नात् ॥७३॥

वह चतुर शिरोमणि दाऊ जी भी यह अवस्था देखकर रोने लगे । उन्होंने एक क्षण के बाद ही कुछ धीरज बाँधा । जब इस सब का करण ढूढ़ने के लिये चारों ओर देखा, तब उन्होंने मेरे दोनों हाथों को पकड़ कर यत्न पूर्वक उनसे श्रीकृष्ण के कण्ठ को पकड़ा दिया ॥ ७३ ॥

सम्मार्ज्जयामास मदीयपाणिना
श्रीमत्तदङ्गानि तथा तमुच्चकै: ।
आह्वापयामास विचित्रकाकुभि:
प्रोत्थापयामास मयैव भूतलात्॥७४

तब दाऊजी ने मेरे हाथों से श्रीकृष्ण के अङ्गों का मार्जन कराया । मुझसे बड़े दीन वाक्यों द्वारा उच्च स्वर से उनको बुलवाया, तथा भूमि से उनको उठवाया ॥ ७४ ॥

सद्योऽश्रुधारापरिमुद्रिते ते
श्रीनेत्रपद्मे उदमीलयत् स: ।

उन्होंने मुझसे श्री कृष्ण के उन नेत्र कमलों को खुलवाया, जोकि प्रेमाश्रुधाराओं के निकलने से

मां वीक्ष्य हर्षात् परिरभ्य चुम्बन्
लज्जामगच्छत् परितोऽवलोक्य ॥७५॥

चिरादृष्टप्राणप्रियसखमिवावाप्य स तु मां
करे धृत्वा वामस्वकरकमलेन प्रभुवरः।
विचित्रं सम्प्रश्नं विदधदखिलांस्तान् व्रजजनान्
समानन्द्य श्रीमानविशदिभगामी व्रजवरं ॥७६॥

वन्या मृगास्तस्य वियोगदीना
गन्तुं बिना तं हि कुतोऽप्यशक्ताः।
प्रातर्भविष्यत्प्रभुदर्शनाशा-
स्तस्थुर्व्रज-द्वारि निशां नयन्तः॥७७॥

उड्डीयोड्डीय पश्यन्तो विहगास्तं व्रजान्तरे।
रात्रावदृष्ट्वा क्रोशन्तो रुदन्त इव निर्ययुः ॥७८॥

गोदोहनानन्तरमाग्रहेण
नन्दस्य पुत्रप्रणयाकुलस्य।
सम्भालनं साधु गवामकृत्वा
तौ भ्रातरौ जग्मतुरात्म-गेहं ॥७९॥

स्नेहस्नुवत्स्तन्यदृगश्रुधारया
धौताम्बराङ्ग्या त्वरया यशोदया।
भूत्वा पुरोऽकारि सरोहिणीकया
प्रत्यङ्गनीराजनमेतयोर्मुहुः ॥८०॥

नीराजयन्त्यात्म-शिरोरुहैः सुतं
सालिङ्गति स्नेह-भरेण चुम्बति।

बन्द से हो रहे थे। ज्योंही श्रीकृष्ण ने मुझको देखा, त्योंही वह आनन्दित होकर मेरा आलिङ्गन चुम्बन करने लगे। परन्तु जब उन्होंने और और लोगों को चारों ओर से घेरे हुए देखा, तो वह संकुचित हो गये ॥७५॥

उस समय श्रीकृष्ण मुझ से इस प्रकार मिले, जैसे प्राण से अधिक प्यारा सखा बहुत दिन के बिछुड़ने के पश्चात् मिलता है। उन्होंने मुझको अपने बायें हस्त कमल से पकड़ कर बहुत प्रकार से कुशल प्रश्न पूछे। तब समस्त व्रजवासियों को जो वहाँ आये हुए थे, आदर पूर्वक विदा किया। फिर उन्होंने मस्त हाथी की तरह झूमते-झूमते व्रज में प्रवेश किया ॥७६॥

श्रीकृष्ण के वियोग से दीन उन वन्य मृग आदि ने जो उनके बिना और कहीं जाने में असमर्थ है, इस आशा से कि प्रातःकाल फिर प्रभु का दर्शन होगा, उस व्रजगोष्ठ के दरवाजे पर ही रह कर रात्री को बिताया ॥७७॥

उस समय पक्षी गण व्रज के भीतर उड़-उड़ कर श्रीकृष्ण का दर्शन कर रहे थे। रात्री होने से जब उनका दर्शन नहीं हुआ तब वह रोने सरीखा शब्द करते हुए वहीं बैठ गये ॥७८॥

गो दोहन के बाद उन श्री नन्दराय के आग्रह से जो कि पुत्र स्नेह से व्याकुल हो रहे थे, दोनों भैया श्रीराम कृष्ण, बिना ही गौओं को सँभाले अपने घर चले गये ॥७९॥

तब वह श्री यशोदा जी जिनके नेत्रों से प्रेमाश्रु धारा बह रही थी, तथा पुत्र स्नेह से जिनके स्तनों से दूध टपकने के कारण जिनका श्रीअंग तथा वस्त्र गीला होरहा था, श्रीरोहिणी जी को साथ लेकर जल्दी से वहाँ आकर उपस्थित हुईं और उनके अंग प्रत्यगों की बार-बार आरती करने लगीं ॥८०॥

फिर श्री यशोदा जी ने अपनी वेणी से आरती करके स्नेह से श्रीकृष्ण का आलिङ्गन चुम्बन किया। वह प्रेम में इतनी आतुर हुईं कि उन

नो वेत्ति रक्षिष्यति शीर्ष्णि किं निजे
वक्षोऽन्तरे वा जठरान्तरे वा ॥ ८१ ॥

तत्रैव नीतं प्रणयाकुलेन मां
तेन स्वयं कारितमातृवन्दनं ।
सा लालयामास मुदा स्व-पुत्रवद्-
दृष्ट्वा मयि प्रेम-भरं सुतस्य तम् ॥८२॥

तावदागत्य मिलिता युगपत्तत्र गोपिकाः ।
काश्चिद्व्याजेन केनापि काश्चित् सर्व्वानपेक्षया ॥८३

मातृभ्यां स्नापनारम्भं द्वाभ्यां भ्रात्रोर्द्वयोः कृतं ।
आलक्ष्य भगवानाह वल्लवीरतिलम्पटः ॥ ८४ ॥

मातरौ भ्रातरावावां क्षुधार्त्तौ स्वस्तदौदनं ।
निष्पाद्य भोजयेथां नौ तातमानाय्य सत्वरं ॥८५

तच्छ्रुत्वाहुः प्रियं गोप्यः श्रीयशोदे ! व्रजेश्वरि !
देवि ! रोहिणि ! कर्त्तव्यादस्माद्विरमतां युवां॥८६

शीघ्रं भोजनसामग्रीं सम्पादयतमेतयोः ।
वयमेव सुखं सम्यक् स्नापयेमाचिरादिमौ ॥८७॥

श्रीयशोदोवाच ।

प्रथमं त्वरया ज्येष्ठः स्नापयित्वा प्रहीयतां ।
नन्दस्यानयनायात्र भोजनार्थाय वालिकाः !॥८८

श्रीसरूप उवाच ।

प्रशस्य तद्वचो हृद्यं रामं ताः कतिचिद्द्रुतं ।
आप्लाव्य प्रेषयामासुस्तयोर्गेहं प्रविष्टयोः ॥८९॥

समय वह निश्चय नहीं कर सकीं, कि इनको अपने मस्तक पर बैठाऊँ अथवा अपने हृदय या पेट के भीतर रखूँ ॥ ८१ ॥

श्रीकृष्ण मेरे प्रेम से अधीर होकर मुझको भी श्रीयशोदा जी के पास ले गये । उन्होंने उनकी मुझसे बन्दना कराई । श्रीयशोदा जी यह जान कर कि मेरा पुत्र इन से प्रीति करता है आनन्द से मेरा लाड-चाव भी अपने पुत्र सरीखे करने लगीं ॥ ८२ ॥

तब एक साथ ही बहुत सी व्रज सुन्दरियाँ वहाँ आकर उपस्थित हुईं, उनमें से कोई कोई तो किसी वहाने से, कोई कोई सब प्रकार निरपेक्ष होकर आई थीं ॥ ८३ ॥

जब श्रीयशोदा जी तथा श्री रोहिणी जी ने दोनों भाइयों को स्नान कराना प्रारम्भ किया, तब व्रजसुन्दरियों में आसक्त श्रीकृष्ण यह कहने लगे ॥ ८४ ॥

"हे माताओं ! हम दोनों को बड़ी भूख लग रही है आप जल्दी से भोजन तैयार करें, फिर बाबा को बुलाकर, उनके सहित हमको भोजन करावें" ॥ ८५ ॥

इस प्रकार प्रिय बचन को सुनकर श्री व्रज नागरियाँ यह कहने लगीं, हे व्रजेश्वरी ! यशोदा जी ! हे देवीरोहिणी जी । आप इस काम को छोड़ कर जल्दी ही इनके लिये भोजन सामग्री तैयार करें । हम इनको शीघ्र ही सम्यक् प्रकार से स्नान करा देंगी" ॥ ८६ । ८७ ॥

श्री यशोदा जी करने लगी ।

हे बालिकाओं ! तुम जल्दी से बड़े भाई दाऊ को पहले स्नान कराओ, जिससे कि यह जाकर श्रीनन्दराय जी को भोजन के लिये लावें ॥ ८८ ॥

श्रीसरूप कहने लगे ।

यशोदा जी की यह बात सुनकर गोपियों ने बड़ी प्रशंसा की । इसके पश्चात् श्रीयशोदा तथा रोहिणी जी तो पाक गृह में चली गईं और उनमें से कुछ गोपियों ने दाऊजी को स्नान कराकर श्री नन्दराय के लिये भेज दिया ॥ ८९ ॥

श्रीकृष्णस्य विचित्राणि भूषणानि विभागशः ।
क्रमेणोत्तार्य्य ताः स्वीयैर्वस्त्रैर्गात्राण्यमार्जयन् ॥९०॥

उन गोपियों ने पहले तो श्रीकृष्ण के विविध प्रकार के वस्त्र भूषणों को क्रम से उतारा, फिर अपनी ओढ़नियों से उनके अङ्गों का मार्जन किया ॥ ९० ॥

वंशीं सपत्नीमिव याच्यमानां
ताभिः कराब्जाच जिघृक्ष्यमाणां ।
संकेतभङ्ग्या स तु मां प्रबोध्य
चिक्षेप दूरान्मम मुक्तहस्ते ॥९१॥

उन्होंने वंशी को अपनी सपत्नी समझ कर श्रीकृष्ण से लेने के लिये प्रार्थना की। जब श्रीकृष्ण ने उनकी प्रार्थना नहीं सुनी तब उन्होंने उनके हाथ से छीनने की चेष्टा की। श्रीकृष्ण यह बात समझ गये उन्होंने अपने नेत्र से मेरी ओर इङ्गित किया और मेरे खुले हुये हाथ पर दूर से अपनी मुरली को फेंक दिया ॥९१॥

अभ्यज्योत्तमतैलैस्ताः कर्त्तुमुद्वर्त्तनं शनैः ।
आरेभिरे स्व-हस्ताब्जकोमलस्पर्शपाटवैः ॥९२॥

तथापि सौकुमार्य्याद्वा लीलाकौतुकतोऽपि वा ।
स करोत्यार्त्तिस्वीत्कारं समं श्रीमुखभङ्गिभिः॥९३

फिर उन व्रजसुन्दरियों ने उनके अङ्गों पर सुन्दर फुलैल लगाया और शनैः शनैः अपने कोमल हस्त कमलों से चातुरी पूर्वक उनके अङ्गों का उबटन करना प्रारम्भ किया उनके अङ्ग अति सुकुमार होने के कारण से अथवा परिहास करने के लिये श्रीकृष्ण अपने मुख भंगी सहित इसप्रकार शीतकार शब्द करने लगे, मानों उनको उबटन कराने में कुछ कष्ट प्रतीत होता है ॥९२-९३॥

पुत्रैकप्राणयाकर्ण्य तं तदार्त्तिस्वरं तया ।
वहिर्भूयाशु किं वृत्तं किं वृत्तमिति पृच्छ्यते ॥९४

श्री यशोदाजी जिनके एक मात्र श्रीकृष्ण ही प्राण स्वरूप हैं आर्ति युक्त शब्द सुनकर पाकशाला से बाहर आकर यह कहने लगी "क्या बात है, क्या हुआ" ॥९४॥

सुतस्य सस्मितं वक्त्रं वीक्ष्याथो विशते गृहं ।
ताभिस्तु सस्मितत्रासं गीतैर्निष्पाद्यतेऽस्य तत् ॥९५

फिर जब उन्होंने श्रीकृष्ण का हास्य युक्त मुख देखा, तो वह फिर पाकशाला में चली गईं। और गोपियाँ हँसती हुई उस समय से कि कभी सच मुच ही उनके श्री अङ्गों में पीड़ा होती है गाती हुई शनैः शनैः उबटन करने लगीं ॥९५॥

अथ कोष्णैः सुवासैस्तं यामुनैर्निर्म्मलैर्जलैः ।
सलीलं स्नापयामासू रत्नकुम्भघटीभृतैः ॥९६॥

इसके पश्चात् उन व्रजसुन्दरियों ने कुछ थोड़ा गरम तथा सुगन्धित युक्त श्रीयमुना जल, रत्न के पात्रों में भर-भर कर हास परिहास करते हुये उनको स्नान कराया ॥९६॥

नीतैः स्वस्वगृहान्मालालेपनाम्बरभूषणैः ।
विचित्रैर्नटवेषेणाभूषयंस्तं यथारुचि ॥९७॥

फिर गोपियों ने उन विचित्र माला चन्दन, वस्त्र तथा आभूषण आदिकों से जो वह अपने-अपने घरों से लाई थीं अपनी अपनी रुचि के अनुसार उनका नटवर शृङ्गार किया ॥९७॥

भोग्यञ्च निभृतं किञ्चित् भोजयित्वोक्तवस्तुभिः।
मुहुर्नीराजनं कृत्वा दधुस्तानि स्व-मूर्द्धसु ॥९८॥

दिव्यचन्दन-काश्मीर-कस्तूरी-पङ्क-मुद्रया।
गल-भाल कपोलादौ चित्रयामासुरद्भुते ॥९९॥

स्वभावं वीक्ष्यमाणास्ता
हस्तं संस्तभ्य यत्नतः।
प्रवृत्ता नेत्रकमले
तस्योज्ज्वलयितुं मुदा ॥१००॥

वन्यक्रीड़ासुखं कृष्णो भूरिशस्तासु भाषते।
विचित्राणि च नर्म्माणि काश्चिच्च तनुते रतिं१०१

एवमन्योन्यसौहार्द्दभरप्रकटनेन हि।
वेशः समाप्तिं नायाति लोप्यमानस्तथा मुहुः१०२

भूयो भूयो यशोदा च पुत्रस्नेहातुरान्तरा।
वहिर्निर्गत्य पश्यन्ती वदत्येवं रुषेव ताः॥१०३॥

श्रीयशोदोवाच।

लोलप्रकृतयो वाल्यादहो ! गोपकुमारिकाः।
स्नानालङ्करणं नास्याधुनापि समपद्यत ॥१०४॥

श्रीसरूप उवाच।

तासां निरीक्ष्यमाणानां परितः स्व-प्रियं मुहुः।
परिहासोत्सुकं चित्तं वृद्धाभिप्रेत्य साब्रवीत्॥१०५

अरे ! पुत्रि ! यशोदेऽत्र हर्षादेत्य निरीक्ष्यतां।

तथा उन्होंने एकान्त में श्रीकृष्ण को कुछ भोजन कराया फिर बार-बार आरती करते हुए (नौन राई) को अपने-अपने शिरों पर छिड़का॥९८

फिर उन्होंने केशर कस्तूरी मिले हुए सुन्दर चन्दन से, उनके गले मस्तक तथा कपोलों को चित्रित किया ॥९९॥

जब उन्होंने श्रीकृष्ण के नेत्र कमलों को अञ्जन आदि से उज्वल करने की चेष्टा की, तब उनकी भाव युक्त दृष्टि पात से व्रज गोपियों को सात्विक विकार उत्पन्न हो गये जिस से उनके हाथ कांपने लगे, उन्होंने यत्न पूर्वक इन विकारों को रोक कर, उनकी आँखों में आनन्द से अञ्जन लगा दिया ॥१००

उन्होंने जो जो विहार वन में किये थे वह सब उस समय उनसे वर्णन किये, और विविध प्रकार से हास परिहास करते हुये उनके साथ अनेक प्रकार के विहार किये ॥१०१॥

श्रीकृष्ण तथा गोपियों ने परस्पर प्रीति प्रगट करते हुये श्रृङ्गार कार्य को समाप्त नहीं होने दिया, जब वह श्रृङ्गार करती थीं तब सुन्दर नहीं समझ कर श्रीकृष्ण उनको मिटा देते थे। इसी प्रकार बार-बार किया जाता था ॥१०२॥

श्री यशोदा जी जिनका मन अपने पुत्र के स्नेह से व्याकुल हो रहा था, बार-बार पाकशाला से बाहर आकर देखती थीं, और क्रोधित सी होकर गोपियों से यह कहती थीं ॥१०३॥

श्री यशोदाजी बोलीं।

हे गोपकुमारिकाओ ! बाल्य स्वभाव से तुम बड़ी चञ्चल हो। तुमने अभी तक मेरे पुत्र का स्नान श्रृङ्गार समाप्त नहीं किया ? ॥१०४॥

श्री सरूप बोले।

उस समय वृद्धा मुखरा ने यह देखा, कि श्री व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्ण को चारों ओर से घेर कर उनकी ओर देख रही हैं, और वह श्रीकृष्ण से हास परिहास करना चाहती हैं, यह जान कर वह यशोदा जी से इस प्रकार कहने लगीं ॥१०५॥

"अरी पुत्री यशोदा हर्ष पूर्वक यहाँ आकर देख तो सही, इन गोपियों ने तेरे काले पुत्र को

भवत्याः श्यामलं पुत्रं निन्युः सुन्दरतामिमाः ॥
॥ १०६ ॥

स्व-धात्र्या वाक्यमाकर्ण्य मुखरायाः पुनर्बहिः ।
भूत्वाभिप्रेत्य तन्नर्म्म सरोषमिव साब्रवीत् ॥१०७

श्रीयशोदोवाच ।

सहजाशेषसौन्दर्य्यनीराजितपदाम्बुजः ।
जगन्मूर्द्धनि नरीनर्त्ति मदीयश्यामसुन्दरः ॥१०८

एतत्पादनखाग्रैकसौन्दर्य्यस्यापि नार्हति ।
सौन्दर्य्यभारः सर्व्वासामासां नीराजनं ध्रुवं॥१०९

श्रीसरूप उवाच ।

तत् सौन्दर्य्यं सा च लावण्यलक्ष्मी–
स्तन्माधुर्य्यं तस्य किं वर्णितं स्यात् ।
द्रव्यैर्योग्या लौकिकैर्नोपमा स्यात्
किम्वान्येन द्वारकेन्द्रेण नापि ॥११०

कृष्णो यथा नागरशेखराग्र्यो
राधा तथा नागरिकावराग्र्या ।
राधा यथा नागरिकावराग्र्या
कृष्णस्तथा नागरशेखराग्र्यः ॥१११

स्नात्वा गतं गोपराजं वलरामेण संयुतं ।
संलक्ष्य लीनास्ताः सर्व्वा द्रुतं कृष्णोऽग्रतोऽभवत्
॥११२॥

नन्दो भोजनशालायामासीनः कनकासने ।
भोजनं कर्त्तुमारेभे तथा तौ तस्य पार्श्वयोः॥११३

यशोदा-नन्दनो वामे दक्षिणे रोहिणी-सुतः ।
तेषामहन्तु महताग्रहेणाभिमुखे पृथक् ॥११४

कैसा सुन्दर बना दिया है" अपनी धाय मुखरा के वाक्य सुनकर श्रीयशोदा जी पाकशाला से बाहर आईं और यह जानकर कि यह केवल परिहास कर रही है, क्रोधित की तरह होकर यह कहने लगीं ॥१०६-१०७॥

श्रीयशोदा जी बोलीं ।

मेरे श्यामसुन्दर की सुन्दरता समस्त जगतकी सुन्दरताओं पर नृत्य कर रही है। इसके चरण की सुन्दरता पर समस्त सुन्दरताओं को वार फेर करके फैंक दीजिये। यह निश्चय जानें इन सब व्रजगोपियों की सुन्दरता मेरे पुत्र के चरण के नख के अग्रभाग की सुन्दरता के बराबर भी नहीं हैं ॥१०८-१०९॥

श्रीसरूप बोले ।

श्रीकृष्ण की सुन्दरता, लावण्य शोभा तथा माधुरिमा का क्या वर्णन करें। संसार में ऐसी कोई योग्य वस्तु नहीं है जिसकी इनसे उपमा दी जासके। और अवतारों की तो बात ही क्या है, इनकी उपमा साक्षात् श्रीद्वारकानाथ से भी नहीं दी जा सकती है ॥११०॥

केवल इनकी उपमा श्रीराधिका से ही दी जासकती है। जैसे श्रीकृष्ण नागर शिरोमणि हैं इसी प्रकार श्रीराधिका जी समस्त नागरियों की शिरोभूषण हैं इसी प्रकार श्रीराधिका जी की उपमा भी श्री कृष्ण से ही दी जा सकती है।॥१११॥

इसके पश्चात् श्रीनन्दराय जी स्नान करके, दाऊजी के साथ वहां आए! यह जानकर सब गोपियाँ श्रीकृष्ण के आगे से हटकर और जगह छिपगईं ॥११२॥

श्री नन्दराय जी भोजनशाला में जाकर, स्वर्ण के आसन पर बैठ गये। उन्होंने अपने दोनों ओर दोनों पुत्रों अर्थात् यशोदानन्दन श्रीकृष्ण को वामभाग में और रोहिणीनन्दन श्रीदाऊ जी को दक्षिण ओर बिठलाकर भोजन करना आरम्भ किया। मैं उनके आग्रह से उनके सामने अलग बैठ गया ॥११३-११४॥

श्रीरोहिण्या परिष्कृत्य रात्नसौवर्णराजतैः ।
विविधैर्भाजनैर्दिव्यैः प्रहितं गृहमध्यतः ॥११५॥

उस समय श्री रोहिणी जी पाकशाला से रत्न जटित स्वर्ण तथा चाँदी के विविध प्रकार के पात्रों में भोजन सामग्री सजा-सजा कर भेज रहीं थीं ॥११५॥

परिवेष्यमाणं स्नेहेन मात्रा भोगपुरन्दरः ।
सर्व्वसद्गुणसम्पन्नमन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधं ॥११६

श्री यशोदाजी स्नेह पूर्वक परोसगारी कर रही थीं, भोग पुरन्दर श्रीकृष्ण सब गुण युक्त चार प्रकार के अन्नों का भोजन कर रहे थे ॥११६॥

पृथक्-पृथक् कचोलासु विचित्रासु प्रपूरितं ।
विस्तीर्णकनकस्थल्यां नीत्वा कवलयन् भृशं ११७

वह पृथक्-पृथक् उन कटोरों में से जो एक बड़ी स्वर्ण की थाली में रखे हुये थे, सुन्दरता से ग्रास उठा-उठा कर जेम रहे थे ॥११७॥

मात्रा कदाचित् पित्रा च भ्रात्रापि क्रमशो मुखे ।
समर्प्यमानं यत्नेन कवलं लीलयाददत् ॥११८॥

उनके मुख में कभी माता यशोदा कभी श्री नन्दराय जी कभी भैया दाऊजी क्रम से यत्न पूर्वक ग्रास देते थे, जिसको वह खेलते हुये की तरह खाते थे ॥११८॥

तथा पानकजातश्च कचोलाभृतमुत्तमं ।
भृङ्गारिकाभृताश्चापो मध्ये मध्ये पिवन् शिवाः ११९

पीने के योग्य सामग्रियों को कटोरों में भर-भर कर तथा झारी में भरे हुये पवित्र तथा शीतल जल को बीच-बीच में पान करते थे ॥११९॥

आदौ सुमृष्टमुत्कृष्टं कोष्णं सघृतशर्करं ।
पायसं नाड़िका-पूप-फेणिका-रोटिकायुतं॥१२०॥

उन्होंने सुन्दर बनी हुई खीर को जो कुछ गरम थी तथा जिसमें घृत तथा शर्करा पड़ी हुई थी सेमी, पूआ, फेनी, तथा रोटियों के साथ पहले भोजन करना प्रारम्भ किया ॥१२०॥

अन्यानि घृतपक्वानि रसालासहितानि च ।
दधिदुग्धविकारोत्थमिष्टान्नान्यपराण्यपि ॥१२१॥

फिर घृत से बने हुए पकवानों, शिखरन तथा और और दही दूध से बनी हुई मिठाइयों को खाया ॥१२१॥

मध्ये सूक्ष्मं सितं भक्तं कोष्णं सुरभिकोमलं ।
वटकैः पर्पटैः शाकैः सूपैश्च व्यञ्जनैः परैः ॥१२२

मधुराम्लरसप्रायैः प्रायो गोरससाधितैः ।
कटुचूर्णान्वितैरम्लद्रवैः सलवणैर्युतं ॥१२३॥

इसके पश्चात् महीन सुफेद कोमल सुगन्धि युक्त तथा कुछ गरम भात को पकौड़ी, पापड़, अनेक प्रकार के साग, दाल तथा और और उन व्यंजनों के साथ खाया जिन में अनेक प्रकार की खटरस मिठरस दही, खटाई, मिरच तथा निमक आदि मिले हुए थे ॥१२२-१२३॥

अन्ते पुनः शिखरिणीं विकारान् दधिसम्भवान् ।
हिङ्ग्वादिसंस्कृतं तक्रं बुभुजे मांश्च भोजयन् १२४

अन्त में शिखरणी, दही से बनी हुई तरल सामग्रियों तथा हींग जीरा आदि पड़े हुए तक्र को स्वयं पीकर मुझको भी पान कराया ॥१२४॥

सा चर्वणोद्यदरुणाधरचारुजिह्वा
गण्डस्थलाननसरोजविलासभङ्गी ।

भोजन करते समय उनके लाल अधर चारु जिह्वा तथा कपोलों का सुन्दर ढङ्ग से हिलना धनुष सरीखी भ्रू तथा नेत्र कमलों का नृत्य करना

भ्रूचापलोचनसरोरुहनर्त्तनश्री—

विद्योतिता न वचसा मनसापि गम्या ॥१२५

गोपिकाभिश्च मिष्टान्नमानीय स्व-स्व-गेहतः ।

क्षीराज्यशर्करापक्वं यशोदाग्रे धृतं तदा ॥१२६

विचित्रलीलया तत्तत् सश्लाघं बुभुजेऽसकृत् ।

ताः सर्व्वाः रञ्जयन् किञ्चिद्भोजयन् स्व-करेण मां ॥१२७॥

अथ श्रीराधिकानीय सा मनोहरलड्डुकं ।

कृष्णस्य वामतो दध्रे गुटिकापूरिकान्वितं ॥१२८

निष्कृष्य तन्नखाग्रेण तर्ज्जन्यङ्गुष्ठयोः कियत् ।

जिह्वाग्रे न्यस्य चक्रेऽसौ निम्बवन्मुखविक्रियां ॥ १२६ ॥

भ्रातुः स्मितं रुषं मातुस्तस्यां तातस्य विस्मयं ।

तन्वन् सखीनां मुग्धानामाधिं तस्या द्विषां मुदं ॥ १३० ॥

तद्भ्रातृवंशजातस्य मम चिक्षेप भाजने ।

तत्सर्व्वं परमस्वादुर्भुक्त्वाहं विस्मितोऽभवं ॥१३१

राधया निभृतं कृष्णः सभ्रूभङ्गं निरीक्षितः ।

मृदुस्मितानतास्यस्तां कटाक्षेणान्वरञ्जयत् ॥१३२

सद्यो बुद्धा मया लीला सा विदग्धशिरोमणेः ।

इतना सुन्दर लगता था कि उस समय उनके मुखारबिन्द की शोभा को मन तथा वाणी से भी वर्णन नहीं कर सकते हैं ॥१२५॥

फिर-श्रीगोपिकाओं ने उन मिठाइओं को जो वह श्रीकृष्ण के लिये अपने अपने घरों से लाई थीं, और जो दूध घी तथा शरकरा आदि से बनी हुई थीं, श्रीयशोदाजी के आगे रख दिया ॥१२६॥

उन सब गोपियों को आनन्द देने के लिये उन्होंने उन मिठाइयों की प्रशंसा करते हुये एक अनूठे ढङ्ग से बारबार खाया और मुझको भी अपने हस्त कमल से कुछ खवाया ॥१२७॥

इसके पश्चात् श्रीराधिकाजी ने मनोहर लड्डुओं को पूरी कचौरियों के सहित श्रीकृष्ण के वाम भाग में रख दिया ॥१२८॥

तब श्री कृष्णने उन लड्डुओं में से अपनी तर्जनी अँगुली तथा अँगूठे के नख से थोड़ासा तोड़कर अपनी जिह्वा पर रखते ही, अपने मुखको इस प्रकार के ढङ्ग से विकृत किया मानों यह पदार्थ नीम सरीखे कटु हैं ॥१२६॥

यह देखकर श्रीदाऊ जी तो मुस्कराये, श्रीयशोदाजी श्रीराधिका जी पर क्रोधित हुईं, और श्रीनन्दराय जी आश्चर्य में पड़ गये। उस समय इस रहस्य को नहीं समझने वाली श्रीराधिका जी के यूथ की सखियों को तो दुख हुआ, और उनकी विरुद्धी सखियों को आनन्द हुआ ॥१३०॥

तब श्रीकृष्ण ने यह समझकर कि मेरा जन्म श्री राधिका जी के भाई के वंश में हुआ है उन लड्डुओं को मेरी थाली में डाल दिया। मैंने जब उन लड्डुओं को खाया तब उनको बहुत स्वादिष्ट देखकर यह आश्चर्य हुआ कि श्रीकृष्ण ने ऐसा क्यों किया ॥१३१॥

तब भ्रूभङ्गी करती हुई श्रीराधिका जी ने एकान्त स्थान से श्रीकृष्ण की ओर देखा। श्रीकृष्ण ने अपना मुख कुछ नीचा करके मुस्कराते हुये कटाक्ष से उनको आनन्दित किया ॥१३२॥

यह देखकर मैं यह समझ गया कि जो उनके प्रेम से व्याकुल हो रही थीं उनको आनन्द प्रदान

निजप्रेमभरार्त्तानां परमप्रीणनात्मिका ॥१३३

अथाचम्य यथान्यायं ताम्बूलं लीलयोत्तमं ।
चर्व्वन् स राधिकां पश्यन् चर्व्वितं स्वमुखे
न्यधात् ॥१३४

माता स्नेहातुरा मन्त्रान् पठन्ती भुक्तजारकान् ।
वामपाणितलेनास्योदरं मुहुरमार्ज्जयत् ॥१३५

गोव्रजान्तर्गतो नन्दो रामः सुप्तो विचक्षणः ।
चंक्रम्यते स्म गीतानि गायन् कृष्णो व्रजाङ्गने
॥ १३६ ॥

क्षणं विहृत्य व्रजसुन्दरीरतः
स मातुराकारणगौरवादरात् ।
सुखं स्म शेते शयनालयं गत-
स्तल्पे पयःफेनमनोज्ञतूलिके ॥१३७

निरङ्कपूर्णेन्दुसमैस्तथापरै-
र्मृदूपधानैर्युतमस्ति यत्ततं ।
अनर्घ्यरत्नाचितकाञ्चनोल्लस-
ल्ललामपल्यङ्कवरे महाप्रभे ॥१३८

यः शोभते मौक्तिकमालिकावृतै-
श्चित्रैर्वितानैरुरुशोभिते धृतः ।
प्रासादसिंहेऽगुरुधूपवासिते
रम्यप्रकोष्ठे बहुरत्ननिर्म्मिते ॥१३९

राधार्पयत्यस्य मुखान्तरे सा
संस्कृत्य ताम्बूलपुटं विदग्धा ।
चन्द्रावली श्रीललितापि पाद-
पद्मे तु सम्वाहयतः सलीलं ॥१४०

काश्चिच्च वालव्यजनान्युपाददुः
काश्चिच्च ताम्बूलसमुद्गकावलिं ।

करने के लिये ही चतुर शिरोमणि श्रीकृष्ण की यह एक लीला है ॥१३३॥

इसके पश्चात् उन्होंने आचमन करके एक निराले ढङ्ग से श्रेष्ठ ताम्बूल खाया, और श्री राधिकाजी के देखते देखते उस चर्बित ताम्बूल को मेरे मुख में दे दिया ॥१३४॥

तब श्रीमाता यशोदा स्नेह से आतुर होकर भोजन पचाने वाले मन्त्रों का पाठ करती हुई, अपने बायें हाथ की हथेली से श्रीकृष्ण के उदर को बार बार मार्जन करने लगीं ॥१३५॥

तब श्रीनन्दराय जी तो गौशाला में चले गये। चतुर शिरोमणि श्रीदाऊ जी सो गये। श्रीकृष्ण गीत गाते हुये व्रज के आँगन में इधर उधर घूमने लगे ॥१३६॥

व्रज सुन्दिरियों में आसक्त श्रीकृष्ण कुछ काल तक तो इस प्रकार विहार करते रहे, फिर जब कि श्री यशोदा जी ने उनको बुलाया तब उनको सन्मान देने के लिये वह शयन घर में जाकर उस सुन्दर स्वर्ण के पलंग पर लेट गये जो कि अमूल्य रत्नों से देदीप्यमान हो रहा था और जिस पर दूधके भाग के सदृश सुन्दर सुफेद मनोहर गद्दा बिछा हुआ था और जिस पर निष्कलंक पूर्ण-चन्द्रमा के समान कोमल कोमल तकिये लगे हुये थे ॥१३७-१३८॥

उस पलंग पर चित्र-विचित्र रङ्ग का चँदेवा लगा हुआ था, जिसमें मोतियों की झालर शोभा दे रही थी। उस सुन्दर भवन को जिसमें पर्यङ्क था अगुरु तथा धूप आदि से सुवासित किया गया था। वह भवन सुन्दर सुन्दर बहुत प्रकार के रत्नों से खचित था। चतुर शिरोमणि श्रीराधिका जी ताम्बूल की बीड़ी लगा लगाकर श्रीकृष्ण के मुखार-बिन्द में देरही थीं श्रीचन्द्रावलि तथा श्रीललितादिक सखियाँ उनके चरण कमलों को सुन्दर ढङ्ग से चाँप रहीं थीं १३९-१४०॥

कोई सखी उन पर पंखा कर रही थीं, कोई पानदान लिये हुये खड़ी थीं। किसी के हाथ में

काश्चित् पतद्ग्राहचयं विभागशो
भृङ्गारिकाः काश्चन सज्जलैर्भृताः॥१४१
अन्याश्च तच्छ्रोत्रमनोहराणि
गायन्ति गीतानि सकीर्त्तनानि।
वाद्यानि काश्चिद्बहु वादयन्ति
तन्वन्ति नर्म्माण्यमुना सहान्याः॥१४२
सर्व्वाभिरेवं परिषेव्यमाण-
स्ताभिः ससौहार्द्दभरार्द्दिताभिः।
ताम्बूलिकं चर्व्वितमत्यभीष्टं
ताभ्यो ददेऽन्योन्यमलक्ष्यमाणं॥१४३॥
एवं महाधूर्त्तसदःशिरोमणिः
सर्व्वाः प्रियास्ता रमयन् स्व-चेष्टितैः।
श्रीराधिका-प्रेमकथासुनिर्वृतः
प्रस्वाप लीलामभजत् क्षणादयं॥१४४॥
कयापि संज्ञया तास्तु तेन सङ्केतिताः किल।
सर्व्वाः स्व-स्व-गृहं जग्मुर्हर्षपूरपरिप्लुताः॥१४५॥
श्रीदामागत्य गेहं स्वमहं नीतः प्रयत्नतः।
अन्यत्तस्य निशाक्रीड़ावृत्तं नार्हामि भाषितुं १४६
नीत्वा महार्त्त्या तां रात्रिं प्रातर्नन्दगृहे गतः।
अपश्यं स हि सुप्तोऽस्ति पर्य्यङ्के रतिचिह्नभाक्
॥१४७॥
सरलप्रकृतिर्माता निविष्टा तस्य पार्श्वतः।
बहुधा लालयन्ती तं किञ्चिदात्मन्यभाषत॥१४८
श्रीयशोदोवाच।
हन्त! बालो ममावित्वा गा वनेष्वखिलं दिनं।
श्रान्तो निद्रासुखं प्राप्तो न जागर्त्त्यधुनाप्ययं १४९

पीकदानी थीं। कोई पवित्र जल से पूरित जल की भारी लिये हुये खड़ी थीं॥१४१॥

कोई सखी मनोहर उन गीतों को गा रही थीं, जिनको सुन कर श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हो रहे थे। अनेक प्रकार के बाजों को बजा रही थीं। और कोई-कोई उनके साथ हास परिहास कर रही थीं॥ १४२॥

इस प्रकार से वे गोपियाँ श्रीकृष्ण प्रेम से परिपूरित होकर उनकी सेवा में लगी हुई थीं। श्रीकृष्ण उनके अभीष्ट अपने चर्वित ताम्बूल को इस ढंग से दे रहे थे, जिससे कि एक दूसरे को इस रहस्य का मालूम न हो सके॥१४३॥

महाधूर्त-सभा के मुकुटमणि श्रीकृष्ण ने उन व्रज नागरियों को अपनी चेष्टाओं से इस प्रकार आनन्दित किया। फिर श्रीराधिका जी की प्रेम-आलाप से आनन्दित होकर थोड़ी देर बाद उन्होंने शयन किया॥१४४॥

फिर श्रीकृष्ण ने उन सबको अपने इङ्गित से कुछ संकेत किया, जिससे कि वह सब आनन्दित होकर अपने-अपने घरों को चली गईं॥१४५॥

हे ब्राह्मण! इसके बाद श्रीदामा गोप मुझको बड़े यत्न से अपने घर ले गये इस लिये उस रात्रि में और जो-जो उन्होंने बिहार किये, उनके कहने में मैं योग्य नहीं हूँ॥१४६॥

मैंने वह रात बड़े दुख से बिताई। प्रातःकाल उठ कर फिर मैं श्रीनन्दराय के घर गया। वहाँ जाकर मैंने उन श्रीकृष्ण को पलंग पर सोते हुये देखा जिनके अङ्गों पर रति रस चिह्न हो रहे थे१४७

तब सरल प्रकृति वाली श्री माता यशोदाजी उनके पास आकर बैठ गईं। अपने पुत्र को लड़ाती हुई अपने आपको इस प्रकार कहने लगीं॥ १४८॥

श्री यशोदाजी बोलीं।

बड़े दुख की बात है! यह मेरा पुत्र सारे दिन वन में गैया चराता रहता है इस लिये थक जाता है। अभी ऐसी नींद आई है कि प्रातःकाल होने पर भी यह नहीं उठता है, इस का सारा दिन वन में

अरण्यकण्टकैर्दुष्टैः क्षतानीमानि सर्व्वतः ।
अक्रियन्तास्य गात्रेषु परितो धावतो मुहुः॥१५०

इधर उधर दौड़ने में ही व्यतीत होता है, इस लिये वहाँ के दुष्ट काँटे इसके अङ्गों में लग जाते हैं, इसी कारण से स्थान-स्थान पर क्षत हो रहे हैं। ॥ १४९-१५० ॥

अहो ! कष्टं न जानाति किञ्चिन्निद्रावशं गतः ।
प्रदयामास गात्रेषु स्वस्येदं नेत्रकज्जलं ॥१५१॥

अहो ! बड़े कष्ट की बात है। निद्रा के वश होकर इसको कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। इसने अपने नेत्रों के कज्जल को अपने अंगों में लगा लिया है ॥ १५१ ॥

तथात्माधरताम्बूलरागश्चैतस्ततो विदन् ।
चिच्छेद हारमालादिपरिवृत्तिं मुहुर्भजन् ॥१५२॥

यद्यपि इसी के अधर की ताम्बूल की पीक इसके अंग में लग गई हैं तो भी इसको मालूम नहीं पड़ी। बार-बार इधर-उधर करवटें लेकर इसने अपनी सब माला आदियों को भी तोड़ दिया है ॥ १५२ ॥

नूनं काश्मीरवर्णेयं यमुनातीर-मृत्तिका ।
न परित्याजिता हन्त ! स्नानेनापि वपुःसखी १५३

जो इसके अंगों में केशर के रंग का द्रव्य लगा हुआ है, यह निश्चय यमुना जी की मृतिका प्रतीत होती है। बड़े दुख की बात है यह यमुना जी की रज हर समय इसके साथ रहने वाली सखी के के समान है, जो स्नान करने से भी नहीं उतरती है ॥ १५३ ॥

बालाभिश्चपलाभिर्ज्ञः सन्ध्यायामवधानतः ।
स्नानं न कारितं सम्यङ्नाभ्यङ्गोद्वर्त्तने तथा१५४

सायंकाल जिन सखियों ने इसका स्नान कराया था, वह बालिका अत्यन्त चञ्चल हैं। उन्होंने इसके अंगों का अच्छी प्रकार मार्जन तथा उबटन भी नहीं किया है ॥१५४॥

श्रीसरूप उवाच ।

माता यशोदा मुहुरेवमाह
तासां समक्षं व्रजकन्यकानां ।
तत्रागतानां भयहासलज्जा-
विभावमुद्राविलसन्मुखीनां ॥१५५॥

श्रीसरूप बोले ।

जब श्री यशोदाजी इस प्रकार कह रही थीं, तब व्रज गोपियाँ भी वहाँ आकर उपस्थित हुईं। उनके सामने भी यही कहती रहीं, जिससे उन गोपियों को भय, हास्य तथा लज्जा आदि भाव उत्पन्न होने से उस समय उनके मुखों की एक अद्भुत शोभा हुई ॥१५५॥

ततोऽसौ स्वापलीलाया विरतः स्नापितस्तया ।
भूषणैर्भूषितः साकं बलरामेण भोजितः ॥१५६॥

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण शय्या से उठे। श्री यशोदा जी ने उनको स्नान करा कर अनेक प्रकार के वस्त्र भूषणों से अलंकृत किया। फिर दाऊजी के साथ उन्होंने भोजन किया ॥१५६॥

विश्रमय्य क्षणं तत्र गोपीनां सुखवार्त्तया ।

फिर गोपियों से सुख पूर्वक बात चीत करते हुये, उन्होंने थोड़ी देर विश्राम किया। श्रीयशोदा

वने शुभप्रयाणाय तस्य कृत्यानि साऽकरोत१५७

जी ने उनको बन भेजने के निमित्त मङ्गल कार्य किये ॥ १५७ ॥

तासामप्यन्तरार्त्तानां भाविविच्छेदचिन्तया ।
दिव्यमङ्गलगीतेन पूर्णकुम्भादिकं न्यधात् ॥१५८

उन व्रज नागरियों के हृदय में भी भावी वियोग चिन्ता से बड़ा दुख हुआ। यद्यपि वह विरह के कारण गीत गाने में असमर्थ थीं तो भी उनके मंगलाशासन के लिये मंगल गीत गाती हुई उन्होंने पूर्ण कलशों को स्थापित किया ॥१५८॥

निवेश्य साग्रजं पुत्रं पीठेऽरण्योचितानि सा ।
पर्य्यधापयदङ्गेषु भूषणान्यौषधानि च ॥१५९॥

इसके पश्चात् श्री यशोदाजी ने श्रीकृष्ण तथा दाऊजी को चौकी पर बैठा कर बन के उपयुक्त श्रृङ्गार किया। फिर अनेक प्रकार की जड़ी बूटियों को तथा सिंह के नख आदि से जटित गंडा आदि को उन अंगों में धारण कराया ॥१५९॥

प्रयोज्य वृद्धविप्राभिरन्याभिश्च शुभाशिषः ।
वलाद्यात्राविधिं तेन सर्व्वं सा समपादयत्॥१६०

फिर बूढ़ी-बूढ़ी ब्राह्मणियों तथा और-और गोपियों से उनको आशीर्वाद दिलवाया, श्री यशोदाजी ने उनको बन में भेजने के निमित्त उनसे बल पूर्वक सब यात्रा विधि कराई ॥१६०॥

भोग्यं माध्याह्निकं मात्रार्पितमादाय किञ्चन ।
उत्थाप्य गाः पुरः कुर्व्वन् प्रस्थितो वेणुमीरयन् ॥१६१॥

दोपहर के भोजन के लिये उन्होंने सामग्रियां दीं। उनको लेकर गौओं को आगे करके मुरली बजाते हुये उन्होंने बन की ओर प्रस्थान किया॥१६१

तावत् सहचराः सर्व्वे तस्याभ्यर्णे समागताः ।
निर्गत्य वर्गशो घोषात्तत्सख्योचिततां गताः१६२

तब इतने में ही सब ग्वालबाल उनके सदृश ही अपने को वेष भूषण सजाकर अपने-अपने घरोंसे निकल कर मण्डली बाँध-बाँध कर उनके निकट आकर उपस्थित हुए ॥१६२॥

कदाचित्तैः समं वंशीः श्रृङ्गाणि च कदापि सः।
कदाचित् पत्रवाद्यानि वहुधा वादयन् वभौ १६३

श्रीकृष्ण अपने सखाओं सहित कभी वंशी कभी श्रृङ्ग कभी पत्तों का बाजा बजाते हुए शोभायमान हो रहे थे ॥१६३॥

समं भ्रात्राऽव्रतस्थेऽस।वात्तक्रीड़ापरिच्छदैः ।
गायद्भिस्तैश्च नृत्यद्भिः स्तुवद्भिः स्तं प्रहर्षतः१६४

वह दाऊजी के साथ अपनी खेलने की सब वस्तुओं को लेकर अपने उन सखाओं सहित बन जाने के लिये तय्यार हुए, जिनमें से आनन्द पूर्वक कोई गा रहे थे, कोई नृत्य कर रहे थे, और कोई उनकी स्तुति कर रहे थे ॥१६३॥

अग्रे ज्यायानहं पृष्ठे ताश्चानुव्रजनच्छलात् ।
आकृष्टाःप्रेमपाशेन प्रस्थिता विरहासहाः॥१६५॥

श्रीकृष्ण के आगे तो श्रीदाऊजी चले, पीछे मैं, फिर उनके प्रेम बंधन से बंधी हुई वह व्रज नागरियाँ उनके अनुगमन के बहाने से पीछे पीछे चलीं, जो उनके विच्छेद के दुख को सहन करने में असमर्थ थीं ॥१६५॥

भावेन केनचित् खिन्नं पुत्रस्योद्वीक्ष्य सा मुखं ।
सम्मार्ज्य प्रस्नुवत्स्तन्या बहिर्द्वारान्तमन्वगात्
॥ १६६ ॥

तेनोक्तापि गृहं यान्ती ग्रीवामुद्वर्त्तयन्त्यहो !।
पदान्यतीत्य द्वित्राणि पुनर्व्यग्रा ययौ सुतं ॥१६७

उपस्कृत्यास्य ताम्बूलं मुखे हस्ते समर्प्य च ।
पुनर्निवृत्य प्राग्वत् सा तं वेगैराययौ पुनः ॥१६८

मिष्टं फलादिकं किञ्चिद्भोजयित्वा सुतं पथि ।
पाययित्वा च गेहाय यान्ती प्राग्वन्न्यवर्त्तत
॥ १६९ ॥

मुहुर्निरीक्ष्य वस्त्रादि सन्निवेश्य सुतस्य सा ।
पुनर्निवृत्याथागत्य दीना पुत्रमशिक्षयत् ॥१७०

भो वत्स ! दुर्गमेऽरण्ये न गन्तव्यं विदूरतः ।
सकण्टकवनान्तश्च प्रवेष्टव्यं कदापि न ॥१७१

तदर्थञ्चात्मशपथं माता विस्तार्य्य काकुभिः ।
पुनर्निवृत्य कतिचित् पदानि पुनराययौ ॥१७२

भोस्तातः ! राम ! स्थातव्यं भवताग्रेऽनुजस्य हि ।
त्वया च सख्युः श्रीदामन् ! ससरूपेण पृष्ठतः
॥ १७३ ॥

अंशो ! ऽस्य स्थेयं दक्षिणे वामे च सुबल ! त्वया ।
इत्यादिकमसौ प्रार्थ्य सतृणं पुत्रमैक्षत ॥१७४

व्यग्रधिया यातायातं सा कुर्व्वती मुहुः ।

श्रीयशोदाजी ने जब किसी एक भाव से अपने पुत्र का मुख कुछ कुम्हलाया हुआ देखा, तब वह जिन के स्तनों से दूध की धारा बह रही थी, उनके मुख का सम्मार्जन करती हुई पुरी के बाहर के दरवाजे तक उनके साथ गईं ॥१६६॥

श्रीकृष्ण ने जब उनको घर जाने के लिये कहा तब वह लौटीं। फिर भी वह मुड़ मुड़कर उनकी ओर देखती जाती थीं। दो चार पैंड़ चलती थीं, फिर व्यग्र होकर उनके निकट आजाती थीं उनके मुख तथा हाथ में पान बीड़ी देखकर फिर लौट जाती थीं। इसी प्रकार दोबारा जल्दी से फिर उनके निकट पहुँच जाती थीं ॥१६७ १६८॥

चलते चलते उनको कुछ मिष्ट-फल भोजन कराती थीं फिर शर्वत आदि पान कराकर अपने घर की ओर लौटती थीं। फिर उनके पास जाकर, बारबार उनके वस्त्र आदिक शृङ्गारों को ठीक करती थीं। फिर वापिस लौटकर, फिर उनके पास चली जाती थीं। कभी कभी दीन होकर अपने पुत्रको इस प्रकार शिक्षा देती थीं "हेवत्स ! दुर्गम बनमें ज्यादा दूर नहीं जाना, और उन बनों में जिनमें काँटे हैं भूलकर भी पैर नहीं देना" ॥१६९॥१७०॥१७१॥

इसी शिक्षा को ग्रहण कराने के लिये माता यशोदा ने बड़े बड़े दीन वाक्यों से अपनी सौगन्द दिलाई फिर वह वापिस लौटीं। परन्तु दो चार पैंड़ चलकर ही फिर वह उनके पास जाकर यह कहने लगी। "हे तात् बलराम ! तुम अपने छोटे भाई के आगे रहना। हे श्रीदामा ! तुम सरूप के साथ पीछे रहना। हे अंशुमान तुम दाईं ओर तथा हे सुबल ! तुम बाईं ओर रहना।" इस प्रकार वह तिनका लेकर दीनवाक्यों से प्रार्थना करती हुई उत्कण्ठा पूर्वक अपने पुत्रको देखने लगीं ॥ १७२॥१७३॥१७४॥

श्रीयशोदा जी का स्नेह उस समय नव प्रसूता गौ से भी अधिक था वह अपने पुत्र के स्नेह से

नवप्रसूतामजयत् सुरभिं वरवत्सलां ॥१७५

व्यग्र हो बार बार वहाँ जाती थी और लौटती थी ॥१७५॥

तां सपादग्रहं नत्वाश्लिष्य पुत्रः प्रयत्नतः ।
विविधच्छलतः स्वीयशपथैश्च न्यवर्त्तयत् ॥१७६

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने श्रीयशोदा जी के चरण छूकर नमस्कार पूर्वक उनको आलिङ्गन किया, और अपनी सौगंद दिलाकर बहुत प्रकार के बहानों से यत्न पूर्वक उनको वापिस लौटाया ॥ १७६ ॥

तस्थौ तत्रैव सा दूरात् पश्यन्ती तं वनान्तिके ।
चित्रितेव स्नुतस्तन्या सास्रोत्तुङ्गस्थलोपरि ॥१७७

वह बहुत देर तक वहीं खड़ी रहीं । फिर एक ऊँचे टीले पर चढ़कर उन श्रीकृष्ण की ओर जोकि अब वन के निकट पहुँच गये हैं, चित्र की तरह खड़ी होकर देखने लगीं । उस समय उनके स्तनों से दूध टपक रहा था, तथा आँखों से अश्रु बह रहे थे ॥१७७॥

श्रीगोप्यस्त्वनुगच्छन्त्यो वाष्पसंरुद्धकण्ठिकाः ।
गानाशक्ताः स्खलत्पादा अश्रुधारास्तदृष्टयः ॥ १७८ ॥

कर्त्तुं वक्तुश्च ताः किञ्चिदशक्ता लज्जया भिया ।
महाशोकार्णवे मग्नास्तत्प्रतीकरणेऽक्षमाः ॥१७९

उन व्रजनारियों का कण्ठ जो उनके पीछे-पीछे जारहीं थीं, विरह चिन्ता से गद्-गद् होकर रुक गया, जिससे वह गीत गाने में असमर्थ हो गयीं । उनके चरण इधर उधर डग-मगाने लगे अश्रु-धाराओं से दृष्टि बन्द होगई । परन्तु लज्जा तथा भय के कारण न तो वह कुछ कर सकती थीं, न कह सकती थीं । इस से वह उस समय महाशोक रूपी सागर में निमग्न हो गईं । उससे पार होने के लिये उनके पास कोई उपाय नहीं था ॥१७८॥१७९॥

व्रजाद्बहिर्दूरतरं गतानां
तदङ्गनानां हृदयेक्षणानि ।
जहार यत्नेन निवर्त्तयंस्ता
मुहुः परावृत्य निरीक्ष्यमाणाः ॥१८०

श्रीकृष्ण ने उन व्रज-सुन्दरियों के मन तथा नेत्रों को जो व्रज से बहुत दूर उनके साथ चली गई थीं बड़े यत्न पूर्वक अपने आधनी कर के वापिस घरों में भेज दिया, तो भी वह फिर फिर कर बार-बार श्रीकृष्ण की ओर देखती जाती थीं ॥ १८० ॥

व्यग्रात्मनाथ तेनेष्टदूतेन स्वयमेव च ।
ग्रीवामुद्वर्त्य सप्रेमदृष्ट्याश्वासयता मुहुः ॥१८१

तब श्रीकृष्ण ने व्यग्र होकर सान्त्वना करने के लिये अपने प्रिय दूत को उनके पास भेजा । तथा स्वयं अपनी ग्रीवा को मोड़ कर, प्रेम दृष्टि से उनको बार-बार आश्वासन दिया ॥१८१॥

भ्रूसंकेतादिना लज्जाभये जनयता बलात् ।

फिर उन्होंने अपने नेत्रों के इंगित से उन गोपियों को भय तथा लज्जा दिखलाकर बलपूर्वक रोक दिया । जिस प्रकार माता यशोदा जी स्तम्भित होकर खड़ी होगईं थीं उसी प्रकार यह भी

संस्तम्भितास्तास्तन्मातुरग्रे तद्वदवस्थिताः १८२

उसी अवस्था को प्राप्त होकर उनके आगे वहीं खड़ी होगीं ॥१८२॥

वल्लवेन्द्रश्च सुस्निग्धः स्वत एव विशेषतः ।
पत्नी-वात्सल्यदृष्ट्या च स्नेहोद्रेकेण यन्त्रितः१८३
सर्व्वव्रजजनस्नेहभरं पुत्रे विलोक्य तं ।
वृद्धैः सहानुयातोऽपि दूरं त्यक्तुं न चाशकत् १८४

श्रीनन्दरायजी जिन का चित्त स्नेह से स्वाभाविक कोमल रहता है अपनी पत्नी श्रीयशोदा जी के वात्सल्य प्रेम को देख कर, वह स्नेह अधिक उमड़ने लगा, तथा अपने पुत्र के प्रति सब व्रजवासियों का बड़ा प्रेम देख कर यद्यपि वह बूढ़े बूढ़े गोपों को साथ लेकर उनके साथ बहुत दूर तक बन में गये तो भी वह उनको छोड़ने में असमर्थ रहे ॥१८३-१८४॥

शुभानि शकुनान्युच्चैः पश्वादीनाञ्च हृष्टतां ।
संलक्ष्यान्तःप्रहृष्टोऽपि पुत्रविच्छेदकातरः ॥१८५॥
साग्रजं पृथगालिङ्ग्य युगपच्चात्मजं मुहुः ।
शिरस्याघ्राय च स्नेहभरार्त्तोऽश्रूण्यवासृजत्१८६

यद्यपि वह बहुत से शुभ शकुनों को देखते थे तथा सब पशुओं को प्रसन्न देख कर उनका मन उस समय प्रसन्न था, तो भी पुत्र के विरह से कातर होकर उन्होंने पहले तो अलग-अलग दोनों पुत्रों को आलिङ्गन किया, फिर दोनों को एक साथ बार-बार आलिङ्गन करके, उनके मस्तकों को सूंघा। फिर वह स्नेह से आतुर होकर प्रेमाश्रु बहाने लगे ॥१८५-१८६॥

अथ प्रणम्य पुत्रेण कृत्यं दर्शयता बहु ।
प्रस्थापितः परावृत्त्य तमेवालोकयन् स्थितः १८७

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने उनको प्रणाम किया, और घर के बहुत कार्यों को दिखला कर वापिस लौटाया। तो भी श्री नन्दरायजी अपने पुत्र को मुड़ मुड़ कर देखते हुये वहीं खड़े होगये ॥१८७॥

अरण्यान्तरितो दूरे गतौ पुत्रावलोकयन् ।
शब्दं कञ्चिदशृण्वंश्च निववर्त्त व्रजं प्रति ॥१८८॥

कुछ देर बाद श्रीकृष्ण तथा दाऊजी के बन में बहुत दूर चले जाने से जब उनके दर्शन बन्द हो गए तथा मुरली आदि का शब्द भी सुनाई देने से बन्द हो गया, तब वह व्रज की ओर वापिस लौटे ॥ १८८ ॥

नियुज्य जाङ्घिकान् भृत्यान् तद्वार्त्ताहरणाय सः
गोपीभिरन्वितां पत्नीं सान्त्वयित्वानयद्गृहान्
॥१८९॥
तास्तु तस्य विलासांस्तान् गायन्त्यो विविशुर्व्रजं
दिनमारेभिरे नेतुं ध्यायन्त्यस्तस्य सङ्गमं ॥१९०

फिर श्री नन्दराय ने बन से उनकी प्रसन्नता की खबर लाने के लिये जल्दी चलने वाले नौकरों को नियुक्त किया, और वह श्री यशोदाजी तथा अन्य श्री गोपिकाओं को जो रास्ते में खड़ी हुई थीं समझा बुझाकर अपने साथ घर ले आये। उन्होंने उनकी लीला माधुरी गाते हुए व्रज में प्रवेश किया, और सायंकाल मिलने की उत्कण्ठा से दिन को बिताया ॥१८९-१९०॥

तत्तद्विशेषो निर्व्वाच्योऽनन्तशक्त्यापि नापरः ।

विरह से जो व्रज नागरियों की विशेष अवस्था हुई, उसको श्री शेष भगवान् भी अपनी शक्ति

महार्त्तिजनके तस्मिन् को वा धीमान् प्रवर्त्तते१६१

स तु प्रस्थाप्य ताः स्वान्तरार्त्तोऽपि सखिभिर्बलात्

नीतोऽग्रे प्राविशत्तूर्णं श्रीमद्वृन्दावनान्तरं॥१६२

सन्दर्श्यमानः सखिभिः स तु वृन्दावनश्रियं।

स्वयञ्च वर्णयन् युक्त्या निर्गताधिरिवाभवत्१६३

ततोऽतनोद्यान् स तु गोपविभ्रमा-

नतोऽभजन् यादृशतां चराचराः।

हृदा न तद्वृत्तमुपासितं भवेत्

कथं परस्मिन् रसना निरूपयेत् ॥१६४

गोवर्द्धनाद्रिनिकटेषु स चारयन् गा

रेमे कलिन्दतनयाम्बुनि पाययंस्ताः।

सायं तथैव पुनरेत्य निजं व्रजं तं

विक्रीडति व्रजवधूभिरसौ व्रजेशः॥१६५

श्रीगोपराजस्य यदप्यसौ पुरी

नन्दीश्वराख्ये विषये विराजते।

ते तस्य कृष्णस्य मतानुवर्त्तिनः

कुञ्जादिरासं बहु मन्यते सदा ॥१६६॥

तत्रैवं वसता ब्रह्मन्नानन्दो योऽनुभूयते।

सुखं यच्च स वा तद्वा कीदृगित्युच्यतां कथं॥१६७

मुक्तानां सुखतोऽत्यन्तं महद्वैकुण्ठवासिनां।

भगवद्भक्तिमाहात्म्यादुक्तं तद्वेदिभिः सुखं॥१६८

अयोध्याद्वारवत्यादिवासिनाञ्च ततोऽपि तत्।

उक्तं रसविशेषेण केनचित् केनचिन्महत्॥१६९॥

से वर्णन करने में असमर्थ हैं, फिर बड़े दुखदायी इस विषय को वर्णन करने के लिये कौन बुद्धिमान प्रवृत हो ? ॥१६१॥

जब श्रीकृष्ण ने उन गोपियों को वापिस भेज दिया, उस समय यद्यपि उनके हृदय में बड़ा दुःख था, तो भी उनके साथ के ग्वालबाल उनको बल पूर्वक आगे ले गये, और जल्दी ही उनका श्री वृन्दाबन में प्रवेश कराया ॥१६२॥

वहाँ सखाओं में उनको श्री वृन्दाबन की शोभा दिखलाई, और उन्होंने भी उस शोभा को युक्ति द्वारा स्वयं वर्णन किया। इससे उनका विरह जन्य दुख निर्गत की तरह हो गया ॥१६३॥

इसके पश्चात् जो विहार उन्होंने ग्वालबालों के साथ किया, और इससे स्थावर जंगम की जो दशा हुई, उसको मन से भी ध्यान नहीं कर सकते हैं, फिर इस जिह्वा से उसको दूसरों के सामने किस प्रकार निरूपण करें ॥१६४॥

व्रजेश श्रीकृष्ण ने श्री गिरिराज की तरहटी में गौओं को चराकर क्रीड़ाएँ कीं फिर श्री यमुना जी में गऊओं को पानी पिला कर जल विहार किया। सायंकाल को वापिस व्रज में आकर पहले की तरह व्रज सुन्दरियों से विहार किया ॥१६५॥

यद्यपि नन्दीश्वर नामक प्रदेश में श्री नन्दराय की पुरी है, तो भी श्रीकृष्ण की इच्छा जान कर वह व्रज सुन्दरियाँ सदा कुञ्ज आदिमें रास विहार करना अभीष्ट समझती हैं ॥१६६॥

हे ब्राह्मण ! वहाँ रह कर मैंने जिस आनन्द तथा सुख का अनुभव किया था, उसकी किस वस्तु से उपमा दूं ॥ १६७ ॥

सुख की मीमांसा करने वाले यह कहते हैं:— जो मुक्त पुरुषों को सुख है, उसकी अपेक्षा भगवत् भक्ति की महिमा के कारण, वैकुण्ठ वासियों को अधिक आनन्द है ॥१६८॥

वह मीमांसक किसी-किसी रस विशेष के कारण, अयोध्या,द्वारिका आदि स्थानों में रहने वालों का सुख, वैकुण्ठ से अधिक बताते हैं ॥१६९॥

गोलोकवासिनां यत्तत् सर्व्वतोऽप्यधिकाधिकम् ।
सुखं तद्युक्त्यतिक्रान्तं दध्याद्वाचि कथं पदं २००

तस्यानुभविनो नित्यं तत्रत्या एव ते विदुः ।
तत्त्वं ये हि प्रभोस्तस्य तादृक् सौहार्दगोचराः२०१

एषामेवावतारास्ते नित्या वैकुण्ठपार्षदाः ।
प्रपञ्चान्तर्गतास्तेषां प्रतिरूपाः सुरा यथा ॥२०२

यथा च तेषां देवानामवतारा धरातले ।
क्रीड़ां चिकीर्षतो विष्णोर्भवन्ति प्रीतये मुहुः२०३

यथावताराः कृष्णस्याभिन्नास्तेनावतारिणा ।
तथैषामवतारास्ते न स्युरेतैः समं पृथक् ॥२०४॥

कदाप्यंशेन जायन्ते पूर्णत्वेन कदाचन ।
यथाकालं यथाकार्य्यं यथास्थानञ्च कृष्णवत्२०५

एवं कदाचित् केनापि समाकृष्टा रसेन ते ।
निजनाथेन सहिताः कुत्राप्यतितितीर्षवः ॥२०६॥

अवतारैर्निजैः सर्व्वैः परमेश्वरवद्यदा ।
ऐक्यं व्याजेन केनापि गताः प्रादुर्भवन्ति हि२०७

तदैषामवतारास्ते गच्छन्त्येतेषु वै लयं ।
अतोऽभवंस्त एवैते इति ते मुनयोऽवदन्॥२०८॥

कृत्स्नमेतत् परं चेत्थं तत्रत्यं विद्ध्यसंशयं ।
पूर्व्वोक्तनारदोद्दिष्टसिद्धान्ताद्यनुसारतः ॥२०९॥

माथुरोत्तम! तत्रत्यं महाश्चर्य्यमिदं शृणु ।
कथ्यमानं मया किञ्चित् श्रीकृष्णस्य प्रभावतः२१०

गो लोक वासियों के सुख की तोल नाप युक्तियों द्वारा नहीं हो सकती है, इस लिये वहाँ का आनन्द और सब लोकों से अधिक है। फिर मैं वचन द्वारा उसको किस तरह वर्णन करूँ ॥२००

उस सुख को तो वही जानते हैं जो वहाँ रह कर उस सुख को नित्य अनुभव करते हैं, तथा जो प्रभु के अनिर्वचनीय प्रेम के भाजन हैं ॥२०१॥

वैकुण्ठ के श्रीनन्द आदि नित्य पार्षद, गोलोक के श्री नन्दराय आदि नित्य परिकरों के अवतार स्वरूप हैं। जैसे कि स्वर्ग आदि में देवता गण उन वैकुण्ठ के पार्षदों के प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं॥२०२

जब भगवान् पृथ्वी मण्डल पर अवतार धारण करके विहार करने की इच्छा करते हैं, तब देव गण भी उनकी प्रीति के लिये इस भू मण्डल पर बार-बार अवतार लेते हैं ॥२०३॥

जैसे श्रीकृष्ण के अवतार उन अवतारी श्री कृष्ण से पृथक् नहीं हैं. इसी प्रकार वैकुण्ठ के पार्षद आदि गोलोक के नित्य परिकरों से पृथक् नहीं हैं ॥ २०४ ॥

वह पार्षद श्रीकृष्ण की तरह कभी तो अंश स्वरूप से कभी पूर्ण स्वरूप से, काल कार्य तथा स्थान के भेद से प्रगट होते हैं ॥२०५॥

इसी प्रकार वह नित्य परिकर कभी किसी रस से खिंच कर अपने प्रभु श्रीकृष्ण के साथ प्रगट होने की इच्छा करते हैं। जब वह परिकर किसी बहाने से अपने अंशों को लेकर प्रगट होते हैं तब इन परिकरों के अवतार भी इन परिकरों में सायुज्य होजाते हैं। इस लिये मुनि लोग यह कहते हैं, कि धरा तथा द्रोण यशोदा तथा नन्द रूपों से प्रगट हुये ॥२०६-२०७-२०८॥

हे ब्राह्मण ! जो मैंने पहले नारदजी की उक्ति के अनुसार सिद्धान्त प्रतिपादन किया था, उससे तुम यह निश्चय समझो, कि उस गो लोक की सब वस्तुएं और सब लोकों से श्रेष्ठ हैं ॥२०९॥

हे मथुरा वासी ब्राह्मण ! उस गो लोक की मैं एक बड़े आश्चर्य की बात श्रीकृष्ण के प्रभाव से कहता हूँ उसको आप सुनो ॥२१०॥

बालकास्तरुणा वृद्धा गोपास्ते कोटिकोटिशः ।
सर्व्वे विदुर्महाप्रेयानहं कृष्णस्य नेतरः ॥२११

उस गोलोक में रहने वाले बालक, तरुण, वृद्ध, करोड़ों गोप अपने अपने मनो में सब यह समझते हैं, कि मैं जैसा श्रीकृष्ण का प्यारा हूँ ऐसा कोई नहीं है ॥२११॥

तथैव व्यवहारोऽपि तेषां कृष्णे सदेक्षते ।
प्रत्येकं तेषु तस्यापि विशुद्धस्तादृगेव सः ॥२१२

मैंने उनकी सब चेष्टाएँ भी श्रीकृष्ण में इस प्रकार की देखीं, और श्रीकृष्ण का भाव भी उन सब में पृथक्-पृथक् इसी प्रकार का अनुभव किया ॥२१२॥

तथापि तृप्तिः कस्यापि नैवोदेति कदाचन ।
प्रेमतृष्णा च विविधा दैन्यमाता विवर्द्धते ॥२१३

इस प्रकार से प्रेम करते हुये भी श्रीकृष्ण विषय में उनकी कभी तृप्ति नहीं होती है। इसका कारण यह है :-प्रेमका निज स्वरूप विविध प्रकार की पिपासा बढ़ाना है, उस पिपासा से दैन्य बढ़ता रहता है ॥२१३॥

गोपीषु च सदा तासु प्रत्येकं कोटिकोटिषु ।
परा प्रीतिः कृपासक्तिरपि सा तस्य वीक्ष्यते॥२१४

यया युक्तिशतैर्व्यक्तं मादृशैरनुमन्यते ।
आभिः समो न कोऽप्यन्यात्रत्योऽप्यस्य-
प्रियोजनः ॥२१५

श्रीकृष्ण की उन करोड़ों गोपियों में पृथक्-पृथक् निरन्तर बड़ी प्रीति तथा आसक्ति है। इस लिये मुझको सैंकड़ों युक्तियों द्वारा यह निश्चय होता है, कि इस गोलोक में उन गोपियों के समान श्री कृष्णका और कोई प्रिय नहीं है ॥२१४ २१५॥

तत्रापि यां प्रति प्रेमविशेषोऽस्य यदेक्ष्यते ।
तदा प्रतीयते कृष्णस्यैषैव नितरां प्रिया ॥२१६

उन गोपियों में भी मैं जब जिस किसी गोपी के प्रति श्रीकृष्ण की प्रीति देखता हूँ। तब मुझको यह निश्चय होता है, कि यह गोपी श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्यारी है ॥२१६॥

सर्व्वास्तदुचितां तास्तु क्रीड़ासुखपरम्परां ।
सर्व्वदानुभवन्त्योऽपि मन्यन्ते प्रेम न प्रभोः॥२१७

यद्यपि वह सब गोपिका अपनी अपनी योग्यता के अनुसार विहार में मिलन सुख को निरन्तर अनुभव करती हैं। तो भी वह अपने आपको यह मानती हैं कि हम प्रभुकी प्यारी नहीं हैं ॥२१७॥

प्रत्येकं चिन्तयन्त्येवमहो ! किं भविता कियत् ।
सौभाग्यं मम येन स्यां कृष्णस्याधमदास्यपि
॥ २१८ ॥

प्रत्येक गोपी के मनमें यह विचार होता है, "कि क्या कभी मुझको भी यह सौभाग्य प्राप्त होगा" जिससे मैं श्रीकृष्ण की एक अधमदासी हूँगी ।२१८॥

अहो ! स्वामिन् ! गभीरोऽयं दुस्तर्को महतामपि ।
गाढप्रेमरसावेशस्वभावमहिमाद्भुतः ॥२१९॥

हे ब्राह्मण ! यह प्रेम का विषय बड़ा गम्भीर है। बड़े बड़े महात्मा भी इसको तर्क द्वारा नहीं समझ सकते हैं। क्योंकि इस गाढ़ प्रेमरस की यह स्वाभाविक अद्भुत महिमा है ॥२१९॥

एकदा यमुना-तीरे विहरन्नन्दनन्दनः ।
शुश्रावात्महृदे तस्मिन् कालियं पुनरागतं ॥२२०

एकबार श्रीकृष्ण यमुना तटपर विहार कर रहे थे, उन्होंने यह सुना कि वह कालीय सर्प फिर अपने ह्रद में आगया है ॥२२०॥

एकाकी तत्र गत्वाशु नीपमारुह्य वेगतः ।
कूर्दित्वा निपपातास्मिन् ह्रदे निःसारयन्नपः ॥ २२१ ॥

तब वह अकेले ही जल्दी से वहाँ गए। शीघ्रता से कदम्ब के वृक्ष पर चढ़कर उन्होंने उस ह्रद में कूदते हुए छलाङ्ग मारी। जिससे वह जल बहुत दूर तक उछला ॥२२१॥

विचित्रसन्तारवितारलीलया
जले लसंस्तद्बहुधा निनादयन् ।
खलेन भोगैरमुनैत्य वेष्टितः
स कौतुकी काञ्चिददर्शयद्दशां ॥२२२

तब उन्होंने तैरते हुए विचित्र प्रकार का जल बिहार करके उस जलको पीटते हुए शब्द किया जिसको सुनकर वह खल कालीय आया और उस ने अपनी देह से श्रीकृष्ण को लपेट लिया। इससे वह कौतुकी निश्चेष्ट सरीखे होगए ॥२२२॥

तत्सङ्गिनस्तं सहसा प्रयातं
गोपास्त्वनालोक्य मृता इवाभवन् ।
सर्व्वे तदन्वेषणकातरा ययु—
स्तत्पादचिह्नैर्ह्रदमीक्षितैरमुं ॥२२३
दृष्ट्वैव कृष्णं तमदृष्टचेष्टं
मोहङ्गतास्तेऽस्य वयस्यसङ्घाः ।
आच्छादितं यं वनवीथिभिर्ये
नालोकयन्तो न जिजीविषन्ति ॥२२४

उनके सङ्ग के ग्वालबाल जिनके पास से वह सहसा चले गये थे श्रीकृष्ण को नहीं देखकर मृतक की तरह होगये। तब वह सब बड़े कातर होकर उनको ढूँढने लगे। उनके चरणारविन्दों के चिह्नों को देखते हुए वह उस ह्रद पर आये। ज्यूँ ही उन्होंने श्रीकृष्ण को चेष्टा रहित देखा, त्यौंही वह मूर्छित होकर गिरपड़े। वह ग्वालबाल श्रीकृष्ण के विच्छेदको इतना भी सहन नहीं कर सकते थे, कि जब कभी श्रीकृष्ण बनवीथियों में वृक्ष आदि की ओट से आच्छादित हो जाते थे, तब वह उनको नहीं देखकर जीवन धारण करने की इच्छा नहीं करते थे ॥२२३॥४२४॥

गावो वृषा वत्सतरास्तथान्ये
ग्राम्याः समग्राः पशवोऽथ बन्याः ।
तीरे स्थितास्तत्र महार्त्तनादैः
क्रन्दन्ति कृष्णाननदत्तनेत्राः ॥२२५

गौ, साँड, बछड़े, गाँव तथा बनमें रहने वाले सब पशु उस ह्रद के तटपर आकर श्रीकृष्ण के मुखारबिन्द को देखते हुए बड़े दुखी होकर आर्त-स्वर से रोने लगे ॥२२५॥

आक्रन्ददीना विहगा ह्रदस्य
तस्यान्तरुड्डीय पतन्ति वेगात् ।
वृक्षादयस्तत्क्षणमेव शोषं
प्राप्ता महोत्पातचयाश्च जाताः ॥२२६

सब पक्षी व्याकुल होकर रोते हुए उड़कर उस ह्रद में वेग से गिर पड़े, सब वृक्ष आदि उसी क्षण में सूख गये, और चारों तरफ़ बड़े बड़े उत्पात होने लगे ॥२२६॥

सम्प्रेरितोऽन्तः प्रभुणैव तेन
धावन् जगाम ब्रजमेकवृद्धः ।
हाहा महारावगणैः सुघोरैः
क्रन्दन्नुदन्तं तमथाचचक्षे ॥२२७

उसी समय एक वृद्ध दौड़ता हुआ ब्रज में गया। मानों प्रभुने ही उसके अन्तःकरण में यह प्रेरणा की थी। उसने जोर जोर से रोते हुये हा हाकार करते हुये सब वृत्तान्त सुनाया ॥२२७॥

प्रागेव दृष्ट्वा महतो भयङ्करा-
नुत्पातवारान् बहुसम्भ्रमाकुलाः ।

उस वृद्ध के पहुँचने से पहिले ही वहाँ बड़े बड़े उत्पात होने से सब ब्रजवासी भयभीत होकर ब्रज

अन्वेषणार्थं ब्रजमङ्गलस्य ते
घोषस्थिताः सन्ति वहिर्विनिःसृताः ॥२२८

पुनः प्रवयसस्तस्य भग्नकण्ठस्वरस्य तु ।
तद्वाक्यं तेषु सहसा वज्रपात इवाभवत् ॥२२६

स गृहेऽवस्थितो रामो मिथ्या मिथ्येति घोषयन् ।
सान्त्वयन् ब्रजलोकांस्तान् मृतप्रायान् प्रधावतः
॥ २३० ॥

मातरं रोहिणीं यत्नात् प्रवोध्य गृहरक्षणे ।
नियुज्य पुरतो यातैर्धावित्वा तैः सहामिलत्
॥ २३१ ॥

अचिरात्तं ह्रदं प्राप्तः सोऽनुजं वीक्ष्य तादृशम् ।
नाशक्नोद्रक्षितुं धैर्य्यं रुरोद प्रेमकातरः ॥२३२

विलापं विविधं चक्रे काष्ठपाषाणभेदकम् ।
क्षणान्मूर्च्छामनुप्राप्तो यशोदानन्दवत् स तु
॥ २३३ ॥

ततस्तेषाञ्च सर्व्वेषां प्राणिनामार्त्तिपूरिताः ।
महाक्रन्दवरा घोरा वभूवुर्विश्वरोदकाः ॥२३४

तेन नादेन महता वलरामः स चेतितः ।
आत्मानं स्तम्भयामास यत्नाद्धीरशिरोमणिः
॥ २३५ ॥

क्षणेन संज्ञां पितरौ तौ
दृष्ट्वा सुतं तादृशमुद्रुदन्तौ ।
वेगात्तमेव ह्रदमाविशन्तौ
रुद्धौ वलाच्छ्रीवलिना कराभ्याम् ॥२३६

मूर्च्छितान्मृततुल्यांस्तान्
सर्व्वान् दृष्ट्वार्त्तियन्त्रितः ।

मंगल स्वरूप श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने के लिये ब्रज-से बाहर निकल गये थे ॥२२८॥

फिर जब इस वृद्ध ने गद-गद कण्ठ से समस्त वृतान्त कहा उसके वाक्य ही उन ब्रजवासियों के लिये वज्रपात की तरह होगये ॥२२६॥

तब दाऊ जी ने जो कि उस दिन घर पर ही थे, उन ब्रजवासियों को जो कि मृतक की तरह होकर वहाँ भागे जारहे थे, यह कह कह कर बड़ी सान्त्वना दी "यह सब झूठी बात है" ॥२३०॥

फिर दाऊ जी ने माता रोहिणी जी को यत्न पूर्वक बहुत समझाकर, गृह रक्षा के लिये वहीं छोड़ दिया, और वह भागकर उन ब्रज वासियों से जामिले, जो आगे दौड़ते हुए जारहे थे ॥२३१॥

फिर वह जल्दी ही उस ह्रद पर जापहुँचे। उन्होंने जब श्रीकृष्ण को उस अवस्था में देखा, तब वह धीरज नहीं रख सके और प्रेम से दुखित होकर रोने लगे ॥२३२॥

उन्होंने इस प्रकार से विविध विलाप किए जिसको सुनकर काष्ठ तथा पाषाण के भी टुकड़े हो जाते हैं। क्षण काल के लिये वह भी श्रीयशोदा तथा नन्दराय के सदृश मूर्छित होकर गिर पड़े ॥२३३॥

तब उनका तथा और सब प्राणियों का ऐसा बड़ा दुखित रोने का घोर शब्द हुआ, जिससे समस्त संसार रोने लगा ॥२३४॥

उस बड़े भारी रोने के शब्द की गूँजसे श्रीदाऊ जी सचेत हो गये, तब उन धीर शिरोमणि ने बड़े यत्न से अपने आप को धीरज बँधाया ॥२३५॥

क्षण काल के बाद श्रीनन्दराय तथा यशोदा को जब संज्ञाप्राप्त हुई, तब वह अपने पुत्रकी वह दशा देखकर, बड़े रुदन करते हुये उस ह्रद में वेग से प्रवेश करने लगे। तब श्री दाऊजी ने बल पूर्वक अपने हाथों से उनको रोक लिया ॥२३६॥

श्रीदाऊ जी ने जब उन सब ब्रजवासियों को मृतक के सदृश मूर्छित अवस्था देखी, तब वह बड़े

सगद्गदस्वरेणोच्चैः कृष्णं सम्बोध्य सोऽब्रवीत् २३७

श्रीबलदेव उवाच ।

एते न वैकुण्ठनिवासिपार्षदा
नो वानरास्ते न च यादवा अपि ।
गोलोकलोका भवदेकजीवना
नश्यन्त्यशक्या भगवन्! मयावितुं ॥२३८

प्राणैर्वियुक्ता न भवन्ति याव-
त्तावद्विनोदं करुण! त्यजैतम् ।
कृष्णान्यथा गोष्ठजनैकबन्धो!
गन्तासि शोकं मृदुलस्वभावः॥२३६॥

श्रीसरूप उवाच ।

गोप्यो विलापैर्विविधैरुदन्त्यो
मोमुह्यमानाः परमार्त्तगात्र्यः ।
पार्श्वे प्रभोर्गन्तुमिव प्रविष्टा-
स्तास्तं ह्रदं शोकविनष्टचित्ताः॥२४०॥

तावद्विहाय प्रभुरात्मकौतुकं
निर्गत्य तत्कालियभोगबन्धनात् ।
उत्तुङ्गविस्तीर्णसहस्रतत्फणे-
ष्वारुह्य हस्ताब्जयुगं व्यसारयत् ॥२४१

तेष्वेव नीत्वा युगपन्निजप्रिया-
स्ता गोपिकाः सत्वरमध्यरोहयत् ।
रत्नस्थलीपङ्क्तिसमेषु सर्व्वत-
श्चित्रातिचित्रभ्रमणाभिरामिषु ॥२४२

ताभिः समं तेषु महाद्भुतेषु
रङ्गेषु दिव्यैर्बहुगीतवादनैः ।

दुखित होकर गद् गद् कण्ठ से श्रीकृष्ण को सम्बोधन करते हुये यह कहने लगे ॥२३७॥

श्रीबलदेवजी बोले ।

हे भगवन्! यह वैकुण्ठ के पार्षद नहीं हैं, और न ही यह हनुमान आदि वानर तथा श्री उद्धव आदि यादव हैं, जो कि इतना होते हुए भी अपने प्राणों को रख सकेंगे. यह तो गोलोक वासी आपके परिकर हैं, जिनके आप ही एक मात्र जीवन के अवलम्बन हैं। अब मुझ से भी इनकी रक्षा नहीं हो सकेगी। यह जल्दी ही अपने प्राणों को त्याग देंगे ॥२३८॥

हे दयामय! जब तक इन लोगों के प्राण न निकलें तब तक आप अपने इस खेल को छोड़दें। हे कृष्ण! आप ही इस गोष्ठ के एक मात्र बन्धु हैं। आपका स्वभाव बड़ा कोमल है। इस लिये इनके प्राण निकलने के पश्चात् आपको भी बड़ा दुःख होगा ॥२३६॥

श्रीसरूप बोले ।

हे ब्राह्मण! उस समय गोपियाँ विविध प्रकार के विलापों से रुदन करती हुई आर्त होकर मूर्छित हो गईं। कुछ काल बाद सचेत होकर शोक से वह विचार शून्य हो गईं। फिर श्रीकृष्ण के निकट जाने के लिये उन सब ने उस ह्रद में प्रवेश किया ॥ २४० ॥

इतने में ही श्रीकृष्ण ने उस खेल को छोड़ दिया, और वह कालीय के बन्धन से बाहर निकल आये। तब वह उस कालीय के ऊपर को उठे हुये बड़े-बड़े हजारों फणों पर चढ़ गये। फिर उन्होंने अपने दोनों हस्त कमलों को फैला कर अपनी प्रिया गोपिकाओं को एक साथ ही वहाँ लेजा कर जल्दी से उस कालीय के उन फणों पर सवार करा दिया, जिनमें रत्नों की पंक्तियाँ सुशोभित हो रही थीं। जब व्रज नागरियाँ उन फणों पर भ्रमण करने लगीं तब उनकी बड़ी सुन्दर शोभा हुई ॥२४१-२४२॥

कौतुकी श्रीकृष्ण ने उन व्रजनागरियों के साथ फण रूपी महा अद्भुत रंगभूमि में बहुत

नृत्यन् विचित्रं स तु कौतुकान्वितो
लेभे सुखं रासविलाससम्भवम् ॥२४३

रामेण प्रापितैर्बोधं वर्त्तमानैस्तटोपरि ।
कृष्णं नन्दादिभिर्दृष्ट्वा प्राप्तौ तैर्हर्षविस्मयौ ॥२४४

दमयित्वाहिराजं स स्तुवतीनां समाच्छिनत् ।
वस्त्राणि नागपत्नीनामुत्तरीयाणि सस्मितं ॥२४५

तैरेकं प्रग्रहं दीर्घं विरचय्यास्य नासिकाम् ।
विद्ध्वा प्रवेश्य वामेन पाणिनाधात् स कौतुकी ॥२४६॥

नागमश्वमिवारूढश्चोदयामास तं हठात् ।
धृतां दक्षिणहस्तेन मुरलीं वादयन् मुदा ॥२४७

कशयेव कदाचित्तं तया सञ्चालयन् बलात् ।
निजवाहनतां निन्ये प्रसादभरमाचरन् ॥२४८

तत्पत्नीभिरुपानीतमनर्घ्यं रत्नभूषणम् ।
वस्त्रमाल्यानुलेपञ्च तत्फणेष्वेव सोऽदधात् ॥२४६

पद्मोत्पलादिभिः पुष्पैर्यामुनैस्ताभिराहृतैः ।
भूषणैस्तैश्च ता गोपीरात्मानञ्च व्यभूषयत् ॥२५०

स्तूयमानः फणीन्द्रेण तेनासंख्यमुखेन सः ।
निःससार ह्रदात् सर्व्वान् स्वीयान् हर्षेण नर्त्तयन् ॥२५१॥

सुपर्णदुष्प्रापमहाप्रसाद-
वरावलीलाभमहाप्रहृष्टात् ।

प्रकार के गीत वाद्य तथा विचित्र नृत्य आदि विहारों से रास विलास की तरह आनन्द अनुभव किया ॥ ॥२४३ ॥

श्री दाऊजी ने श्री नन्दराय आदिक को सचेत कराया जब उन्होंने श्रीकृष्ण को नृत्य करते हुये देखा, तब वह आनन्दित होकर विस्मय को प्राप्त हो गये ॥ २४४ ॥

फिर उन्होंने कालीय को दमन करके, उन नाग पत्नियों के उत्तरीय वस्त्रों को परिहास से छीन लिया, जो कि उनकी स्तुति कर रहीं थीं ॥२४५

तब उस कौतुकी श्रीकृष्ण ने उनके वस्त्रों से एक लम्बी रस्सी बना कर, उस कालीय की नासिका को बींध कर, उसमें उस रस्सी को पोकर अपने बायें हाथ से उस रस्सी के दोनों सिरों को पकड़ लिया ॥१४६॥

फिर वह उस नाग पर जैसे घोड़े पर चढ़ते हैं उस तरह चढ़ गए और उसको बल पूर्वक चलाने लगे। तब वह अपने दक्षिण हस्त में मुरली लेकर आनन्द से बजाने लगे ॥२४७॥

कभी-कभी वह उस मुरली को ही चाबुक बना कर उस कालीय को जोर से चलाते थे। ऐसा करते हुये उन्होंने उस कालीय पर अपने वाहन श्री गरुड़जी की तरह कृपा की ॥२४८॥

कालीय की पत्नियों ने श्रीकृष्ण को अमूल्य रत्न, भूषण, वस्त्र, माला तथा चन्दन आदि भेंट किये, वह सब पूजा द्रव्य श्रीकृष्ण ने कालीय के फण पर रख दिये ॥२४६॥

फिर श्रीकृष्ण ने उन पूजा द्रव्यों से, तथा अनेक प्रकार के श्री यमुनाजी के कमल तथा पुष्प आदि के भूषणों से, अपना तथा उन गोपियों का शृङ्गार किया ॥२५०॥

फिर कालीय ने अपने असंख्य मुखों से श्री कृष्ण की स्तुति की तब वह उस ह्रद के बाहर निकले। यह देख कर श्री नन्दराय आदि गोप आनन्द से नृत्य करने लगे ॥२५१॥

इसके बाद वह अद्भुत नृत्यकार श्रीकृष्ण अपनी सब गोपिकाओं को साथ लेकर उस

स कालियाह्रोपवधूसमूहैः
समं महाश्चर्य्यतरोऽवरूढः॥२५२

नीराजनालिङ्गनराजिकापरै-
र्नन्दादिभिर्हर्षदृगश्रुधारया।
आप्लावितोऽसौ कृपयानुशिष्य तं
किञ्चित् फणीन्द्रं निरसारयद्ध्रदात्॥२५३

तैर्गोपगोपीनिवहैः प्रहृष्टै-
र्विस्तार्य्यमाणेन मनोहरेण।
वादित्रगीतादिमहोत्सवेन
सन्तोषितोऽगाद्भगवान् स्वघोषं॥२५४

कदाचित्तस्य दुष्टस्य कंसस्यानुचरौ प्रियौ।
वहिश्वरासुरूपौ तौ केश्यरिष्टौ महासुरौ॥२५५

आद्यो महाहयाकारो द्वितीयस्तु वृषाकृतिः।
गोपान् भीषयमाणौ तान्मर्द्दयन्तौ च गोकुलं२५६

गगनस्पृङ्महाकायौ नादेन प्राणिनोऽखिलान्।
निपातयन्तौ भूपृष्ठे युगपद्व्रजमागतौ॥२५७

तयोर्भियाकृष्य बलेन कृष्णो
निवार्य्यमाणोऽपि निजेष्टलोकैः।
आश्वास्य तान् दर्शितवीरदर्पः
स्वपाणिनास्फोट्य भुजं पुरोऽभूत्॥२५८

प्रागागतं वेगभरेण केशिनं
पादप्रहारेण निरस्य दूरतः।
पश्चाद्वृषं प्राप्य विभिद्य नासिकां
वद्ध्वाशु गोपीश्वरसम्मुखे न्यधात्॥२५९

कालीय के फणों से नीचे उतरे, जिस पर उनकी कृपा गरुड़ से भी अधिक थी। इसी लिये उस समय वह बड़ा प्रसन्न था॥२५२॥

फिर श्रीनन्दराय आदि गोपोंने उनकीआरतीकी, बार-बार आलिङ्गन करते हुए उनको आनन्द अश्रु धाराओं से स्नान कराया। फिर श्रीकृष्ण ने उस कालीय को कृपा से कुछ उपदेश करके, ह्रद से बाहर निकाल दिया॥२५३॥

इसके बाद श्री कृष्ण ने एक बड़े भारी उस महोत्सव से व्रज में प्रवेश किया, जिसमें अनेक गोप गोपियाँ मनोहर गीत वाद्यादि से आनन्द कर रही थीं॥२५४॥

किसी समय दुष्ट कंस के वह अनुचर केशी तथा अरिष्टासुर व्रज में आये, जो कि कंस को प्राणों के समान प्रिय थे॥२५५॥

जिनमें से केशी की तो बड़ी भयंकर घोड़े की आकृति थी, और अरिष्टासुर का साँड का स्वरूप था। यह दोनों, गोपों को भय भीत और गौओं को मर्दन करते हुये वहाँ पहुँचे॥२५६॥

इन दोनों के शरीर इतने बड़े-बड़े थे, मानों आकाशको छू रहे थे। यह दोनों एक साथही ऊँचे शब्दों से चिल्लाते हुये व्रज में आये, जिनको सुन कर समस्त प्राणी भयभीत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े॥२५७॥

यद्यपि उन असुरों से भयभीत होकर श्रीकृष्ण के प्रिय जनों ने उनको उनके पास जाने से बल-पूर्वक खैंच कर रोका, तो भी वह उन सबको आश्वासन देकर वीरों के सदृश दर्प दिखलाते हुये, अपनी भुजाओं को ठोक कर उनके सन्मुख लड़ने के लिये खड़े हो गये॥२५८॥

पहले बड़े जोर-शोर से केशी दैत्य उनके सन्मुख आया। उन्हों ने अपने चरणारविन्द से उसको ऐसी ठोकर मारी, जिस से वह बहुत दूर जाकर गिर पड़ा। फिर जब कि अरिष्टासुर आया, तब उन्होंने जल्दी ही उसकी नासिका भेदन करके, उसमें नाथ डाल दी और उसको श्रीगोपेश्वर महा-देव के आगे धरोहर समझ कर बाँध दिया॥२५९॥

पुनस्तमायातममन्दविक्रमो
हयं समुत्पत्य महापराक्रमः ।
बलात् समारुह्य गतीरनेकशो
ऽनुशिक्षयन्निर्दमयन् व्यराजत ॥२६०॥

हयं तमारुह्य निजान् वयस्यान्
सुशीघ्रहस्तेन सहस्रशस्तान् ।
विचित्रतत्कूर्दनकौतुकेन
भ्रमन् भुवि व्योम्नि च सोऽभिरेमे ॥२६१॥

क्षणान्नियम्य स्ववशे विधाय
निबध्य पाशैस्तमपि व्रजान्तः ।
अश्वदारोहणकेलयेऽमुं
वृषं तथानोगणवाहनाय॥२६२॥

नन्दीश्वरपुरे तत्र वसन्तं कृष्णमेकदा ।
कंसाज्ञयागतोऽक्रूरो नेतुं मधुपुरीं व्रजात्॥२६३॥

तस्मिंस्तदानीं यद्वृत्तं तच्छ्रुत्वान्यत्रिका अपि ।
शिलाकाष्ठादयो नूनं रुदन्ति विदलन्ति च॥२६४

रात्रावाकर्ण्य तां वार्त्तां लोका गोकुलवासिनः ।
व्यलपन् बहुधा सर्व्वे रुदन्तो मुमुहुर्भृशं॥२६५॥

पुत्रप्राणा यशोदा च बिभ्यती दुष्टकंसतः ।
जुगोप कृष्णमेकान्ते निह्नुत्य शपथैर्निजैः॥२६६

प्रातःप्रबोधितो नन्दोऽक्रूरेण बहुयुक्तिभिः ।
प्रबोध्य रुदतीं पत्नीं स्वपुत्रं बहिरानयत् ॥२६७॥

इसके पश्चात् केशी दैत्य फिर आया। अबकी बार पराक्रमी श्रीकृष्ण बल पूर्वक कूद कर उस पर चढ़ गये. और उसको दमन करने के लिये, इस प्रकार भगाया, मानों उसको चाल चलने की शिक्षा दे रहे हैं। उस समय उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ २६० ॥

उस घोड़े पर चढ़ कर उन्होंने जल्दी ही अपने हज़ारों ग्वालबालों को भी हाथ पकड़-पकड़ कर उस पर चढ़ा लिया। उसको विचित्रता पूर्वक कुदा-कुदा कर कभी पृथ्वी पर, कभी आकाश में लेजा कर वह मनोहर रीति से खेल करने लगे २६१

उन्होंने क्षण काल में ही शासन करके उस घोड़े को अपने वश कर लिया, और अपने खेल सवारी के लिये उसको रस्सी से बाँध कर वहीं व्रज में रक्खा। उस साँड को भी वहीं गाड़ी ढ़ोने के काम पर लगा दिया ॥२६२॥

जब श्रीकृष्ण उस नन्दीश्वर पुरी में आनन्द पूर्वक रहते थे, तब एक बार कंस की आज्ञा से, अक्रूर उनको व्रज से मथुरा ले जाने के लिये. वहाँ आया ॥२६३॥

उस समय व्रज में जो अवस्था हुई थी उसको तो कौन वर्णन कर सकताहै। यह वृत्तान्त सुनकर दूसरी जगहों के शिला तथा काष्ठ आदि के भी रो-रो कर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं ॥२६४॥

रात्रि समय में जब गोकुल वासियों ने अक्रूर के आने की बात सुनी, तो वह सब बहुत प्रकार से विलाप करते हुए रोने लगे, और मूर्छा को प्राप्त हो गये ॥२६५॥

श्री यशोदाजी ने अपने प्राण प्यारे श्रीकृष्ण को, दुष्ट कंस से भयभीत होकर, एकान्त स्थान पर छिपा दिया, और अपनी सौगन्द दिवा कर उनको बाहर जाने से रोक दिया ॥२६६॥

अक्रूर ने प्रातःकाल श्रीकृष्ण को मथुरा लेजाने के लिये श्री नन्दराय को बहुत युक्तियों द्वारा समझाया। तब नन्द बाबा रुदन करती हुई श्रीयशोदा जी को अनेक प्रकार से आश्वासन देकर अपने पुत्र को बाहर लाए ॥२६७॥

हाहेत्यार्त्तस्वरैरुच्चैरुदतीनामलज्जितं ।
गोपीनां वीक्षमाणानां प्राणानिव समाच्छिनत्
।२६८।

व्रज सुन्दरियों ने जब यह देखा तो वह बड़े आर्त्त स्वर से हाहाकार करती हुई लज्जा त्याग कर रोने लगीं। उस समय ऐसा प्रतीत होता था। मानों उनके देखते-देखते कोई उनके प्राणों को छीन कर ले जा रहा है ॥२६८॥

तदा यशोदा वहिरेत्यदीना
निजाश्रुधाराः परिमार्ज्जयन्ती ।
धृत्वा करे न्यासमिवात्मपुत्रं
श्वफल्कपुत्रस्य करे न्यधत्त ॥२६९॥

तब श्री यशोदाजी बाहर निकलीं, और अपनी अश्रु धाराओं को पोंछ कर उन्होंने दीन होकर अपने पुत्र श्रीकृष्ण को हाथ से पकड़ कर, अक्रूर के हाथ में अपनी बहुमूल्य धरोहर की तरह सौंप दिया ॥ २६९ ॥

प्रोवाच नन्दश्च तत्रापि हस्ते
न्यस्तो मया प्राणधनाधिकोऽयं ।
कुत्राप्यविश्वस्य निधाय पार्श्वे
ऽत्रानीय देयो भवता करे मे ॥२७०॥

तब वह यशोदा जी श्रीनन्दराय जी से यह कहने लगीं, कि मैंने अपने प्राण जीवन धन को तुम्हारे हाथ में सौंप दिया है। आप किसी का विश्वास नहीं करके इनको अपने पास ही रखना, और फिर वापिस लाकर इसी प्रकार मेरे हाथ में सौंप देना ॥ २७० ॥

एवं सुतस्नेहभरातुरा सती
मोमुह्यमाना समयं विधाय सा ।
कृष्णं विनैकात्मगृहं यदा गता-
क्रन्दस्तदासीद्व्रजयोषितां महान्॥२७१

इस प्रकार पुत्र के स्नेह से व्याकुल यशोदाजी ने मोहित होकर पुत्र के गमन समय सब मंगल विधान किये। फिर जब वह श्रीकृष्ण के बिना घर को लौटीं, तब व्रज नागरियाँ उनको अकेले आती हुई देख कर बड़ा विलाप करने लगीं॥२७१॥

यस्मिन् स्मृतेऽद्यापि शिलापि रोदिति
स्रवत्यपो दारु पविश्च दीर्य्यते ।
नूनं जगन्मज्जति शोकसागरे
प्राणैर्वियुक्तं न भवेद्यदि क्षणात् ॥२७२

उस समय वहाँ की जो दशा हुई उसको तो कौन वर्णन कर सकता है, आज पर्यन्त भी जब उसकी याद आती है, तब पत्थर रोने लगते हैं, काष्ठ पानी होकर बहने लगता है, और बज्र फट जाता है। और यदि चलने फिरने वालों के प्राण तत्क्षण नहीं निकलते, तो कम से कम वह शोक सागर में तो निश्चय डूब जाते हैं ॥२७२॥

यशोदया ता वहुधानुसान्त्विताः
प्रबोध्यमानाः सरलस्वभावया ।
महार्त्तिशोकार्णवमग्नमानसाः
सकोपमूचुर्व्वत ! तां व्रजस्त्रियः॥२७३॥

यद्यपि श्री यशोदा जी ने जिनका बहुत सरल स्वभाव है उन व्रज नागरियों को जो कि बड़े शोक समुद्र में निमग्न थीं, बहुत प्रकार से समझा कर उनके धीरज बँधाने की चेष्टा की, तो भी वह व्रज गोपियाँ शान्त नहीं हुईं, बल्कि क्रोधित होकर यह कहने लगी ॥२७३॥

रे निर्दयेऽरे ! धिषणाविहीने !
वत्सं निजं व्याघ्रकरे समर्प्य ।

"हे निर्दयी यशोदा ! आप में बुद्धि नहीं है। आपने अपने पुत्र श्रीकृष्ण को दारुण सिंह के हाथ

शक्तासि दाहार्हमिदं प्रवेष्टु
रिक्तं गृहं तेन कथं त्वमेका ॥२७४

में सौंप दिया। उनके बिना इस अग्नि से धधकते हुए घर में तुम अकेली किस प्रकार प्रवेश करोगी॥ २७४॥

तामेवमन्यांश्च विगर्हयन्त्यो
ऽक्रूरं शपन्त्योऽधिकशोकवेगात्।
निर्गत्य गेहात् प्रभुमाह्वयन्त्यो-
धावन् सवेगं करुणं रुदत्यः ॥२७५॥

वह इसी प्रकार श्री यशोदा की तरह श्रीनन्द-राय आदिक गोपों को धिक्कार देती हुई, बड़े शोक के वेग से अक्रूर को शाप देने लगीं। फिर वह अपने-अपने घरों से बाहर निकल कर करुण स्वर से रोती हुई, अपने प्राण प्यारे को बुलाती हुई भागने लगीं ॥२७५॥

तैस्तैर्महाशोकदृढार्त्तिरोदनै-
रक्रूरनन्दौ बलवल्लवान्वितौ।
यानाधिरूढं प्रियमप्यरोदयन्
व्यामोहयन्त व्रजवासिनोऽखिलान् २७६

उनके बड़े भारी रोदन शब्द को सुन कर, अक्रूर, श्रीनन्दराय, बलदेव, श्रीकृष्ण जो कि रथ में बैठे हुए थे तथा और सब व्रजवासी रोने लगे फिर सब मूर्छित होकर गिर पड़े ।२७६॥

स्वास्थ्यं क्षणात् प्राप्य स गोपिकागति-
स्ता वीक्ष्य लब्धान्त्यदशा इव स्वयम्।
सञ्जीवयन् यानवरादवाप्लुत-
स्ताभिर्वृतः कुञ्जमगादलक्षितम् ॥२७७॥

क्षण काल के बाद श्रीकृष्ण जो गोपियों की एक मात्र गति हैं, स्वस्थ होकर और यह देख कर कि अब इनकी अन्तिम दशा होने वाली है, उनको जीवन दान देने के लिये रथ से नीचे कूदे। फिर उन सबको अपने साथ लेकर अलक्षित भाव से कुञ्जों में चले गये ॥२७७॥

कंसदूतस्ततः स्वस्थोऽपश्यन् कृष्णं रथोपरि।
अनुतप्य बलं वाक्यपाटवैरनुनीतवान् ॥२७८॥

कंस दूत अक्रूर ने स्वस्थ होकर जब श्रीकृष्ण को रथ पर नहीं देखा, तो वह बड़ा अनुताप करने लगा। फिर दीन होकर वाक्य चातुरी से, उसने दाऊजी को अपने वश कर लिया ॥२७८॥

दुःखञ्च कथयामास देवकीवसुदेवयोः।
यादवानाञ्च सर्व्वेषां तच्च कृष्णैकहेतुकम्॥२७९॥

उसने श्री देवकी जी, श्री वसुदेवजी, तथा और-और यादवों के सब दुखों को इस प्रकार वर्णन किया, जिन से यह प्रतीत होता था कि इन सब दुखों का कारण एक मात्र श्रीकृष्ण ही हैं॥ २७९॥

ततः श्रीरौहिणेयोऽसौ वासुदेवोऽमुना सह।
पितृव्येणानुजं मृग्यन् कुञ्जं तत्राप लक्षणैः२८०

तब वसुदेव नन्दन रोहिणी पुत्र श्री बलराम अपने चाचा अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते ढूँढ़ते उनके चिन्हों को देखते हुये, उसी कुञ्ज में पहुँचे जहाँ वह थे ॥२८०॥

गोपीभिरावृतं कृष्णमालक्ष्यारात् स्थितोऽग्रजः।
अक्रूरस्त्वब्रवीत् कृष्णं श्रावयन्निदमुद्रुदन् ॥२८१

श्रीकृष्ण को उन व्रज नागरियों से घिरे हुये देख कर श्री दाऊजी तो दूर ही रहे और वह अक्रूर रोते हुये दूर से श्रीकृष्ण को सुना-सुना कर यह कहने लगे ॥२८१॥

श्रीमदक्रूर उवाच ।

निर्भर्त्स्येते दुष्टकंसेन नित्यम्
दीनौ वृद्धौ खड्गमुद्यम्य हन्तुम् ।
इप्येते च त्रासशोकार्त्तिमग्नौ
भक्तौ युक्तौ जातु नोपेक्षितुं तौ ॥२८२

सर्व्वेऽनन्यालम्बना यादवास्ते
मद्वर्त्मान्तर्दत्तनेत्रा महार्त्ताः ।
शोकोत्तप्ता मा हताशा भवन्तु
त्रस्ताः कंसाद्देवविप्रादयश्च ॥२८३॥

स श्लाघते बाहुबलं सदात्मनो
नो मन्यते कञ्चन देवमर्द्दनः ।
आत्मानुरूपैरसुरैर्बलाबलैः
कंसस्तथा राजकुलैः सदार्चितः॥२८४

श्रीसरूप उवाच ।

एवं ब्रुवाणः सतृणानि धृत्वा
दन्तैर्महाकाकुकुलं चकार ।
एकैकशस्ताः प्रणमन् व्रजस्त्री-
रक्रूरनामा परमोग्रकर्म्मा॥२८५

श्रीमदक्रूर उवाच ।

मा घातयध्वं यदुवंशजातान्
लोकांश्च कृत्स्नान् कृपयध्वमेतान् ।
कृष्णस्य दीनौ पितरौ च देव्यः
कंसेन रुद्धौ परिरक्ष्यताम् ॥२८६

श्रीगोपिका ऊचुः ।

हे हे महाधूर्त्त ! मृषाप्रलापक
कंसानुवर्त्तिन ! पितरौ कुतोऽस्य ।

श्री अक्रूरजी बोले ।

वह दुष्ट कंस आपके वृद्ध तथा दीन माता पिताओं को नित्य धमकाता है। अपनी खड्ग उठा कर उनको मारना चाहता है। इस से वह दोनों भयभीत होकर शोक से आर्त हो रहे हैं। वह आपके भक्त हैं, इस लिये आपको उनकी रक्षा करनी चाहिये, उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है ॥ २८२ ॥

अन्य यादव भी जिनको एक मात्र आपका ही सहारा है, बड़े दुखी हैं। मेरे मार्ग को निहार रहे हैं। वह सब शोक से तप्त हैं, उनको हताश करना उचित नहीं है। यही नहीं बल्कि देवता तथा ब्राह्मण आदि भी उस कंस से बड़े भय भीत हो रहे हैं ॥२८३॥

वह कंस सदा अपने बाहुबल की प्रशंसा करता रहता है, उसने देवताओं को भी जीत लिया है। इस लिये वह अपने से अधिक और किसी को बलवान नहीं मानता है, वह अपने समान असुरों से, तथा बड़े छोटे सब राजाओं से सदा भेंट लेता रहता है ॥२८४॥

श्री सरूप बोले ।

इस प्रकार कहते हुये वह अक्रूर जिनका एक मात्र नाम ही अक्रूर है, वास्तव में उनके कर्म सब क्रूर हैं, अपने दांतों में तिनका लेकर दीनता प्रकट करते हुये, उन एक-एक व्रज नागरियों को प्रणाम करके कहने लगे ॥२८५॥

अक्रूर जी बोले ।

हे व्रज देवियो ! यदुकुल में पैदा हुये यादवों को कंस के हाथों से मत मरने दो। उन लोगों की रक्षा होने दो। श्रीकृष्ण के माता पिता को कंस ने कारागार में बन्द कर रखा है, उनको मुक्त हो जाने दो ॥ २८६ ॥

श्रीगोपिका कहने लगीं ।

हे महाधूर्त अक्रूर ! झूठी बातों को क्यों बनाते हो, ! तुम भी कंस के अनुवर्ती हो। इनके पिता माता वहाँ कहाँ हैं, यह तो नन्द यशोदा के

पुत्रस्य वै नन्दयशोदयोस्तौ
मा गोकुलं मारय मा जहि स्त्रीः॥२८७

पुत्र हैं। इनको ले जाकर इस गोकुल को मत मारो स्त्री हत्या मत करो॥२८७॥

श्रीसरूप उवाच।

दुष्टस्य कंसस्य निशम्य चेष्टितं
दुःखं निजानाञ्च तदात्महेतुकम्।
आश्वास्य गोपीर्निरगाद्रुषा शुचा
कुञ्जाद्बलस्यानुमतिं विलक्ष्य च॥२८८

श्रीसरूप बोले।

श्रीकृष्ण ने उस दुष्ट कंस की चेष्टाओं को सुन कर, और यह जान कर कि अपने हितैषी यादवों के दुख के कारण तुम ही हो, उन गोपियों को धीरज बँधाया। फिर वह कुछ क्रोधित तथा शोकातुर होकर, दाऊजी की अनुमति जान कर कुञ्ज से बाहर निकले॥२८८॥

ततः प्रमुदितोऽक्रूरो बलरामानुमोदितः।
तत्रैव रथमानेतुं धावन् वेगाद्वहिर्गतः॥२८९॥

फिर अक्रूर दाऊजी की अनुमति जान कर आनन्द पूर्वक रथ को वहाँ ले जाने के लिये वेग से दौड़ते हुये कुञ्ज से बाहर आये॥२८९॥

निर्णीय कृष्णस्य पुरे प्रयाणं
तस्याननाब्जं मुहुरीक्षमाणाः।
भीता वियोगानलतो रुदत्यो
गोप्यः पदाब्जे पतितास्तमाहुः॥२९०॥

जब उन व्रज सुन्दरियों ने यह देखा, कि श्री कृष्ण मथुरा जाने के लिये निश्चय कर चुके हैं तो वह उनके मुखारविन्द को बार-बार देखती हुई विरह रूपी अग्नि से भयभीत होकर, रोती हुई उनके चरणारविन्दों में गिर कर इस प्रकार कहने लगीं॥२९०॥

श्रीगोप्य ऊचुः।

न शक्नुमो नाथ! कदापि जीवितुं
विना भवन्तं लवमप्यनाश्रयाः।
न मुञ्चदासीस्तदिमा निजाः प्रभो!
न यस्य तत्रैव यतो गमिष्यसि॥२९१॥

श्रीगोपिका बोली।

हे नाथ! आपके बिना निराश्रय होकर हम अपने प्राणों को लव मात्र भी धारण नहीं कर सकती हैं। इस लिये हे प्रभो! आप अपनी दासियों का त्याग न करें। आप हमको भी वहीं ले चलें, जहाँ आप जा रहे हैं॥२९१॥

बनं गृहं नो भवदालयो बनं
द्विषत्सुहृद्बन्धुगणाश्च वैरिणः।
विषञ्च पीयूषमुतामृतं विषं
यदर्थमस्मास्त्वदृते म्रियामहे॥२९२॥

हमारे लिये आपके बिना घर तो बन है, और आपके साथ बन ही घर है। आपके रहित सुहृद वैरी हैं, और आपके सहित वैरी भी बन्धुओं के समान हैं। आपके बिना अमृत विष है, और आपके सहित विष अमृत के सदृश है। इस लिये आपके बिना हम मर जाएँगी॥२९२॥

कथं तवेदं स्मितसुन्दराननं
मनोहरं पादसरोरुहद्वयम्।
उरःस्थलं चाखिलशोभयार्चितं
कुतोऽप्यनालोक्य चिरं म्रियेमहि॥२९३

जब हम आपके हास्य युक्त मुख कमल को, आपके मनोहर युगल चरणारविन्दों को, तथा समस्त शोभाओं के आलय स्वरूप आपके वक्ष-स्थल को कहीं भी नहीं देखेंगी, तब चिरकाल तक हम अपने प्राणों को किस तरह धारण कर सकेंगी॥२९३॥

वृन्दावनं गोपविलासलोभात्
त्वयि प्रयाते सह मित्रवृन्दैः ।
सायं समायास्यसि खल्ववश्य-
मित्याशयाहर्गमयेम कृच्छ्रात् ॥२६४॥

जब कि आप आपने ग्वालबालों को साथ लेकर विहार करने के लोभ से वृन्दाबन में जाते हैं, तब इस आशा से कि सायंकाल को आप अवश्य वापिस आजायेंगे, बड़े कष्ट से हम उस दिन को बिताती हैं ॥२६४॥

दूरं गते तत्पुरमाज्ञया पुनः
कंसस्य दुष्टस्य तदिष्टसंगतः ।
जीवेम नानाविधशङ्कयाकुलाः
कथं प्रवासार्त्तिविचिन्तनेन च ॥२६५॥

एक तो आप दूर प्रदेश में जा रहे हैं, फिर दुष्ट कंस की आज्ञा से उनके सुहृत के साथ उनकी पुरी में जा रहे हैं, इस लिये अनेक प्रकार की शंकाओं से दुखित होकर तथा प्रवास के दुख की चिन्ता से हम अपने प्राणों को किस प्रकार धारण कर सकेंगी ?२६५॥

न ज्ञायते सानुचरस्य तस्य
कंसस्य घातेन कियान् श्रमः स्यात् ।
कालश्च तत्रत्यजनार्त्तिहत्या
स्याद्वा न वा तत्र वत स्मृतिर्नः ॥२६६

हम नहीं जानती कि आपको उस कंस के अनुचरों समेत मारने में कितना परिश्रम होगा, और वहाँ के प्रिय जनों के दुखों को दूर करने के लिये आपको कितना काल लगेगा, यह भी हमको मालूम नहीं है कि वहाँ जाने से आपको हमारी याद रहेगी या नहीं ॥२६६॥

श्रीसरूप उवाच ।

इत्येवमादिकं काकुकुलं ता विदधुस्तथा ।
येन तत्रत्यमखिलं रुरोद च मुमोह च ॥२६७॥

श्रीसरूप बोले ।

इस प्रकार उन व्रजनागरियों ने दीनता युक्त वाक्य कहे. जिनको सुन कर वहाँ के रहने वाले सब जीव रोते हुये मूर्छित होगये ॥२६७॥

कथश्चिद्भगवान् धैर्य्यमालम्ब्याश्रूणि मार्ज्जयन् ।
स्वस्य तासाञ्च नेत्रेभ्योऽब्रवीदेतत् सगद्गदं २६८

फिर श्रीकृष्ण कुछ धीरज बाँध कर, अपने तथा उन गोपियों के नेत्रों से आँसू पोंछ कर, गद् गद् कंठ से यह कहने लगे ॥२६८॥

श्रीभगवानुवाच ।

सतां ममापि द्विषतोऽल्पशक्ते-
र्विधाय कंसस्य शमं सहेलं ।
मामागतप्रायमिदं प्रतीत-
सख्यो ! रुदित्वा कुरुताशिवं मा ॥२६६॥

श्रीभगवान् बोले ।

हे गोपियो ! वह कंस अल्प शक्ति होते हुये भी, साधुओं तथा मुझ से द्वेष करता है, इस लिये मैं बिना किसी परिश्रम के उसका सहज में ही विनाश कर दूंगा। यह कार्य करके मैं बहुत जल्दी ही वापिस तुम्हारे पास आऊँगा, मुझको आया ही समझो। हे सखियो ! इस गमन के समय में रुदन करके अमंगल मत करो ॥२६६॥

श्रीसरूप उवाच ।

अथ तत्रैव नन्दाद्या गोपाः सर्व्वे गता जवात् ।
रोहिणी श्रीयशोदा च परेऽपि पशवस्तथा॥३००

श्रीसरूप बोले ।

इसके पश्चात् श्रीनन्दराय आदिक सब गोप, श्री रोहिणीजी श्रीयशोदा जी तथा और सब पशु आदिक जल्दी से वहाँ जा पहुँचे ॥३००॥

अक्रूरेण द्रुतानीतमारुरोह रथं हरिः ।
साग्रजो गोपिकालग्नां दृष्टिं यत्नान्निवर्त्तयन्॥३०१

अक्रूर जल्दी से वहाँ रथ ले आये, उस वक्त श्री कृष्ण गोपिकाओं की ओर से यत्नपूर्वक अपनीदृष्टि हटाकर श्रीदाऊजी को साथ लेकर उसपर चढ़े ३०१

यशोदा रुदतीर्दृष्ट्वा पतिता धूलिपङ्किलाः ।
मुह्यतीर्विह्वला गोपीःप्रारुदत् करुणस्वरं ॥३०२॥

तब श्री व्रजनागरियाँ उनके विरह से व्याकुल होकर रोने लगीं, और मूर्छित होकर भूमि पर गिरपड़ीं। उस भूमी को आपने अश्रुओं से कीचड़ की तरह बना दिया। श्री यशोदाजी ने जब उन गोपियों को कीचड़ में सने हुये इस अवस्था में देखा, तब वह बड़ी करुण स्वर से चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगीं ॥३०२॥

यत्नात्तां सान्त्वयन्नाह नन्दोऽन्तर्दुःखितोऽपि सन्
प्रस्तुतार्थसमाधाननैपुण्यं दर्शयन्निव ॥३०३॥

तब श्री नन्दरायजी जिनके हृदय में यद्यपि अत्यन्त दुख था, तो भी जो कार्य प्रारम्भ हुआ है उसको समाप्त करने के लिये, वह बड़े यत्न से श्री यशोदाजी को धीरज बंधाते हुये यह कहने लगे ॥ ३०३ ॥

श्रीनन्द उवाच ।

मा विद्धि हर्षेण पुरीं प्रयामि तां
कृष्णं कदाप्यन्यसुतञ्च वेद्म्यहं ।
हित्वेममायानि कथञ्चन व्रजं
तस्यां विधास्ये च विलम्बमुन्मनाः ॥३०४॥

श्री नन्दरायजी बोले ।

"हे यशोदे! तुम यह मत समझो कि मैं आनन्द से मथुरापुरी जा रहा हूँ। मैं इनको कभी भी दूसरे का पुत्र नहीं समझता हूँ, इनको छोड़ कर मैं कभी भी व्रज में नहीं आऊँगा। और यह भी नहीं समझना, कि मैं विचार शून्य होकर उस पुरी में बिलम्ब करूँगा ॥२०४॥

जाने न किन्ते तनयं विना क्षणं
जीवेम नेमे व्रजवासिनो वयं ।
तद्विद्धि मामशु सपुत्रमागतं
श्रीदेवकीशूरसुतौ विमोच्य तौ ॥३०५॥

क्या मैं यह नहीं समझता हूँ कि तुम्हारे पुत्र के बिना न तो क्षण काल मैं जी सकता हूँ, और नहीं यह सब व्रजवासी। इस लिये तुम यह निश्चय जानो, श्री देवकी जी तथा श्री वसुदेवजी के बन्धनों को छुड़ा कर मैं अपने पुत्र सहित जल्दी ही यहाँ आऊँगा ॥३०५॥

श्रीसरूप उवाच ।

इत्थं सशपथं तेन यशोदाश्वासिता मुहुः ।
चित्ते शान्तिमिवाधाय गोपीराश्वासयद्बहु॥३०६

श्री सरूप बोले।

इस प्रकार सैकड़ों सौगन्दें बार-बार दिला कर जब श्री नन्दराय जी ने श्री यशोदाजी को धीरज बँधाया, तब उनके चित्त में कुछ शान्ति अनुभव हुई। तब वह यशोदा जी व्रजगोपियों को बहुत प्रकार से समझाने लगीं ॥३०६॥

यत्नात् सन्तर्प्य बहुधा ताः समुत्थापितास्तया ।

उन्होंने बड़े यत्न से उन गोपियों के मस्तकों पर जल छिड़क कर उनको उठाया। सब गोप

अनांस्यारुरुहुर्गोपाः सोऽक्रूरोऽचालयद्रथं ॥३०७

प्रयान्तं कृष्णमालोक्य किञ्चित्तद्विरहासहाः ।
हाहेत्याक्रोशशुष्कास्याः प्रस्खलत्पादविक्रमाः ॥३०८॥

भग्नकण्ठस्वरैर्दीर्घैर्महार्त्या काकुरोदनैः ।
पूरयन्त्यो दिशः सर्व्वा अन्वधावन् व्रजस्त्रियः ॥३०९॥

काश्चिद्रथं दधुः काश्चिच्चक्राधो न्यपतन् जवात् ।
काश्चिन्मोहं गताः काश्चिन्नाशक्नन् गन्तुमग्रतः ३१०

ततो गावो वृषा वत्सा मृगाश्चान्येऽपि जन्तवः ।
आक्रोशन्तोऽश्रुधौतास्यास्तस्थुरावृत्य तं रथं ३११

खगाश्च वभ्रमुस्तस्योपरि कोलाहलाकुलाः ।
सपद्युद्भिज्जजातीनामशुष्यन् पत्रसञ्चयाः ॥३१२॥

स्खलन्ति स्म महाद्रीणां सवनस्पतिकाः शिलाः ।
नद्यश्चशुष्कजलजाः क्षीणाः सस्रुः प्रतिस्रवं ॥३१३

तेषां दशां तां परमप्रियाणां
वीक्ष्यार्त्तिशोकाकुलमानसोऽसौ ।
उद्रोदनं रोद्धुमभूदशक्तो
व्यग्रोऽश्रुधारापरिमार्ज्जनैश्च ॥३१४॥

रथादवप्लुत्य पुनः प्रयाणं
प्रभोरथाशङ्क्य स वृष्णिवृद्धः ।
दधार पृष्ठे प्रणयादिवामुं
कदापि मोहेन पतेत् किलेति ॥३१५॥

चलने के लिये गाड़ियों पर सवार होगये। फिर अक्रूर ने रथ हाँक दिया ॥३०७॥

उन व्रजगोपियों ने जो उनके विरह को तनक भी सहन नहीं कर सकती थीं, जब श्रीकृष्ण को चलते देखा तो वह हाहाकार शब्द करती हुई चिल्लाने लगीं। उस समय उनके मुख कमल सूख गये, और उनकी सामर्थ्य एक पेंड़ चलने की भी नहीं रही ॥३०८॥

वह व्रजगोपियाँ आर्त होकर गद् गद् कण्ठ से उच्च स्वर से इस प्रकार रुदन करने लगीं, जिससे सब दिशा पूरित होगईं। फिर वह रथ के पीछे-पीछे भागने लगीं ॥३०९॥

उनमें से किसी-किसी ने तो रथ को पकड़ लिया. और कोई-कोई जल्दी से रथ के पहियों के नीचे गिर पड़ीं कोई मूर्छित होकर गिर पड़ीं. और कोई-कोई जहाँ की तहाँ खड़ी रह गईं आगे नहीं जा सकीं ॥३१०॥

इसके पश्चात् गौएँ, सांड़, बछड़े, मृग तथा और जीव जन्तु चिल्लाते हुये तथा अश्रु धाराओं से अपने मुखों को धोते हुये, उस रथ को चारों ओर से घेर कर वहाँ खड़े होगये ॥३११॥

पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड व्याकुल होकर कोलाहल करते हुये रथ के ऊपर उड़ने लगे. और वृक्ष आदिकों के सब पत्ते एक दम सूख गये॥३१२॥

श्री गोवर्धन की शिलाएँ वृक्षों सहित टूट टूट कर गिरने लगीं। और नदियों के सब कमल आदिक सूख गये। वह स्वयं क्षीण होकर उलटी बहने लगीं ॥३१३॥

श्रीकृष्ण ने जब अपने परम प्रियों की यह दशा देखी. तो वह भी अत्यन्त शोक से व्याकुल होगये, और अपने रुदन को नहीं रोक सके। इस लिये अपनी अश्रु धाराओं को पोंछने में व्यग्र होगये॥३१४

तब वृष्णि वृद्ध अक्रूर ने यह समझ कर कि कभी श्रीकृष्ण रथ से नीचे न उतर जायें, उनको कमर से पकड़ लिया। ऊपर से यह जनाते हुये कि उन्होंने श्रीकृष्ण को इसलिये पकड़ रखा है कि यह कभी मूर्छित होकर गिर न पड़ें ॥३१५॥

कृष्णं मुग्धमिवालक्ष्य कशाघातैः प्रचोदिताः ।
रामनन्दादिसम्मत्या रथाश्वास्तेन वेगतः ॥३१६

इतस्ततो निपतिता गोपनारीः पशूंश्च सः ।
वर्ज्जयन् वक्रगत्याशु रथं तं निरसारयत् ॥३१७

क्रोशन्तीनाञ्च गोपीनां कुररीणामिवोल्वणं ।
पश्यन्तीनां प्रभुं जह्रेऽक्रूरः श्येन इवामिषं ॥
॥ ३१८ ॥

तथा सञ्चोदितास्तेन हयास्ते वेगवत्तराः ।
क्वासौ गतो न केनापि शक्तो लक्षयितुं यथा ॥
॥ ३१९ ॥

स्वं स्वं शकटमारुह्य महावृषभयोजितं ।
सवेगमनुजग्मुस्तं गोपा नन्दादयोऽखिलाः॥६२०

नीत्वा ब्रह्महदेऽक्रूरःस्तुत्वा बहुविधस्तवैः ।
प्रबोध्य न्यायसन्तानैः कृष्णं स्वास्थ्यमिवानयत्
॥ ३२१ ॥

तेषां ब्रजजनानान्तु या दशाजनि दुःश्रवा ।
दलन्ति कथया तस्या हा हा वज्रादयोऽप्यलं
॥ ३२२ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

एवं वदन्नये !मातः ! सरूपः करुणस्वरैः ।
रुदन्नुच्चैः स कातर्य्यं मुमोह प्रेमविह्वलः ॥३२३

तेन माथुरवर्य्येण व्यग्रेण रुदता क्षणात् ।
प्रयासैर्विविधैः स्वास्थ्यं नीतोऽसौ पुनरब्रवीत्॥
॥ ३२४ ॥

श्रीसरूप उवाच ।

कृष्णो मधुपुरीं गत्वा तत्रत्यान् परितोष्य तान् ।

जब कि अक्रूर ने श्रीकृष्ण को मूर्छित की तरह देखा, तब उन्होंने श्रीदाऊजी तथा श्री नन्दरायजी की सम्मति से रथके घोड़ों को चाबुक लगाकर वेग से भगादिया ॥३१६॥

इधर उधर व्रजगोपिका तथा गौएँ आदि पड़ी हुई थीं, इसलिये अक्रूर ने उन सबको बचाबचाकर रथको घुमाघुमाकर चलाया ॥३१७॥

तब वह गोपियाँ चकवी पक्षीकी तरह जोर-जोर से विलाप करती हुई उन प्रभु की ओर देखने लगीं, जिनको अक्रूर ने उनके देखते देखते इस प्रकार हर लिया था, जैसे बाज पक्षी आमिष को लेजाता है ॥३१८॥

फिर अक्रूर ने उन घोड़ों को इतनी तेजी से भगाया, कि कोई भी यह नहीं जान सका कि वह कहाँ गए ॥३१९॥

श्रीनन्दराय आदि सब गोप अपने अपने उन गाड़ों में बैठकर जिन में बड़े बड़े बैल जुते हुए थे, बड़े वेग से उस रथ के पीछे पीछे चल दिये ॥३२०॥

अक्रूर उस रथ को ब्रह्म ह्रद अर्थात् अक्रूर घाट पर लेगये। वहाँ बहुत प्रकार की स्तुति करके, श्रीकृष्ण को अनेक प्रकार की नीतियाँ समझाकर स्वस्थ की तरह किया ॥३२१॥

उस समय जो व्रजवासियों की दशा हुई थी वह सुनने लायक नहीं है। हा ! हा ! उसके कहने से वज्र के भी टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं ॥३२२॥

श्रीपरीक्षित जी बोले ।

हे माता ! इस प्रकार कहते हुये वह सरूप कातर हो कर उच्चस्वर से रोने लगे और प्रेम से विह्वल होकर मूर्छित होगये ॥३२३॥

जब उस माथुर ब्राह्मण ने व्यग्रता से रोते हुये एक क्षण काल बाद बड़े यत्न से उन सरूप को स्वस्थ किया। तब वह फिर इस प्रकार कहने लगे ॥३२४॥

श्रीसरूप बोले ।

श्रीकृष्ण ने मथुरा जाकर वहाँ के रहने वालों को सन्तुष्ट किया। फिर कंस को उसके अनुचरों

कंसं सानुचरं हत्वा पितरौ तौ व्यमोचयत्॥३२५
उग्रसेनश्च कंसस्य तातं राज्येऽभ्यषेचयत् ।
आनिन्ये यादवान् दिग्भ्यः पौरांश्चाश्वासयज्जनान्
॥ ३२६ ॥
यदूनां परमार्त्तानां तदेकगतिजीविनाम् ।
कंसेष्टनृपभीतानामाग्रहाद्भक्तवत्सलः ॥३२७॥
तत्रावात्सीत् सुखं कर्त्तुं साग्रजो गोकुले च तान् ।
नन्दादीन् प्रेषयामास तत्रत्याश्वासनाय सः॥३२८

श्रीभगवानुवाच ।

पितरादौ भवान् यातु गोपेवर्गैः सह द्रुतम् ।
यावन्न म्रियते कोऽपि तत्रत्योऽस्मान् विना जनः
॥ ३२९ ॥
अहश्च तत्र मित्राणामेषामुद्विग्नचेतसाम् ।
अचिरात् सुखमाधाय तमेषोऽस्म्यागजन् व्रजम्
॥ ३३० ॥

श्रीनन्द उवाच ।

त्वमन्यदीयोऽसि विहाय मादृशान्
कुतोऽपि वस्तुञ्च परत्र शक्नुयाः ।
इति प्रतीतिर्न भवेत् कदापि मे
ततः प्रतिज्ञाय तथा मयागतम् ॥३३१
तद्रक्ष रक्षात्मसमीपतोऽस्मान्
मा मुञ्च मा मुञ्च निजात् कथञ्चन ।
आत्मेच्छया तत्र यदा प्रयास्यसि
त्वत्सङ्गतो याम तदैव हा ! वयं ॥३३२
मदाशया ते व्रजवासिनो जना
भवज्जनन्या सह सन्ति सासवः ।

सहित मार कर अपने माता पिताओं को बन्धन से मुक्त किया ॥३२५॥

फिर उन्होंने कंस के पिता उग्रसेन का राज-तिलक करके मथुरावासियों को धीरज बँधाया। फिर उन यादवों को वापिस बुलाया, जो कंस के भय से चारों दिशाओं में भाग गये थे ॥३२६॥

तब उस भक्त वत्सल श्रीकृष्ण ने उन बड़े दुखित यादवों के आग्रह से जिनकी एकमात्र गति तथा जीवन वही हैं और जो कंस के मित्र अन्य और राजाओं से भयभीत हो रहे थे, उनको आनन्द प्रदान करने के लिये, वह तो दाऊजी के साथ वहीं मथुरापुरी में ठहर गये, और उन श्रीनन्दराय आदि गोपों को, उन व्रजवासियों के धीरज बँधाने के लिये, जो कि व्रजमें रह गये थे, गोकुल भेज दिया ॥३२७॥३२८॥

श्रीभगवान बोले।

हे पिताजी ! जब तक मेरे विरह से किसी व्रजबासी के प्राण न निकलें, तब तक आप इन सब गोपों को लेकर जल्दी ही व्रज में पधारें॥३२९॥

आपके मित्र वसुदेव आदिक का जिनका इस समय उद्विग्न चित्त हो रहा है, जल्दी सुख समाधान करके आप मुझको भी आया ही समझें ॥३३०॥

श्रीनन्दराय जी बोले।

मुझको यह प्रतीति पहिले कभी भी नहीं हुई थी, कि तुम मुझ जैसों को छोड़कर दूसरों के होकर किसी अन्य स्थान में भी वास करने में समर्थ हो, इस लिये मैंने यह प्रतिज्ञा की थी, कि तुमको छोड़कर मैं अकेला नहीं आऊँगा ॥३३१॥

इस लिये हे वत्स ! तुम हम सबको अपने पास ही रक्खो। अपनों को कभी भी अलग मतकरो। जिस समय तुम्हारी चलने की इच्छा होगी उसी समय हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे ॥३३२॥

वह व्रजवासी तुम्हारी माता के साथ मेरी आशा से जीवन धारण कर रहे हैं। हे वत्स ! वह लोग जब मुझ कठोर को तुम्हारे बिना देखेंगे,

गते विना त्वां मयि दारुणान्तरे

ध्रुवं विनङ्क्ष्यन्ति सपद्यमी पितः॥३३३

श्रीदामोवाच।

गोचारणेन लसति त्वयि गोष्ठभूम्या-

माच्छादिते तरुलतादिभिरेव यस्मिन्।

जीवेम ये न वयमीश! तमन्तरा ते

स्थातुं चिरं कथममुत्र भवेम शक्ताः॥३३४

श्रीसरूप उवाच।

एवं विक्लवितं तेषां श्रुत्वा तूष्णीं स्थिते प्रभौ।

व्रजं जिगमिषां तस्याशङ्क्य शूरसुतोऽब्रवीत्३३५

श्रीवसुदेव उवाच।

भ्रातर्नन्द! भवत्सूनोः साग्रजस्यास्य निर्वृतिः।

भवेत्तत्रैव वसतः सर्व्वथान्यत्र तु व्यथा॥३३६

किन्तूपनयनस्यायं कालस्तद्ब्रह्मचारिणौ।

भूत्वा स्थानान्तरे गत्वाधीत्येमौ व्रजमेष्यतः ३३७

श्रीसरूप उवाच।

सम्मतिं वसुदेवस्य वाक्ये स्वस्य त्वसम्मतिम्।

कृष्णस्य नन्दः संलक्ष्य प्रतस्थे रोदनाकुलः ३३८

स यादवकुलैर्देवो गोपराजमनुव्रजन्।

रुदद्भिः क्रमशो गोपैर्धृतः कण्ठे रुदत्तरां॥३३९

व्याकुलं कृष्णमालक्ष्य यियासुं संन्यवर्त्तयन्।

वसुदेवादयो धीरा यादवा युक्तिपङ्क्तिभिः।३४०

उसी समय वह निश्चय अपने प्राणों को त्याग कर देंगे॥ ३३३॥

श्रीदामा गोप बोले।

हे सर्व समर्थ! जब आप गोचारण के बहाने से बन में जाकर बिहार करते हुए वृक्ष, लता आदि की ओट में हो जाते थे, तब हमको जीवन धारण करना भी कठिन होजाता था। अब आप ही बतायें! आपको छोड़ कर उस व्रज भूमि में चिरकाल तक हम कैसे रह सकेंगे॥३३४॥

श्रीसरूप कहने लगे।

इस प्रकार उनकी विकलता को सुनकर श्री कृष्ण कुछ देर तक मौन हो गये। फिर श्रीवसुदेव जी यह समझ कर, कि इनकी "इच्छा व्रज में फिर जाने की है कहने लगे॥३३५॥

श्रीवसुदेवजी बोले।

हे भाई नन्दराय! आपके पुत्र को तथा इनके बड़े भाई बलराम को व्रज में रहने से ही सर्वथा आनन्द है। और जगह रहने से इनको सब प्रकार क्लेश ही है॥३३६॥

परन्तु इस समय इन दोनों का उपनयन (जनेऊ) का समय है, इस लिये यह ब्रह्मचारी होकर दूसरे स्थान पर जाकर विद्या अध्यन करेंगे फिर व्रज में चले जाएँगे॥३३७॥

श्रीसरूप बोले।

जब श्री नन्दराय ने यह देखा श्रीकृष्ण की श्री वसुदेवजी के वाक्य में सम्मति है, और मेरे वाक्य में नहीं है, तो वह रोते हुए वहाँ से चल पड़े॥ ३३८॥

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण भी अन्य यादवों के साथ श्रीनन्दराय के पीछे-पीछे चलने लगे। जब रोते हुए व्रजवासियों ने श्रीकृष्ण को आलिंगन किया तब वह बड़े जोर-जोर से रोने लगे॥३३९॥

जब श्री वसुदेव आदि यादवों ने श्रीकृष्ण को बड़ा व्याकुल देखा, और यह समझ कर कि इन की व्रज में फिर जाने की इच्छा है तो वह बुद्धिमान उनको बड़ी युक्तियों से वापिस लौटा लाए॥ ३४०॥

कृष्णेच्छयैव ते सर्व्वे नन्दाद्याः प्रापिता व्रजम् ।
श्रुत्वायान्तश्च नन्दं ते मुदाभीयुर्व्रजस्थिताः । ३४१

नन्दस्तु शोकलज्जाभ्यां मुखमाच्छाद्य वाससा ।
रुदन् गेहं गतोऽशेत भूमौ परमदुःखितः ॥३४२ ॥

ते चाविलोक्य प्रभुमार्त्तिकातराः
कर्त्तव्यमूढा वहुशङ्कयातुराः ।
शुष्काननाः प्रष्टुमनीश्वराः प्रभो-
र्वार्त्तामश्रृण्वन् वत ! वृद्धगोपतः ॥३४३

हाहेति हाहेति महार्त्तिनादै-
रुच्चैरुदत्यः सह कृष्णमात्रा ।
प्रापुर्दशां यां पुनरङ्गनास्ता
हा हन्त ! हा हन्त ! कथं ब्रुवेतां ॥३४४

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

एवं मनस्यागततत्प्रवृत्ति-
प्रादुष्कृतात्यन्तशुगग्निदग्धः ।
मुग्धोऽभवद्गोपकुमारवर्य्यो
मातः! सरूपो नितरां पुनः सः ॥३४५॥

तेनैव विप्रप्रवरेण यत्नतो
नीतो मनाक् स्वास्थ्यमिव स्वयुक्तिभिः ।
आशङ्क्य मोहं पुनरात्मनोऽधिकं
वार्त्तां विशेषेण न तामवर्णयत् ॥३४६॥

तत्कथाशेषशुश्रूषाव्यग्रं तं वीक्ष्य माथुरं ।
यत्नात् सोऽन्तरवष्टभ्य पुनराह महाशयः । ३४७॥

श्रीसरूप उवाच ।

तेषान्तु शोकार्त्तिभरं कदापि तं
परैः प्रकारैरनिवर्त्यमाप्ततः ।

जब श्री नन्दराय आदि गोप श्रीकृष्ण की इच्छा जान कर व्रज में पहुँचे, तब यह समाचार सुन कर सब व्रजवासी बड़े प्रसन्न होते हुए श्री नन्दराय के पास आए ॥३४१॥

श्रीनन्दराय शोक तथा लज्जा से अपने मुख को ढाँक कर रोते हुए पहुँचे, और बड़े दुखित होकर भूमी पर ही लेट गए ॥३४२॥

उन व्रजवासियों ने जब श्रीकृष्ण को नहीं देखा तो वह बड़े दुःखित हुए उनको यह भी ज्ञान नहीं रहा अब क्या करना चाहिये । वह बहुत प्रकार की शंकाऐं करने लगे, उनके मुख सूख गये । उन में प्रश्न करने के लिये भी सामर्थ्य नहीं रही । तब उन्होंने किसी वृद्ध गोप के मुख से श्रीकृष्ण ने जो जो वहाँ चरित किये थे तथा जिस कारण से वह नहीं आ सके यह सब बातें सुनीं ॥३४३॥

तब सब व्रज गोपिका श्रीकृष्ण की माता यशोदा जी के साथ बड़े जोर जोर से हाहाकार करती हुई आर्त स्वर से रुदन करने लगीं । उस समय जो उनकी दशा हुई उसको वर्णन नहीं कर सकते हैं ॥३४४॥

श्री परीक्षितजी बोले ।

हे माता ! इस प्रकार वर्णन करके सरूप नामक श्रेष्ठ गोपकुमार के हृदय में जब उस लीला की स्फूर्ति हुई, तब वह विरह अग्नि से दग्ध होकर मूर्छित हो गये ॥३४५॥

तब उस माथुर ब्राह्मण ने बड़े यत्न से तथा अपनी युक्तियों द्वारा उनको कुछ सचेत कराया। तब सरूप ने यह समझ कर कि कभी मुझको फिर अधिक मूर्छा न हो जाए शेष वृतान्त को विशेष रूप से वर्णन नहीं किया ॥३४६॥

परन्तु जब उदार चित्त सरूप ने यह देखा. कि वह माथुर ब्राह्मण शेष कथा सुनने में बड़ा व्यग्र है, तो वह अपने आप को यत्न से धीरज बँधा कर, यह कहने लगे ॥३४७॥

श्रीसरूप बोले ।

जब श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव आदि को व्रज में भेज कर मथुरा वासियों को यह जनाया, कि

जनात् स विख्याप्य जनेषु सर्व्वतो
व्रजं प्रियप्रेमवशो चिरादुगतः ३४८॥

व्रजवासियों का अत्यन्त दुख मेरे व्रज में गए बिना और किसी प्रकार से शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकता है, तब वह अपने व्रजवासियों के प्रेम से आधीन होकर शीघ्र ही स्वयं वहाँ पधारे ॥३४८॥

बिदग्धमूर्द्धन्यमणिः कृपाकुलो
व्रजस्थितानां स ददत् सपद्यसून् ।
तथा समं तैर्विजहार ते यथा
विसस्मरुर्दुःखमदः समूलकं ॥३४९॥

जब चतुर शिरोमणि श्रीकृष्ण ने कृपा से व्याकुल होकर उन व्रजवासियों को अपने आगमन से प्राण दान दिया, तब वह उन लोगों के साथ इस प्रकार से विहार करने लगे जिससे वह सब पिछले विरह जन्य दुखों को जड़ से भूल गये ॥३४९॥

यदि च कोऽपि कदाचिदनुस्मरे-
द्रुदति तर्हि मया स्वपता बत ।
किमपि दुष्टमनन्वयमीक्षितं
सरुदितश्च भयाद्बहु शोचति ॥३५०॥

यदि कभी कोई उस विरह को याद भी करता था तो वह यह समझता था कि मैंने सोते हुये कोई अशुभ स्वप्न देखा है। इस भय से वह रोते हुये बहुत प्रकार से सोच करने लगता था ॥३५०॥

चिरेण गोपालविहारमाधुरी-
भरैः समाकृष्टविमोहितेन्द्रियाः ।
न सस्मरुः किञ्चिदतीतमेष्यद-
प्यमी विदुर्न व्रजवासिनो जनाः॥३५१॥

श्रीकृष्ण के साथ चिरकाल तक विहार करने से उन व्रजवासियों की इन्द्रियाँ उनमें इस प्रकार से आसक्त तथा मुग्ध होगईं कि वह पिछले तथा भावी विरह आदि सबको भूल गये ॥३५१॥

स हि कालान्तरेऽक्रूरोऽपूर्व्वागत इवागतः ।
तथैव रथमादाय पुनस्तस्मिन् व्रजे सखे! ॥३५२॥

हे ब्राह्मण! कुछ काल के बाद वह अक्रूर रथ लेकर पहले की तरह फिर उस व्रज में आया ॥ ३५२ ॥

नीयमाने पुनस्तेन तथैव व्रजजीवने ।
तत्रत्यानां दशा कापि पूर्व्ववत् समजायत ॥३५३॥

उन व्रज जीवन श्रीकृष्ण को जब वह मथुरा ले जाने लगा, तब उन व्रजवासियों की अवस्था पहले की तरह हो गई ॥३५३॥

मधुपुर्य्यां पुनर्गत्वा कंसं हत्वा पुनर्व्रजं ।
आगतः पूर्व्ववत्तत्र तथैव विरहत्यसौ ।३५४॥

फिर उन्होंने मथुरापुरी में जाकर कंस का बध किया, और वह फिर वापिस व्रज में आकर उन व्रजवासियों के साथ पहले की तरह विहार करने लगे ॥ ३५४ ॥

एवं पुनः पुनर्याति तत्पुरे पूर्व्वपूर्व्ववत् ।
पुनः पुनः समायाति व्रजे क्रीडेत्तथैव सः ॥३५५॥

इसी प्रकार वह बार-बार पहले की तरह मथुरापुरी में जाते थे और फिर वापिस आकर व्रज में विहार करते थे ॥३५५॥

तथैव कालीयदमः पुनः पुन-
स्तथैव गोवर्द्धनधारणं मुहुः ।
परापि लीला विविधाद्भुताऽसकृत्
प्रवर्त्तते भक्तमनोहरा प्रभोः ३५६॥

इसी प्रकार काली दमन, गोवर्धन धारण तथा विविध प्रकार की अद्भुत भक्तों के मनों को हरण करने वाली लीलाओं को बार बार करते थे ॥३५६॥

तत्रत्यास्ते तु तां सर्व्वामपूर्व्वां मन्यते सदा ।
श्रीकृष्णपरमप्रेमकालकूटबिमोहिताः ॥३५७॥

वह व्रजवासी श्रीकृष्ण के प्रेम रूपी काल कूट विष से विमोहित होकर उन लीलाओं को सदा नई के सदृश समझते थे ॥३५७॥

अतस्तेषां हि नितरां स वरीवृद्ध्यते महान् ।
वियोगयोगयोः प्रेमावेशावेगो निरन्तरं ॥३५८॥

इस लिये उन व्रजवासियों का प्रेम, संयोग तथा वियोग में निरन्तर बढ़ता रहता था ॥ ३५८ ॥

दूरेऽस्तु तावद्वार्त्तेयं तत्र नित्यनिवासिनां ।
न तिष्ठेदनुसन्धानं नूतनानां मादृशामपि ॥३५६॥

उन लीलाओं के विषय में नित्य परिकरों की तो बात ही क्या है, मुझ सरीखे नये गये हुओं को भी यह अनुसंधान नहीं रहता था कि यह लीला पहले हो चुकी है या यह नई है ॥ ३५६ ॥

तादृङ्महामोहनमाधुरीसरि-
द्वारासमुद्रे सततं निमज्जनात् ।
तादृक् प्रियप्रेममहाधनावली-
लाभोन्मदात् के हि न विस्मरन्ति किं ॥३६०॥

वह जोकि श्रीकृष्ण की मधुरिमा रूपी मोहन धाराओं के समूह रूपी समुद्र में डूबा हुआ है, तथा वह जोकि श्रीकृष्ण विषयक प्रेम धन की लालसा से उन्मत्त हो रहा है ऐसे लोगों को ऐसी कौनसी वस्तु है, जो विस्मृत नहीं हो जाती है॥३६०

अहो ! महैश्वर्य्यमसावपि प्रभु-
र्निजप्रियप्रेमसमुद्रसंप्लुतः ।
कृतञ्च कार्य्यञ्च न किञ्चिदीश्वरः
सदानुसन्धातुमभिज्ञशेखरः ॥ ॥३६१॥

अहो ! बड़े आश्चर्य की बात है, वह श्रीकृष्ण सर्वज्ञ शिरोमणि होकर भी अपने प्यारों के प्रेम रूपी समुद्र में निमग्न होकर अपने ईश्वरत्व को भूल जाते हैं, उस समय उनको यह ज्ञान नहीं रहता है, कि मैंने क्या किया, और मेरा क्या कर्तव्य है ॥ ३६१ ॥

लीलैव नित्या प्रभुपादपद्मयोः
सा सच्चिदानन्दमयी किल स्वयं ।
आकृष्यमाणेव तदीयसेवया
तत्तत्परिवारयुता प्रवर्त्तते ॥३६२॥

श्रीकृष्ण की सब लीलाएँ सच्चिदानन्द तथा नित्य हैं, जिस समय जिस लीला की आवश्यकता होती है, उस समय वही लीला अपने सब ठाट बाट को लेकर उनकी सेवामें उपस्थित होती है॥३६२

इयं ते कथिता ब्रह्मन् ! गोलोकस्य विलक्षणा ।
माहात्म्यमाधुरीधारा प्रान्तकाष्ठा हि सर्व्वतः॥३६३

हे ब्राह्मण ! इस प्रकार यह गोलोक की लीलाएँ जो मैं ने वर्णन की हैं, और सब लोकों से विलक्षण हैं, और इनकी महिमा तथा माधुरी की धाराएँ भी और सब धामों से अधिक हैं ॥ ३६३ ॥

श्रीमाथुर उवाच ।

कृष्णे मधुपुरीं याते वसेत् कुत्र भवान् कथं ।
यश्चिरात्तत्पदं प्राप्तः प्रयत्नैस्तत्तदाशया ॥३६४॥

श्रीमाथुर ब्राह्मण कहने लगे :--

जब श्रीकृष्ण मधुपुरी चले गये, तब आप कहाँ तथा किस प्रकार रहे ? आपने तो बहुत काल के बाद बड़े प्रयत्नों से उनको प्राप्त किया था ॥ ३६४ ॥

श्रीसरूप उवाच ।

आदेशेन प्रभोस्तस्य व्रजे नन्दादिभिः सह ।
वसन्ति मादृशाः सर्व्वे तत्र स्वसदृशैस्तदा ॥३६५॥

श्रीसरूप बोले ।

मैं अपने प्रभु श्रीकृष्ण की आज्ञा से वहीं उस व्रज में अपने समान भाववाले श्रीकृष्ण नन्दराय जी आदि के साथ रहा, जहाँ कि मुझ जैसे और सब रहते थे ॥ ३६५ ॥

तल्लोकस्य स्वभावोऽयं कृष्णसङ्गं विनापि यत् ।

उस गोलोक का यह स्वभाव है कि श्रीकृष्ण के संग से रहित भी, वहीं रहने की अभिलाषा बनी

भवेत्तत्रैव तिष्ठासा न चिकीर्षा च कस्यचित् ।३६६॥

तत्रत्यं यच्च तद्दुःखं तत्सर्व्वसुखमूर्द्धसु ।

स नरीनर्त्ति शोकश्च कृत्स्नानन्दभरोपरि ।३६७॥

इत्थं वसंस्तत्र चिरेण वाञ्छितं
वाञ्छाधिकं चाविरतं परं फलं ।
चित्तानुपूर्व्यानुभवन्नपि ध्रुवं
वस्तुस्वभावेन न तृप्तिमाप्नुयां ।३६८॥

अतो ब्रजस्त्रीकुचकुङ्कुमाचितं
मनोरमं तत्पदपङ्कजद्वयं ।
कदापि केनापि निजेन्द्रियादिना
न हातुमीशे लवलेशमप्यहं ।३६९॥

तस्यापि यो दीनतरे जनेऽस्मिन्
माधुर्य्यनिष्ठाप्तकृपाप्रसादः ।
अन्यैरसम्भाव्यतया न वक्तुं
कुत्रापि युज्येत तथाप्यनूक्तः ।३७०॥

एवं तत्र चिरं तिष्ठन् मर्त्यलोकस्थितं त्विदं ।
मथुरामण्डलं श्रीमदपश्यं खलु तादृशं ।।३७१॥

तत्तच्छ्रीगोपगोपीभिस्ताभिर्गोभिश्च तादृशैः ।
पशुपक्षिकृमिक्ष्माभृत्सरित्तर्व्वादिभिर्वृतम् ।।३७२॥

तथैवाविरतं श्रीमत्कृष्णचन्द्रेण तेन हि ।
विस्तार्य्यमाणया तादृक्क्रीडाश्रेण्यापिमण्डितम्
॥ ३७३ ॥

तत्कदाचिदितस्तत्र कदापि विदधे स्थितिम् ।
भेदं नोपलभे कश्चित् पदयोरधुनैतयोः ।।३७४॥

गमनागमनैर्भेदो यः प्रसज्जेत केवलम् ।
तच्चाहं तत्तदासक्त्या न जानीयामिव स्फुटं ।३७५॥

रहती है, और कहीं दूसरे स्थान पर जाने की इच्छा भी नहीं होती है ॥ ३६६ ॥

वहाँ रहने वालों को जो विरह जन्य दुख होता है, वह दुख और और लोकों के सुखों के शिर पर, तथा वह शोक और सब लोकों के पूर्ण आनन्दों पर नृत्य करता है, अर्थात् वह विरह जन्य दुख तथा शोक भी और सब लोकों के सुखों से अधिक है ॥ ३६७ ॥

इस प्रकार मैंने वहाँ रह कर अपने चिरकाल से वांछित ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक फल को पाकर उसके अनुभव से अपने चित्तको निरन्तर आनन्दित किया, तो भी वस्तु के स्वभाव से मेरी तृप्ति नहीं हुई ॥ ३६८ ॥

इस लिये मैं श्रीकृष्ण के उन मनोहर युगल चरणारविन्दोंको जोकि श्रीव्रजनागरियों के कुंकमों से रञ्जित हैं अपनी किसी इन्द्रिय आदिसे कभी भी थोड़े काल के लिये भी त्याग करने में समर्थ नहीं हूँ ॥ ३६९ ॥

श्रीकृष्ण की मुझ दीन पर माधुरी युक्त जो कृपा प्रसाद है उसकी दूसरा कोई सम्भावना भी नहीं कर सकता है इसलिये यद्यपि दूसरे किसी से उसको कहना भी उचित नहीं है, तो भी मैंने आपसे वह बार-बार वर्णन किया है ॥३७०॥

मैं वहाँ चिरकाल तक रहा, फिर यहाँ आकर मैंने इसी श्रीमथुरा मंडल को भी उस गोलोक के सदृश देखा ॥ ३७१ ॥

जैसी कि मैंने वहाँ गोप, गोपी पशु, पक्षी, कृमि, पर्वत, वृक्ष तथा यमुना देखी थी उसी प्रकार यहाँ भी यह सब हैं ॥ ३७२ ॥

वही श्रीकृष्णचन्द्र यहाँ की तरह निरन्तर विस्तार पूर्वक विविध प्रकार बिहार करते हैं ॥३७३

मैं कभी गोकुल में, कभी यहाँ इस व्रजभूमि में रहता हूँ अब मुझको यह प्रतीत होता है, कि इन दोनों लोकों में कोई भेद नहीं ॥ ३७४ ॥

जो वहाँ जाने तथा यहाँ आने का भेद हैं, वह भी मुझको अधिक आसक्त होने से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है ॥ ३७५ ॥

अस्मात् स्थानद्वयादन्यत् पदं किञ्चित् कथञ्चन।
नैव स्पृशति मे दृष्टिः श्रवणं वा मनोऽपि वा ३७६

इन दोनों स्थानों को छोड़ कर और किसी स्थान के लिये मेरी दृष्टि, श्रवण तथा मन नहीं चलते हैं ॥ ३७६ ॥

अन्यत्र वर्त्तते क्वापि श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम्।
तादृशास्तस्य भक्ता वा सन्तीति मनुते न हृत् ३७७

मेरा हृदय यह कभी भी नहीं मानता है, कि वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, इन दोनों स्थानों को छोड़कर और कहीं रहते हैं, तथा उनके इस प्रकार के भक्त भी अन्य किसी स्थान पर हैं ॥३७७॥

कदाचिद्दर्शनं वा स्याद्वैकुण्ठादिनिवासिनाम्।
श्रीकृष्णविरहेणार्त्तानिव पश्यामि तानपि ॥३७८

जब कभी मुझको वैकुण्ठ निवासियों का दर्शन होता है, तब मैं उन सबको भी श्रीकृष्ण के विरह से आर्त्त की तरह देखता हूँ ॥३७८॥

कदापि तेषु व्रजवासिलोक-
सादृश्यभावानवलोकनान्मे।
जातानुतापेन भवेत्ततोऽपि
प्रेमप्रकाशात् परमं सुखं तत् ॥३७९

जब कि उनमें मुझको व्रजवासियों सरीखा भाव दिखाई नहीं देता है, तब मुझको बड़ा अनुताप होता है. उस अनुताप से प्रेम प्रकाश होता है जिससे मैं बड़ा आनन्दित होता हूँ ॥३७९॥

अहो ! गोलोकीयैर्निखिलभुवनावासिमहितैः
सदा तैस्तैर्लोकैः समनुभवनीयस्य महतः।
पदार्थस्याख्यातुं कति विवरणानि प्रभुरहं
तदास्तां तल्लोकाखिलपरिकरेभ्यो मम नमः॥३८०

अहो ! गोलोक वासी श्री नन्दराय आदिक जिनकी और सब लोक वासी पूजा करते हैं, उनके सदा अनुभव करने के योग्य उस गोलोक धाम की कितनी लीलाओं को मैं वर्णन करने में समर्थ हूँ ? मैं तो केवल इतना ही कर सकता हूँ कि उस गोलोक धाम को तथा वहाँ रहने वाले परिकरों की, चरणरेणु को नमस्कार करता रहूँ ॥३८०॥

इति श्रीभागवतामृते गोलोकमाहात्म्ये-
ऽभीष्टलाभो नाम
षष्ठोऽध्यायः।

इस श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थ के श्रीगोलोक माहात्म्य नामक द्वितीय खण्ड में "अभीष्टलाभ" नामक छटवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय—खण्डम् ।

सप्तमोऽध्यायः ।

श्रीसरूप उवाच ।

एवं यत् परमं साध्यं परमं साधनञ्च यत् ।
तद्विचार्य्याधुना ब्रह्मन् ! स्वयं निश्चीयतां त्वया ॥१

माथुरब्राह्मणश्रेष्ठ ! मद्वत् प्राप्यं त्वयापि तत् ।
सर्व्वं देव्याः प्रसादेन प्राप्तमेवेति मन्यताम् ॥२॥

वर्त्तते चावशिष्टं यत् भूतप्रायञ्च विद्धि तत् ।
वीक्षे कृपाभरं तस्य व्यक्तं भगवतस्त्वयि ॥३॥

पश्य यच्चात्मनस्तस्य तदीयानामपि ध्रुवम् ।
वृत्तं परमगोप्यं तत् सर्व्वं ते कथितं मया ॥४॥

निजभावविशेषश्च भगवच्चरणाश्रयः ।
न प्रकाशयितुं योग्यो ह्रिया स्वमनसेऽपि यः ॥५

जाते दशाविशेषे च वृत्तं स्वपरविस्मृतेः ।
विशेषज्ञानराहित्यान्नानुभूतं यदात्मना ॥६॥

तत्तत्सर्व्वमिदं तेन कृष्णेनाविश्य मे हृदि ।
निःसारितमिवायातं बलाद्वक्तॄ त्वदग्रतः ॥७॥

भवतश्चात्र विश्वासो नितरां समपद्यत ।
लक्षणैर्लक्षितश्चायं मया शीघ्रफलप्रदः ॥८॥

श्रीसरूप बोले ।

हे ब्राह्मण ! मैंने आपको श्रेष्ठ साध्य तथा साधनों को विस्तार पूर्वक समझा दिया है। अब स्वयं विचार करके निश्चय कर लें, कि आपके लिये कौनसा परम साध्य तथा साधन है ॥१॥

हे माथुर ब्राह्मण ! मुझको जैसा अभीष्ट फल प्राप्त हुआ है, वैसा ही आप भी उस देवी की कृपा से पाया ही समझें ॥२॥

जो कुछ और बाकी है अर्थात् उनके साक्षात् दर्शन, वह भी आपको जल्दी ही होजायेंगे, क्योंकि आप पर भगवान् की पूर्ण कृपा मालूम होती है ॥३॥

देखिये ! यद्यपि श्रीकृष्ण उनके परिकरों तथा मेरा वृत्तान्त अत्यन्त गोपनीय है, तो भी वह सब मैंने आप से कह दिया है ॥४॥

श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में जो अपना कोई विशेष भाव हो, उसको दूसरों से प्रकाश करने की तो बात ही क्या है, बल्कि उसको अपने मन से भी कहने में लज्जा आनी चाहिये ॥५॥

प्रेम की विशेष अवस्थाओं में जब मैं मूर्छित होगया था, यद्यपि उस समय मुझको बाहर के पदार्थों का ज्ञान नहीं था, और मुझको अपनी देह का भी ज्ञान नहीं होने से अपने वृत्तान्तों की भी स्मृति नहीं रही थी, तो भी श्री कृष्ण ने मेरे हृदय में बैठ कर उन सब वृत्तान्तों को बल पूर्वक मेरे मुख से निकलवा कर, तुम्हारे से कहलवाया है॥६-७

आपने इन वृत्तान्तों पर दृढ़ विश्वास किया है इन लक्षणों से यह प्रतीत होता है कि आपको भी शीघ्र ही फल प्राप्त होने वाला है ॥८॥

स्वयं श्रीराधिका देवी प्रातरद्यादिदेश मां ।
सरूपायाति मत्कुञ्जे मद्भक्तो माथुरो द्विजः॥९॥

तत्रैकाकी त्वमद्यादौ गत्वा सदुपदेशतः ।
प्रबोध्याश्वास्य तं कृष्णप्रसादं प्रापय द्रुतम् ॥१०॥

स्वयं श्री राधिका जी ने आज ही प्रातःकाल मुझको यह आदेश दिया था । "हे स्वरूप ! मेरी कुञ्ज में मेरा भक्त माथुर ब्राह्मण आ रहा है, इस लिये तुम पहले से ही अकेले वहाँ चले जाओ उनको अपने सद् उपदेशोंसे इस प्रकार समझाओ, जिससे कि उन पर श्रीकृष्ण की कृपा शीघ्र ही हो जाय ॥ ९ । १० ॥

अस्मात्तस्याः समादेशाच्छीघ्रमत्राहमागतः ।
न प्रहर्षादपेक्षे स्म कृष्णसङ्गसुखश्च तत् ॥११॥

इस लिये उनकी आज्ञा से ही शीघ्रता पूर्वक मैं यहाँ आया हूँ । उन का आदेश पाकर मैं इतना आनन्दित हुआ, कि मैंने आज श्रीकृष्ण के संग सुख को भी छोड़ दिया है ॥ ११ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

एवमुक्तेऽपि विप्रस्य तस्य हि प्रेमसम्पदः ।
उदयादर्शनान्मूर्द्ध्नि सरूपः करमर्पयत् ॥१२॥

परीक्षित जी बोले ।

इतना करने पर भी जब उस ब्राह्मण के प्रेम सम्पत्ति, अर्थात् सात्विक भाव आदि उदय नहीं हुए तब सरूप ने अपना हाथ उस ब्राह्मण के सिर पर रखा ॥ १२ ॥

सद्यस्तस्यास्फुरच्चित्ते स्वानुभूतमिवाखिलं ।
श्रीमरूपानुभूतं यत् कृपया तन्महात्मनः ॥१३॥

ऐसा करते ही उस ब्राह्मण के हृदय में उन सब वृत्तान्तों की साक्षात् की तरह स्फूर्ति हुई जिनको सरूप ने बहुत काल में अनुभव किया था ॥ १३ ॥

महत्सङ्गममाहात्म्यमेवैतत् परमाद्भुतं ।
कृतार्थो येन विप्रोऽसौ सद्योऽभूत्तत्सरूपवत्॥१४

यह सब कुछ महत् संग की बड़ी अद्भुत महिमा के प्रभाव से ही हुआ है जिससे कि यह ब्राह्मण सरूप की तरह क्षण काल में ही कृतार्थ हो गया ॥ १४ ॥

तद्वन्महाप्रेमरसार्णवाप्लुत–
स्तत्तद्विकारोर्मिभिराचितो भृशं ।
हा कृष्ण ! कृष्णेति किशोरशेखरं
तं दर्शयस्वेति रुराव स द्विजः ॥१५॥

वह ब्राह्मण भी सरूप की तरह महा प्रेम रूपी रस के समुद्र में डूब गया और उसकी सात्विक विकार रूपी लहरों से रंजित होकर "हा कृष्ण हा कृष्ण" कह कर रोता हुआ सरूप से बोला– "मुझको भी उस किशोर शेखरके दर्शन कराये"॥१५

तृणं गृहीत्वा दशनैः सकाकु
नमन्नपृच्छत् स सरूपमेव ।
चरस्थिरप्राणिगणांश्च कृष्णः
कुतोऽस्ति दृष्टोऽत्र किमु त्वयेति ॥१६॥
नामानि कृष्णस्य मनोरमाणि
संकीर्त्तयंस्तस्य पदौ गृहीत्वा ।

फिर उस ब्राह्मण ने अपने दांतों में तिनका लिया, और दीनता युक्त वाक्यों से वह सरूप तथा स्थावर जंगमों को नमस्कार करता हुआ, यह पूछने लगा, कृष्ण कहाँ है, क्या आपने कहीं देखा है" फिर वह श्रीकृष्ण के मनोहर नामों का संकीर्तन करने लगा और अपने गुरु अर्थात् सरूप के चरणों को पकड़ कर रोने लगा । तब

स्वयं श्रीराधिका देवी प्रातरद्यादिदेश मां ।
सरूपायाति मत्कुञ्जे मद्भक्तो माथुरो द्विजः॥९॥

तत्रैकाकी त्वमद्यादौ गत्वा सदुपदेशतः ।
प्रबोध्याश्वास्य तं कृष्णप्रसादं प्रापय द्रुतम् ॥१०॥

स्वयं श्री राधिका जी ने आज ही प्रातःकाल मुझको यह आदेश दिया था। "हे स्वरूप! मेरी कुञ्ज में मेरा भक्त माथुर ब्राह्मण आ रहा है, इस लिये तुम पहले से ही अकेले वहाँ चले जाओ उनको अपने सद् उपदेशोंसे इस प्रकार समझाओ, जिससे कि उन पर श्रीकृष्ण की कृपा शीघ्र ही हो जाय ॥ ९ । १० ॥

अस्मात्तस्याः समादेशाच्छीघ्रमत्राहमागतः ।
न प्रहर्षादपेक्षे स्म कृष्णसङ्गसुखञ्च तत् ॥११॥

इस लिये उनकी आज्ञा से ही शीघ्रता पूर्वक मैं यहाँ आया हूँ। उन का आदेश पाकर मैं इतना आनन्दित हुआ, कि मैंने आज श्रीकृष्ण के संग सुख को भी छोड़ दिया है ॥ ११ ॥

श्रीपरीक्षिदुवाच।

परीक्षित जी बोले।

एवमुक्तेऽपि विप्रस्य तस्य हि प्रेमसम्पदः ।
उदयादर्शनान्मूर्द्ध्नि सरूपः करमर्पयत् ॥१२॥

इतना करने पर भी जब उस ब्राह्मण के प्रेम सम्पत्ति, अर्थात् सात्विक भाव आदि उदय नहीं हुए तब सरूप ने अपना हाथ उस ब्राह्मण के सिर पर रखा ॥ १२ ॥

सद्यस्तस्यास्फुरच्चित्ते स्वानुभूतमिवाखिलं ।
श्रीमरूपानुभूतं यत् कृपया तन्महात्मनः ॥१३॥

ऐसा करते ही उस ब्राह्मण के हृदय में उन सब वृत्तान्तों की साक्षात् की तरह स्फूर्ति हुई जिनको सरूप ने बहुत काल में अनुभव किया था ॥ १३ ॥

महत्सङ्गममाहात्म्यमेवैतत् परमाद्भुतं ।
कृतार्थो येन विप्रोऽसौ सद्योऽभूत्तत्सरूपवत्॥१४

यह सब कुछ महत् संग की बड़ी अद्भुत महिमा के प्रभाव से ही हुआ है जिससे कि यह ब्राह्मण सरूप की तरह क्षण काल में ही कृतार्थ हो गया ॥ १४ ॥

तद्वन्महाप्रेमरसार्णवाप्लुत-
स्तत्तद्विकारोर्मिभिराचितो भृशं ।
हा कृष्ण ! कृष्णेति किशोरशेखरं
तं दर्शयस्वेति रुराव स द्विजः ॥१५॥

वह ब्राह्मण भी सरूप की तरह महा प्रेम रूपी रस के समुद्र में डूब गया, और उसकी सात्विक विकार रूपी लहरों से रंजित होकर "हा कृष्ण हा कृष्ण" कह कर रोता हुआ सरूप से बोला- "मुझको भी उस किशोर शेखरके दर्शन कराऐं॥१५

तृणं गृहीत्वा दशनैः सकाकु
नमन्नपृच्छत् स सरूपमेव ।
चरस्थिरप्राणिगणांश्च कृष्णः
कुतोऽस्ति दृष्टोऽत्र किमु त्वयेति ॥१६॥
नामानि कृष्णस्य मनोरमाणि
संकीर्त्तयंस्तस्य पदौ गृहीत्वा ।

फिर उस ब्राह्मण ने अपने दांतों में तिनका लिया, और दीनता युक्त वाक्यों से वह सरूप तथा स्थावर जंगमों को नमस्कार करता हुआ, यह पूछने लगा, कृष्ण कहाँ है, क्या आपने कहीं देखा है" फिर वह श्रीकृष्ण के मनोहर नामों का संकीर्तन करने लगा और अपने गुरु अर्थात् सरूप के चरणों को पकड़ कर रोने लगा। तब

प्रेमाब्धिमग्नस्य गुरो रुरोद
तत्प्रेमदृष्ट्या विवशस्य विप्रः ॥१७॥

उस ब्राह्मण का प्रेम देख कर, वह सरूप जो कि प्रेम रूपी समुद्र में निमग्न हो रहे थे, और भी विवश हो गये ॥ १६ । १७ ॥

क्षणान्महाप्रेमजवेन यन्त्रितो
वने महोन्मत्तवदुत्थितो भ्रमन् ।
विमूर्च्छितस्तत्र स कण्टकाचिते
करीरकुञ्जे निपपात माथुरः ॥१८॥

इसके पश्चात् क्षण काल में ही वह माथुर ब्राह्मण बड़े प्रेम के वेग से विवश होकर उन्मत्त की तरह बनमें भ्रमण करने लगा, फिर वह कांटों युक्त करील कुञ्ज में मूर्छित होकर गिर पड़ा॥ १८॥

मातः ! सपद्येव विमिश्रिता गवां
हम्वारवैर्वेणुविषाणनिक्वणाः ।
तौम्बेयवीणादलवाद्यचर्च्चिता
जाता गभीरा मधुरा विदूरतः ॥१६॥

हे माता ! उसी क्षण दूर से गौओं के हम्वा हम्वा शब्दों से मिश्रित मुरली तथा महिषी-शृङ्गों की ध्वनि सुनाई पड़ी, जो तमूरो, वीणा, तथा पत्तों से बने हुये बाजों के शब्दों से गम्भीर तथा मधुर हो रही थी ॥ १६ ॥

तौ प्रापितौ बोधममीभिरुत्थितौ
तद्दीर्घनादाभिमुखेऽभ्यधावताम् ।
गोपालदेवं तमपश्यतामथो
सुश्यामगात्रद्युतिमण्डलोज्ज्वलम् ॥२०॥

उन शब्दों के सुनते ही वह दोनों सचेत हो कर उठ बैठे और उसी दिशा की ओर भागे जहाँ से कि वह बड़े जोर से मधुर शब्द आ रहा था। इसके हश्चात् उन्होंने उन श्री गोपाल जी का दर्शन, जोकि अपने अंगों की सुन्दर श्यामल कान्तियों से देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ २० ॥

पशून् पयः पाययितुं वयस्यैः
समं विहर्त्तुं तरणेः सुतायाम् ।
गजेन्द्रलीलाञ्चितनृत्यगत्या-
न्तिके समायान्तमनन्तलीलम् ॥२१॥

जोकि यमुना जी में गौओं को जल पिला कर ग्वाल बालों के साथ विविध प्रकार की लीलाओं को करने के लिये गजेन्द्र की चाल से नृत्य करते हुए उनकी ओर आ रहे हैं ॥ २१ ॥

स्वकीयकैशोरमहाविभूषणं
विचित्रलावण्यतरङ्गसागरम् ।
जगन्मनोनेत्रमुदां विवर्द्धनं
मुहुर्मुहुर्नूतनमाधुरीभृतं ॥ २२ ॥

जो अपनी किशोर अवस्था से विभूषित हो रहे हैं, जो अद्भुत लावण्य की तरङ्गों के सागर स्वरूप हैं, जो समस्त जगत् के मन तथा नेत्रों के आनन्दों को बढ़ाने वाले हैं, और जिनके अङ्गों से नई नई मधुरिमा क्षण क्षण में प्रकट हो रही हैं ॥ २२ ॥

निःशेषसल्लक्षणसुन्दराङ्गं
नीपावतंसं शिखिपिच्छचूडम् ।
मुक्तावलीमण्डितकम्बुकण्ठं
कौशेयपीताम्वरयुग्मदीप्तं ॥२३॥

जिनके अंगों में समस्त सत् लक्षणों के चिन्ह हैं, जिनके कानों में कदम्ब के फूलों के कुण्डल हैं, जिनके मस्तक पर मयूर पंखों का मकट है, जिनका कंठ शंख सरीखा है, जोकि मोतियों की मालाओं से विभूषित हैं, और जो दो रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए हैं ॥ २३ ॥

गुञ्जामहाहारविलम्बभूषित-
श्रीवत्सलक्ष्म्यालयपीनवक्षसं ।

उनका विशाल वक्षस्थल है जोकि श्रीवत्स, लक्ष्मी चिन्ह तथा लटकती हुई बड़ी सुन्दर गुञ्जा की मालासे सुशोभित हैं । जिनका कटि प्रदेश सिंह

सिंहेन्द्रमध्यं शतसिंहविक्रमं
सौभाग्यसारार्चितपादपङ्कजम् ॥ २४ ॥

कदम्बगुञ्जातुलसीशिखण्ड-
प्रवालमालावलिचारुवेशं ।
कटीतटीराजितचित्रपुष्प-
काञ्चीविलम्बाढ्यनितम्बदेशं ॥ २५ ॥

सौवर्णदिव्याङ्गदकङ्कणोल्लस-
द्वृत्तायतस्थूलभुजाभिरामं ।
विम्बाधरन्यस्तमनोज्ञवेणु-
वाद्योल्लसत्पद्मकराङ्गुलीकं ॥ २६ ॥

स्वोत्प्रेक्षितापौर्व्विकवेणुगीत-
भङ्गीसुधामोहितविश्वलोकम् ।
तिर्य्यग्गमनाग्लोलविलोकलीला-
लङ्कारसंलालितलोचनाब्जम् ॥२७॥

चापोपमभ्रूयुगनर्त्तन श्री-
सम्वर्द्धितप्रेष्यजनानुरागं ।
श्रीमत्सदास्मेरमुखारविन्द-
शोभासमाकृष्टमुनीन्द्रचित्तं ॥२८॥

तिलप्रसूनोत्तमनासिकाग्रतो
विराजमानैकगजेन्द्रमौक्तिकं ।
कदापि गोधूलिविभूषितालक-
द्विरेफसम्भालनतो लसत्करं ॥२९॥

सूर्य्यात्मजामृद्रचितोर्द्ध्वपुण्ड्र-
स्फीतार्द्धचन्द्राकृतिभालपट्टम् ।
नानाद्रिधातुप्रतिचित्रिताङ्गं
नानामहारङ्गतरङ्गसिन्धुम् ॥३०॥

स्थित्वा त्रिभङ्गीललितं कदाचि-
न्नर्म्माणि वंश्या वहु वादयन्तं ।

के सदृश क्षीण है, जिनका पराक्रम सैंकड़ों सिंहों के समान है, और विश्व के समस्त सौन्दर्य का सार जिनके चरणारविन्दों का पूजन करता है॥२४॥

जो कदम्ब, गुञ्जा, तुलसी, मयूर पिच्छ, तथा मूँगों की मालाओं से सुशोभित हैं और जिनकी कटि पर अनेक रंगों के चित्र विचित्र पुष्पों से बनी हुई कोंधनी है जिससे उनके नितम्बस्थल की शोभा हो रही है ॥ २५ ॥

जिनकी भरी हुई लम्बी भुजा स्वर्ण के बाजूबन्द तथा कंकणों से सुशोभित हैं, जिनके हस्त कमल की अगुलियाँ उस वंशी के बजाने से उल्लसित हो रही हैं जिसको वह अपने अधर विम्ब पर रख कर बजा रहे हैं ॥ २६ ॥

जिस ध्वनि को सुन कर श्रीकृष्ण ने स्वयं यह विचार किया, कि ऐसा शब्द इस वंशी से पहले कभी नहीं हुआ, उसकी मधुरिमा से उन्होंने समस्त जगत को मोह लिया उनके नेत्र कमल तरछी तथा चञ्चल चितवन से अलंकृत हैं ॥ २७ ॥ जो धनुष सरीखी अपनी भौंवों के नृत्य द्वारा अपने अनुरागियों के प्रेम को बढ़ा रहे हैं, जिनकी निरन्तर हास्य युक्त मुख कमल की शोभा मुनियों के चित्तों को भी चुराने वाली है ॥ २८ ॥

जिनकी नासिका तिल के फूल से भी सुन्दर है उसके अग्र भाग में गज मुक्ता की बुलाक सुशोभित हो रही है। और जो भौंरों के समान अपनी उन अलकावलियों को जोकि गोरज से सुशोभित हो रही हैं कभी कभी अपने हस्त कमलों से सम्भाल रहे हैं ॥ २९ ॥

जिन्होंने श्री यमुना के रज का उर्ध्व पुण्ड्र धारण कर रखा है, जिससे उनके अर्धचन्द्राकृत ललाट की बड़ी शोभा हो रही है जिन्होंने अपने अङ्गों को नाना रंग की गैरिकादि धातुओं से चित्रित कर रखा है जो अनेक प्रकार की लीला तरंगों के समुद्र स्वरूप हैं ॥ ३० ॥

कभी वह त्रिभंग ललित स्वरूप से खड़े होकर अनेक प्रकार के हास परिहास को वन्शी द्वारा

तैर्हासयन्तं निजमित्रवर्गान्
भूमिं पदैः स्वैः परिभूषयन्तं ॥३१॥

ताद्दग्वयोवेशवताग्रजन्मना
नीलांशुकालंकृतगौरकान्तिना ।
रामेण युक्तं रमणीयमूर्त्तिना
तैश्चात्मतुल्यैः सखिभिः प्रियैर्वृतं॥३२॥

तद्दर्शनोद्भूतमहामुदावली-
भारेण गाढेन निपातितौ हि तौ ।
दण्डप्रणामार्थमिवाशु पेततुः
सम्भ्रान्तिविध्वंसितसर्व्वनैपुणौ ॥३३॥

स च प्रियप्रेमवशः प्रधावन्
समागतो हर्षभरेण मुग्धः ।
तयोरुपर्य्येव पपात दीर्घ-
महाभुजाभ्यां परिरभ्य तौ द्वौ॥३४॥

प्रेमाश्रुधाराभिरहो महाप्रभुः
स स्नापयामास कृपार्द्रमानसः ।
क्षणात् समुत्थाय करद्वयेन ता-
वुत्थापयामास चकार च स्थिरौ ॥३५॥

सम्मार्ज्जयन्नश्रु रजश्च गात्रे
लग्नं दयालुर्मुहुरालिलिङ्ग ।
तत्रैव ताभ्यामुपविश्य भूमौ
वाक्यामृतैर्विप्रमतोषयच्च ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच ।

माथुरानुगृहीतार्य्य ! विप्रवंशाब्धिचन्द्रमः ! ।
क्षेमं श्रीजनशर्म्मंस्ते कच्चिद्राजति सर्व्वतः ॥३७॥

गान करते हैं, जिसको सुन कर सब ग्वालबाल हँसने लगते हैं। इसी प्रकार लीला करते हुए वह अपने चरण चिन्हों से भूमि को भूषित कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

वह श्रीकृष्ण उन दाऊजी के साथ वहाँ उपस्थित हैं, जिनकी अवस्था तथा वेश भूषा उनके समान है, जिनके अंग की कान्ति गौर है, जो नील वस्त्र को धारण किये हुए हैं जिनका श्रीविग्रह अत्यन्त सुन्दर है तथा जो अपने-अपने सदृश प्रिय सखाओं से वेष्टित हैं ॥३२॥

श्रीकृष्ण के दर्शन से जो परम आनन्द हुआ उसके भार से शीघ्र ही सरूप तथा ब्राह्मण इस प्रकार उनके सामने गिर पड़े मानों वह दण्डवत प्रणाम कर रहे हैं। उस समय वह सम्भ्रम से सब चतुरताओं को भूल गये ॥३३॥

श्रीकृष्ण भी अपने प्रेमियों के प्रेम से आधीन होकर भागते हुए वहाँ पहुँचे। प्रबल आनन्द से विचार शून्य होकर वह अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं से उन दोनों का आलिङ्गन करके उन पर गिर पड़े ॥३४॥

श्रीकृष्ण ने अपनी कृपा से आर्द्रचित्त होकर, उन दोनों को अपने प्रेम अश्रु धाराओं से नहला दिया। फिर क्षण काल बाद वह उठे, और उन्होंने अपने दोनों हस्त कमलों से उन दोनों को उठा कर सावधान किया ॥३५॥

फिर उन दयालु ने उन दोनों के आँसुओं को पोंछा, तथा उनके अंगों में लगी हुई रज को अपने हाथों से झाड़ कर, उनका बार-बार आलिङ्गन किया। फिर उन दोनों को साथ लेकर वह वहीं भूमि पर ही बैठ गये, और अपने अमृत सरीखे वाक्यों से उस ब्राह्मण को सन्तुष्ट किया ॥३६॥

श्रीभगवान् बोले।

हे आर्य ! आप ब्राह्मण वंश रूपी समुद्र के चन्द्रमा स्वरूप हैं, हे जनशर्मा ! आपका मथुरा मण्डल में जन्म है, इसी लिये आप बड़भागी हैं। आप सब प्रकार से कुशल तो हैं ? ॥३७॥

क्षेमं सपरिवारस्य मम त्वदनुभावतः ।
त्वत्कृपाकृष्टचित्तोऽस्मि नित्यं त्वद्वर्त्मवीक्षकः ३८

हे ब्राह्मण ! आपके प्रभाव से मैं सपरिवार कुशल हूँ । मैं आप की कृपा से आकर्षित होकर नित्य आपके यहाँ आने की बाट देखता रहता था ॥ ३८ ॥

दिष्ट्या स्मृतोऽस्मि भवता दिष्ट्या दृष्टश्चिरादसि ।
स्वाधीनोऽस्मि तव ब्रह्मन् ! रमस्वात्र यदृच्छया ॥३९॥

यह बड़े मंगल की बात हुई कि आपने मुझको याद किया । यह भी बड़ा सौभाग्य हुआ, कि चिरकाल बाद मैंने आपका दर्शन किया । हे ब्राह्मण ! मैं आपके आधीन हूँ, आप अपनी इच्छा पूर्वक यहाँ आनन्द से विहार करें ॥३९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच ।

श्रीपरीक्षितजी कहने लगे ।

समग्रसम्भ्रमप्रेमानन्दभारेण यन्त्रितः ।
नाशकत् प्रतिवक्तुं तं जनशर्म्मापि वीक्षितुं ॥४०

यह सुन कर वह जनशर्मा नामक ब्राह्मण बड़े सम्भ्रम तथा प्रेम आनन्द से इतना अधीर होगया, कि उस समय न तो वह उनसे कुछ कह सका न हीं उनके दर्शन कर सका ॥४०॥

वाष्पसंरुद्धकण्ठः सन्नस्रोपहतलोचनः ।
परं तच्चरणाम्भोजे मूर्द्धनि धृत्वाऽरुदत्तरां ॥४१॥

उस समय आँसुओं के बार-बार बहने से उसको कुछ दिखाई नहीं देता था, उसका कण्ठ गद् गद् होगया, इस लिये उसने अपने मस्तक को उनके चरणारविन्दों में रख दिया, और वह जोर जोर से रोने लगा ॥४१॥

वदान्यचूडामणिरात्मनोऽधिकं
क्विमप्यपश्यन् प्रतिदेयमाकुलः ।
स्वभूषणानि व्यपकृष्य गात्रतो
विभूष्य तैस्तं विदधे सरूपवत्॥४२॥

सब देवताओं के शिरोमणि श्रीकृष्ण ने जब कि इस ब्राह्मण को देने के लिये अपने से अधिक और किसी वस्तु को नहीं देखा, तब उन्होंने व्याकुल होकर अपने श्री अंगों से भूषणों को उतार कर, उनसे उस ब्राह्मण को भूषित किया, फिर सरूप की तरह उसको भी अपने सरीखा स्वरूप प्रदान कर दिया ॥४२॥

इत्थमात्मानुरूपां स व्यतनोत् परमां कृपां ।
जनशर्म्मापि तेनैव परिपूर्णार्थतां गतः ॥४३॥

इस प्रकार उन्होंने उस जन शर्मा ब्राह्मण पर अपने स्वरूप के अनुरूप बड़ी कृपा की । वह भी इस प्रकार के ग्वालबाल स्वरूप को प्राप्त करके, कृतकृत्य हो गया ॥४३॥

अथापोऽपाययद्वेणुसङ्केतध्वनिना पशून् ।
समाहूय विचित्रेण मुखशब्देन केनचित ॥४४॥

इसके पश्चात् उन्होंने मुरली की ध्वनि से संकेत करके, सब गौओं को बुलाया । और अपने मुख से विचित्र प्रकार की ध्वनि करते हुए उनको जल पिलाया ॥४४॥

तेनैव सुखदेशेषु तान्निरुद्ध्योपवेश्य च ।
ताभ्यांमन्यैश्च सखिभिर्विजहाराप्सु साग्रजः ॥४५॥

फिर उस ध्वनि से ही उन्होंने सब गौओं को अच्छे स्थान पर रोक कर बिठला दिया । फिर सखा मंडली, श्रीदाऊ जी, तथा उन दोनों को, साथ लेकर वह श्रीयमुना जी में जल विहार करने लगे ॥ ४५ ॥

परस्परं वार्य्यभिषिञ्चतः सखीन्
कदाचिदुत्क्षिप्य जलानि भञ्जयेत् ।
कदापि तैरेव विनोदकोविदो
विलम्भितो भङ्गभरं जहर्ष सः ॥४६॥

श्रीकृष्ण अपने ग्वाल वालों के साथ एक दूसरे पर जल छिड़कते हुए इस प्रकार से खेलते थे। कभी वह दूसरों को जल फैंककर भगा देते थे। कभी वह चतुर खिलाड़ी अपनी हार स्वीकार करते हुए, पीछे हट कर भी प्रसन्न होते थे ॥४६॥

कीलालवाद्यानि शुभानि साकम्
तैर्वादयन् श्रीयमुनाप्रवाहे ।
स्रोतोऽनुलोमप्रमिलोमतोऽसौ
सन्तारलीलामकरोद्विचित्राम् ॥४७

श्रीकृष्ण यमुना जी की धारा में ग्वाल वालों के साथ कभी तो मनोहर जल-वाद्य करते थे, कभी उनको साथ लेकर बहाव के साथ-साथ, तथा कभी बहाव से उल्टे तैरते थे । इस प्रकार तैरने की विचित्र-विचित्र लीलाओं को करते थे॥४७॥

कदापि कृष्णाजलमध्यतो निजं
वपुः स निह्नुत्य सरोजकानने ।
मुखञ्च विन्यस्य कुतूहली स्थितो
यथा न केनापि भवेत्स लक्षितः ॥४८॥

कभी कभी वह खिलाड़ी श्रीयमुना के जल में जहाँ कि नील कमल सुशोभित हो रहे थे, अपने श्रीविग्रह को छिपाकर केवल अपने मुख कमल को उन नील कमलों में इस प्रकार दिखलाते थे, जिससे कोई उनको पहचान न सके ॥ ४८ ॥

ततस्तदेकेक्षणजीवनास्ते
न तं समन्विष्य यदालभन्त ।
तदा महार्त्ताः सुहृदो रुदन्तो
विचुक्रुशुर्व्यग्रधियः सुघोरं ॥ ४९॥

वह ग्वाल वाल जोकि उनके दर्शन विना क्षण काल भी नहीं जी सकते थे, जब बहुत ढूँढ़ने से से भी उनको कहीं नहीं देखते तब वह व्यग्रता से बड़े दुखी होकर घोर शब्द करते हुए चिल्ला चिल्ला कर रोने लगते ॥ ४९ ॥

ततो हसन् पद्मवनाद्विनिःसृतः
प्रहर्षपूरेण विकासितेक्षणैः ।
सकूर्दनं तैः पुरतोऽभिसारिभिः
सङ्गम्यमानो विजहार कौतुकी ॥५०॥

जब कि वह कौतुकी श्रीकृष्ण उन कमलों के बन से हंसते हुये निकलते तब सब ग्वालवालों के नेत्र कमल आनन्द से खिल उठते थे, वह कूद कूद कर श्रीकृष्ण के निकट पहुँचते, और फिर वह उनके साथ उसी प्रकार जलविहार करने लगते॥५०

मृणालजालेन मनोरमेण
विरच्य हारान् जलपुष्पजातैः ।
सखीनलङ्कृत्य समुत्ततार
जलात्समं तैः स च भूषितस्तैः ॥५१

इसके बाद उन्होंने सब सखाओं का तथा सब सखाओंने उनका, मनोहर कमल की मृणालों तथा जल में पैदा होने वाले पुष्पों से हार बनाकर शृङ्गार किया । फिर इस प्रकार भूषित होकर वह सब जल से बाहर निकले ॥ ५१ ॥

माध्याह्निकं भोजनमत्र कर्त्तुं
विस्तीर्णकृष्णापुलिने मनोज्ञे ।
गोपैः समं मण्डलशो निविष्टै-
र्न्यवेशयत् सोऽग्रजमेव मध्ये ॥५२॥

स्वयञ्च लीलाचितनृत्यगत्या
भ्रमन् विचित्रं परितः पुरेव ।
नीतानि तत्रालयतोऽद्भुतानि
भोज्यानि रेमे परिवेशयन् सः ॥५३॥

सर्व्वर्त्तुशश्वत्फलपुष्पशालिनां
वृन्दाटवीदिव्यविचित्रशाखिनां ।
तैराहृतान्येव फलानि लीलया
स्वादूनि तेभ्यो विभजन् यथारुचि॥५४

रसालतालविल्वानि वदरामलकानि च ।
नारिकेलानि पनसद्राक्षाकदलकानि च ॥५५॥
नागरङ्गानि पीलूनि करीराण्यपराण्यपि ।
खर्ज्जूरदाडिमादीनि पक्कानि रसवन्ति च ॥५६॥
हर्षाय तेषामादाय प्रत्येकं किञ्चिदच्युतः ।
तिष्ठंस्तत्तत्समीपेऽसौ भुङ्क्ते तानपि भोजयेत् ५७
परीक्ष्य मिष्टमिष्टानि श्रीमुखान्तः स्वपाणिभिः।
उत्थायोत्थाय सखिभिरर्प्यमाणानि सादरं ॥५८॥
सश्लाघं नर्म्महासार्द्रं विचित्रमुखभङ्गिभिः ।
मधुरं परिचर्व्वंस्तान् हासयित्वा व्यमोहयत् ॥५९
आम्लिकं पानकं मिष्टं परञ्च विविधं बहु ।
तक्रञ्च तुम्वीपात्रादिभृतं वार्य्यपि यामुनं ॥६०

तब मध्याह्न कालीन भोजन करने के लिये, वह सब मंडली बाँध कर मनोहर तथा विशाल यमुना पुलिन में बैठ गए, श्रीदाऊजी को उन्होंने अपने मध्य में बिठलाया ॥५२॥

सब ग्वालबाल अपने-अपने घरों से पहले ही जो उत्तम-उत्तम भोजन सामग्रियाँ लाये थे उनको श्रीकृष्ण लीलापूर्वक नृत्य गति से इधर-उधर घूम-घूम कर परिवेषन करने लगे ॥५३॥

फिर उन्होंने सुन्दर तथा स्वादिष्ट उन फलों को सब सखाओं में उनकी रुचियों के अनुसार बांटा, जो कि वह वृन्दावन के उन कल्प वृक्षों की शाखाओं से तोड़कर लाये थे, जो कि सब ऋतुओं में निरन्तर फली फूली रहती हैं ॥५४॥

श्रीकृष्ण ने उन सब ग्वालबालों को आम, ताल, बेर, बेल, आमला, गोला, कटहर, अंगूर, सन्तरा, पीलू, टेंटी, खजूर, तथा अनार आदि फलों को दिया जो कि अच्छी प्रकार से पके हुये थे, और जिनमें पूर्ण रस भरा हुआ था। वह उनको आनन्द देने के लिये प्रत्येक सखा के समीप रह कर कुछ आप खाते थे कुछ उनको खिलाते थे ॥ ५५-५६-५७ ॥

वह ग्वालबाल उन फलों को पहले स्वयं चखते थे, फिर उनमें से अत्यन्त मीठे छाँट कर अपने-अपने हाथों से उठा-उठा कर आदर पूर्वक श्रीकृष्ण के मुख में देते थे ॥५८॥

श्रीकृष्ण हास परिहास करते हुए उन फलों की प्रशंसा करते थे। उनको विचित्र ढंग से चर्वण करते हुए, वह सखाओं को हँसा कर मोहित करते थे ॥५९॥

फिर उन श्रीकृष्ण ने जोकि विविध प्रकार के सुख विहारों में कुशल हैं अनेक प्रकार के पीने के द्रव्य अर्थात् खट्टे, मीठे, छाछ तथा निर्मल यमुना जल आदिकों को तूंबी आदि पात्रों में रख कर

पिबन्नपाययत् सर्वान् रमयामास बल्लवान् ।
नानाविधसुखक्रीडाकुतूहलविशारदः ॥६१॥

आचम्य ताम्बूलमथो सुगन्धं
कर्पूरपूर्णं स्वगृहोपनीतं ।
वन्यञ्च भुङ्क्ते स्म विभज्य नूत्नं
सनागवल्लीदलपूगमार्द्रम् ॥६२॥

तुलसीमालतीजातीमल्लिकाकुन्दकुब्जकैः ।
लवङ्गकेतकीझिन्टीमाधवीयूथिकाद्वयैः ॥६३॥
काञ्चनैः करवीराभ्यां शतपत्रीयुगेन च ।
पलाशैर्नवमल्लीभिरोड्रैर्दमनकादिभिः ॥६४॥
कदम्बनीपवकुलैर्नागपुन्नागचम्पकैः ।
कूटजाशोकमन्दारैः कर्णिकारासनार्जुनैः ॥६५॥
पाटलैः प्रियकैरन्यैरपि पुष्पैः सपल्लवैः ।
विचित्रा निर्मिता मित्रैर्मालाश्चाधाद्विभज्य सः॥६६
चन्दनागुरुकस्तुरीकुङ्कुमैराहृतैर्वनात् ।
द्रव्यैः सुगन्धिभिश्चान्यैः पिष्टै रङ्गान्यलेपयत्॥६७

निकुञ्जवर्य्ये सुरभिप्रसून-
सुवासिते गुञ्जदलिप्रघुष्टे ।
विनिर्म्मिते तल्पवरे नवीन-
मृदुप्रवालच्छदपुष्पजातैः ॥६८॥
श्रीदामनामदयिताङ्कसुखोपधानः
सुस्वाप मित्रनिकरैः परिचर्य्यमाणः ।
केशप्रसाधनसुगीतकराङ्घ्रिपद्म-
सम्वाहनस्तवनवीजनचातुरीभिः ॥६९॥

आप पिया, तथा और सब ग्वाल बालों को पिला कर आनन्दित किया ॥६०-६१॥

इसके पश्चात् उन सबने आचमन किया फिर कपूरादि मिश्रित उन सुगन्धित ताम्बूलो को जिनको वह अपने घरों से लाए थे, तथा बन में पैदा होने वाले ताम्बूलों में सुपारी आदि डाल कर बीड़ी बना कर खाया ॥६२॥

फिर तुलसी, मालती, चमेली, मोतिया, कुन्द, कुबज, लवंग, केतकी, पियाबांसा, माधवी, दो प्रकार की जुही, चम्पा, कनेर, कमल ढाक, राय-बेल, जपा, दमनक, कदम्ब, मोरछली, नागकेशर, पुन्नाग, चम्पक, कुटज, अशोक, मंदार, कनेर अर्जुन गुलाब तथा और-और सुन्दर फूल पत्तों से विचित्र मालाएं गूंथ कर उन्होंने पहनी तथा और-और ग्वालबालों को पहनाई ॥६३-६४-६५-६६॥

फिर उन्होंने अपने-अपने अंगों में चन्दन लगाया, जिसमें अगुरु, कस्तूरी, केशर तथा और सुगन्धि द्रव्य मिले हुये थे, जिनको ग्वालबालों ने वृन्दाबन से ही लाकर इकट्ठा किया था ॥६७॥

इसके बाद उन्होंने उस निकुञ्ज में प्रवेश किया जो अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से सुवासित हो रही थी, जिसमें भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे, और जहाँ नवीन तथा कोमल पत्तों तथा पुष्पों के दलों से शय्या निर्मित की गई थी, उस पर वह श्रीदामा सखा के अंक में अपने शिर को रख कर लेट गये। उस समय सब ग्वालबाल इस प्रकार अपनी-अपनी सेवा करने लगेः—कोई उनकी अलकावली सम्हार रहा था, कोई सुन्दर राग रागनी गा रहा था, कोई चरण चांपने लगा, कोई उनकी बड़ाई करने लगा, किसी के हाथ में चमर था कोई पंखा कर रहा था, श्रीकृष्ण विविध प्रकार नये-नये ढङ्ग से अपने मुख को बना-बना कर हास परिहास करते हुये उन सखाओं को इतना हँसाते थे कि वह सखा आई हुई हँसी को रोकने की बहुत चेष्टा करने पर भी उस हँसी को नहीं रोक सकते थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने श्रीदाऊजी के

नानानुकारमुखपद्मविकारनर्म-
भङ्गीशतैर्हसितरोधनकेलिदक्षान् ।
निर्जित्य तानसुखयत् सुहृदो मुदैवं
विश्रामकेलिमतनोद्विविधं सरामः ॥७०

अथ सङ्केतितैर्वेणुशृङ्गनादैः पशून् पुनः ।
उत्थाप्य चारयन् रेमे गोवर्द्धनसमीपतः ॥७१॥
भूषणेन विचित्रेण वन्येन सखिभिः पुनः ।
अहं पूर्विकया सर्वैर्भूषितोऽसौ यथारुचि ॥७२॥
सरूपपाणौ जनशर्म्मसंज्ञं
समर्प्य तं विप्रमपूर्वयातम् ।
सायं यथापूर्वमयं प्रविश्य
घोषेऽभिरेमे व्रजहर्षकारी ॥७३॥
गोपीनाथप्रसादाप्तमहासाधुमतिस्थिते ! ।
विचार्य्य स्वयमादत्स्व स्वप्रश्नस्याधुनोत्तरम् ॥७४
श्रीगोलोके निखिलपरमानन्दपूरान्त्यसीम-
गम्भीराब्धौ जननि! गमनं साधय स्वप्रयासैः ।
यस्मिंस्तास्ता विविधरतयस्तेन नाथेन साकं
यात्रामात्रान्मधुरमधुराः सन्ततं सङ्घटन्ते ॥७५॥
भौमे चास्मिन् सपदि मथुरामण्डले यानमात्रात्
सिद्धयेयुस्ताः सकलसमये यस्य कस्यापि नैव ।
किन्त्वेतस्य प्रियजनकृपापूरतः कस्यचित्स्यु-
स्तद्भो मातश्चिनु पदरजस्तत्पदैकप्रियाणां ॥७६॥
स्थानं गोपीगणकुचतटीकुङ्कुमश्रीभरार्द्र-
श्रीमत्पादाम्बुजयुगसदाप्रीतिमज्जप्रदायि ।

साथ सखाओं को आनन्द देते हुए, विश्राम उचित विविध लीलाओं का विस्तार किया ॥६८-६९-७०॥

इसके पश्चात् उन्होंने वेणु तथा शृङ्ग नाद के इंगित से गौओं को उठाया फिर उनको तो गोवर्धन के समीप लेजा कर चराने के लिये छोड़ दिया और वहाँ आप खेलने लगे ॥७१॥

फिर उन ग्वालबालों ने यह कह-कह कर कि "मैं पहले शृङ्गार करूँगा" उनका अपनी-अपनी रुचियों के अनुसार वन्य भूषणों से शृङ्गार किया ॥ ७२ ॥

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने उन जन शर्मा नामक ब्राह्मण को जोकि अभी आया है, सरूप के हाथ में समर्पण कर दिया। फिर वह व्रज जन सुख प्रदाता श्रीकृष्ण, सायंकाल को व्रज में प्रवेश करके पहले की तरह आनन्द पूर्वक बिहार करने लगे ॥ ७३ ॥

हे माता ! श्री गोपीनाथ की कृपा से आपकी मति श्रेष्ठ साधुओं जैसी एक निष्ठ है। आपके सब प्रश्नों का उत्तर इस इतिहास द्वारा मैं वर्णन कर चुका हूँ। अब आप इसमें से अपने प्रश्नों का उत्तर स्वयं विचार करके धारण करें ॥७४॥

हे जननी ! अब आपको अनेक प्रकार के यत्नों द्वारा उस गोलोक में जाना चाहिए, जो समस्त पूर्ण आनन्दों का गम्भीर समुद्र है। जहां जाने मात्र से ही साधक को श्रीकृष्ण के साथ विविध प्रकार के मधुर-मधुर बिहार निरन्तर प्राप्त होजाते हैं ॥७५

परन्तु वह लीलाएँ यद्यपि हर किसी को हर समय पृथ्वी स्थित इस मथुरा मण्डल में केवल जाने मात्र से दृष्टि गोचर नहीं हो सकती हैं, तो भी वह उनको प्राप्त हो सकती हैं जिन पर श्री कृष्ण के प्रेमियों की कृपा है। इस लिये हे माता ! आप श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्तों की चरण रज ढूँढ़ कर मस्तक पर लगाएँ ॥७६॥

हे माता ! जो स्थान श्रीकृष्ण के उन चरणारविन्दों को जो व्रज सुन्दरियों के कुच कुंकुमों से रञ्जित हो कर आर्द्र हो रहे हैं, जल्दी प्राप्त कर

जिज्ञासोस्ते जननि ! कथितोऽशेषसन्देहघाती
गोलोकोऽयं मधुरगहनप्रश्नभावानुसारात् ॥७७

वैकुण्ठस्याप्युपरि नितरां राजते यो नितान्त—
श्रीमद्गोपीरमणचरणप्रेमपूरैकलभ्यः ।
वाञ्छावाञ्छोपरिगुरुफलप्राप्तिभूमिर्यदीया
लोका ध्याता दधति परमां प्रेमसम्पत्तिनिष्ठां
॥ ७८ ॥

अधुनात्राभियुक्तानि मुनीनां महतां शृणु ।
इमानि वचनान्यात्मचित्तसन्तोषणानि हि ॥७९

स्वर्गादूर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः ।
तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषाञ्च महात्मनां ॥८०

तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि ।
स हि सर्वगतः कृष्ण ! महाकाशगतो महान्
॥ ८१ ॥

उपर्य्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी ।
यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम्
॥ ८२ ॥

गतिः शमदमाद्यानां स्वर्गः सुकृतकर्म्मणाम् ।
ब्राह्मये तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परागतिः
॥ ८३ ॥

देता है आपने उस स्थान की जिज्ञासा के लिये मधुर तथा गम्भीर प्रश्न किये थे, मैंने उन प्रश्नों के उत्तर स्वरूप उस गोलोक का वर्णन किया है। जिस से आपके सब संदेह स्वयं ही दूर हो जाएँगे ॥ ७७ ॥

वह गोलोक वैकुण्ठ से भी ऊपर सुशोभित है। जो एक मात्र श्रीगोपीनाथ के चरणों के पूर्ण प्रेम से ही प्राप्त हो सकता है। जो साधकों की अभिलाषाओं से भी अधिक फल देता है, और वहाँ के परिकरों का ध्यान करने से वह लोग साधकों को पूर्ण प्रेम सम्पतियाँ प्रदान करते हैं ॥ ७८ ॥

हे माता ! पूर्वोक्त विषय की पुष्टि के लिये बड़े बड़े मुनियों के श्रेष्ठ वचनों को सुनें, जिनको सुनने से आपका चित्त और भी सन्तुष्ट होजाएगा ॥७९॥

(श्रीहरिवंश पुराण में इन्द्र श्रीकृष्ण से यह कहते हैं) स्वर्ग (स्वर्ग, महः, जन, तप तथा सत्य) से ऊपर ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठ है, जहाँ ब्रह्मर्षि नारद आदि रहते हैं, जहाँ उमा सहित श्रीशिवजी तथा मुक्त पुरुषही जासकते हैं। (यहाँ स्वर्ग शब्द से स्वर्ग से लेकर सत्य लोक पर्यन्त सब लोक ग्रहण करने चाहियें इस में यह प्रमाण है:--

"भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां····स्वर्लोकः कल्पितो मूर्द्ध्नि" इत्यादि श्री भा० स्कं० २ अ० ५ श्लो० ४२) उसके ऊपर गोलोक है, जिस स्थान की हम सब के पूजनीय श्रीनन्दराय आदि रक्षा करते हैं। हे श्रीकृष्ण ! वह लोक आकाश की तरह सब जगह व्याप्त है ॥८०॥८१॥

वह लोक और सब लोकों से ऊपर है। जो केवल समाधि से ही जाना जा सकता है। वहाँ ही आप रहते हैं। हमने इस लोककी बावत ब्रह्मा जी से पूछा था, वह भी वर्णन नहीं कर सके, क्योंकि उनके लिये भी यह दुर्गम है ॥८२॥

जो अपनी इन्द्रियों का शम, दम आदि से निग्रह करके शुभ कर्म करते हैं, वह स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, अर्थात् स्वर्ग से सत्य लोक तक जाते हैं, और जो तप अर्थात् भगवान् की सेवा आदि करते हैं वह ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठको प्राप्तकरते हैं।॥८३॥

गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः
स तु लोकस्त्वया कृष्ण ! सीदमानः कृतात्मना
॥ ८४ ॥
धृता धृतिमता धीर ! निघ्नतोपद्रवान् गवाम्
॥ इति ॥ ८५ ॥

गोलोक में गौएँ रहती हैं, इस लिये उसको गोलोक कहते हैं उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। हे श्रीकृष्ण ! वह गोलोक जब मेरे उपद्रवों से दुखित हुआ था, तब आपने गौओं को उपद्रव से बचाकर उस लोक की रक्षा की थी ॥८४॥८५

किञ्च :--

एवं वहुविधैरूपैश्चरामीह वसुन्धराम्।
व्रह्मलोकश्च कौन्तेय ! गोलोकश्च सनातनम् ॥
॥ इति ॥ ८६ ॥

(स्कन्ध पुराण में श्रीकृष्ण कहते है)

हे अर्जुन ! इस प्रकार से इस पृथ्वी मण्डल पर मैं वहुत स्वरूपों से विहार करता हूँ तथा ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठ तथा नित्य गोलोक में रहता हूँ ॥८६॥

श्रीजनमेजय उवाच ।

वैष्णवाग्र्य ! मया सन्ति वैशम्पायनतः श्रुताः।
एते श्लोकास्तदानीश्च कश्चिदर्थोऽवधारितः ॥८७

श्रीजनमेजय कहने लगे।

हे वैष्णव श्रेष्ठ जैमिनि ! मैंने इन श्लोकों को पहले श्री वैशम्पायन ऋषि से भी सुना था। उस समय इन श्लोकों का अर्थ मैंने और ही प्रकार से समझा था ॥८७॥

त्वत्तोऽद्य श्रवणादेषां कोऽप्यर्थो भाति मे हृदि
अहो ! भागवतानां हि महिमा परमाद्भुतः ॥८८

मैंने आज जब से यह श्लोक आपके मुख से सुने हैं, तब से मेरे हृदय में इनका अर्थ और ही प्रकार से भान होने लगा है। अहो ! निश्चय भगवद्भक्तों की महिमा अद्भुत है ॥८८॥

कथासमाप्तिमाशंक्य मनो मे परितप्यति।
किञ्चिद्रसायनं देहि तिष्ठेद्येन सुनिर्वृतम् ॥८९

कथा समाप्ति की शङ्का से इस समय मेरा मन दुखित हो रहा है इसलिये अब आप कोई ऐसी रसायन दें, जिससे मेरा मन सदा प्रसन्न रहे ॥८९

श्रीजैमिनिरुवाच ।

युक्तान्युपाख्यानवरद्वयस्य
पद्यानि यान्यस्य जगौ पिता ते।
गोलोकमाहात्म्यकथाप्रहृष्टो
भो वत्स ! भावैर्मधुरैर्विचित्रैः ॥९०
श्रुतिस्मृतीनामखिलार्थसार—
मयानि गायन् रुचिराणि यानि।
क्षिपन् भवत्तातवियोगदुःखं
सुखी चरामीह वदामि तानि ॥ ९१

श्रीजैमिनि बोले।

हे वत्स जनमेजय ! जब तुम्हारे पिता परीक्षित जी गोलोक की महिमा वर्णन करके आनन्दित हुए थे, तब श्रीनारद तथा गोपकुमार आख्यान की पुष्टि के लिये, जो उन्होंने विचित्र मधुर भाव से अन्य अन्य पुराण आदि के उन श्लोकों का गान किया था, जिसमें समस्त श्रुति स्मृतियों का सार अर्थ है, उन श्लोकों को गाता हुआ मैं आपके पिताके वियोग के दुःख को दूर करके, इस संसार में सुख पूर्वक विचरूँगा। उन्हीं श्लोकों को अब मैं आप से कहता हूँ ॥९०॥९१॥

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि–
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।

(ब्रह्म संहिता में श्रीब्रह्माजी इस प्रकार स्तुति करते हैं) मैं उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द के चरणारविन्दों को भजता हूँ, जो समस्त कारणों के

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥६२

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु ।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥६३॥

श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥६४

स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभीभ्यश्च सुमहान्
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः ।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये॥६५

किञ्च—

पुण्या वत ! व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः ।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः ॥६६

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो ! वत्सतरात्मजात्मना
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥६७॥

कारण हैं, जो समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी हैं, और जो गोलोक में अपनी उन प्रियाओं के साथ नित्य निवास करते हैं, जो उनके समान सच्चिदानन्द हैं, तथा जो उनकी कला—स्वरूपा हैं ॥६२॥

मैं उन आदि पुरुष श्री गोविन्द को भजता हूँ, जिन्होंने अपने गोलोक धाम में तथा उस गोलोक से नीचे श्री वैकुण्ठ, शिवलोक तथा देवी आदि लोकों में सब वैभवों का विधान किया है॥६३॥

गोलोक की कान्ताएँ (व्रज गोपियाँ) लक्ष्मी स्वरूपा हैं और कान्त परम पुरुष श्रीकृष्ण हैं। वहाँ के वृक्ष कल्पतरु, भूमि चिन्तामणि, जल अमृत, कथा गायन, गमन नृत्य के सदृश हैं। वहाँ वंशी ही प्रिय सखी है। वहाँ की ज्योति (सूर्य चन्द्र आदि) तथा सब भोग्य पदार्थ चिदानन्द स्वरूप हैं ॥ ६४ ॥

मैं उस श्वेत द्वीप को भजता हूँ, जिसको इस पृथ्वी में रहने वाले विरले सन्त महात्मा गोलोक करके जानते हैं जहाँ गौओं के दूध से बड़ा भारी क्षीर सागर बहता रहता है, जहाँ निमेष आदि काल नहीं है ॥ ६५ ॥

(श्री मथुरा नागरियाँ कहती हैं:—श्री भा० स्क० १० अ० ४४, श्लो० १३) सखी! सच पूछो तो व्रज भूमि ही परम पवित्र और धन्य है। क्यों कि वहाँ यह पुरुषोत्तम मनुष्य के वेष में छिप कर रहते हैं। भगवान् शङ्कर और श्री लक्ष्मीजी जिन के चरणों की पूजा करती हैं, वे ही प्रभु वहाँ रंग विरंगे जंगली पुष्पों की माला धारण करके बांसुरी बजाते हैं। तथा बलरामजी के साथ गौएँ चराते और तरह-तरह के खेल खेलते हुए आनन्द से विचरते हैं ॥ ६६ ॥

[श्री ब्रह्माजी श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति करते हैं श्री भा० स्क० १० अ० १४ श्लो० ३१-४०]

हे भगवन्! यद्यपि आपको अनेक प्रकार के बड़े-बड़े यज्ञ आज पर्यन्त तृप्त नहीं कर सके तो भी इस व्रज की गौ तथा गोपी अत्यन्त धन्य हैं, जिनके स्तनोंका अमृत मय दूध आपने बछड़े तथा ग्वालबाल बन कर आनन्द से भरपेट पिया ॥६७॥

अहो ! भाग्यमहो ! भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥९८॥

अहो ! श्री नन्दराय के व्रज में रहने वाले व्रजवासियों के भाग्यों की मैं क्या सराहना करूँ, जिनके साक्षात् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण नित्य मित्र हैं ॥ ९८ ॥

एषान्तु भाग्यमहिताच्युत ! तावदास्तां
एकादशैव हि वयं वत ! भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत्पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥९९॥

हे अच्युत ! इन व्रजवासियों के सौभाग्य की महिमा तो अलग रही इनके मन आदि ११ इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता के रूप में रहने वाले महादेव आदि हम लोग बड़े ही भाग्यवान हैं। क्योंकि इन व्रजवासियों की मन आदि ११ इन्द्रियों को पात्र बना कर हम आपके चरण कमलों का अमृत से भी मीठा, आसव से भी मादक मधुर मकरन्द रस पान करते रहते हैं। जब उसका एक-एक इन्द्रिय से पान करके हम धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियों से उसका सेवन करने वाले व्रजवासियों की तो बात ही क्या है ॥९९॥

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां-
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकं ।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥१००॥

मैं तो यही बड़ भाग चाहता हूँ, कि मेरा जन्म इस पृथ्वी पर हो पृथ्वी पर भी बनों में हो, और बनों में भी गोकुल में हो जहाँ कि उन व्रज-वासियों में से किसी की चरण रेणु मुझ पर पड़े, जिनके प्राण जीवन धन एक मात्र वही श्रीकृष्ण हैं, जिनके चरणारविन्द की रज को श्रुतियाँ आज पर्यन्त ढूँढ़ रही हैं ॥१००॥

एषां घोषनिवासिनामुत!भवान् किं देवरातेति न-
श्चेतो विश्वफलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते
॥१०१॥

हे भगवन् ! इन व्रजवासियों को जिनका घर, अर्थ, मित्र, स्त्री, पुत्र, प्राण, तथा मन आदि सब आपके लिये हैं आप क्या देंगे ? यह निश्चय नहीं होने से मेरी बुद्धि को मोह होता है। क्योंकि समस्त संसार के फल स्वरूप तो आप हैं और आपने अपने आपको उसके वंश सहित उस पूतना को दे दिया जोकि ऊपर से सद वेष अर्थात् माता का वेष बना कर आई थी १०१॥

तावद्रागादयः स्तेना-
स्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो
यावत् कृष्ण ! न ते जनाः ॥१०२॥

हे श्रीकृष्ण ! जब तक यह जीव आपका भक्त नहीं होता है तब ही तक इसके राग द्वेष आदि दोष चोरों के समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं। तब ही तक इसका घर बन्दीगृह है, और तब ही तक मोह पैर की बेड़ियों की तरह इसको जकड़े रखता है ॥ १०२ ॥

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि
विडम्बयसि भूतले ।
प्रपन्नजनतानन्द—
सन्दोहं प्रथितुं प्रभो ! ॥१०३

हे प्रभो ! आप अपने आश्रित जनोंको अत्यन्त आनन्द प्रदान करने के लिये माया से रहित होते हुये भी मायिक जीवों की तरह लीलाएँ करते हैं ॥ १०३ ॥

जानन्त एव जानन्तु
किं वहूक्तया न मे प्रभो !
मनसो वपुषो वाचो
वैभवं तव गोचरः ॥१०४

हे प्रभो ! जो यह कहते हैं, कि भगवान की महिमा हम जानते हैं उनको जानने दो, मैं और क्या अधिक कहूँ. मुझको यह निश्चय है, कि आपका वैभव मेरे मनवाणी तथा देह से अगोचर है ॥ १०४ ॥

अनुजानीहि मां कृष्ण !
सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक् ।
त्वमेव जगतां नाथो
जगच्चैतत्तवार्पितम् ॥१०५

हे श्रीकृष्ण ! आप सबके साक्षी हैं. इस लिये आप सब कुछ जानते हैं। आप ही इस जगत के स्वामी हैं, और यह समस्त जगत आप में ही ओत प्रोत है। आप से मैं और क्या कहूँ ? मैं आपका भृत्य हूँ। मुझे अपने लोक में जाने की आज्ञा दीजिये ॥ १०५ ॥

श्रीकृष्ण ! वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् !
क्ष्मा-निर्जर-द्विज-पशूदधिवृद्धिकारिन् ! ।
उद्धर्म्मशार्वरहर ! क्षितिराक्षसध्रु-
गाकल्पमार्कमर्हन् ! भगवन्नमस्ते ॥ १०६ ॥

हे श्रीकृष्ण ! आप यादव कुल रूपी कमल के बनको आनन्द प्रदान करने वाले सूर्य स्वरूप हैं। पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण, गौ आदि यह धर्म के समुद्र हैं, आप इनको बढ़ाने वाले चन्द्रमा हैं। आप पाखण्ड धर्म रूपी अन्धकार को मिटाने वाले तथा कंस आदि राक्षसों के विनाश करने वाले हैं। हे भगवन् ! आप सब के पूज्य हैं। इस व्रज के आक के पेड़ आदि के सहित मैं आपको कल्प पर्यन्त प्रणाम करता हूँ ॥ १०६ ॥

[श्रीकृष्ण वलराम से कहते हैं :—श्री० भा० स्कं० १० अ० १५ श्लो० ८]

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-
र्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥१०७

आज यहाँ की भूमि अपनी हरी भरी घास के साथ आपके चरणों को स्पर्श प्राप्त-कर के धन्य हो रही है। यहाँ के वृक्ष, लताएँ और झाड़ियाँ आपके हस्त कमल की अंगुलियों का स्पर्श पाकर अपना अहोभाग्य मान रही हैं। आपकी दया भरी चितवन से नदी, पर्वत, पशु, पक्षी सब कृतार्थ हो रहे हैं और ब्रजकी गोपियाँ आपके वक्षस्थल का स्पर्श प्राप्त कर के, जिसके लिये स्वयं लक्ष्मी भी लालायित रहती हैं, धन्य धन्य हो रही हैं ॥ १०७ ॥

वृन्दावनं सखि ! भुवो वितनोति कीर्त्तिं
यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०८

[वेणुगीत-श्रीवृन्दाबन की महिमा श्री भा० स्कं० १० अ० २१ श्लोक १०]

हे सखी ! यह श्री वृन्दाबन इस भूमी मण्डल की कीर्ति को बढ़ा रहा है, क्योंकि यह श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों के चिह्नों से सुशोभित है। श्रीकृष्ण की मेघ सरीखी मन्द मन्द मुरली नाद को सुनकर मयूर मत्त होकर नाचने लगते हैं, जिनको देखकर वृन्दाबन के पर्वतों पर रहने वाले और और जीव जन्तुओं ने भी अपनी चञ्चलता को छोड़ दिया है ॥ १०८ ॥

हन्तायमद्रिरबला ! हरिदासवर्यो
यद्रामकृष्ण–चरण–स्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्
पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१०६

[गोवर्धन की महिमा श्री भा० स्कं० १० अ० २१ श्लो० १८]

हे सखी ! बड़े अचम्भे की बात है। यह गोबर्धन पर्वत सब हरिभक्तों में श्रेष्ठ है। क्योंकि इसको श्रीकृष्ण तथा श्रीदाऊ जी के चरणारविन्दों के स्पर्श का आनन्द प्राप्त है, यह उन दोनों को गौओं तथा ग्वालवालों के सहित, अपनी कन्दराओं में बैठाकर कन्दमूल फल तथा जल आदि से मान पूर्वक पूजा करता है ॥ १०६ ॥

दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात्स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥११०

[श्रीव्रज के मेघों की महिमा श्री भा० स्कं० १० अ० २१ श्लो० १६]

श्रीकृष्ण दाऊजी तथा ग्वालवालों के साथ धूप में गौवें चराते हुए मुरली बजा रहे थे। यह देख कर मेघ प्रेम से उमड़ आये। उन्होंने अपने सखा श्रीकृष्ण पर स्वयं अपने देहसे छत्रकी तरह छाया करली। फिर वह अपनी नन्हीं नन्हीं बूँदों को इस प्रकार वर्षाने लगे मानों फूलों की वर्षा कर रहे हैं ॥ ११० ॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य्य मुकुन्दगीत–
मावर्त्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।

[श्रीयमुना, मानसीगङ्गा आदि व्रज की नदियों का बड़ भागः-श्री भा० स्कं० १० अ० २१ श्लोक १५]

हे सखियो ! जब श्री यमुना आदि नदियों ने श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुनी तब इनके जलों में भौंरियाँ पड़ने लगीं इससे यह प्रतीत होता है कि यह काम से पीड़ित हैं इस लिये इनके वेग रुक गये हैं यह आलिङ्गन करने के लिये भुजा सरीखी

आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-

गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१११

अपनी लहरों से उनके चरणारविन्दों को छूते हुए मानों कमलों की भेंट कर रही हैं ॥१११॥

[श्री वृन्दाबन के वृक्षों तथा लताओं की महिमा युगल गीत श्री भा० स्कं० १० अ० ३५ श्लो० ९]

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं

व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।

प्रणतभारविटपा मधुधाराः

प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ॥११२॥

श्री वृन्दाबन की लता तथा वृक्षों की शाखाएँ भार से नीचे को झुकी हुई हैं। इनको देखने से यह प्रतीत होता है कि इनके हृदयों में भी भक्तों की तरह श्रीकृष्ण विराजमान हैं, क्योंकि भक्तों के आँसुओं की तरह इनमें से भी मधु धारा चुरा रही हैं, और उनके सदृश यह प्रेमानन्द से अपने फल फूलों द्वारा पुलकित हो रही हैं ॥११२॥

[अब व्रज के कीट आदि से लेकर श्री व्रज-गोपिकाओं का उत्कर्ष क्रम से वर्णन करते हैं। श्रीकृष्ण बलराम से कहते हैं।]:—

(भौंरों की महिमा श्री भा० स्क० १० अ० १५ श्लो०६

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं

गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते ।

प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या

गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥११३॥

हे आदि पुरुष ! यद्यपि आप इस वृन्दाबन में अपने ऐश्वर्यरूप को छिपा कर बालकों की सी लीला कर रहे हैं, फिर भी आपके श्रेष्ठ भक्त मुनि गण अपने इष्ट देव को पहचान कर यहाँ भी प्रायः भौंरों के रूप में आपके भुवन पावन यश का निरन्तर गान करते हुए आपके भजन में लगे रहते हैं वे एक क्षण के लिये भी आपको नहीं छोड़ना चाहते हैं ॥११३॥

[जल पक्षियों की महिमा श्री भा० स्क० १० अ० ३५ श्लो० ११]

सरसि सारसहंसविहङ्गा-

श्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।

हरिमुपासत ते यतचित्ता

हन्त ! मीलितदृशो धृतमौनाः॥११४॥

अरी वीर ! बड़े आश्चर्य की बात है। यह सरोवर में रहने वाले सारस, हंस तथा पक्षियों के हृदय भी श्रीकृष्ण की मनोहर मुरली गान से हरे गये हैं जिससे यह उनके पास जाकर बैठ जाते हैं तथा आँखें मूँद चुप चाप चित्त एकाग्र करके उनकी आराधना करने लगते हैं ॥११४॥

(स्थल पक्षियों की महिमाः-श्री भा० स्क० १० अ० २१ श्लो० १४)

प्रायो बताम्ब ! मुनयो विहगा वनेऽस्मिन्

कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।

हे अम्ब ! इस वृन्दाबन में जो पक्षी हैं वह प्रायः मुनिगण हैं वह वृक्षों की नई-नई कोंपलों वाली उन डालियों पर जहाँ से उनको श्रीकृष्ण के

आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्

शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः॥ ११५

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता

या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।

आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः

पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११६॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-

पीयूषमुत्तम्भितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।

शावाः स्तनस्नुतपयःकवलाः स्म तस्थु-

र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ११७

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो

वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।

दन्तदष्टकवला धृतकर्णा

निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥११८॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय-पदाब्जराग-

श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।

दर्शन हो सकते हैं, बैठ कर उनकी मधुर मुरली को चुप चाप होकर सुनते हैं. और उसके आनन्द से अपनी आखें बन्द कर लेते हैं ॥११५॥

(मृग आदि की महिमाः—श्री भा० स्क० १० अ० २१ श्लो० ११)

अरी वीर ! यह ज्ञान रहित हिरणी भी धन्य हैं, जो अपने-अपने पति कृष्णसार मृगों को साथ लेकर श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुनती हैं। वह अपनी प्रेम भरी चितवन से विचित्र वेष धारी श्री-नन्दनन्दन को टकटकी बाँध कर इस प्रकार से देखती हैं, मानों वह उनकी पूजा कर रही हैं ॥११६

(गौओं आदि की महिमा २ श्लोकों सेः—श्री भा० स्क० १० अ० २१ श्लो० १३):—

श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से बजाया हुआ उस वेणु गीत को सुन कर गौओं ने उस अमृत को पान करने के लिये अपने कान रूपी पात्रों को ऊपर उठा लिया, उस समय उनके मुँह का ग्रास मुँह ही में रहा और उनके स्तनों से दूध गिरने लगा। स्तन पान करते हुए बछड़ों ने दूध पीना वहीं का वहीं छोड़ दिया, क्योंकि उस समय यह सब अपनी-अपनी दृष्टियों द्वारा श्रीकृष्ण को अपने-अपने हृदयों में ले गये, और उनका आलिङ्गन करके प्रेमाश्रु बहाने लगे ॥११७॥

(श्री भा० स्क० १० अ० ३५ श्लो० ५):—

व्रज के बैल मृग तथा गौओं के झुण्ड के झुण्ड, जिन के चित्त श्रीकृष्ण की दूर से बजी हुई मुरली नाद ने हर लिये हैं, उनकी दशा सुनिये। उनके दांतों में पकड़ा हुआ तृण ज्यों का त्यों उनके मुह में लटक रहा है, जिन्होंने अपने कानों को ऊपर उठा रखा है और जो निद्रा तथा चित्र लिखित से चुपचाप हो रहे हैं ॥११८॥

[पुलिन्दियों का उत्कर्ष श्री भा० स्क० १० अ० २१ श्लोक १७]:—

हे सखी ! हम तो घास खोदने वाली उन पुलि-न्दियों का ही बड़ भाग्य समझती हैं, जिन्होंने उस केशर को अपने-अपने मुखों तथा हृदयों पर लगा

तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरुषितेन

लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥११९॥

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तं ।

अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥१२०॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या

दास्यं गतानां परदैवतेन ।

मायाश्रितानां नरदारकेण

सार्द्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥१२१॥

यत्पादपांशुर्वहुजन्मकृच्छ्रतो

धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।

स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः

किं वर्ण्यते दिष्टमहो ! ब्रजौकसाम् ॥१२२॥

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः ।

वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपवर्हणः ॥१२३॥

पादसम्वाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।

अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥१२४॥

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।

गायन्ति स्म महाराज ! स्नेहक्लिन्नधियः शनैः १२५

कर अपनी उन काम वासनाओं को शान्त किया है जो उस केशर को देख कर उनके हृदयोंमें उत्पन्न हुई थी। वास्तव में यह वही केशर है जो पहले श्रीराधिका जी के कुच कमलों में लगी हुई थी और जो विहार समय में श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में लग गई थी। वही केशर बन भ्रमण के समय उनके चरणोंसे घास पर लग गयी है ॥११९॥

[श्री सखाओं की महिमा श्लोक १२० से १२५ तक]

(श्री भा० स्कं० १० अ० १२ श्लोक ६)

जब कभी श्रीकृष्ण बन शोभा देखने के लिये कुछ दूर बन में चले जाते हैं, तब वह ग्वालबाल भाग भाग कर यह कहते हुए उनको छूते हैं— 'पहले मैं छूऊँगा, पहले मैं छूऊँगा' ॥ १२० ॥

(श्री भा० स्कं० १० अ० श्लो० ११)--

बड़भागी ग्वालबालों ने उन श्रीकृष्ण के साथ आनन्द युक्त विविध विहार किये, जोकि ज्ञानियों के लिये ब्रह्म स्वरूप हैं, जोकि उनके दासों के लिये परदैवत हैं, और जो साधारण जीवों के लिये मनुष्य बालक सरीखे हैं ॥ १२१ ॥

(श्री भा० स्क० १० अ० १२ श्लो० १२)

मैं उन ब्रजवासियों के भाग्यों की क्या सराहना करूँ। जिनको उन श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं, जिनके चरणारविन्दों की रज उन योगियों को भी नहीं प्राप्त होती है जिन्होंने बहुत जन्मों तक क्लेश करके अपने मनों को वड़ी कठनाई से रोक कर उनकी उपासना की है ॥१२२

(श्री भा० स्क० १० अ० १५ श्लो० १६, १७, १८)

जब कभी श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ कुश्ती लड़ते लड़ते थक जाते हैं, तब वह अपने किसी सखा की गोद को अपना तकिया बनाकर वृक्षों के नीचे कोमल फूल पत्तों की सेज पर लेट जाते हैं। उस समय कोई महाशय सखा उनके चरणों को दबाता है, कोई पाप रहित उनपर पंखा करता है, और कोई शयन समय के अनुरूप मनोहर गीतों को गाता है। हे महाराज परीक्षित ! उस समय सब ग्वालबाल श्रीकृष्ण के स्नेह से आर्द्र हो जाते हैं ॥ १२३ । १२४ । १२५ ॥

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् !
श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा वा महाभागा
पापौ यस्याःस्तनं हरिः ॥ १२६ ॥

ततो भक्तिर्भगवति
पुत्रीभूते जनार्दने ।
दम्पत्योर्नितरामासीद्-
गोपगोपीषु भारत ! ॥१२७॥

नन्दः स्वपुत्रमादाय
प्रोष्यागत उदारधीः ।
मूर्द्ध्न्यवघ्राय परमां
मुदं लेभे कुरुद्वह ! ॥ १२८ ॥

स मातुः स्विन्नगात्राया
विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः
कृपयासीत् स्वबन्धने ॥ १२९ ॥

नेमं विरिञ्चो न भवो
न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी
यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥१३०॥

पयांसि यासामपिबत्
पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् ।
भगवान् देवकीपुत्रः
कैवल्याद्यखिलार्थदः ॥ १३१ ॥

[श्रीनन्दराय जी तथा श्रीयशोदा जी का बड़भाग । श्लोक १२६, १३२]

(श्रीम० भा० स्कं० १० अ० ८ श्लोक ४६)

हे ब्रह्मन् ! श्री नन्दराय ने ऐसा कौनसा बहुत बड़ा मङ्गलमय साधन किया था और परम भाग्यवती श्रीयशोदा जी ने ऐसी कौनसी तपस्या की थी, जिसके प्रभाव से स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से उनका स्तन पान किया ॥ १२६ ॥

(श्रीभा० स्कंद १० अ० ८ श्लो० ५१)--

हे परीक्षित ! श्रीब्रह्मा जी के वर से दुष्टों के विनाश करने वाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उनके पुत्र हुए, और समस्त गोप गोपियों की अपेक्षा इन पति पत्नी श्रीनन्द और यशोदा जी का उनके प्रति अत्यन्त प्रेम हुआ ॥ १२७ ॥

(श्री भा० स्कं० १० अ० ६ श्लोक ४३)-

हे परीक्षित ! उदार बुद्धिवाले श्रीनन्दराय जब मथुरा से आये तब उन्होंने अपने पुत्र श्रीकृष्ण को अपनी गोद में उठा लिया और बार बार उसका सिर सूँघकर मन ही मन बहुत आनन्दित हुए ॥ १२८ ॥

(श्री भा० स्कं० १० अ० ६ श्लो० १८)-

सर्व व्यापक श्रीकृष्ण ने जब अपनी माता यशोदाजी को इस प्रकार थकी हुई देखा कि उनके अंगों से पसीना टपक रहा है, और उनकी चोटी में गुथी हुई मालाएँ गिर गई हैं तब कृपा करके उन्होंने स्वयं बन्धन को स्वीकार कर लिया ॥१२९॥

(श्री भा० स्कं० १० अ०६ श्लो० २०)--

मुक्ति प्रदान करने वाले श्रीकृष्ण ने जो कृपा श्रीयशोदा जी पर की वह न तो ब्रह्मा जी पर, न शिवजी पर न उन लक्ष्मीजी पर की जोकि स्वर्ण रेखा रूपसे सदा उनके वक्षस्थल में विराजती हैं ॥ १३० ॥

(श्री भा० स्कं० १० अ० ६ श्लो० ३९)-

सब प्रकार की मुक्तियों तथा सब पुरुषार्थों के फल दाता भगवान श्रीकृष्ण ने गोपियों का तृप्ति पूर्वक वह दूध पान किया जोकि पुत्र स्नेह के कारण उनके स्तनों से गिर रहा था ॥ १३१ ॥

तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणं ।

न पुनः कल्पते राजन् ! संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥१३२॥

(श्री भा० स्क० १० अ० ६ श्लोक ४०)

हे राजन् ! वह गोपियाँ श्रीकृष्ण को निरन्तर पुत्रभाव से देखती थीं. इस लिये वह जन्म मृत्यु रूप संसार के चक्र में कभी नहीं पड़ सकतीं, क्यों कि यह संसार तो अज्ञान के कारण ही है ॥१३२॥

(श्री व्रजनागरियों की महिमा श्लोक १३३-१५२)

गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने ।

क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥ १३३

(श्री भा० स्क० १० अ० १६ श्लोक १६)

जिन व्रज सुन्दरियों को श्रीगोविन्द के दर्शन बिना एक क्षणकाल भी सौ युग के बराबर बीतता था, उनके दर्शन से अत्यन्त आनन्द हुआ ॥१३३॥

तन्मनस्का स्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥१३४॥

(श्री भा० स्क० १० अ० ३० श्लोक ४४)

उन व्रजगोपियों का मन श्रीकृष्ण में लगा हुआ था, वह उन्हीं की वार्तालाप तथा सेवा कर रहीं थीं, वह अपनी आत्माओं को उन्हीं में अर्पण करके एक मात्र उन्हीं के गुणों को गा रही थीं। इस लिये उस समय वे अपनी आत्माओं की तथा अपने घर बार की सब सुध बुध भूल गई थीं ॥ १३४ ॥

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं

लावण्यसारमसमोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम् ।

दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-

मेकान्तधामयशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥१३५॥

(श्री भा० स्क० १० अ० ४४ श्लोक १४)

अरी वीर ! उन व्रजगोपिकाओं ने ऐसा कौन सा तप किया है। जिसके प्रभाव से यह श्रीकृष्ण के उस रूप को अपने नेत्रों द्वारा निरन्तर पान करती हैं, जो कि सब सुन्दरताओं का सार स्वरूप है, जिसके बराबर तथा अधिक और कोई रूप नहीं है, जो स्वतः सिद्ध है, तथा जो क्षण-क्षण में नवीन होता रहता है, जो अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होता है, और जो समस्त यश, शोभा, तथा ऐश्वर्य का एक मात्र स्थान है ॥१३५॥

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-

प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।

गायन्ति चेनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो

धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥१३६॥

(श्री भा० स्क० १० अ० ४४ श्लोक १५)

वह व्रजनागरियाँ धन्य हैं ! जिनका मन श्री कृष्ण में इतना आसक्त रहता है, कि वह दूध दुहते, दही मथते, ध्यान करते अपने अंगों को चन्दन आदि से आलेपन करते झूलते समय रुदन करते हुये बालकों को सुलाते, घर को झाड़ते बुहारते, छिड़कते आदि हर समय श्रीकृष्ण के गुणों में अत्यन्त आसक्त होकर प्रेम अश्रु बहाती हुई गाती हैं ॥१३६॥

प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गत्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ॥१३७

(श्री भा० स्क० १० अ० ४४ श्लोक १६):-

श्रीकृष्ण प्रातःकाल गौओं को चराने के लिये व्रज से वन में जाते हैं, और सायंकाल को उन्हें साथ लेकर वंशी बजाते हुये लौटते हैं। तब वे बड़भागिनी व्रजगोपियाँ उस वेणु ध्वनि को सुन कर अपने-अपने घरों से जल्दी से निकल कर श्री कृष्ण के आने के रास्ते में खड़ी हो जाती हैं और श्रीकृष्ण का मन्द मुस्कान एवं दयाभरी चितवन से युक्त मुख कमल निहार कर निहाल होती हैं १३७

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
यामाभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥१३८॥

(श्री भा० स्क० १० अ० ३२ श्लोक २२):-

हे व्रजगोपिकाओ! आपके प्रति उपकार करने के लिये यदि मैं श्री ब्रह्माजी की आयु पर्यन्त चेष्टा करता रहूँ, तो भी मैं आपका बदला नहीं चुका सकता हूँ। क्योंकि आपने घर गृहस्थ की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है जिन्हें बड़ेबड़े- योगी, यति भी नहीं तोड़ पाते, आपने निष्कपट भाव से मेरी सेवा की है, इस लिये आप ही अपनी कृपा से उस ऋण से मुझको छुटा सकती हैं ॥१३८॥

गच्छोद्धव ! व्रजं सौम्य! पित्रोर्नः प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥१३९

ता मन्मनस्का मत्प्राणा
मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्म्माश्च
मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥१४०॥

(श्री भा० स्क० १० अ० ४६ श्लोक ३-४):-

हे सौम्य स्वभाव उद्धव! आप ही व्रज में पधार कर मेरे पिता माता श्रीनन्दराय श्रीयशोदा जी को धीरज बँधावें। गोपियों की उस पीड़ा को जो कि मेरे विरह से हो रही है, मेरा यह संदेश देकर दूर करें। जिन गोपियों के मन तुम में लगे हुये हैं जिनका प्राण स्वरूप मैं ही हूँ जिन्होंने मेरे लिये अपने दैहिक तथा लौकिक धर्मों को छोड़ दिया है, उनका पालन पोषण मुझको ही करना चाहिये ॥१३९-१४०॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे
दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।

(श्री भा० स्क० १० अ० ४६ श्लो० ५-६):-

हे प्रिय उद्धव! मैं उन गोपियों का परम प्रियतम हूँ। मेरे यहाँ चले आने से वह मुझे दूरस्थ मानती हैं। मेरा स्मरण करके अत्यन्त मोहित हो रही हैं बार बार मूर्छित होकर विह्वल होजाती हैं। जिनकी मैं ही आत्मा हूँ जो मुझ में ही तन्मय रहती हैं मेरी प्रेयसियाँ इस समय बड़े ही कष्ट में हैं। वे अपने प्राणों को किसी प्रकार बड़ी

स्मरन्त्योऽङ्ग ! विमुह्यन्ति
विरहौत्कण्ठयविह्वलाः ॥१४१॥

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण
प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशै-
र्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥१४२॥

रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥१४३॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग ! तासां ।
हीना मया कल्पसमा वभूवुः ॥१४४॥

ता नाविदन्मय्यनुसङ्गबद्ध-
धियः स्वदात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥१४५॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबला: ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥४६॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।

कठिनाई से रख रही हैं। मैंने उनसे कहा था कि "मैं आऊँगा" यही उनके जीवन का आधार है ॥ १४१-१४२॥

श्री भा० स्क० ११ अ० १२ श्लोक० १०-११-१२-१३

हे उद्धव ! जब कि अक्रूर जी मुझको बलराम सहित मथुरा ले गये थे, तब वह गोपियाँ जिनका चित्त मुझ में ही आसक्त है और जो मुझ से अत्यन्त प्रेम करती हैं, मेरे वियोग से अत्यन्त व्याकुल हो रही थीं उस समय मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उन्हें सुख कर प्रतीत नहीं होती थी ॥ १४३ ॥

हे उद्धव ! मैं ही उन व्रजगोपियों का एकमात्र प्रियतम हूँ। इस लिये जब कि मैंने वृन्दावन में उनके साथ रास किया था, तब उनको वह ब्रह्म रात्री जैसी रात्रि भी आधे क्षण के बराबर व्यतीत हुई थी। फिर मेरा वियोग होने से वही क्षण काल उनको कल्पों के समान होगया था ॥१४४॥

वह व्रजनागरियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमें इतनी तन्मय होगईं थीं कि उन्हें अपने आपका, इस लोक तथा परलोक का इस प्रकार से ज्ञान नहीं रहा था, जैसे कि मुनि लोग समाधि में अपने नाम रूप को भूल जाते हैं, तथा जैसे नदियों का समुद्र में मिलने से नाम रूप जाता रहता है ॥१४५॥

हज़ारों पुलिन्दी आदि अबलाएँ, जिनको मेरा स्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं था जिनका व्रजनागरियों के संग से मुझ में प्रेम होगया था, और जो मुझ में जार बुद्धि से पति समझ कर प्रेम करती थीं, उन्होंने भी मुझ परब्रह्म को प्राप्त कर लिया है ॥ १४६ ॥

श्री भा० स्क० १० अ० ४७ श्लोक ५८-५९-६० ६१-६२-६३

इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है, क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित होगई हैं। इस भाव के लिये मुमुक्षु बड़े बड़े मुनि तथा हम सरीखे भक्त भी

वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयश्च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥१४७

वाञ्छा करते हैं। जिन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की लीला कथा के रस का चसका लग गया है, उनके लिये महाकल्पों तक बार बार ब्रह्मा का जन्म भी कोई वस्तु नहीं है ॥१४७॥

क्वेमाः स्त्रियोवनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा--
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥१४८

कहाँ तो यह व्रजनागरियाँ जो कि श्रीवृन्दाबन में निरन्तर विहार करती हैं और कहाँ हम व्यभिचारी दुष्ट अर्थात् श्रीकृष्ण के आदेश पालन करने में असमर्थ। श्रीगोपिकाओं का श्रीकृष्ण परमात्मा में जो रूढ़ महाभाव है, इस प्रकार का भाव और किसी का नहीं है, यद्यपि इन गोपियों की महिमा मैं नहीं जानता था तो भी मेरे प्रभु ने मेरी सेवा से प्रसन्न होकर मुझे यहाँ भेजकर गोपियों की महिमा अनुभव कराकर मेरा मंगल विधान किया है। बात तो यह है कि जैसे श्रेष्ठ औषधि उसके गुण जानने वाले तथा बिना जानने वाले दोनों को आरोग्य करती है इसी प्रकार से अविद्वान् होते हुए भी जो निरन्तर भगवान् का भजन करते हैं उनका भी भगवान् मंगल करते हैं ॥ १४८ ॥

नायं श्रियोऽङ्ग ! उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम् ॥
॥ १४९ ॥

श्रीकृष्ण की जो कृपा व्रजगोपियों पर रास उत्सव में हुई थी. जब कि उन्होंने उनके कन्धों पर अपने भुज दण्डों को रख कर आनन्द प्राप्त किया था इस प्रकार की कृपा उनकी एकान्त प्रिया लक्ष्मी जी पर भी नहीं हुई, जोकि स्वर्ण रेखा रूप से उन के वक्षःस्थल में विराजती हैं. फिर और देवांगनाओं पर जिनके मुखों से कमल कीसी सुगन्ध आ रही है, वह कृपा कैसे हो सकती है ? ॥ १४९ ॥

आसामहो ! चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथश्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्यां ॥१५०

मैं तो यह प्रार्थना करता हूँ कि मैं उस वृन्दावन की वह गुल्म, लता, तथा औषधि होजाऊँ, जिन पर उन गोपियों की चरण रज पड़े, जोकि दुस्तर अपने बन्धुबान्धव तथा वेद मार्ग को छोड़कर श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में गयी हैं, जिस पद को वेद की श्रुतियाँ भी अन्वेषण कर रही हैं ॥ १५० ॥

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि सदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।

व्रजनागरियाँ रास में श्रीकृष्ण भगवान् के उन सुन्दर चरणारविन्दों को अपने स्तनों पर रख कर विरह जन्य ताप को दूर करती हैं. जिनको

कृष्णस्य तद्भगवतः प्रपदारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥१५१

श्रीलक्ष्मी जी तथा श्रीब्रह्माजी आदि पूजा करते हैं. और जिनका पूर्ण काम तथा योगेश्वर अर्थात् श्रीशिव तथा सनकादिक अपनी अपनी आत्माओं में निरन्तर ध्यान करते हैं ॥ १५१ ॥

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥१५२

मैं श्रीनन्दराय के व्रजकी उन गोपियों के चरणारविन्दों की धूली को बार बार प्रणाम करता हूँ, जिनका श्रीकृष्ण सम्बन्धी गीत तीनों भुवनों को पवित्र करता है ॥ १५२ ॥

(ग्रन्थकार ने व्रज के पशु पक्षी तथा और सब परिकरों का बड़भाग क्रम से वर्णन किया है। अब अन्त में श्रीस्वामिनी राधिका जी की महिमा कैमुतिकन्याय से इस प्रकार वर्णन करते हैं॥ यहाँ यह समझना चाहिये कि श्रीकृष्ण में जिनकी जितनी आसक्ति है, उसके अनुसार ही उनका वड़भाग है। इस लिये इस श्लोक में श्रीस्वामिनी जी श्रीश्यामसुन्दर के प्रति अपनी अत्यन्त आसक्ति को वेणु की प्रशंसा द्वारा प्रकट कर रही हैं।)

श्रीराधिका जी कहती हैं। (श्री० भा० स्क० १० अ० २१ श्लो० ६)

गोप्यः ! किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥१५३

हे सखियों ! इस वेणु ने ऐसा क्या पुण्य किया है, जिस के प्रभाव से वह गोपियों के पीने योग्य अधर सुधाको स्वयं पूर्णरूप से पी रहा है। इसके सौभाग्य को देखकर मानों इस वेणु की माता स्थानीय नदियाँ कमल खिलने के बहाने से पुलकित हो रही हैं, और वृक्ष अपने कुल में पैदा होने वाली वंशी का सौभाग्य देखकर मानों प्रेम के मधु धारा रूपी अश्रु बहा रहे हैं, जैसे कि अपने वंश में भगवद्भक्त सन्तान देखकर उसके पूर्वज आनन्द से प्रेमाश्रु बहाते हैं॥ १५३ ॥

(समाप्ति मंगलाचरण श्री भा० स्क० १० अ० ६० श्लो० ५८)

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।

उन श्रीकृष्ण की सदा जय हो ! जो सब जीवों के आश्रय स्थान हैं जिनकी यह प्रसिद्धि है कि उनका जन्म श्रीदेवकी जी से हुआ है, यदुवंशी वीर पार्षदों के रूप में जिनकी सेवा करते हैं, जिन्होंने अपने भुजबल से अधर्म का विनाश किया

स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन ।

व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवं ॥१५४॥

जिन्होंने स्थावर जंगम सब प्राणियों का दुख दूर किया है, और जिन्होंने अपने मुस्कराते हुए मुखारविन्द से व्रजगोपियों तथा पुर-महिषी आदिकों का प्रेम भाव बढ़ाया है ॥१५४॥

श्री जनमेजय उवाच ।

कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि
निश्चितो भगवन् गुरो !
गुह्यं गोलोकमाहात्म्यं
यदहं सेवितस्त्वया ॥१५५॥

श्री जनमेजय बोले ।

हे भगवन् गुरूजी ! मैं कृतार्थ हुआ ! निश्चय ही मैं आज कृतार्थ हुआ ! क्योंकि आपने मुझको गोलोक की अत्यन्त गोपनीय इस महिमा को सुनाया ॥१५५॥

श्री जैमिनिरुवाच ।

तातात्थ सत्यं यद्भक्त्या श्रवणादपि कीर्त्तनात् ।
अस्याख्यानस्य वा ध्यानात् तत् पदं लभते नरः ॥
॥१५६॥

श्री जैमिनिजी बोले ।

हे तात् ! आपने सत्य कहा है, जो कोई इस आख्यान को भक्ति पूर्वक सुनेंगे, कीर्तन करेंगे, अथवा ध्यान करेंगे, वे सब निश्चय गोलोक धाम को प्राप्त हो जायेंगे ॥१५६॥

तस्मै नमोऽस्तु निरुपाधिकृपाकुलाय
श्रीगोपराजतनयाय गुरूत्तमाय ।
यः कारयन्निजजनं स्वयमेव भक्तिं
तस्यातितुष्यति यथा परमोपकर्त्तुः॥१५७॥

मैं उन श्री नन्दनन्दन के चरणारविन्दों को नमस्कार करता हूँ, जो समस्त संसार के श्रेष्ठ गुरु हैं जो निर्हेतुक कृपा करने के लिये व्याकुल रहते हैं, जो स्वयं प्रेरणा करके जीवों से अपनी भक्ति कराते हैं, तथा भक्ति करने वालों पर इस प्रकार प्रसन्न होते हैं, जैसे कोई उपकार करने वाले पर प्रसन्न होता है ॥१५७॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते गोलोकमाहात्म्यखण्डे
जगदानन्दो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

इस श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रंथ के श्रीगोलोक माहात्म्य नामक द्वितीय खण्ड में "जगदानन्द" नामक सतवां अध्याय समाप्त हुआ ।

॥ द्वितीयखण्डं समाप्तम् ॥

॥ श्री श्रीबृहद्भागवतामृतं सम्पूर्णम् ॥

पुस्तक मिलने के पते :—

(१) रत्नलाल बेरीवाला,
श्री नन्दबाबा का मन्दिर,
मु: नन्दगाँव जि० मथुरा।

(२) रत्नलाल बेरीवाला,
श्रीनन्दभवन (पुरोहित पाड़ा)
मु: वृन्दावन जि० मथुरा।

मुद्रक—
गोस्वामी श्री बिन्दुजी महाराज,
प्रेमधाम प्रेस, वृन्दावन।